मानव सेवा संघ के दर्शन से प्रेरित जीवनोपयोगी

साधन-सूत्र

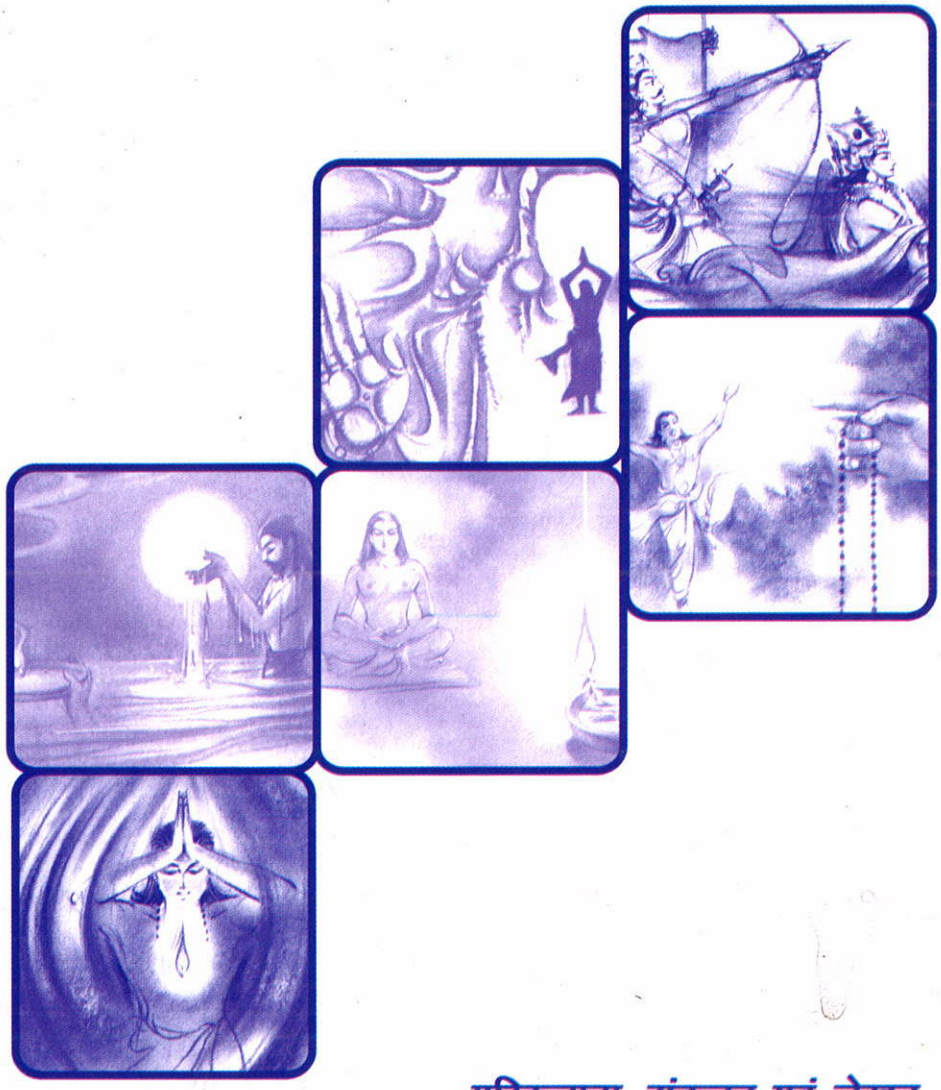

परिकल्पना, संकलन एवं लेखन

एक साधक

प्रार्थना

(प्रार्थना साधक के विकास का अचूक उपाय है तथा आस्तिक प्राणी का जीवन है)

मेरे नाथ!

आप अपनी सुधामयी, सर्वसमर्थ, पतित पावनी अहैतुकी कृपा से दुःखी प्राणियों के हृदय में त्याग का बल एवं सुखी प्राणियों के हृदय में सेवा का बल प्रदान करें, जिससे वे सुख–दुःख के बन्धन से मुक्त हो आपके पवित्र प्रेम का आस्वादन कर कृतकृत्य हो जाएँ।

ॐ आनन्द! ॐ आनन्द! ॐ आनन्द!

हरिः शरणम्

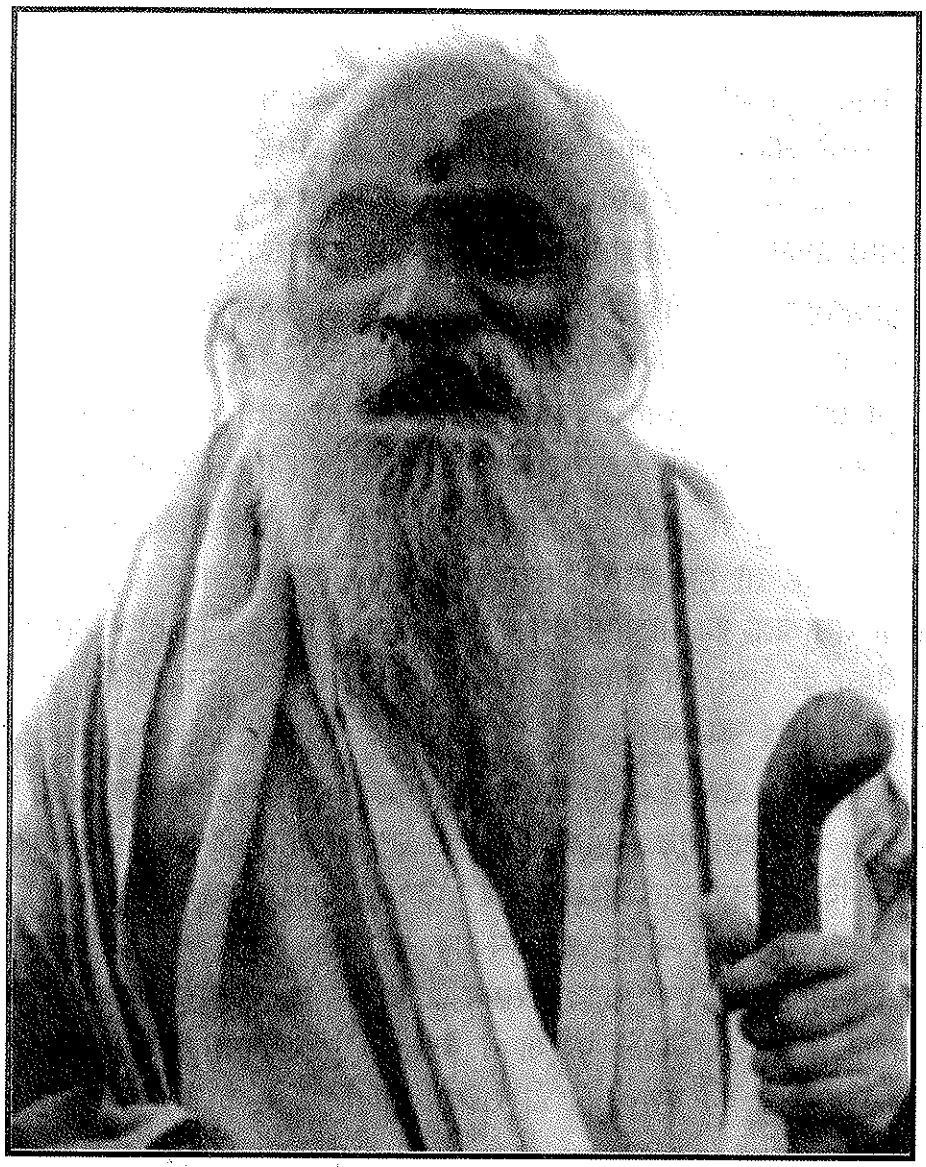

मानव सेवा संघ के प्रवर्तक ब्रह्मनिष्ठ, क्रान्तदर्शी, प्रज्ञा-चक्षु संत शिरोमणि

स्वामी शरणानन्द जी महाराज

आमुख

बीसवीं शताब्दी में परमकोटि के एक संत हुए स्वामी शरणानन्द जी। जो लोग उनसे और उनके नाम से परिचित नहीं हैं, उनकी जानकारी के लिये इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उस युग के महान संतों की परम्परा में वह ब्रह्मनिष्ठ, क्रान्त–दर्शी, प्रज्ञा–चक्षु संत के रूप में विख्यात थे।

आमतौर से जन्म से मृत्यु तक की अवधि को जीवन कहा जाता है। परन्तु स्वामी जी ने बताया कि वास्तव में जीवन तो नित्य, अविनाशी, रसरूप तत्व है। हमें अपने उस वास्तविक स्वरूप की विस्मृति हो जाती है। उस जीवन की प्राप्ति का उपाय उन्होंने सत्संग बताया। सत्संग अर्थात् सत्य का संग।

वैसे तो हम सत्य के संग सर्वदा रहते ही हैं। जब सत्य सदैव और सर्व–व्यापी है तो हम उससे अलग कैसे हो सकते हैं? मात्र विमुखता है। उसकी सम्मुखता का सहज उपाय बताया सत्संग। इसके लिये दो ही पुरुषार्थ हैं, जीवन के सत्य को स्वीकार करना और असत् का त्याग अर्थात् अपनी जानी हुई बुराई का त्याग।

कालान्तर में उन्होंने मानव सेवा संघ (वृन्दावन) की स्थापना किया। मानव जीवन से सम्बन्धित गूढ़ से गूढ़ विषयों का उन्होंने बहुत ही सहज और सरल व्याख्या किया। उसे सुन और पढ़कर पाठक आश्चर्यचकित रह जाते हैं कि बिना आँख वाले और मात्र कक्षा तीन तक पढ़े लिखे व्यक्ति के लिये यह सब कैसे सम्भव हुआ। मानव जीवन सम्बन्धित दर्शन पर उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखवाईं परन्तु उस दर्शन पर अपने नाम की मुहर लगाने के बजाय उसे मानव सेवा संघ का दर्शन की ही संज्ञा दिया।

मेरे विवाह के उपरान्त ऐसे महान संत के सम्पर्क में आने और उनकी करुणामयी कृपालुता पाने का सौभाग्य मेरे जीवन की उच्चतम प्राप्ति है।

विगत कुछ समय से जब मैंने इस दर्शन का विशेष रूप से अध्ययन शुरू किया तब उसके कोई–कोई अंश साधन–सूत्र की भाँति बहुत ही जीवनोपयोगी लगे। उन्हें अपने और अपने इष्टमित्रों के हित की दृष्टि से नोट करता गया। थोड़े से हो गये तो इन्हें देखकर इस विषय के प्रेमी लोगों ने इनकी उपयोगिता का समर्थन किया।

परमकोटि की साधिका माँ दिव्यज्योति (प्रो0 देवकी जी) जिन्होंने मानव सेवा संघ के दर्शन को पूर्णरूपेण आत्मसात् किया था, ने अपने एक उद्‌बोधन में कहा था कि हमें अपने इष्ट–मित्रों में जब भी अवसर मिले, इस दर्शन की चर्चा करते रहना चाहिये जिससे वे अपने वास्तविक जीवन की प्राप्ति के इतने सरल उपाय से परिचित होकर लाभान्वित हों।

इसी भाव से और किसी अदृश्य प्रेरणा से जैसे जैसे जीवन सम्बन्धी प्रश्न् मन में उठते गये, वैसे–वैसे उनके समाधान के रूप में इस दर्शन पर आधारित संकलन बनता गया। इस प्रकार इक्यावन साधन–सूत्रों का संकलन हो गया।

संत–प्रेमी एवं इस विषय में रुचि रखने वाले मित्रों एवं सहयोगियों की प्रेरणा तथा सहयोग से यह संकलन एक पुस्तक के रूप में आपके समक्ष प्रस्तुत है।

उन परमकोटि के संत स्वामी शरणानन्द जी के पावन चरणों में कोटि–कोटि नमन्। इस संकलन का सदुपयोग करके लोग सहज ही अपने नित्य, अविनाशी, रसरूप जीवन का अनुभव करें, इसी सद्‌भावना के साथ

विनीत

हरी मोहन
29 दिसम्बर 2010
मो0: 09415011196

समर्पण

स्नेहमूर्ति सुधा की प्रेममयी पावन स्मृति में कृतज्ञतापूर्वक समर्पित, जिनके मेरे जीवन में आने से परमपूज्य संत स्वामी शरणानन्द जी के सम्पर्क में आने का सौभाग्य बना। सुधा की स्वामी जी के प्रति अटूट श्रद्धा एवं दृढ़ विश्वास से उन संत द्वारा प्रतिपादित मानव दर्शन के प्रति रुचि एवं जिज्ञासा की प्रेरणा मिली। सुधा की संगति के फलस्वरूप ही जीवन का वास्तविक अर्थ समझना और उसकी प्राप्ति के सहज उपाय से अवगत होना सम्भव हुआ जिसके लिये मैं उनका विशेष रूप से आभारी हूँ।

निवेदन

ब्रह्मनिष्ठ, क्रान्तदर्शी, प्रज्ञा–चक्षु संत स्वामी शरणानन्द जी द्वारा प्रतिपादित मानव सेवा संघ दर्शन पर आधारित, जीवन सम्बन्धी प्रश्नों के समाधान के रूप में 51 साधन–सूत्रों का संकलन बना था। उसी क्रम में 20 संकलन और बन गए। पहले संकलनों में यथा आवश्यकतानुसार संशोधन के साथ, उन्हें और इन नये संकलनों को मिलाकर पुनः ये पुस्तक रूप में प्रस्तुत हैं।

जो लोग परमपूज्य स्वामी जी से व्यक्तिगत रूप से परिचित नहीं हैं, उनकी जानकारी हेतु निवेदन है कि उनकी आँखें जब वह 9 (नौ) वर्ष के थे तभी चली गईं थीं। इसलिये शास्त्रों का पठन पाठन हो सकने का प्रश्न् ही नहीं था। उनके सद्गुरु ने कहा– 'ठहरी हुई बुद्धि में श्रुतियों का ज्ञान स्वतः प्रकट होता है–उसकी पाठशाला है एकान्त और पाठ है मौन।' सद्गुरु ने कहा और सद्शिष्य ने माना, परिणाम–उसी ठहरी हुई बुद्धि में ज्ञान का प्रकाश अभिव्यक्त (प्रकट) हो गया।

अतः स्वामी जी का ज्ञान पठित न होकर अनुभूत सत्य है। जब वह बोलते थे तब वह अपनी बात के समर्थन हेतु कभी भी शास्त्रों का उल्लेख नहीं करते थे। कहते थे कि सत्य को प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती–सत्य तो सत्य है।

उनका यह आग्रह कभी नहीं होता था कि जो मैं कह रहा हूँ उसे मान ही लो। बल्कि वह कहते थे कि इसे तुम इसलिये मत मान लो कि शरणानन्द कह रहा है, बल्कि इस पर मनन करना, विचार करना, तुम्हें रुचे–जंचे और अनुभव में आये तो मान लेना।

इस संकलन को सेवा में प्रस्तुत करते हुए निवेदन है कि इसमें उल्लिखित, संत द्वारा सत्य की व्याख्या को उसी भाव से पढ़ा और अपनाया जाय–लाभ अवश्य होगा।

मानव सेवा संघ के दर्शन के रूप में उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखवाईं जो मानव सेवा संघ, वृन्दावन (मथुरा) द्वारा प्रकाशित की गई हैं। कभी कभी लोगों ने उनके प्रवचनों को टेप में रिकार्ड कर लिया था। उनके महाप्रयाण के पश्चात् ऐसे सभी प्रवचनों को एकत्र करके 'संत–वाणी' नाम से कैसेट बनवाये गए। फिर सुविधा हेतु उन्हें पुस्तक के रूप में भी कई खण्डों में छपवाया गया। उनके उद्बोधनों और पत्रों को भी संकलित करके पुस्तक का रूप दिया गया है।

परमकोटि की साधिका देवकी बहिन जी के भी कुछ प्रवचनों, जिन्हें टेपाकिंत कर लिया गया था के 'जीवन–विवेचन' के नाम से कैसेट बनवाये गये और उन्हीं को पुस्तक के रूप में, कई खण्डों में, छपवाया गया है। उन्होंने अपने साधक जीवन और उसमें उठने वाले जीवन सम्बन्धी प्रश्नों को सामने रखकर व्याख्यान दिये हैं जो बहुत ही सुस्पष्ट, सुन्दर और सरस हैं। इनमें ज्ञान, भक्ति और प्रेम का ऐसा समिश्रण है कि पढ़ने वाले का मन गद्गद हो जाता है, और जीवन के सत्य को समझना और अपने जीवन में उतारना सहज हो जाता है।

स्वामी जी की 'संत–वाणी', टेप और सी0डी0 के रूप में और देवकी बहिन जी का 'जीवन–विवेचन' टेप में भी मानव सेवा संघ वृन्दावन (मथुरा) में उपलब्ध हैं। इनसे उनके प्रवचनों/व्याख्यानों को उन्हीं की सजीव वाणी में सुना जा सकता है।

इस संकलन में सारी चर्चा के सार के रूप में मानव सेवा संघ का एक पद नीचे प्रस्तुत है और इसी के साथ साधन–सूत्र संकलन की इति होती है।

मैं नहीं मेरा नहीं यह तन किसी का है दिया
जो भी अपने पास है वह धन किसी का है दिया
देने वाले ने दिया वह भी दिया किस शान से
मेरा है यह लेने वाला कह उठा अभिमान से
मैं मेरा यह कहने वाला मन किसी का है दिया
मैं नहीं मेरा नहीं यह तन किसी का है दिया
जो भी अपने पास है वह धन किसी का है दिया

जो मिला है वह हमेशा, पास रह सकता नहीं
कब बिछुड़ जाये यह राज़ कोई कह सकता नहीं
ज़िन्दगानी का खिला मधुवन किसी का है दिया
मैं नहीं मेरा नहीं यह तन किसी का है दिया
जो भी अपने पास है वह धन किसी का है दिया

जग की सेवा, खोज अपनी, प्रीति उनसे कीजिये
ज़िन्दगी का राज़ है यह जानकर जी लीजिये
साधना की राह पर साधन किसी का है दिया
मैं नहीं मेरा नहीं यह तन किसी का है दिया
जो भी अपने पास है वह सब किसी का है दिया

X X X X X X

विनीत
हरीमोहन
दिसम्बर 6, 2011
{मोक्षदा एकादशी–गीता जयन्ती
मानव सेवा संघ स्थापना दिवस}

पुनर्निवेदन

'साधन–सूत्र' पुस्तक सर्वप्रथम 29 दिसम्बर 2010 को वितरित हुई थी। सभी प्रतियों के बँट जाने और उसी बीच 20 और नये साधन–सूत्र बन जाने से, उन्हें शामिल करते हुए 71 साधन–सूत्रों का संकलन की पुस्तक द्वितीय संस्करण के रूप में पावन तिथि–मोक्षदा एकादशी, गीता जयन्ती, मानव सेवा संघ का स्थापना दिवस (6 दिसम्बर, 2011) पर बनी। जितनी प्रतियाँ छपी थीं वे समाप्तप्राय हैं। उसी अदृश्य प्रेरणा से जिससे अब तक संकलन बनते रहे, 09 और नये साधन–सूत्र के संकलन बन गये हैं। मानव सेवा संघ से जुड़े पुराने लोगों ने, सत्य के जिज्ञासुओं और वास्तविक जीवन की प्राप्ति की राह के खोजी लोगों ने इस दर्शन में रुचि दिखलाई है और इस पुस्तक की मांग की है।

अतः इन नये साधन–सूत्रों को जोड़कर इस पुस्तक का तृतीय संस्करण संत–प्रेमी एवं इस दर्शन के ग्राही माहनुभावों की सेवा में प्रस्तुत है।

सभी लोग सेवा, त्याग, प्रेम को अपना कर अपने जीवन की माँग–शान्ति, स्वाधीनता और प्रियता की पूर्ति प्राप्त करें–इसी सद्भावना के साथ

विनीत
हरीमोहन
24 अप्रैल 2012
(अक्षय तृतीया)

"बुराई रहित हो जाओ, भलाई होने लगेगी।
ममता, कामना छोड़ दो, शान्ति मिल जायेगी।
अहम् का अभिमान गला दो, स्वाधीन जीवन मिल जायेगा।
प्रभु को अपना मान लो, ध्यान–भजन–पूजन स्वतः होगा।"
–ब्रह्मलीन संत परमपूज्य स्वामी शरणानन्द जी

पुनर्निवेदन–2

मानव सेवा संघ के दर्शन पर आधारित मानव–जीवन सम्बंधी प्रश्नों का समाधान रूपी 80 साधन–सूत्रों का संकलन 'साधन–सूत्र' पुस्तक के रूप में 24 अप्रैल 2012 (अक्षय तृतीया) को बना और छपकर इस दर्शन में रुचि रखने वालों में वितरण प्रारम्भ हुआ। कुछ ऐसा संयोग हुआ कि यह पुस्तक हरियाणा, उत्तर प्रदेश के अतिरिक्त राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र आदि प्रदेशों में अनेक लोगों के पास पहुँची। उत्साहवर्धक बात यह हुई कि बिल्कुल अपरिचित लोग, किसी के पास यह पुस्तक देखकर अपने लिये, अपने इष्ट–मित्रों के लिये माँग करते रहे और उन्हें सेवा–भाव से निःशुल्क उपलब्ध कराया जाता रहा। यह क्रम अभी भी जारी है। उत्साहवर्धक, इसलिये कि जिस प्रकार लोगों ने इस पुस्तक की माँग की उससे यह संकेत मिला कि अपने वास्तविक जीवन की प्राप्ति के लिये लोगों में उत्कण्ठा है और मानव सेवा संघ के दर्शन में उन्हें उसकी सहज राह दिखाई दे रही है।

जितनी पुस्तकें छपीं थीं, वे समाप्त–प्राय हैं। जिस प्रेरणा से पिछले साधन–सूत्रों का संकलन हुआ, उसी अदृश्य प्रेरणा से 21 और साधन–सूत्रों का संकलन बन गया है। लोगों में इस दर्शन के प्रति रुचि और पुस्तक की माँग को ध्यान में रखते हुए इन नये साधन–सूत्रों को भी छपवाने का भाव बना। अतः इन्हें मिलाकर 101 साधन–सूत्रों की पुस्तक, इस श्रृंखला में चतुर्थ संस्करण के रूप में साधक–समाज एवं साधन–पथ के खोजी लोगों की सेवा में प्रस्तुत है।

जिन लोगों को पुस्तक का तृतीय संस्करण मिल चुका है उनके लिए इन नये 21 साधन–सूत्रों को पूरक–पुस्तक–2 (Supplement-2) के रूप में छपवा कर उनकी सेवा में प्रेषित होगा।

'साधन–सूत्र' पुस्तक में प्रारम्भ से ही ब्रह्मनिष्ठ, क्रान्तदर्शी, प्रज्ञा–चक्षु संत स्वामी शरणानन्द जी के वचनों के उद्धरण के साथ–साथ माँ दिव्यज्योति (प्रो0 देवकी जी) के प्रवचनों के काफ़ी अंश उद्धरित हैं।

जो लोग स्वामी शरणानन्द जी से पूर्व परिचित नहीं हैं, उन्हें 'आमुख' और 'निवेदन' तथा इन साधन–सूत्रों से उनके जीवन–वृत्त की काफ़ी जानकारी हो जाती है। मानव सेवा संघ वृन्दावन द्वारा प्रकाशित पुस्तिका 'सन्त–जीवन–दर्पण' से उन महान संत का पर्याप्त परिचय मिल जाता है।

इस दर्शन के प्रेमी लोगों में जिज्ञासा हुई कि देवकी बहिन जी जिनका नाम पुस्तक में बार–बार आया है, उनका परिचय क्या है। उनके जीवन–वृत्त को जानने की उत्सुकता हुई।

'साधन–सूत्र' पुस्तक में मूल रूप से उनका परिचय परम कोटि की साधिका के रूप में है जिन्होंने मानव सेवा संघ के दर्शन को पूर्ण रूपेण आत्मसात् किया था। उनके जीवन–वृत्त का कुछ अनुमान किन्हीं साधन–सूत्रों में वर्णित प्रसंग से हो जाता है।

स्वामी शरणानन्द जी की ही भाँति उन्होंने भी अपनी जीवनी न तो लिखी और न ही बताई। प्रसंगवश कुछ चर्चाओं और उन्हीं के लेखों में उपलब्ध तथ्यों को जोड़कर एक प्रकार से उन का जीवन–वृत्त बनता है। उनके जीवन–वृत्त की यह विशेषता है कि वह स्वयँ में मानव सेवा संघ दर्शन का प्रयोगात्मक (Practical) रूप है अर्थात् उनका जीवन–वृत्त ही बोलता है कि यह दर्शन क्या है। दूसरी बात, उनका जीवन प्रभु की अपार करुणा की ही देन है और साधक–समाज को प्रभु की करुणा, महिमा के प्रति श्रद्धा और विश्वास को दृढ़ता प्रदान करता है।

प्रभु की करुणा और उनके जीवन का समन्वित रूप है, साधन–सूत्र संख्या–81 शीर्षक "करुणा–सिन्धु प्रभु! उनका स्वभाव ही है करुणा।"

स्वामी शरणानन्द जी का मिशन था 'सोई हुई मानवता को जगाना' दूसरे शब्दों में 'व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण'। इस हेतु उन्होंने मानव समाज को बहुत ही सरल जीवन–दर्शन प्रदान किया जिसमें कोई श्रम और पराश्रय का रोल ही नहीं है। मात्र 'स्व' द्वारा स्वीकृतियाँ हैं जो सबके द्वारा समान रूप से सहज ही अपनायी जा सकती हैं। इस दर्शन को अपने जीवन में उतार कर हम अपना कल्याण तो करें ही, साथ में इसके अधिक से अधिक प्रचार प्रसार में सहयोगी बनकर सुन्दर समाज के निर्माण में सहायक बनें; यही गुरु की और मानव सेवा संघ की वास्तविक सेवा होगी।

इस पुस्तक का कोई कॉपी–राइट नहीं है। यदि कोई उदारमना, सेवाभावी सज्जन इसे छपवाना चाहें अथवा इस संकलन को किसी अन्य भाषा में अनुवादित करना चाहें तो सहर्ष कर सकते हैं। इस दर्शन का लाभ उठाने वालों का दायरा बढ़ेगा तो सुन्दर समाज के निर्माण में सहायक ही होगा। पर आग्रह यह है कि इसे साधन–पथ के राही और सत्य के खोजी लोगों में निःशुल्क बाँटा जाय। इसका विक्रय (बिक्री) न किया जाय।

अन्त में इस संकलन के इति के पूर्व लेखक की अपनी बात। प्रभु की महिमा अपरम्पार है। उनके मित्र ब्रह्मनिष्ठ, क्रान्तदर्शी, प्रज्ञा–चक्षु संत की महिमा अपरम्पार है। जिन्होंने इस संकलन की प्रेरणा दिया, वही लेखन–सामग्री भी देते गये। लेखक का इतना ही रोल रहा कि उसके हाथ से कलम चलती रही।

उनके पावन चरणों में कोटि कोटि नमन्। उनकी करुणामयी कृपा से समस्त मानव–जाति का कल्याण हो, इसी सद्भाव के साथ

विनीत
हरी मोहन
19 अप्रैल 2013
(श्री रामनवमी)

विलक्षण संत स्वामी शरणानन्द जी

ऋषिकेश में संत–मण्डली एकत्र थी, प्रवचन का कार्यक्रम चल रहा था। जो संत बोल रहे थे उनसे एक श्रोता ने पूछा कि क्या आपने ईश्वर को देखा है। वे संत चुप रहे। स्वामी शरणानन्द जी तत्काल अपनी लाठी टेककर खड़े हो गये और बोले 'हाँ, मैंने देखा है'। प्रश्नकर्ता ने फिर पूछा कि कैसा है। स्वामी जी ने कहा 'मेरे जैसा है'।

विलक्षण स्पष्ट बोध! जब केवल ईश्वर ही है, कोई और या कुछ और है ही नहीं, तो हम उसी के अंश तो हैं। 'वह' मेरे जैसा है और 'मैं' उसके जैसा हूँ।

विषय–सूची

संख्या	शीर्षक	पृष्ठ संख्या
1	साधन में सफलता का मंत्र	1
2	मैं और मेरे प्रभु	2
3	शरणागत जीवन	3
4	मनुष्य जीवन का गौरव	4
5	एक साधक की गुरु-दीक्षा	5
6	मानव की माँग	6
7	जीते जी अमर हो जायें	7
8	मानव जीवन की धन्यता	8
9	श्री राम का ईश्वरत्व व मनुष्यत्व	9
10	प्रभु के नाते की हुई हर प्रवृत्ति पूजा-भक्ति है	10–11
11	साधन-पथ पर	12
12	आनन्दमय वृद्धावस्था का मंत्र	13
13	सन्यास का अर्थ	14–15
14	मानव जीवन में गुण-दोष	16–18
15	साधक, साधन और साध्य	19–20
16	साधन-पथ के लिए टॉर्च	21–22
17	सहज, सुन्दर जीवन	23
18	अपने प्रति न्याय	24
19	भले से भलाई	25–28
20	साधन-पथ के लिये गुरु	29–31
21	ईश्वर-दर्शन और ईश्वर-प्राप्ति	32–34
22	मनुष्य जन्म की सार्थकता	35–37
23	मनुष्य जीवन की सार्थकता : उपयोगी होना–सो कैसे हों	38–39
24	आस्था-श्रद्धा-विश्वास	40–42
25	मन की चंचलता	43–46
26	एक ही अनेक रूपों में	47–48
27	क्या सुख-भोग ही जीवन है?	49–51
28	साधन रूपी पारम्परिक प्रवृत्तियों का मानव सेवा संघ दर्शन में अर्थ	52–55
29	दुःख है क्या?	56–58
30	जीवन में अशान्ति क्यों?	64–68

31	जीवन में अशान्ति से छुटकारा : एक अन्य दृष्टि-कोण	69–70
32	मानव जीवन में निवृत्ति काल का सदुपयोग	71–74
33	सेवा का अर्थ और स्वरूप	75–79
34	मानव सेवा संघ दर्शन में साधना का अर्थ और साधना-प्रणाली	80–85
35	सत्संग का अर्थ और स्वरूप	100–103
36	'मैं' हूँ क्या?	104–105
37	व्यर्थ-चिन्तन क्या है और उससे कैसे छुटकारा मिले	106–112
38	व्यापार : साधक की दृष्टि में	113–115
39	मानव जीवन में वर्तमान की निर्दोषता	116–118
40	भक्ति : अर्थ एवं स्वरूप तथा भक्त के लक्षण	119–123
41	करने में सावधान और होने में प्रसन्न रहना	124–126
42	अहैतुकी कृपा करने वाले अतिशय दयालु प्रभु	127–131
43	ठहरी हुई बुद्धि में श्रुतियों का ज्ञान स्वतः प्रकट होता है	132–135
44	क्या ईश्वर केवल माना ही जा सकता है, जाना नहीं जा सकता	136–139
45	मानव जीवन का अभिशाप : राग-द्वेष	140–142
46	गुरु के अनेक शरीर	143–144
47	प्रभु-प्रेम की प्राप्ति का सहज उपाय	145–146
48	मंगलकारी प्रभु का मंगलमय विधान	147–150
49	क्या चाह और कामना के अभाव में, निष्क्रियता आ जायेगी?	151–154
50	जीवनोपयोगी संत-वचन (भाग–1)	155–158
51	जीवनोपयोगी संत-वचन (भाग–2)	159–164
52.	क्या प्रभु की दृष्टि में पात्र–अपात्र का भेद है?	165–168
53.	मानव जीवन में क्षमा-प्रार्थना और क्षमाशीलता का महत्व	169–172
54.	मानव जीवन की विडम्बना (Irony)	173–175
55.	हमारा जीवन कैसा है-एक विश्लेषण	176–181
56.	गुरु अलौकिक तत्व अथवा शरीर?	182–184
57.	ईश्वर और उनके अवतार	185–188
58.	मृत्यु है क्या, मृत्यु का डर क्यों?	189–194
59.	मानव-जीवन और नीरसता! ऐसा क्यों?	195–199
60.	क्या प्रभु की मर्ज़ी के बिना पत्ता भी नहीं हिलता?	200–201
61.	शरणागति-तत्व : साधन-पथ में शरण, सफलता की कुंजी है	202–205
62.	करने का राग और उसकी निवृत्ति	206–211
63.	क्या सुख–भोग ही जीवन है- एक अन्य पहलू	212–214
64.	जीवनोपयोगी संत-वचन (भाग-3)	215–223
65.	'मैं' और शरीर का सम्बन्ध है क्या?	224–227

66.	साधक के जीवन में शरीर का महत्व एवं उपयोगिता	228–230
67.	त्याग है क्या? त्याग किसका करना?	231–234
68.	व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण	235–239
69.	जीवन में साधन के साथ साथ असाधन भी-ऐसी साधना निरर्थक	240–242
70.	योग तथा ध्यान का अर्थ एवं स्वरूप	243–248
71.	सत्संग मानव का स्वधर्म है	249–254
72.	साधक की दृष्टि से अध्ययन का अर्थ एवं तात्पर्य	255–258
73.	जप : अर्थ, स्वरूप एवं महिमा	259–264
74.	मानव सेवा संघ दर्शन में भक्त और भक्ति	265–269
75.	मनुष्य जन्म का अर्थ	270–276
76.	मानव सेवा संघ के दर्शन में मानवाधिकार	277–284
77.	मानव सेवा संघ के दर्शन से कुछ महत्वपूर्ण जीवनोपयोगी उद्धरण	285–292
78.	प्रभु–विश्वास और अहं का अभिमान!!	293–298
79.	निःसंकल्पता का आनन्द	299–305
80.	मानव जीवन के सबसे ऊँचे विकास के लिये सर्व–मान्य सार्वभौम सत्य	306–310
81.	करुणा–सिन्धु प्रभु का स्वभाव ही है करुणा	311–321
82	भजन क्या है?	322–327
83	करने का होने में परिवर्तन	328–330
84	समाज में मनुष्य–मनुष्य में भेद क्यों?	331–334
85	सृष्टि में जड़ और चेतन का भेद!!	335–340
86	आस्तिकता–नास्तिकता	341–349
87	जीवनोपयोगी संत–वचन (भाग–4)	350–359
88	मानव जीवन में श्रम और विश्राम का सापेक्ष महत्व	360–365
89	'व्यक्तित्व' एवं 'व्यक्तित्व के नाश' का अर्थ और उसमें बाधा क्या है	366–370
90	अपने दोषों को जानकर भी उनके होने का दुःख क्यों नहीं होता	371–375
91	क्रोध क्यों आता है? उसका निदान कैसे?	376–380
92	अचाह पद की महिमा	381–383
93	जीवनोपयोगी संत–वचन (भाग–5)	384–392
94	अभिमान है क्या, क्यों होता है, उसके कुपरिणाम?	393–396
95	जीते जी मर जाय अमर हो जावे	397–399
96	मानव जीवन में सुख, शान्ति, प्रसन्नता और आनन्द–एक विवेचन	400–403
97	साधन सम्बन्धी कुछ छिटपुट विचार	404–410
98	सबसे अधिक आश्चर्यजनक रचनाः– मनुष्य का 'मैंपन'	411–414
99	साधन की अभिव्यक्ति में विलम्ब अथवा असफलता क्यों?	415–420
100	साधन का चयन	421–425
101	मानव सेवा संघ के दर्शन की विशेषता एवं उपादेयता	426–431
	समापन	432–434

●●●

शरणागति

हरिः शरणम्, हरिः शरणम्, हरिः शरणम्, हरिः शरणम्
हरिः शरणम्, हरिः शरणम्, हरिः शरणम्, हरिः शरणम्
हरिः शरणम्, हरिः शरणम्, हरिः शरणम्, हरिः शरणम्
हरिः शरणम्, हरिः शरणम्, हरिः शरणम्, हरिः शरणम्
हरिः शरणम्, हरिः शरणम्, हरिः शरणम्, हरिः शरणम्

सर्वहितकारी प्रार्थना

हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर (पाँच बार)
हे समर्थ, हे करुणा सागर, विनती यह स्वीकार करो
हे समर्थ, हे करुणा सागर, विनती यह स्वीकार करो
भूल दिखाकर उसे मिटाकर, अपना प्रेम प्रदान करो।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर, अपना प्रेम प्रदान करो।
पीर हरो हरि, पीर हरो हरि, पीर हरो, प्रभु पीर हरो।
पीर हरो हरि, पीर हरो हरि, पीर हरो, प्रभु पीर हरो।

* "मैं तो मानव बनने की दीक्षा देता हूँ" *

एक समय कॉलेज की एक छात्रा ने स्वामी शरणानन्द जी से मंत्र–दीक्षा का अनुरोध किया। उत्तर में स्वामी जी ने कहा **"मैं मंत्र–दीक्षा नहीं देता। मैं तो मानव बनने की दीक्षा देता हूँ।"** इतना कहकर उससे पाँच वाक्य दोहरवाये– **1. मेरा कुछ नहीं है 2. मुझे कुछ नहीं चाहिये 3. प्रभु मेरे अपने हैं 4. सब कुछ प्रभु का है 5. उनका प्रेम ही मेरा जीवन है।** इन पाँच वाक्यों को दोहरवाकर बोले– **'जाओ हो गई दीक्षा'**।

साधन-सूत्र : 1

साधन में सफलता का मंत्र

❖ साधन–पथ में

➢ "हार स्वीकार मत करना।"

➢ "आंशिक सफलता से सन्तुष्ट मत हो जाना।"

➢ "पूर्णता से निराश मत होना।"

– ब्रह्मलीन संत परमपूज्य स्वामी शरणानन्द जी महाराज

नोटः *तात्पर्य है कि मन में इस बात की निराशा न हो कि साधना की पूर्णता मुझे नहीं मिलेगी।*

■

साधन-सूत्र : 2

विश्वास–पथ की दीक्षा
मैं और मेरे प्रभु

➢ प्रभु मेरे हैं–

प्रभु से मेरा नित्य आत्मीय सम्बन्ध है। प्रभु मेरे अपने हैं–सो मुझे प्यारे लगते हैं। प्यारे की नित्य स्मृति स्वाभाविक है। प्रभु–स्मृति और प्रभु–प्रेम ही मेरा जीवन है।

➢ मैं प्रभु का हूँ–

प्रभु सर्वसमर्थ, करुणावान और शरणागत्–वत्सल हैं। मुझे प्रभु अपना करके जानते और मानते हैं। सो मेरे जीवन में भय और चिन्ता का कोई स्थान ही नहीं। मैं निर्भय, निश्चिन्त हूँ।

➢ प्रभु में ही मेरा नित्य निवास है–

केवल प्रभु ही हैं, उनके अतिरिक्त कोई और नहीं, कुछ और नहीं। प्रभु आदि–अन्त रहित हैं। वे सदैव हैं, सर्वत्र हैं। सो मैं प्रभु में हूँ और प्रभु मुझमें हैं। प्रभु सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। सर्वत्र सदैव आनन्द ही आनन्द है। सो मैं नित्य आनन्द में हूँ।

➢ *ब्रह्मलीन संत परमपूज्य स्वामी शरणानन्द जी महाराज*

साधन-सूत्र : 3

शरणागत जीवन

- "शरणागति भाव है कर्म नहीं।"
- "शरणागत विश्वासी साधक अपने सभी आत्मीय जनों को समर्थ (प्रभु) के हाथों समर्पित करके निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाता है।"
- "शरणागत के आवश्यक कार्य प्रभु स्वयं पूरा करते हैं।"

– ब्रह्मलीन संत परमपूज्य स्वामी शरणानन्द जी महाराज

*परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि शरणागत अकर्मण्य और उदासीन (**indifferent**) हो जाये। उसको तो उन्हीं के आश्रित होकर निश्चिन्त भाव से अपना कर्तव्य–कर्म निष्ठा, ईमानदारी और मेहनत से अपनी पूरी योग्यता लगाकर करते रहना है।*

साधन-सूत्र : 4

मनुष्य जीवन का गौरव

"चाहे हम कुछ भी छोटे से छोटा काम कर रहे हों ऐसा मान कर करें कि विश्व रूपी वाटिका का एक छोटा–सा भाग, मैं भी कर रहा हूँ। हर आदमी को इस बात का गौरव हो कि चाहे मैं मज़दूर हूँ तो क्या और कोई मिल–ओनर है तो क्या। मैं क्लर्क हूँ तो क्या, मैं समाज का उतना ही बड़ा प्रतिनिधि हूँ जितना कोई भी है। लेकिन आज इस बात को भूल जाते हैं और समझने लगते हैं कि मिल–ओनर समाज का बड़ा प्रतिनिधि है और मज़दूर छोटा प्रतिनिधि है।"

"अरे भाई, ज़रा विचार करके देखो, आपने किसी मशीन को देखा है ? कोई पुर्ज़ा बहुत छोटा है और कोई पुर्ज़ा बहुत बड़ा है। छोटे से छोटे पुर्ज़े के बिना मशीन चलेगी क्या ? क्या राय है ? शरीर को देखो, सर सबसे ऊँचा रहता है और पैर सबसे नीचे। तो सर बहुत बड़ा हो गया और पैर छोटा हो गया ?"

"आज मनुष्य, मनुष्य होने में जीवन का गौरव है इस बात को भूल गया और परिस्थिति के आधार पर अपने जीवन का मूल्यांकन करने लगा। मैं बड़ा आदमी इसलिये हूँ कि मेरे पास इतना पैसा है। मैं बड़ा आदमी इसलिये हूँ कि मुझे ऐसा पद मिला है, मैं बड़ा आदमी इसलिये हूँ क्योंकि मुझमें अधिक योग्यता है। केवल अधिक योग्यता होने से कोई बड़ा आदमी नहीं हो जाता। ..... तो करने वाली बात तो यह है कि तुम भी बुराई रहित हो जाओ और मैं भी बुराई रहित हो जाऊँ। तुम अपनी सामर्थ्य के अनुसार भलाई करो, मैं अपनी सामर्थ्य के अनुसार भलाई करूँ।"

"जो आपका–हमारा फ़र्ज़ है उसे पूरा कर दो। आप अपनी परिस्थिति का सदुपयोग करो, मैं अपनी परिस्थिति का सदुपयोग करूँ।"

– ब्रह्मलीन संत परमपूज्य
स्वामी शरणानन्द जी महाराज

■

साधन-सूत्र : 5

एक साधक की गुरु–दीक्षा

"घर गृहस्थी का सब काम, पति तथा सन्तान की सेवा, सब प्रभु की पूजा ही तो है। कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति का प्रत्येक कार्य पूजा है। बड़े प्रेम से करो। चलते फिरते जब सहज भाव से याद आ जाय तब मंत्र दुहरा लिया करो। मंत्र–जाप को अपने लिये बोझ मत बनाओ।

प्रभु की सत्ता को स्वीकार करना और उनकी प्रसन्नता के लिये कर्तव्यपालन द्वारा उनकी पूजा करना– बस, इतनी सी बात है। प्रभु विश्वासी के मुँह से सुनकर प्रभु में विश्वास कर लेना ही तो गुरुभक्ति है। प्रभु–विश्वास दृढ़ है तो इससे बढ़कर और कोई कर्तव्य गुरु के प्रति नहीं है। ..... प्रभु में विश्वास रखना है और उनके बल पर अपने में विश्वास रखना है।"

– ब्रह्मलीन परमपूज्या दिव्यज्योति जी (देवकी बहन जी)

■

साधन-सूत्र : 6

मानव की माँग

"मानव–जीवन की तीन विभूतियाँ हैं–
निश्चिन्तता, निर्भयता और प्रियता।

जो कुछ हो रहा है, वह मंगलमय विधान से हो रहा है–ऐसा मान लेने पर निश्चिन्तता आती है।

जो शरीर, प्राण आदि किसी भी वस्तु को अपना नहीं मानता, वह निर्भय हो जाता है।

जो 'है' वही मेरा अपना है– इसमें जिसने आस्था स्वीकार कर ली, उसी में प्रियता उदित होती है।

निश्चिन्तता से शान्ति, निर्भयता से स्वाधीनता तथा प्रियता से रस की अभिव्यक्ति होती है। यही मानव की माँग है।"

– ब्रह्मलीन संत परमपूज्य स्वामी शरणानन्द जी महाराज

नोट : 'है' से तात्पर्य उस नित्य विद्यमान, अविनाशी, सर्वव्यापी, महिमावान, सर्व का प्रकाशक, आदि–अन्त रहित परमतत्व से है, जिसे हम लोग ईश्वर, भगवान, ब्रह्म आदि नामों से सम्बोधित करते हैं।

■

साधन-सूत्र : 7

जीते जी अमर हो जायें

"प्रत्येक क्षण, प्रत्येक श्वांस काल रूपी अग्नि में लगातार जल रहा है। उस पर दृष्टि रख, जीवन की आशा त्याग, मरने से पहले जीते जी मर जाना चाहिए, अर्थात् जीवन तथा मृत्यु के स्वरूप में भेद मिटा देना चाहिए। ऐसा होने पर आपको अपने वास्तविक स्वरूप का बोध अवश्य होगा और ऐसा होने से यह सर्वजगत जो प्रतीत होता है, लय हो जाता है, वही आपका वास्तविक स्वरूप है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। देह में आत्मबुद्धि का त्याग होने पर जीवन और मृत्यु में भेद नहीं रहता, ऐसा अनुभव करने वाले महापुरुषों का कथन है।"

– ब्रह्मलीन संत परमपूज्य स्वामी शरणानन्द जी महाराज

■

स्वामी शरणानन्द जी को सन्यास देने वाले गुरु ने एक बार विदा होते समय कह दिया कि बेटा, जब तुम आज़ाद हो जाओगे, तो सारी प्रकृति तुम्हारी सेवा के लिये लालायित रहेगी, चराचर जगत तुम्हारी आवश्यकता–पूर्ति के लिये लालायित रहेगा। वृक्ष तुम्हें फल–फूल देंगे और खूँखार शेर तुम्हें गोद में लेकर तुम्हारी रक्षा करेंगे।

इतना कहकर सद्गुरुदेव ने स्वरचित एक दोहा सुना दिया–

"जीते जी मर जाय, अमर हो जावे।
दिल देवे, सो दिलवर को पावे।।'

साधन-सूत्र : 8

मानव जीवन की धन्यता

ए मन तुम गाओ गान यही, हरिः शरणम् हरिः शरणम्।
दिखता है भाव महान यही, हरिः शरणम् हरिः शरणम् ।।

चाहे कितना दुःख सुख होवे, तू कर्मों से ना विमुख होवे।
निकले अन्तर से तान यही, हरिः शरणम् हरिः शरणम्।।

रहना हो घर में या वन में, चिन्ता न रहे कोई मन में।
है सहज सुलभ सद् ज्ञान यही, हरिः शरणम् हरिः शरणम्।।

सुख साम्राज्य पाये तो क्या, या सर्वस खो जाये तो क्या।
भक्तों को तो अभिमान यही, हरिः शरणम् हरिः शरणम्।।

फल ये ही मानव जीवन का, सम्बन्ध छोड़ धन वैभव का।
पा जाये परम स्थान यहीं, हरिः शरणम् हरिः शरणम्।।

मिलती इससे सच्ची सद्गति है, यह कितनी सुन्दर सम्मति है।
बस रहे 'पथिक' का ध्यान यही, हरिः शरणम् हरिः शरणम्।।

—पूज्य स्वामी पथिक जी

■

साधन-सूत्र : 9

श्री राम का ईश्वरत्व व मनुष्यत्व

"प्रसंग है भगवान श्री राम का, श्री वाल्मीकि रामायण और श्री रामचरित मानस में, ईश्वरत्व और मनुष्यत्व का वर्णन का।

प्रश्न् है कि हमें किसका अनुगमन करते हुये चलना है।

यद्यपि मैं तो यही कहूँगा कि अगर आप दोनों में से एक के साथ आयेंगे तो घाटे में रहेंगे, कि और दोनों को स्वीकार करेंगे तो दुहरा लाभ होगा। श्री राम को अगर आप केवल ईश्वर मानेंगे, मनुष्य नहीं स्वीकार करेंगे, तो जीवन में उनके चरित्र से शिक्षा ग्रहण नहीं करेंगे। और दूसरी ओर अगर आप उनको मात्र मनुष्य ही मानेंगे तो फिर समस्या यह है कि मनुष्यों के अगणित चरित्र इतिहास में विद्यमान हैं ही, परन्तु हमें तो ऐसे पात्र की आवश्यकता है जो इतना शक्तिमान हो कि अपने चरित्र को जीवन में उतारने की शक्ति हमें दे सके। श्री राम को यदि केवल मनुष्य मानेंगे, तब तो केवल भूतकाल के पात्र होंगे।.....

इसका उपाय यही है कि श्री राम के ईश्वरत्व से शक्ति लीजिये, तथा मनुष्यत्व से प्रेरणा लीजिये।"

– ब्रह्मलीन परमपूज्य रामकिंकर जी,
"सुन्दरकाण्ड की सुन्दरता"
नामक पुस्तक में

■

स्वामी शरणानन्द जी के महाप्रयाण के पूर्व स्वामी रामसुखदास जी ने पूछा– महाराज, भगवत् प्राप्ति हो गई, इसका क्या थर्मामीटर है? स्वामी शरणानन्द जी महाराज ने सूत्र में उत्तर दिया– "व्यक्तित्व का नाश"।

साधन-सूत्र : 10

प्रभु के नाते की हुई हर प्रवृत्ति पूजा-भक्ति है

"ईश्वर सबमें हैं। मैं जो कुछ भी करता हूँ उस सबको ईश्वर देखते हैं। जो ऐसा अनुभव करता है, उसका प्रत्येक व्यवहार भक्तिमय बनता है।"

"जिसका व्यवहार शुद्ध है, वह जहाँ बैठा है वहीं भक्ति करता है और वहीं उसका मन्दिर है। व्यवहार और भक्ति में बहुत अन्तर नहीं है। अमुक समय भक्ति का और अमुक समय व्यवहार का, ऐसा विभाजन नहीं है।"

"बहुत से लौकिक कार्यों से विश्राम लेने के बाद जो भी समय मिले, उसमें भक्ति करना मर्यादा भक्ति कही जाती है। .....परन्तु पुष्टि भक्ति में व्यवहार और भक्ति अलग–अलग नहीं होते। एक ही होते हैं।. ..... प्रत्येक कार्य में ईश्वर का अनुसंधान, इसे कहते हैं पुष्टि भक्ति।"

"केवल अपने लिये ही कार्य करो यह पाप है। घर के मनुष्यों के लिये काम करो, यह व्यवहार है और परमात्मा के लिये काम करो, यह भक्ति है। कार्य तो एक ही, परन्तु इसके पीछे भावना में बहुत फ़र्क है। महत्व क्रिया का नहीं, क्रिया के पीछे हेतु क्या है, भावना क्या है– यह महत्वपूर्ण है।"

"भक्ति के लिये प्रवृत्तियों का निरन्तर त्याग करने की आवश्यकता नहीं है। प्रवृत्तियों को सतत् भक्ति बनाओ।..... अपने प्रत्येक प्रवृत्ति को भक्तिमय बनाओ।"

"धंधा करने में ईश्वर को भूलो नहीं, तो तुम्हारा धंधा ही भक्ति बन जायेगा।... ... कोई कोई वैष्णव दुकान में श्री द्वारिकानाथ जी का चित्र पधराते हैं, यह ठीक है, परन्तु द्वारिकानाथ सदा हाज़िर हैं, ऐसा समझ कर व्यवहार करे, यह बहुत ज़रूरी है। जब तक देह का भान है, तब तक व्यवहार तो करना ही पड़ेगा। व्यवहार करो परन्तु व्यवहार करते करते, परमात्मा सबमें विराजते हैं, यह मत भूलो। व्यवहार में अपने धर्म को मत छोड़ो।".....

"जब तक यह देहाभिमान है (मैं यह हूँ , मैं वह हूँ , मैं पुरूष या स्त्री हूँ) जब तक आत्मस्वरूप का ज्ञान हुआ नहीं है, तब तक धर्म की बहुत ज़रूरत है।"

"भक्ति भी धर्म की मर्यादा में रहकर करो। ....स्वधर्म का पालन करो। .....सनातन धर्म का दर्शन करना हो तो तुम राम जी का दर्शन करो। राम के चरित्र का मनन करो। .....सनातन धर्म ईश्वर का स्वरूप है। धर्म साधन भी है और साध्य भी है। ....सनातन धर्म राम जी का स्वरूप है। ..... राम जी की सेवा से ही शान्ति मिलती है। राम जी का एक एक गुण जीवन में उतारना, यही राम जी की उत्तम सेवा है। राम जी की सेवा अर्थात् राम जी की मर्यादा का पालन करना।"

"श्री राम जी में समस्त गुण एकत्रित हुए हैं। श्री राम अर्थात् जगत के समस्त दिव्य सद्गुणों के भण्डार, यही तो श्री राम हैं। राम की मातृ–पितृ भक्ति, राम जी का बन्धु–प्रेम, राम जी का संयम, राम जी का सदाचार, राम जी की सरलता, राम जी का एक पत्नीव्रत, राम जी का एक वचन, राम जी की उदारता, राम जी की शरणागत–वत्सलता, राम जी का विनय, राम जी की मधुर वाणी आदि सभी दिव्य सद्गुण राम जी में एकत्रित हुये हैं।"

– श्रीमद्भागवत के प्रकाण्ड विद्वान एवं व्यास ब्रह्मलीन श्री रामचन्द्र डोंगरे जी महाराज द्वारा 'कल्याण' के रामभक्ति अंक में प्रकाशित–'राम जी की सेवा' से उद्धरित।

■

यह नियम है कि जो प्रवृत्ति जिस सद्भावना से प्रेरित होकर की जाती है, उस प्रवृत्ति का कर्ता उसी भावना में विलीन हो जाता है। अतः प्रभु के नाते की हुई प्रवृत्ति जीवन को प्रभु–प्रेम से भर देती है, सर्वात्म–भाव से की हुई प्रवृत्ति आत्मरति उत्पन्न कर देती है और विश्व के नाते की हुई प्रवृत्ति विश्व के प्यार से भर देती है।

–दिव्यज्योति देवकी बहिन जी

साधन-सूत्र : 11

❖ साधन-पथ पर

"न चलने की वेदना में ही चलने की सामर्थ्य निहित है"

— *ब्रह्मलीन संत परमपूज्य स्वामी शरणानन्द जी द्वारा राष्ट्रपति भवन में राष्ट्रपति डा0 राजेन्द्र प्रसाद तथा राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त जी के मध्य सत्‌चर्चा में प्रदत्त साधन–सूत्र।*

■

नोटः इसका पूरा प्रसंग इस प्रकार है–

मैथिलिशरण गुप्त जी ने स्वामी जी से अनुरोध किया 'महाराज, पथ प्रदर्शन कीजिये'। स्वामी जी ने कहा,'चलने की रुचि में पथ का दर्शन होता है।' तब डा0 राजेन्द्र प्रसाद ने कहा, 'चलने की रुचि भी है और पथ भी दिखाई देता है, लेकिन चला नहीं जाता।' तब स्वामी जी ने ऊपर अंकित सूत्र प्रदान किया।

साधन-सूत्र : 12

आनन्दमय वृद्धावस्था का मंत्र
जीवन कैसे जिया जाय

यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात एक बार भ्रमण करते हुए एक शहर में पहुँचे। वहाँ उनकी एक वृद्ध व्यक्ति से भेंट हुई। दोनों काफ़ी घुलमिल गये। सुकरात ने उनके व्यक्तिगत ज़ीवन में काफ़ी रुचि ली, काफ़ी खुलकर बातें की।

सुकरात ने संतोष व्यक्त करते हुए कहा "आपका विगत जीवन तो बड़े शानदार ढंग से बीता है, पर इस वृद्धावस्था में आपको कौन–कौन से पापड़ बेलने पड़ रहे हैं, यह तो बताइये।"

वृद्ध किंचित मुस्कुराया–"मैं अपना पारिवारिक उत्तरदायित्व अपने समर्थ पुत्रों को देकर **[और इन सबको सर्व सामर्थ्यवान प्रभु को समर्पित करके]** निश्चिन्त हूँ। वे जो कहते हैं कर देता हूँ, जो खिलाते हैं, खा लेता हूँ और अपने पौत्र पौत्रियों के साथ खेलता रहता हूँ। बच्चे कभी भूल करते हैं तब भी चुप रहता हूँ। मैं उनके किसी कार्य में बाधक नहीं बनता। पर जब कभी वे परामर्श लेने आते हैं, तो मैं अपने जीवन के सारे अनुभवों को उनके सामने रख कर, की हुई भूल से उत्पन्न दुष्परिणामों की ओर से सचेत कर देता हूँ। वे मेरी सलाह पर कितना चलते हैं, यह देखना और अपना मस्तिष्क खराब करना मेरा काम नहीं है। वे मेरे निर्देशों पर चलें ही, यह मेरा आग्रह नहीं। परामर्श देने के बाद भी यदि वे भूल करते हैं, तो चिन्तित नहीं होता। उस पर भी वे पुनः मेरे पास आते हैं, तो मेरा दरवाज़ा सदैव उनके लिये खुला रहता है। मैं पुनः उचित सलाह देकर उन्हें विदा करता हूँ।"

वृद्ध की बात सुनकर सुकरात बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा इस आयु में जीवन कैसे जिया जाय, यह आपने बख़ूबी समझ लिया है।

नोटः ऊपर ब्रैकेट वाला अंश मूल प्रसंग में नहीं है। ईश्वरवादी की दृष्टि से यह वाक्य जोड़ना उपयुक्त प्रतीत हुआ।

■

साधन-सूत्र : 13

सन्यास का अर्थ

ब्रह्मलीन संत स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज का उद्‌बोधन है कि "ममता, कामना और तादात्म्य के त्याग का नाम ही सन्यास है। कपड़े रंगना और किसी सम्प्रदाय विशेष में दीक्षा लेना तो सन्यास का बाहरी चिन्ह है। केवल बाह्य चिन्ह धारण करने से किसी की मुक्ति नहीं होती।"

"सही करना, कुछ न चाहना और प्रभु के शरणागत होना, यह योग, बोध, प्रेम की तैयारी है और इसी से योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति होती है।"

"जगत् से सम्बन्ध टूटकर उस अनन्त के साथ अहं का सम्बन्ध जुड़ जाने का नाम ही 'योग' है। इसी से सब संकल्पों की निवृत्ति होती है। और उस अनन्त को सब जगह सब में देखना ही 'बोध' है। योग से दोष और कामनाओं का त्याग होता है और उस अनन्त को अपना मानना एवं अहं को उनके समर्पित करना ही प्रेम है, यानी प्रेम की प्राप्ति होती है। केवल गृह त्याग करने एवं वस्त्र रंगने मात्र से किसी को योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह त्याग नहीं वरन् त्याग के भेष में अपने कर्तव्य से पलायन करना है।"

स्वामीजी का एक और महत्वपूर्ण कथन–

"सन्यास वासनाओं के त्याग के लिये है, रोटी के लिए नहीं।"

एक प्रश्न् कि साधु माने क्या का स्वामी शरणानन्द जी ने व्याख्या निम्नलिखित रूप में किया जो इस क्रम में प्रासंगिक है:

प्रश्नः साधु माने क्या ?

उत्तरः साधु संसार के बाहर चले तो नहीं जाते, संसार से सम्बन्ध अवश्य तोड़ देते हैं। शरीर को गंगा में तो नहीं फेंक देते, शरीर से सम्बन्ध अवश्य तोड़ देते हैं। साधु माने यही कि जो संसार से सम्बन्ध तोड़ दे, चाहे घर में रह कर, चाहे वन में जाकर। साधु वह, जो किसी को हानि न पहुँचाये। जो प्रभु को पसन्द करे। तुम मानव हो, प्रसन्नतापूर्वक रहो, दुःखी मत रहो, खिन्न मत रहो, व्यर्थ चिन्तन मत करो, थोड़े दिन का मेला है–सदा नहीं रहेगा।

मानव सेवा संघ ने प्रकाश दिया है– हे मानव! **भेष के साधु सब नहीं हो सकते लेकिन बिना भेष के साधु हर भाई, हर बहिन हो सकती है।**

किसी को हानि मत पहुँचाओ। किसी को बुरा मत समझो और यथाशक्ति जिस परिवार में, जिस समाज में रहते हो उसके काम आओ। क्या यह जीवन सबको नहीं मिल सकता ? मिल सकता है। तो साधु माने साधक है क्योंकि–

(1) हमें संसार की सेवा करना है।

(2) हमें प्रभु का प्रेमी होना है।

(3) हमें अचाह होना है।

■

उपनिषदों और वेदान्त पर टीकाएँ कर डालीं और फिर भी दशा यह है कि ममता नाश नहीं हुई, कामना नाश नहीं हुई। और बुद्धिमानी यह कि बात समझ में तो आती है, ठीक भी है, पर जीवन में नहीं उतरती।

साधन-सूत्र : 14

मानव जीवन में गुण-दोष

स्वभावतः कोई भी व्यक्ति अपने को अपनी दृष्टि में भला ही देखना चाहता है। पर भलाई करके तो हम भले होते नहीं– भले होते हैं अपने जीवन में से जानी हुई बुराइयों (दोषों) का त्याग करने से। अपने जीवन में से जानी हुई बुराइयों को निकाल देने पर भला बनने के लिए कुछ करना नहीं पड़ता, हम स्वतः भले बन जाते हैं। निर्दोशता में हमारे व्यक्तित्व में गुणों की अभिव्यक्ति होती है परन्तु उनका अभिमान भी नहीं रखना है।

इसीलिए मानव सेवा संघ के नियम संख्या–1 में "आत्मनिरीक्षण अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।" की बात कही गयी है और नियम संख्या–2 में "की हुई भूल (बुराई कहें, दोष कहें) को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर सरल विश्वास पूर्वक प्रार्थना करना" के लिए कहा गया है। इसमें यह अर्थ निहित है कि यदि हम अपनी जानी हुई भूल (दोष-बुराई) को मिटाने/छोड़ने में अपने को असमर्थ पाते हैं तो व्यथित हृदय से ईश्वर का आश्रय स्वीकार करें।

प्रश्न् उठता है कि जिसकी इतनी चर्चा की गई है वह बुराई (दोष या भूल कहें) वास्तव में है क्या और जो जीवन से जानी हुई बुराई निकालने की बात कही गयी है वह कैसे सम्भव है। मानव सेवा संघ की पुस्तक 'चित्तशुद्धि' के निम्नलिखित उद्धरण से इस प्रश्न् का सरल और स्पष्ट उत्तर मिल जाता है।

"अब विचार करना है कि गुण क्या है और दोष क्या है? दूसरों की ओर से अपने

प्रति होने वाले दोष का ज्ञान स्वतः हो जाता है और दूसरों से हम वही आशा करते हैं जो गुण है। कोई भी अपना अनादर, हानि–क्षति नहीं चाहता। सभी आदर, प्यार और रक्षा चाहते हैं। **जिन प्रवृत्तियों से किसी की क्षति हो, किसी का अनादर हो, किसी का अहित हो, वे सभी दोष हैं और जिन प्रवृत्तियों से दूसरों का हित, लाभ एवं प्रसन्नता हो वे सभी गुण हैं।"**

"गुणों का उपयोग दूसरों के प्रति होता है और उससे अपना विकास स्वतः हो जाता है। **जिन प्रवृत्तियों से दूसरों का अहित होता है उन प्रवृत्तियों से अपना भी अकल्याण ही होता है। यह रहस्य जान लेने पर दूसरों के अहित की कामना सदा के लिए मिट जाती है और सर्वहितकारी भावना स्वतः जागृत होती है।"**

"सर्व-हितकारी भावना की भूमि में ही गुण विकास पाते हैं। **जो किसी का बुरा नहीं चाहता उसके सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं।** एक ही दोष स्थान भेद से भिन्न–भिन्न प्रकार का भासता है। सर्वांश में किसी भी दोष के मिट जाने पर सभी दोष मिट जाते हैं और सर्वांश में किसी भी गुण के अपना लेने पर सभी गुण स्वतः आ जाते हैं। इस दृष्टि से **दोषों की निवृत्ति और सद्गुणों की अभिव्यक्ति युगपद् (automatic and simultaneous) है।"**

"सर्वांश में गुणों की अभिव्यक्ति होने पर निरभिमानता आ जाती है क्योंकि दोषों की उत्पत्ति नहीं होती और गुणों से अभिन्नता (identity) हो जाती है। **यह नियम है कि जिससे अभिन्नता हो जाती है, उसका भास नहीं होता,** अर्थात् उसमें अहम्बुद्धि नहीं होती अपितु वह जीवन हो जाता है।"

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुण तथा दोष क्या हैं और दोषों की निवृत्ति और गुणों की अभिव्यक्ति किस प्रकार सम्भव है। यहाँ यह ध्यान देने की

बात है कि हमें अपने को अपनी दृष्टि में तौलना है न कि इस आधार पर कि हमें लोग कैसा समझते हैं। "हमें कोई बुरा न समझे इससे हम भले हो नहीं जाते, भले तो बुराई के त्याग से ही हो सकते हैं।"

ऐसा तर्क कोई प्रस्तुत कर सकता है कि हमें भले बनने की क्या ज़रूरत है हम जैसे हैं वैसे ही ठीक हैं। परन्तु ऐसा वही कह सकता है जिसकी जीवन-बुद्धि विकारों और वासनाओं में ही है और जीवन का कोई लक्ष्य ही नहीं है। जिसके जीवन में लक्ष्य अथवा वास्तविक माँग परम शांति, परम स्वाधीनता और परम प्रियता की है वह ऐसा नहीं कहेगा क्योंकि वह जानता है कि इनकी प्राप्ति निर्दोषता के बिना नहीं हो सकती।

अपने को बुराई रहित बनाना अर्थात् हम किसी को बुरा न समझें, किसी का बुरा न चाहें और किसी के प्रति बुराई न करें, सहज हो जाता है, यदि यह ध्यान बना रहे कि भौतिकवादी की दृष्टि से जो जगत की ही सत्ता मानते हैं, जगत के नाते हम सब एक हैं, अध्यात्मवादी की दृष्टि से सभी परमात्मा के अंश हैं और ईश्वरवादी की दृष्टि से सभी उसी के रूप हैं।

मानव सेवा संघ के प्रणेता क्रान्तदर्शी ब्रह्मनिष्ठ संत स्वामी शरणानन्द जी का शरीर छोड़ने से पूर्व उद्घोष था–

"कोई और नहीं कोई ग़ैर नहीं"

— *ब्रह्मलीन संत स्वामी शरणानन्द जी महाराज द्वारा प्रणीत मानव सेवा संघ की पुस्तक "चित्त शुद्धि" पर आधारित एवं उद्धरित।*

■

वस्तुओं की ममता, विश्वास में विकल्प, विवेक का अनादर-इन तीन कारणों से ही समस्त दोषों की उत्पत्ति होती है।

साधन-सूत्र : 15

साधक, साधन और साध्य

जो साध्य से दूरी, भेद और भिन्नता को मिटा दे, उसे साधन कहते हैं। उदारता, असंगता, प्रियता साधन के अर्थ में आते हैं। हर समय प्यारे प्रभु की याद बनी रहे, यही भक्ति–पथ की साधना है। हर समय अपने स्वरूप की याद बनी रहे, यही मुक्ति–पथ की साधना है। हर समय अपने कर्तव्य की याद बनी रहे, यही कर्तव्य–पथ की साधना है।''

''ज्ञानपूर्वक यह अनुभव करने से कि मैं शरीर नहीं हूँ, अथवा शरीर मेरा नहीं है–देह से तादात्म्य का नाश हो जाता है। सेवा करने से स्थूल–शरीर से, इच्छा रहित होने से सूक्ष्म–शरीर से और अप्रयत्न होने से कारण–शरीर से असंगता प्राप्त होती है।''

''मानव का पुरुषार्थ केवल सत्संग करने में है। सत्संग का अर्थ है– अपने जाने हुये सत्य को स्वीकार करना, ज्ञान के आधार पर अकिंचन या अचाह होकर अप्रयत्न हो जाना सत्संग है। आस्था के आधार पर सुने हुए प्रभु के अस्तित्व, महत्व एवं अपनत्व को स्वीकार करके निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाना सत्संग है। ज्ञान के आधार पर किये हुए सत्संग का फल 'साधन' है और आस्था के आधार पर किये हुए सत्संग का फल 'भजन' है।''

''मानव किसी आकृति विशेष का नाम नहीं है। जो प्राणी अपनी निर्बलता एवं दोषों को देखने और उन्हें निवृत करने में समर्थ है, वही वास्तव में 'मानव' कहा जा सकता है।''

''मानव मात्र जन्मजात साधक है। (अतएव 'मानव' का ही नाम 'साधक' है। साधक का कोई साध्य होता है) अतः उसे साधन–रूपी निधि से सम्पन्न होना अनिवार्य है। मानव उसे नहीं कहते जिसकी कोई माँग नहीं और जिस पर कोई दायित्व नहीं। मिले हुए शरीर का नाम मानव रखना भूल है, कारण कि **शरीर कर्म सामग्री है और कुछ नहीं।**''

''मैं हूँ यह स्वीकृति मानव मात्र की

मूल स्वीकृति है। 'मैं' क्या हूँ इस सम्बन्ध में अनेक मत भले ही हों, पर मैं हूँ और मुझमें ही माँग है, इस में दो मत नहीं हैं और यह मानव मात्र को स्वीकार है।''

–ब्रह्मलीन संत स्वामी
श्री शरणानन्द जी महाराज

नोटः मैं शरीर नही हूँ और शरीर मेरा नही है। शरीर, परिवार सब, समाज सहित संसार के अंग हैं। मानव का स्वरूप है सेवा, त्याग, प्रेम, सो शरीर की भी सेवा करनी है और शरीर के द्वारा परिवार और संसार की भी भावात्मक, तथा यथाशक्ति क्रियात्मक सेवा करनी है।

शरीर की सेवा के सम्बन्ध में मानव सेवा संघ का नियम संख्या 8 और 9 मार्ग दर्शक हैं:–

नियम संख्या 8–शारीरिक हित की दृष्टि से आहार–विहार में संयम और दैनिक कार्यों में स्वावलम्बन।

नियम संख्या 9–शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी तथा अहं को अभिमान शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।

ऊपर जो शब्द अकिंचन, अचाह और अप्रयत्न आये हैं उनमें अकिंचन का तात्पर्य है मेरा कुछ नहीं है और मेरे लिये नहीं है अर्थात् 'मैं' के लिए नहीं है वह संसार कहें प्रकृति कहें या ईश्वर कहें के द्वारा दी हुई सेवा सामग्री है।

अचाह का तात्पर्य है मुझे अर्थात् 'मैं' को कुछ नहीं चाहिए । 'मैं' को तो चाहिये या यों कहें कि उसमें माँग है परम शांति, परम स्वाधीनता और परम प्रियता की–रसरूप अविनाशी जीवन की।

अप्रयत्न का तात्पर्य है कि जब मुझे अर्थात् 'मैं' को कुछ चाहिए ही नहीं तो अपने लिये कुछ प्रयत्न ही नहीं करना है। कारण कि उसे जो चाहिए वह 'स्व' के द्वारा प्राप्त होता है, उसमें श्रम अपेक्षित नहीं है।

■

निषेधात्मक साधना सभी–साधकों के लिये समान है; क्योंकि असाधन का त्याग ही निषेधात्मक साधना है। असाधन के त्याग के बिना विध्यात्मक साधना, जो प्रत्येक साधक की अलग–अलग होती है, सिद्ध हो ही नहीं सकती।

साधन-सूत्र : 16

साधन–पथ के लिए टॉर्च

साधन–पथ पर चलने के इच्छुक एक जिज्ञासु ने (ब्रह्मलीन संत) स्वामी शरणानन्द जी से कुछ प्रश्न् किये। स्वामी जी ने उनका समाधान निम्नलिखित ढंग से कियाः–

प्रश्नः स्वामी जी! कोई कहते हैं गीता पढ़ो, कोई कहते हैं रामायण पढ़ो, कोई कहते हैं मंदिर जाओ, जप करो, यज्ञ करो, दान दो, तप करो। समझ में नहीं आता क्या करें। कृपया आप बतलाइये क्या करूँ?

उत्तरः जानी हुई बुराई छोड़ दो।

प्रश्नः बुराई को छोड़ने के बाद क्या करूँ?

उत्तरः सबके प्रति सद्भाव रखो और यथाशक्ति क्रियात्मक सहयोग दो।

प्रश्नः महाराज जी! इसके बाद क्या करूँ?

उत्तरः सद्भाव और सहयोग के बदले में किसी से कुछ मत चाहो, न अभी, न कभी।

प्रश्नः फिर इसके बाद क्या करूँ?

उत्तरः पहले ये तीन कर लो, चौथी बात स्वयं मालूम हो जायेगी।

प्रश्नः स्वतः ही?

उत्तरः हाँ स्वतः ही। अरे तुम यह क्यों चाहते हो कि हम यहाँ से तुम्हारे घर तक बिजली के खम्भे लगा दें। इतनी मेहनत मत करवाओ यार। अरे भइया, हमने तुम्हें टॉर्च दे दी है, आगे स्वतः मार्ग मिल जायेगा। अगर तुम केवल पहली बात कर लो अर्थात् 'जानी हुई बुराई को छोड़ दो' तो तुम्हें सब कुछ मिलेगा। शांति, मुक्ति, भक्ति। इससे जीवन बुराई रहित होगा तो स्वतः ही सारे काम होंगे।

नोटः स्वामी जी का परम्परागत पूजा पाठ आदि के प्रति न विरोध था, न आग्रह। उनका कथन था कि 2 घंटे साधन और शेष घंटे असाधन तो इससे जीवन के लक्ष्य अथवा माँग कहें, उसकी तो प्राप्ति नहीं होगी। वास्तविक जीवन की प्राप्ति तो तभी होगी जब हमारा पूरा जीवन साधनमय हो जाय। एक अन्य प्रश्नकर्ता का प्रश्न् और स्वामी जी का उत्तर यहाँ प्रासंगिक है–

प्रश्नः मैं प्रतिदिन दो घंटे परम्परागत ढंग से पूजा करता हूँ और घरवाले उसका विरोध करते हैं तथा उसमें बाधा डालते

हैं। क्या किया जाय?

उत्तरः पूजा का वास्तविक अर्थ है– भगवान के नाते और उन्हीं की प्रसन्नता के लिए संसार की सेवा करना। जिस समय घरवाले आपसे किसी काम की अपेक्षा करते हों और आप उसी समय पूजा में बैठ जाते हों तो उनका विरोध करना उचित ही है। अतः पूजा के वास्तविक अर्थ को अपनाकर घरवालों की निष्काम भाव से सेवा करें। यदि विधिवत् पूजा करने का राग ही है तो उसका समय ज़रूरी कार्य करने के पहले या बाद में रख सकते हैं।

नोटः विधिवत् पूजा भी तब ही सार्थक होगी जब वह मात्र क्रिया न रह जाये और अहं पुष्ट हो कि मैंने इतनी देर पूजा किया, इतना जप किया, इतनी बार घन्टा और शंख बजाया आदि और इससे किसी फल की कामना हो जैसे, व्यापार खूब बढ़े, मुकदमें में जीत हो जाये आदि। इस प्रकार तो जिसकी पूजा कर रहे हैं वह साध्य न होकर साधन हो गये।

विधियात्मक पूजा करे तो जिसकी पूजा कर रहे हैं उसकी प्रसन्नता के लिए और लोकहित के भाव से। तब सभी क्रियायें साध्य की प्रसन्नता के लिए हो जायेंगी–फूल चढ़ाना, भोग लगाना, घंटा–शंख बजाना सबके पीछे भाव होगा कि इससे उन्हें अच्छा लगेगा। इस भाव से उनके प्रति प्रीति उदय होगी और अपने को भी प्रसन्नता और प्रीति का रस मिलेगा।

स्वामी शरणानन्द जी जब भी वृन्दावन में होते थे, तब हर रोज़ नियमित रूप से बिहारी जी के मन्दिर दर्शन करने जाते थे। एक दिन एक व्यक्ति ने टिप्पणी किया कि आँख से दिखाई तो देता नहीं, फिर भी नित्य आकर खड़े हो जाते हैं। स्वामी जी ने कहा कि भइया, मेरी आँखें नहीं हैं तो क्या, ठाकुर जी की तो आँखें है। वह मुझे देखकर प्रसन्न होते हैं, इसलिए उनकी प्रसन्नता के लिए मैं यहाँ रोज़ आता हूँ।

भक्त और भगवान का कैसा सुन्दर सरस आत्मीय सम्बन्ध!

■

वैक्यूअम नहीं होता

असत् का त्याग करो। यदि आप असत् का त्याग करेंगे, तो सत् उसका स्थान ले लेता है स्वतः ही। प्रकृति का विधान ही ऐसा है कि उसमें रिक्त स्थान नहीं रहता है, वैक्यूअम नहीं रहता है। असत्य गया और सत्य आया। तो करना हमें है केवल असत् का त्याग। असत् क्या है? जिसको आपका अन्तःकरण, आपका विवेक स्वीकार नहीं करता हो।

साधन-सूत्र : 17

सहज, सुन्दर जीवन के सूत्र

1. उस सुख का त्याग कर दो जो किसी का दुःख हो।
2. परदोष दर्शन के समान, अन्य कोई दोष नहीं।

   (नोटः क्योंकि परदोष दर्शन करने वाला व्यक्ति अपने दोष नहीं देख पाता, सो उन्हें मिटा नहीं पाता और इस प्रकार वह दोषरहित, रसरूप जीवन पाने से वंचित रह जाता है।)

2(क). दूसरों के दोष मत देखो, क्योंकि दूसरों के दोष देखने से दोषों से अकारण ही सम्बन्ध हो जाता है।

3. की हुई भूल पुनः न दोहराने से स्वतः मिट जाती है।
4. अपने दुःख सुख का कारण दूसरों को मानना भूल है।

   (नोटः अपने सुख दुःख का कारण दूसरों को मानने से हम राग और द्वेष में जकड़ते जायेंगे, जो सहज सुन्दर जीवन में बाधक होता है।)

5. वस्तुओं की दासता ही दरिद्रता की जननी है।
6. हे प्रभु, कुछ देना ही चाहते हो, तो बस अचाह करके अपना प्रेमी बना लो।
7. प्रभु अपने हैं यही भजन है, मेरा कुछ नहीं है यही ज्ञान है, मुझे कुछ नहीं चाहिए यही तप है।

—ब्रह्मलीन संत स्वामी शरणानन्द जी महाराज

परदोष—दर्शन के विषय पर माँ शारदा देवी के बहुत ही मार्मिक वचन अंग्रेजी में पढ़ने को मिले जो यहाँ प्रस्तुत हैं—

-"When a man sees defects in others, his own mind first gets polluted. What does he gain by finding fault in others? He only hurts himself by that."

-"My child, if you want peace, then do not look into anybody's faults. Look into your own faults. Learn to make the world your own. No one is a stranger, my child, the whole world is your own."

■

साधन-सूत्र : 18

अपने प्रति न्याय

ब्रह्मलीन संत स्वामी शरणानन्द जी के द्वारा प्रणीत मानव सेव संघ के जीवनोपयोगी ग्यारह नियमों में तीसरा नियम है:–

"विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर"

प्रश्न् उठता है कि न्याय अपने पर, का अर्थ क्या है? संतवाणी में कहा गया है कि "न्याय का अर्थ है अपने अपराध से परिचित होना। न्याय का यह पहला अंग है। दूसरा अंग है उससे पीड़ित होना। उसका तीसरा अंग है अपराध को न करने का निर्णय करना। यह हुआ न्याय।"

"इसका फल है निर्दोषता के साथ अभिन्नता। उसका फल है जीवन का उपयोगी सिद्ध होना। इस प्रकार का न्याय प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहिन अपने साथ कर सकने में समर्थ है। .... निर्दोष जीवन में ही आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है, निर्दोष जीवन में ही निस्सन्देहता के लिए विचार का उदय होता है और निर्दोष जीवन में ही प्रेम का प्रादुर्भाव होता है।"

"व्यक्ति का सर्वतोमुखी विकास एक मात्र निर्दोष जीवन में ही निहित है और उसका उपाय है–की हुई भूल को न दोहराना, जानी हुई बुराई को न करना, अपने दोषों को देखना और निर्दोषता की स्थापना कर निश्चिन्त और निर्भय हो जाना।"

–ब्रह्मलीन संत स्वामी शरणानन्द जी महाराज

नोटः अभिन्नता का अर्थ है मैं और मेरी निर्दोषता का एकरूप हो जाना।

■

इसी भाव को एक विचारक ने अंग्रेजी में इस प्रकार कहा है–
"Be your own judge and you will be happy."
(अर्थात् आप अपने न्यायकर्ता स्वयं बनें तो आप हमेशा प्रसन्न रहेंगे)

साधन-सूत्र : 19

भले से भलाई

The secret of religion lies not in theories but in practice. To be good and do good that is the whole of religion."

(अर्थात्– धर्म का रहस्य सिद्धान्तों में नहीं है, बल्कि व्यवहार में है। अच्छा बनना और अच्छा करना, यही धर्म का सार है।) *- Swami Vivekanand*

He has not said - do good and you will be good. He has put 'be good' first. If one is good, good deeds flow naturally. But 'be good' how?

(अर्थात्– उन्होंने यह नहीं कहा है कि अच्छा करो तो तुम अच्छे बन जाओगे। उन्होंने अच्छा बनने को पहले रखा है। यदि कोई अच्छा होगा, तो उससे अच्छे कर्म स्वभावतः होंगे। परन्तु अच्छे कैसे बनें?)

जब कोई व्यक्ति अपने बारे में ईमानदारी से सोचता है **और अपने को अपनी दृष्टि में** निर्दोष एवं भला देखना चाहता है तो प्रायः भलाई अथवा अच्छे कार्य करने की सोचता है और करता भी है।

परन्तु वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति का मूल स्वरूप निर्दोष और विशुद्ध होता ही है। जीवन में दोषों और बुराइयों को अपनाकर अपने उस स्वरूप को आच्छादित कर देता है–ढक देता है, जिससे उसका व्यक्तित्व दोष एवं बुराई युक्त हो जाता है।

शीशा साफ़, पारदर्शी है, परन्तु उस पर धूल जम जाने पर वह गंदा दिखने लगता है। धूल को अच्छी तरह झाड़ दिया जाता है तो वह पुनः अपने मूल स्वरूप–स्वच्छ एवं पारदर्शी रूप में आ जाता है।

उसी प्रकार जिन दोषों–बुराइयों ने व्यक्ति के मूल दोष–रहित तथा भले स्वरूप को धूल की भाँति आच्छादित किया हुआ है, उन्हें अपने जीवन से झाड़कर निकाल देता है तब वह अपने आप ही भला हो जाता है जो वह पहले से ही मूल रूप में

है। जैसे झूठ बोलना छोड़ दें तो सच ही तो बोलेंगे।

जब कोई व्यक्ति **अपने जीवन से बुराई निकाले बिना ही** कोई भला/परोपकारी कार्य करने की सोचता है या करता है तो इसके पीछे प्रायः दो ही आशय होते हैं। प्रथम, इसके पीछे कोई स्वार्थ होता है–दानियों/परोपकारियों की लिस्ट में नाम आ जायेगा, मान सम्मान मिलेगा अथवा चुनाव के लिए वोट बैंक बनेगा, आदि। इससे भला बनना तो दूर रहा, व्यक्तित्व दोषयुक्त, बुराई–युक्त यथावत बना रहता है बल्कि और गिरावट ही आती है। द्वितीय, भला बनने की सच्ची (genuine) इच्छा से प्रेरित होकर भलाई का कार्य करता है, परन्तु होता उल्टा है–अहं की पुष्टि और बदले में किसी फल की कामना, कुछ नहीं तो यही कि पुण्य होगा और परलोक सुधरेगा।

अतः यदि भला बनने की सच्ची उत्कण्ठा है तो मानव सेवा संघ दर्शन के प्रकाश में, इस भ्रम को मिटाना होगा कि भलाई के कार्य करके हम भले हो जायेंगे। वास्तविकता यह है कि जब कोई व्यक्ति अपने प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपनी जानी हुई बुराइयों को अपने जीवन में से निकाल देता है, तब वह स्वतः भला हो जाता है। जब वह भला हो जाता है, तब उससे स्वभावतः भलाई होती है। मात्र इस बारे में सजग रहना है कि इस भलाई का कर्तृत्व का अभिमान और उससे किसी प्रकार के फल की अपेक्षा न हो, जैसे मान–सम्मान, कृतज्ञता आदि।

इनसे बचना सहज हो जाता है यदि मन में सच्ची भावना बनी रहती है (और यह यर्थाथ भी है) कि जिस साधन (शरीर बल, धन बल, बुद्धि बल) से किसी की भलाई, सेवा करते हैं, वह साधन प्रकृति ने (ईश्वरवादी है तो) ईश्वर ने ही दिया है और जिस व्यक्ति की हम भलाई/सेवा करते हैं उसी के लिए दिया है। अतः 'तेरा तुझ को अर्पण, क्या लागे मेरा' भाव अनुभूत सत्य के रूप में निरन्तर अंतर्मन में बना रहे तो यह अभिमान और फलासक्ति से बचने के लिए कवच का काम करेगा।

यहाँ यह स्पष्ट करना श्रेयस्कर होगा कि पुरुषार्थवादी व्यक्ति कह सकता है कि वह सब साधन मैंने अपने पुरुषार्थ से अर्जित किया है। वह यह तो सोचे कि पुरुषार्थ करने की सामर्थ्य भी तो प्रकृति/ईश्वर ने ही दिया है।

भाग्यवादी कह सकते हैं कि मेरे कर्मों से भाग्य बना और मेरे भाग्य से ये सारे साधन जुटे। पर यहाँ थोड़ा भ्रम है। जो प्राप्त होता है उसमें अनेकों के भाग्य जुड़े होते हैं। विचार करने की बात है कि किसी साधन की प्राप्ति अथवा सुखद परिस्थितियों से जो–जो लोग, जैसे परिवार में पत्नी, बच्चे अन्य परिजन प्रभावित होते हैं– उसे उपभोग (share) करते हैं, क्या उनका भाग्य नहीं जुड़ा हुआ है? अतः यदि ईमानदारी से ऐसा भाव बना रहे तो स्वार्थभाव और अहंकार से बचे रहते हैं।

अतः अपने जीवन में से जानी हुई बुराइयों को निकालना अनिवार्य है। इसके हेतु आत्म–निरीक्षण आवश्यक है, रात में सोने से पहले, जिससे कि की हुई भूल को जानकर उसे पुनः न दोहराने का व्रत (दृढ़ निश्चय) लेकर अपनी स्वाभाविक निर्दोषता को अखण्ड बनायें। जब व्यक्ति अपने प्रति ईमानदार हो जाता है तब उसका आत्म–निरीक्षण निरन्तर चलता रहता है, जैसे ही कोई गलत कार्य होता है, उसका विवेक तुरन्त टोक देता है।

किसी किसी व्यक्ति की ऐसी प्रवृत्ति हो सकती है कि अपने गलत किये को अनुबोध (after-thought) द्वारा उचित ठहराने का प्रयास (justify) करता है। इस प्रवृत्ति के पीछे भी यदि देखा जाये तो वह अपने को सही तथा दोषरहित देखने और दिखाने की इच्छा से ही प्रेरित होता है। परन्तु ऐसा करना एक प्रकार से अपने को ही धोखा देने के समान है। उसे तो पूरी ईमानदारी और निष्पक्ष भाव से अपना आत्म–निरीक्षण करना है।

कभी–कभी अनचाहे ही, बिना विचारा, हमसे गलत/कटु बोल निकल जाता है या गलत आचरण हो जाता है। इस संबंध में ब्रह्मलीन संत स्वामी कृष्णानन्द जी का उद्‌बोधन बहुत ही प्रासंगिक और अपने कल्याण हेतु अनुकरणीय है:–

"हमारा अवचेतन मन (subconscious mind) मनोभाव, भावनाओं, विचारों एवं कल्पनाओं का उद्‌गम स्थान है। वह सोखता (blotting-paper) के समान समस्त भावों/विचारों आदि को अन्तर्लीन कर लेता है। वह समस्त सुझावों को बिना किसी तर्क, प्रश्न या शर्त के वास्तविक जानकर स्वीकार करता है। बाद में सुझाव स्वतः चेतन मन में स्थानान्तरित हो जाते हैं और हम तद्‌नुरूप सोचना, करना शुरू

कर देते हैं तथा वैसे ही बन जाते हैं।"

अतः यदि हम अपने को बुराई रहित बना लेते हैं तो हमसे मन वचन कर्म से कोई बुराई होगी नहीं और अपने अवचेतन मन (subconscious mind) में कोई नये दोषपूर्ण निवेश (input) नहीं जायेंगे और कोई नये गलत संस्कार नहीं बनेंगे। जो पहले से गलत प्रभाव अंकित है वे वर्तमान में किये जाने वाले भूल–रहित, दोषरहित आचरण/कार्य से मिटते और नये शुद्ध संस्कार बनते जायेंगे।

मानव सेवा संघ के नियम–1 "आत्म निरीक्षण अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना" और नियम संख्या–2 "की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर सरल विश्वास पूर्वक प्रार्थना करना" का निष्ठापूर्वक पालन करने से हमारा अवचेतन मन (subconscious mind) अशुद्ध संस्कारों से रहित हो जायेगा और परिणाम स्वरूप चेतन शुद्ध हो जाने से हमसे चाहे या अनचाहे कोई गलत कार्य होगा नहीं।

इसी आशय का संदेश स्वामी कृष्णानन्द जी का है कि "रात्रि में सोने से पूर्व हम जो आत्म–सुझाव (auto-suggestion) अपने अवचेतन मन को देते हैं उनसे हमारे संस्कार प्रबल, प्रभावपूर्ण और सकारात्मक बनते हैं," जैसे– "मैं निश्चिन्त हूँ–मैं निर्मल हूँ–मैं शान्त हूँ– मैं संसार से असंग हूँ– मैं जीवनमुक्त हूँ–मैं सच्चिदानन्द हूँ–मैं विश्वआत्मा हूँ" आदि।

इस प्रकार अपने जीवन में से बुराई निकाल देने से हम भले बन जायेंगे और तब स्वभाव से ही हमसे भलाई होगी। स्वामी शरणानन्द जी का उद्‌बोधन है कि भलाई करो चाहे न करो, पर किसी को बुरा न समझो, किसी का बुरा न चाहो और किसी के प्रति बुराई न करो, तो यह स्वयं में संसार की बहुत बड़ी सेवा है।

■

"अच्छाई क्या है? बुराई का अभाव ही अच्छाई है"
"What is good? Absence of bad is good."

साधन-सूत्र : 20

साधन–पथ के लिये गुरु

यह एक आम धारणा है कि साधन–पथ पर चलने के लिए, अपने नित्य अविनाशी रसरूप जीवन का बोध के लिये या नित्य, अविनाशी सत्य, ईश्वर या जिस ढंग से कहें की प्राप्ति के लिये गुरु की आवश्यकता अनिवार्य है और उसका तात्पर्य शरीरी गुरु से होता है।

ब्रह्मनिष्ठ संत स्वामी शरणानन्द जी, जिन्होंने मानव सेवा संघ दर्शन प्रदान किया, का कथन था कि यदि शरीरी गुरु अनिवार्य है तो गुरु परम्परा में प्रथम शरीरी गुरु का गुरु कौन रहा होगा? तो मानना पड़ेगा कि वही अविनाशी तत्व, वही सत्य, वही ईश्वर जो सभी में विद्यमान है, गुरु–तत्त्व के रूप में उन प्रथम गुरु का गुरु था।

इसलिये उनका कहना था "शरीर में गुरु–बुद्धि और गुरु में शरीर–बुद्धि भारी भूल है क्योंकि गुरु–तत्त्व अनन्त ज्ञान का भण्डार है। गुरु, हरिहर और सत्य में भेद नहीं है। गुरु–तत्त्व अनादि, अनुत्पन्न तत्त्व है।"

साधन पथ में हमारा जो साध्य है "उस साध्य तत्त्व का ही प्रकाश गुरु–तत्त्व है जो मानव मात्र को सर्वदा प्राप्त है। प्राप्त गुरु–तत्त्व में अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास अनिवार्य है और यही वास्तविक गुरुपूजा है।"

प्रश्न् उठता है कि गुरु–तत्त्व का अर्थ क्या है। स्वामी जी ने बताया कि "गुरु–तत्त्व क्या है, इस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि **जिस तत्त्व के द्वारा मानव स्वयं भूलरहित हो जाता है, वही वास्तविक गुरु–तत्त्व है।**"

"अपनी ही भूल से उत्पन्न हुए अभाव आदि से पीड़ित होकर जब वास्तविकता की जिज्ञासा जागृत होती है, तब उसे स्वतः चेतना जो अनादि अनन्त तत्त्व है, प्रेरणा देती है, और अभाव तथा अशान्ति का अन्त करने की राह दिखाती है। उस प्रेरणा को आदरपूर्वक स्वीकार करने से ही मानव दीक्षित होता है और फिर वह स्वतः स्वाधीनतापूर्वक अपनी वास्तविक माँग को

पूरा कर सदा–सदा के लिए निश्चिन्त निर्भय होकर नित नव रस से परिपूर्ण हो जाता है।"

"यही जीवन का सत्य है। सत्य को स्वीकार करना ही गुरु–तत्त्व से अभिन्न होना है और यही सफलता की कुंजी है।"

आगे उन्होंने कहा है कि "मानव–मात्र प्राण एवं विवेक का अद्‌भुत संयोग है। भगवान की अहैतुकी कृपा से प्राप्त यह अलौकिक विवेक ही पहला गुरु है। **जो प्राप्त विवेक का आदर करता है उसे बाह्य गुरु की आवश्यकता नहीं होती।** जो इसका आदर नहीं करता वह दूसरे गुरु को पाकर भी साधन निर्माण नहीं कर पाता।"

बाह्य सद्‌गुरु किसी भी व्यक्ति के नित्य प्राप्त विवेक के प्रकाश में उदित ज्ञान का मात्र समर्थन करता है और उसे उस ज्ञान का आदर करके साधन–पथ पर अग्रसित होने के लिये प्रेरणा देता है परन्तु अपने ज्ञान का आदर और बाह्य गुरु की प्रेरणा को स्वीकार तो उस व्यक्ति को ही करना पड़ेगा। इसीलिए मानव सेवा संघ कहता है कि प्रत्येक मानव अपना गुरु स्वयं है।

यह भी ध्यान देने की बात है कि वर्तमान में साधु–सन्यासी का रूप बनाये छद्‌मवेशी बहुतायत में हैं। ऐसे लोग दावा करते हैं कि मैं तुम्हें ज्ञान दे दूँगा, भवगत् साक्षात्कार करा दूँगा। ऐसे में यह समझना चाहिए कि कोई भुलावा अवश्य है। गुरु बनकर दूसरे के सुधार की बात वे ही लोग करते हैं जो सुधार के नाम पर सुख–भोग में प्रवृत्त होते हैं। सरल और सीधे–साधे सहज विश्वासी (credulous) लोग उनके बहकावे में आ जाते हैं और अर्थ का अनर्थ हो जाता है। आये दिन ऐसे कथित साधु–सन्यासियों (self-proclaimed gurus) के कुकर्मों का भण्डाफोड़ के समाचार मिलते हैं। उनके ठिकानों पर पुलिस छापे में अनेकों आपत्तिजनक सामान बरामद होते हैं, गिरफ्तारी के भय से भागते फिरते हैं और पकड़े जाने पर मुकदमा झेलते हैं। ऐसे में वे सहज विश्वासी जो ज्ञान लेने और परमार्थ के लिए उनसे जुड़े, वे ठगे महसूस करते हैं। कई तो ऐसे छद्‌मवेशी गुरुओं की दुर्वासना का शिकार भी बन जाती हैं।

कुछ ऐसे भी होते हैं जो कुकृत्यों में तो लिप्त नहीं होते परन्तु गुरु कहलाने के प्रलोभन से, और इससे औरों की दृष्टि में अपने को विशेष प्रदर्शित करके अपना मूल्य बढ़ाकर अपनी ख्याति के लोभवश अथवा गुरु बनने और कहलाने के राग–वश, शिष्य

बनाते और कथित रूप से ज्ञान बाँटने का दंभ भरते हैं। परन्तु ऐसे लोग जब अपने में ही विद्यमान गुरुतत्त्व के प्रकाश में अपने को अपना गुरु नहीं बनाया वह दूसरों का गुरु क्या बन सकता है? और क्या ज्ञान बाँटेगा? जो लोग ऐसे लोगों से, साधन–पथ के लिए मार्ग–दर्शन हेतु जुड़ते हैं या शिष्यत्व स्वीकार करते हैं, उन्हें भुलावा ही मिलता है। ज्ञान के नाम पर अज्ञान ही बाँटते हैं। जिनके स्वयं के अन्दर अन्धकार है वह दूसरों को ज्ञान का क्या प्रकाश दे सकता है?

जो महापुरुष हमें यह स्पष्ट संकेत करता है कि सत्य का वह प्रकाश, वह गुरु–तत्त्व हममें ही विद्यमान है, जिसके आदर से हमें प्रकाश का बोध हो सकता है, वही वास्तव में सद्गुरु है। जो सद्गुरु होता है वह मानव–मात्र में विद्यमान विवेकरूपी सद्गुरु को लखा देता है। सद्गुरु स्वयं गुरु बनने की कामना से सर्वथा मुक्त होता है।

हमारे पवित्र ग्रंथ गीता, रामचरित–मानस आदि भी तो हमें इस सत्य से परिचित कराकर सद्गुरु का ही कार्य करते हैं। सिख समुदाय ने तो शरीरी गुरु परम्परा समाप्त करके गुरु–ग्रंथ साहिब को ही अपना नित्य अविनाशी गुरु बना लिया।

अतः यह निर्विवाद है कि साधन–पथ के लिए शरीरी गुरु अनिवार्य नहीं है। हम **जीवन के सत्य को स्वीकार करके और विवेक का आदर करके स्वयं ही अपने गुरु हो सकते हैं।** संतों से सुना है कि हम में यदि साधन–पथ पर चलने की, सत्य से अभिन्न होने की तीव्र लालसा है और शरीरी सद्गुरु की आवश्यकता है तो हमें उन्हें नहीं ढूंढ़ना पड़ेगा, सद्गुरु हमें स्वयं ही ढूंढ़ लेंगे और आवश्यक मार्ग–दर्शन करा देंगे।

■

स्वामी शरणानन्द जी की वाणी में एक बहुत ही महत्वपूर्ण यथार्थता/वास्तविकता–

"जो उपदेशक भगवत्–विश्वास की जगह पर अपने व्यक्तित्व का विश्वास दिलाते हैं और भगवत्–सम्बन्ध के बदले अपने व्यक्तित्व से सम्बन्ध जोड़ने देते हैं, वे घोर अनर्थ करते हैं।"

साधन-सूत्र : 21

ईश्वर–दर्शन और ईश्वर–प्राप्ति

अक्सर लोग जिज्ञासावश या सच्ची लालसा लेकर प्रश्न् करते हैं कि क्या ईश्वर का दर्शन हो सकता है या उनकी प्राप्ति हो सकती है। इस विषय पर किन्हीं साधकों द्वारा किये गये प्रश्नों का ब्रह्मलीन संत स्वामी शरणानन्द जी द्वारा दिया गया उत्तर बहुत सरल और स्पष्ट है जो यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

1.प्रश्न्: स्वामी जी! भगवान का दर्शन कैसे हो सकता है?

उत्तर: भगवत् प्रेम का महत्व है, भगवत् दर्शन का कोई महत्व नहीं है। भगवान रोज़ दिखें और प्यारे न लगें तो तुम्हारा विकास नहीं होगा। भगवत् विश्वास, भगवत् सम्बन्ध और भगवत् प्रेम का महत्व है।

2.प्रश्न्: भगवान का दर्शन कैसे हो?

उत्तर: भगवान से नित्य सम्बन्ध स्वीकार करें और इस सत्य को स्वीकार करें कि सभी वस्तुएँ भगवान की हैं और भगवान की सत्ता से प्रकाशित हैं तो **सभी वस्तुओं में भगवान का दर्शन होगा।**

3.प्रश्न्: भगवान प्राप्ति का सुगम उपाय क्या है?

उत्तर: भगवान को पसन्द करना ही भगवत् प्राप्ति का सुगम उपाय है। सभी सम्बन्धों को एक सम्बन्ध में, सभी विश्वासों को एक विश्वास में एवं सभी इच्छाओं को एक आवश्यकता में विलीन कर देना भगवान को पसन्द करने का अर्थ है।

4.प्रश्न्: भगवत् प्राप्ति में विघ्न क्या है?

उत्तर: संसार को पसन्द करना ही भगवत् प्राप्ति में सबसे बड़ा विघ्न है।

5.प्रश्न्: हम ईश्वर के होनेपन में आनन्द का अनुभव क्यों नहीं कर पा रहे हैं?

उत्तर: क्योकि हमने ईश्वर को साध्य न मानकर साधन मान रखा है। हम चाहते हैं कि ईश्वर हमारी सुख, सुविधा, सम्मान को सुरक्षित रखें। अतः ईश्वरीय आनन्द का अनुभव करने के लिये ईश्वर को साधन न मानकर साध्य मानें और उनकी आवश्यकता अनुभव करें।

6.प्रश्नः स्वामी जी भगवान छिपा क्यों रहता है ?

उत्तरः अपना तो है। अपना लड़का भले ही विदेश चला जाय, परन्तु उसका प्यार कम नही होता। इसी तरह प्रभु चाहे छिपे हुए हैं, परन्तु अपने तो हैं।

नोटः उपरोक्त प्रश्न और उनके उत्तर भिन्न–भिन्न अवसरों से संकलित किये गये हैं जिन्हें एक क्रम में लिख दिया गया है।

नोटः *स्वामी जी ने प्रभु–प्रेम पर बल देने के लिये इस ढंग से समझाया है, अन्यथा वास्तव में ईश्वर कहीं छिपा नहीं है। यह तो हमारी दृष्टि और समझ का फेर है कि वह हमें छिपा हुआ लगता है। इसके दो मुख्य कारण हैं– पहला तो यह कि हमें इस बात की विस्मृति हो जाती है कि* ***केवल ईश्वर ही हैं–उनके सिवा कोई और नहीं कुछ और नहीं।*** *वह सर्वत्र हैं और सदैव हैं। कोई ऐसा स्थान ही नहीं जहाँ वह नहीं हैं। यह सारा ब्रह्माण्ड, सभी जीव, प्राणी, वृक्ष, पर्वत, नदी आदि पृथ्वी सहित वही हैं। वे ही सबकुछ हैं और सबमें व्याप्त हैं। इसको इस प्रकार कह सकते हैं कि ईश्वर ने ही अपनी इच्छा से अपने ही में अपने से अपने ही द्वारा समस्त सृष्टि का निर्माण किया है और वे ही इसका अनेक रूपों में लालन– पालन– संचालन करते हैं। जब यह ज्ञान आत्मसात् हो जाता है तब फूल में वही मुस्कराते हुए दिखने लगते हैं, पवन जब बदन को छूता है तब उन्हीं का शीतल स्पर्श प्रतीत होता है, कोयल की कूक में उन्हीं का स्वर सुनाई देता है।*

वही हर समय हर जगह अनेकों रूप में दिखाई पड़ता है, सभी ज्ञानेन्द्रियों से उसी का अनुभव होता है, तो वह छिपा कहाँ है। भ्रम के कारण हम लोग कहते हैं कि ऊपर वाला जाने, या उनके लिये आसमान की ओर देखते हैं। अरे भाई, वह किस कोने में या किस दिशा में नहीं है जो हम ऊपर देखते हैं। यही बात स्वामी जी ने ऊपर प्रश्न्–2 के उत्तर में कहा है। हमलोग कहते तो हैं "सीयराम मय सब जग जानी, करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी" परन्तु यह जिह्वा या बुद्धि स्तर पर ही रह जायेगा तब सर्वत्र सीयराम का दर्शन कैसे हो पायेगा?

छिपा समझने का दूसरा कारण यह है कि उनके अवतारी साकार रूप राम, कृष्ण और उनके अन्य साकार रूप जिन्हें हम विग्रह के रूप में पूजते हैं, हमारी कल्पना में भरे हुए हैं। हमलोग अपनी कल्पना के अनुरूप उनके सजीव शरीरी रूप में दर्शन को ही दर्शन समझते हैं। उन विग्रहों को हम प्रतीक मात्र मानते हैं। यहीं भूल हो

जाती है– कि वह प्रतीक भी हैं और साक्षात देव अथवा देवी भी हैं। जब उस परम–तत्त्व के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, तो उस विग्रह में उन्हीं की सत्ता तो मूर्तिमान है। जब हम निस्सन्देहतापूर्वक इसे अन्तःकरण से स्वीकार कर लें तब उसी विग्रह में उस देव/देवी का साक्षात दर्शन होगा। बहुत वर्ष पुरानी बात है, मेरठ में गृहस्थ संत प्रो0 शिवानन्द जी से मिलने गया था। मुझे वह अपनी पूजा-गृह में ले गये। हनुमान जी की तस्वीर टंगी थी। मैंने कहा बहुत अच्छी तस्वीर है। वह तपाक से बोले मेरे तो यह हनुमान जी हैं। यही दृष्टि का फेर है। उनकी दृष्टि में वह साक्षात हनुमान जी ही थे। उन्होंने सही ही कहा था। संतों से सुना है कि वह भक्तों की तीव्र उत्कण्ठा/लालसा के वश होकर साकार सजीव शरीरी रूप में भी दर्शन देते हैं और विनोद लीला भी करते हैं।

और ईश्वर का दर्शन, उनकी अनुकम्पा के रूप में भी तो होता है। हर व्यक्ति के जीवन में अनेक ऐसे अवसर आते हैं जो प्रभु की विशेष अनुकम्पा का ही परिणाम होते हैं। यदि हम उसे संयोग (chance) या सौभाग्य (good-luck) कहने के बजाय प्रभु की कृपा समझेंगे तो हमें उनकी अनुकम्पा के ही रूप में उनका दर्शन होगा और हम उस अनुभूति से आनन्द विभोर हो जायेंगे।

बहुत साल पुरानी बात है स्वामी कृष्णानन्द जी महाराज को मोटर कार से लेकर जा रहा था। यकाएक एक लड़का कार के सामने से सड़क पार करके भाग गया। मैंने स्वामी जी से कहा कि भगवान ने खूब बचाया – मेरी कोई गलती नहीं, पर यदि लड़का कार की चपेट में आ जाता तो पब्लिक मेरी कार तोड़ दी होती और मेरी पिटाई भी कर दी होती। वह हमेशा मौन रहा करते थे, कागज़ पर लिखा "He protects us all the time"(वह निरन्तर हमारी रक्षा करते रहते हैं) "पर जब कोई विशेष (unusual) बात हो जाती है तब हमें भगवान ने बचाया, ऐसा कहते हैं।" उन्होंने आगे लिखा "We must learn to see His Grace in every event"**(हमें हर घटना में उनकी कृपालुता का दर्शन करना सीखना चाहिये)**

सच ही कहा है। हम साँस ले रहे हैं, कान से सुन रहे हैं, मुँह से बोल रहे हैं आँख से देख रहे हैं आदि यह सब भी घटना (event) ही तो हैं और यह सब उन्हीं की अनुकम्पा से ही तो हो रहा है। यह सोच हमारे जीवन में उतर जाय तो फिर उनकी सजीव विद्यमानता (living presence) की अनुभूति होती रहे और बस आनन्द ही आनन्द रहे।

■

साधन-सूत्र : 22

मनुष्य जन्म की सार्थकता

विधाता ने मनुष्य को अन्य योनियों के प्राणियों से भिन्न, विशेष विभूतियाँ देकर उसकी रचना की है। यह हमारी अपनी पसन्द है कि हम पशु–योनि की भाँति खायें–पीयें, सुख–दुःख भोगें, विवश होकर जियें और जन्ममरण के चक्र में फँसे रहें अथवा विधाता द्वारा प्रदत्त विशेषताओं का सदुपयोग करके चिन्मय रसरूप अविनाशी जीवन का अनुभव करके अपने मनुष्य जन्म को सोद्देश्य (purposeful) बनायें।

इसके लिये फिर हमें अपने को 'मानव' स्वीकार करना होगा। मानव सेवा संघ के अनुसार मानव किसी आकृति विशेष का नाम नहीं है। जो प्राणी अपनी निर्बलता एवं दोषों को देखने और उन्हें निवृत्त करने में तत्पर है वही वास्तव में मानव कहा जा सकता है।

दूसरे शब्दों में "जिस व्यक्ति में मानवता है वही मानव है। मानवता के तीन लक्षण हैं:–

(1) विचार, भाव और कर्म की भिन्नता होते हुए भी स्नेह की एकता (प्रेम)।

(2) अभिमान रहित निर्दोषता (त्याग)।

(3) अधिकार का त्याग एवं दूसरों के अधिकार की रक्षा (सेवा)।

व्यक्ति जिस समाज में रहता है उससे उसका अविभाज्य सम्बन्ध है जिसका क्रियात्मक रूप ही, व्यक्ति द्वारा समाज की सेवा है–अर्थात् व्यक्ति अपने तीन विशिष्ट गुणों द्वारा समाज की सेवा कर सकता है:–

(1) व्यक्ति की निर्दोषता से समाज निर्दोष होता है।

(2) स्नेह की एकता से संघर्ष का नाश होता है।

(3) अपने अधिकार के त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा से सुन्दर समाज का निर्माण होता है।

इन तीनों द्वारा अपना भी कल्याण होता है।"

मानव में ही बीजरूप से परम शान्ति, परम स्वाधीनता और परम प्रियता की माँग विद्यमान रहती है। कर्तव्य–परायणता के

बिना शांति नहीं मिल सकती, अपने ही में सन्तुष्ट हुए, अचाह हुए बिना स्वाधीनता नहीं मिलेगी और प्रियता के लिए नित्य विद्यमान, परमतत्व, प्रेम–स्वरूप ईश्वर को अपना आत्मीय मानना ही होगा जो वह पहले से ही है।

मनुष्य जीवन का अपना महत्व है। इसे भूल जाने का ही यह परिणाम होता है कि व्यक्ति अपना मूल्यांकन सांसारिक उपलब्धियों, वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य एवं परिस्थिति के आधार पर करने लगता है जिससे वह इनकी दासता में आबद्ध हो जाता है। जिसका परिणाम दुःख और दरिद्रता होता है। दरिद्र वही है जिसमें लोभ है।

ऐसे सोच के आधार पर सभी का जीवन सार्थक हो ही नहीं सकता। सभी टाटा, बिड़ला, अम्बानी हो नहीं सकते, सभी राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मंत्री, ऊँचे पदाधिकारी, बड़े वैज्ञानिक, इन्जीनियर, डाक्टर आदि बन नहीं सकते। फिर तो अधिकांश को निराशा ही हाथ लगेगी और अपना जीवन व्यर्थ जान पड़ेगा।

जब कि वास्तविकता यह नहीं है। केवल जीवन के महत्व एवं उसकी सार्थकता के प्रति दृष्टिकोण सही करना है। मानव सेवा संघ ने कहा कि बड़े–छोटे का कोई प्रश्न ही नहीं है, हर व्यक्ति का जीवन सार्थक एवं उद्देश्यपूर्ण सिद्ध होगा यदि हम यह देखें कि क्या हमने अपने को उपयोगी बना लिया है। हम उपयोगी कैसे होते हैं:–

(1) सेवा द्वारा संसार के लिए

(2) त्याग द्वारा अपने लिए और

(3) प्रेम द्वारा प्रभु के लिए

इसे अपना कर अपने को उपयोगी बनाने में हम पूर्णतया समर्थ और स्वाधीन हैं। सेवा सेवा ही होती है कोई बड़ी या छोटी नहीं होती। निकटवर्ती जन समाज की यथाशक्ति क्रियात्मक सेवा करें और सद्भाव द्वारा सभी की भावात्मक सेवा करें।

अपने को उपयोगी बनाना ही मनुष्य जीवन की सार्थकता है।

मानव जीवन की सार्थकता क्या है, पूजनीया माँ अमृतानन्दमयी के शब्दों में "हम शरीर स्वस्थ रखने के लिए व्यायाम करते हैं। लेकिन हृदय को व्यायाम देना भूल जाते हैं। हृदय का व्यायाम दुःखित और पीड़ित लोगों को उनके स्तर से उठाने में, उनकी सेवा में है।"

"हमारी आखों की सुन्दरता काजल की रेखा में नहीं है, वरन् दूसरों में अच्छाई देखने में है और दुःखियों के प्रति करुणामय

दृष्टि में है। कानों की सुन्दरता सोने की बालियों में नहीं वरन् दूसरों का कष्ट धैर्यपूर्वक सुनने में है। हमारे हाथों की सुन्दरता सोने की अँगूठी पहनने में नहीं वरन् सत्कर्म करने में है।''

''हमें जीवन में कृतज्ञता का भाव विकसित करना चाहिए, हम संसार के समस्त प्राणियों के ऋणी हैं जिन्होंने हमारे विकास और पोषण में किसी न किसी रूप में सहायता दी है और हमें इस अवस्था तक पहुँचाया है।''

''हमें अपने भाई–बहनों की दुःखभरी पुकार अनसुनी नहीं करनी चाहिए। जितना भी हो सके हमें उनका दुःख कम करने का प्रयत्न करना चाहिए। **करुणा करने के लिए कोई बड़े पद या बहुत धन की आवश्यकता नहीं है।** एक प्यार भरा शब्द, एक करुणाकारी दृष्टि, एक मुस्कान, कोई छोटी सी सहायता किसी गरीब के जीवन में प्रकाश ला सकती है और हमारे जीवन में भी। **हमारे जीवन का मूल्य इसमें नहीं है कि हमने क्या पाया, बल्कि इसमें है कि हमने क्या दिया।** यदि हम किसी जीव को थोड़ी देर भी सुख दे सकें तो यह एक बड़ी उपलब्धि है।''

ऐसा ही उद्‌बोधन मेहेर बाबा का है–

"Real Happiness lies in making others Happy" (दूसरों को प्रसन्नता प्रदान करने में ही अपनी सच्ची प्रसन्नता है।)

इस प्रकरण में रवीन्द्रनाथ टैगोर की एक छोटी कविता बहुत ही अर्थपूर्ण है–

"Who is there to take up my duties?"
asked the setting sun.
The world remained dark and silent
With joined palms said the earthen lamp,
"I will do what I can, my master!"

एक वरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारी ने अपने सहयोगियों को सम्बोधित करते हुये टिप्पणी किया–

It is not given to many of us to be a sun. But let us all, in our own modest way, at least try to be small earthen lamps and do the best we can.

जीवन की सार्थकता यही तो है।

■

साधन-सूत्र : 23

मनुष्य जीवन की सार्थकता : उपयोगी होना–सो कैसे हों

यह सभी को स्वीकार होगा कि मनुष्य जीवन की सार्थकता सांसारिक उपलब्धियों से नहीं सिद्ध हो सकती। क्यों? क्योंकि सर्वप्रथम उसकी कोई सीमा नहीं है जिससे जीवन की सार्थकता का मापदण्ड निर्धारित हो जाय।

दूसरे सांसारिक उपलब्धियों को प्राप्त करने में सब लोग समान रूप से सक्षम नहीं होते। सबकी सामर्थ्य और परिस्थिति एक जैसी नहीं होती।

इसके अतिरिक्त, कुछ ही लोग होते हैं जो, जो भी प्राप्त हुआ उससे संतुष्ट हो जाते हैं और निष्ठापूर्वक अपना कर्तव्य–कर्म करते रहते हैं। परन्तु काफ़ी लोग कामना और लोभ से ग्रसित रहते हैं कि अभी और। इनमें कुछ तो स्वभाव–वश इसमें उलझे रहते हैं और कुछ यह स्पष्ट न होने से कि कैसे समझें कि जीवन सार्थक हुआ।

इसीलिए मानव सेवा संघ ने कहा है कि हम अपने को उपयोगी बना लें। हम सेवा के द्वारा जगत के लिए उपयोगी होते हैं, त्याग द्वारा अथवा अचाह होकर अपने लिए उपयोगी होते हैं और प्रेमी होकर प्रभु के लिए उपयोगी होते हैं। यही जीवन की सार्थकता है।

प्रश्न् हो सकता है कि इनका उपाय क्या है? इसके लिए मानव सेवा संघ ने बताया कि निम्नलिखित दस व्रतों को अपनाने की आवश्यकता है:–

(क) जीवन को अपने लिए उपयोगी बनाने के उपाय–

(1) निर्मम होना (ममता रहित होना)

(2) निष्काम होना

(3) अधिकार लोलुपता से रहित होना

(4) अहंकृति रहित होना

नोट : अहंकृति रहित होना का अर्थ है कर्तृत्व (कर्त्तापन) का अभिमान न हो, क्रिया–जनित सुख का भोग न हो और कर्म के फल में आसक्ति न हो।

(ख) जीवन को जगत के लिए उपयोगी बनाने के उपाय–

(1) किसी को बुरा न समझना

(2) किसी का बुरा न चाहना

(3) किसी के प्रति बुराई न करना

नोटः ***यदि हम कोई स्थूल (positive) भलाई (सेवा) नहीं कर सकते तो इसे तो कर ही सकते हैं–इसमें न कोई बाधा है और न कोई असमर्थता ही है।***

(ग) जीवन को प्रभु के लिए उपयोगी बनाने के उपाय–

(1) सुने हुए प्रभु की सत्ता को स्वीकार करना (अर्थात् प्रभु हैं)

(2) श्रद्धा एवं विश्वास करना।

(3) आत्मियता का सम्बन्ध स्वीकार करना।

इनको अपना कर अपने को उपयोगी बनाना सबको समान रूप से सहज तथा सम्भव है। इसमें अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण निहित है।

■

सार के रूप में स्वामी शरणानन्द जी के शब्दों में "बल के सदुपयोग से जीवन जगत के लिये, विवेक के आदर से जीवन अपने लिये और विकल्प रहित विश्वास से जीवन प्रभु के लिये उपयोगी हो सकता है" और यही जीवन की सार्थकता है।

साधन-सूत्र : 24

आस्था–श्रद्धा–विश्वास

ईश्वर के सम्बन्ध में साधकों के लिये तीन शब्दों–आस्था, श्रद्धा और विश्वास का प्रयोग होता है।

सर्वप्रथम तो ईश्वर केवल मानने का ही है। हम अपने जीवन में बहुत कुछ मानते ही हैं, हमारी व्यक्तिगत जानकारी नहीं होती है। यह मेरा भाई है, बहन है, माता हैं, पिता हैं आदि बचपन से सुनकर माना ही तो जाता है। तो फिर वेद–वाणी से, गुरु–वाणी से, संतवाणी से सुनकर कि ईश्वर है इसी में क्यों विकल्प और प्रश्न् होता है? मैं ईश्वर को नही मानता हूँ–यह एक प्रकार की ऐंठ (snobbery) ही है। वैसे अधिकांश यह तो मानते ही हैं कि एक कोई सत्ता है जो इस समस्त सृष्टि का रचयिता है। परन्तु वही अपना सच्चिदानन्द स्वरूप ईश्वर है, परम कृपालु और सबका रखवारा है, यह स्वीकृति नहीं बन पाती।

हमारे न मानने से उनकी सत्ता में कोई अन्तर नहीं होने का और हमारे न मानने पर भी वे परम उदार हमारे पर कृपा करना बन्द नही करते। ऐसा नहीं करते कि मुझे नहीं मानोगे तो साँस नहीं लेने देंगे या इन्द्रियाँ काम नहीं करेंगी, आदि। उन्होंनें हमें पूर्ण स्वाधीनता दे रखा है कि हम उन्हें मानें या न मानें।

पर यह तो हमारी अपनी आवश्यकता है कि हमें नित्य और सर्वत्र विद्यमान, सामर्थ्यवान और अहैतुकी कृपा करने वाले, जो पात्र कुपात्र का विचार किये बिना ही कृपा की अनवरत वर्षा करते हों, का सहारा चाहिये। उनके होते हुए हम अनाथ और असहाय हैं नहीं, मात्र उनको स्वीकार करके अपने को सनाथ और किसी समर्थ का सम्बल प्राप्त अनुभव करेंगे।

स्वामी शरणानन्द जी कहते थे कि बस इतना ही तो मानना है कि ईश्वर हैं – सर्वत्र हैं, सदैव हैं, सबके हैं, ऐश्वर्यवान हैं, और अद्वितीय हैं। सदैव हैं तो अभी भी हैं, सर्वत्र हैं तो मुझमें भी हैं, सबके हैं तो अपने भी हैं, महिमावान हैं और अपने जैसे एक ही हैं। वह हमें अपना जानते और मानते भी हैं।

यह तो हमारी भूल है कि हम उनसे विमुख हैं। स्वामी जी कहा करते थे कि वह तो लालायित रहते हैं कि यह मेरा अपना कब मेरी ओर निहारे। वह तो पूर्ण हैं, उन्हें किसी चीज़ की आवश्यकता नहीं है। उन्हें तो मात्र प्रेम चाहिए।

हमें तो उनकी सत्ता स्वीकार करके उनसे आत्मीय सम्बन्ध मानकर उनका प्रेमी बन जाना है। प्रेम में देना ही देना होता है–जहाँ चाह हुई कि वह भी हमें प्रेम करें (अपने दैनिक जीवन में भी) तो वह प्रेम न होकर प्रेम का व्यापार हो गया।

वे मेरे अपने हैं बस इसलिये वे मुझे प्यारे लगते हैं। वे मुझे प्यार करेंगे या करते हैं कि नहीं, यह वे ही जाने। यह एक दृष्टिकोण की बात है अन्यथा वह हमें प्यार तो करते ही हैं नहीं तो अहैतुकी कृपा की अनवरत वर्षा क्यों करते रहते।

उनकी सत्ता स्वीकार करने पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि हम उन्हें अपना साध्य (The One sought-after) बनायें न कि सांसारिक उपलब्धियों के लिये साधन (tool).

हमसे यह भी भूल होती है कि हम अपनी सांसारिक इच्छाओं/कामनाओं की पूर्ति के लिये उनसे कहते रहते हैं। अरे, क्या वह अज्ञानी हैं, क्या उन्हें हमारी आवश्यकताओं का पता नहीं है? जो वह आवश्यक समझेंगे वह हमारे मांगे बिना ही पूरा कर देंगे और करते हैं। स्वामी जी का उद्‌बोधन है 'शरणागत के आवश्यक कार्य प्रभु स्वयं पूरा करते हैं।' और यह शरणागत् साधकों का अनुभव भी है। वह देवकी बहिन जी से कहते थे कि 'लाली, प्रभु से कुछ माँगना मत, अन्यथा घाटे में रहोगी।' कृष्ण–सुदामा का प्रसंग इसका सटीक उदाहरण है। द्वारिका जाकर सुदामा जी ने कुछ नहीं माँगा तो उन्हें क्या क्या नहीं मिला। और यदि वह माँगे होते तो कदाचित् यही कहते कि बड़ी गरीबी है, दो जून खाने का प्रबन्ध कर दो। तो माँगने पर घाटा ही तो होता।

स्वामी जी ने आगे कहा कि अगर उनसे कुछ माँगना ही है तो मात्र यह कि प्रभु तुम मुझे प्यारे लगो, मुझे अपना प्रेमी बना लो। क्यों? क्योंकि प्रभु–प्रेम से अधिक मूल्यवान कुछ और इस सृष्टि में है ही नहीं। कुछ और माँगेंगे तो घाटे में ही तो रहेंगे।

सो "विकल्प रहित भाव से उसे स्वीकार करने का नाम ही **आस्था** है।"

"उसकी महिमा को स्वीकार करना आस्थावान में **श्रद्धा** उत्पन्न करता है। जब साधक स्वीकार कर लेता है कि उस महामहिम की महिमा का वारापार नहीं है तो उसमें स्वतः श्रद्धा की अभिव्यक्ति होती है।"

"श्रद्धा के जागृत होते ही अन्य विश्वास, अन्य सम्बन्ध, अन्य चिन्तन नहीं रहता और फिर एक ही विश्वास, एक ही सम्बन्ध, एक ही चिन्तन रह जाता है। इस दृष्टि से आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक साधक उस अद्वितीय, सर्वसमर्थ से जातीय एकता तथा नित्य सम्बन्ध स्वीकार करता है और फिर स्वतः अखण्ड स्मृति जागृत होती है।"

विडम्बना यह है कि संसार जो अनित्य और परिवर्तनशील है वह तो हमारी भूल से प्राप्त मालूम होता है और जो नित्य प्राप्त अविनाशी तत्व (ईश्वर) है, वह दूर मालूम होता है। संसार के पीछे दौड़ते रहते हैं, फिर भी पकड़ में नहीं आता। तब निराश होकर अपनी भूल का एहसास करते हैं तो अपने ही में विद्यमान शान्ति, स्वाधीनता, प्रेम की माँग का परिचय हो जाता है और उसकी प्राप्ति के लिये हम साधन–पथ अपनाते हैं। वह परम–तत्व तो पहले से ही प्राप्त है, बस उससे जो विमुखता है उसका अन्त होकर उसकी सम्मुखता हो जाती है।

अन्यत्र एक प्रश्न के उत्तर में स्वामी जी ने अन्य बातों के अतिरिक्त कहा है कि "मनुष्य अनित्य वस्तुओं से सुख की आशा करके उनमें आसक्त हो गया है, इससे ही वह ईश्वर से विमुख हो गया है।"

उन्होंने कहा है कि "उस परम–प्रियतम को ही अपना मानें, उसी पर विश्वास करें और उसी से प्रेम करें।"

प्रभु तो 'सबके अकारण हितू', 'अत्याधिक दयालु', 'दया करने में कभी आलस्य न करने वाले हैं।' (गजेन्द्र–मोक्ष से)

उनकी कृपालुता का वारापार नहीं है और यही साधक के लिये सबसे उत्साहवर्धक आश्वासन है कि वह सबसे मिलते हैं। "यदि भक्त को प्रभु भक्तवत्सलता के नाते मिलते हैं तो भाई, पतित को पतितपावन होने के नाते मिलते हैं।" वाह रे प्रभु, तुम महान हो।

■

अनन्त परमात्मा से अनन्त मिलन का अनुभव जीवन की सर्वोत्तम उपलब्धि है।
– दिव्य ज्योति प्रो0 देवकी बहिन जी

साधन-सूत्र : 25

मन की चंचलता

बेचारा मन, इसका स्वतन्त्र अस्तित्व है ही नहीं, फिर भी अपयश पाता है, इसकी निन्दा होती है कि मन बड़ा चंचल है, निकृष्ट है, इधर उधर भटकता रहता है, हमें स्थिर नहीं होने देता, ईश्वर से जुड़ने नहीं देता, इत्यादि।

मन के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न अवसरों पर लोगों ने स्वामी शरणानन्द जी से प्रश्न् किये। उन प्रश्नों और उनके उत्तर को ज्यों का त्यों प्रस्तुत किया जा रहा है:

1. प्रश्न् : जब मैं मानव सेवा संघ की बैठक में आता हूँ और जितनी देर मैं बैठा रहता हूँ उतनी देर तक मेरा मन शान्त रहता है, परन्तु जब मैं बैठक समापन के बाद घर पहुँचता हूँ तो फिर मुझे मन की चंचलता सताने लगती है। क्या उपाय किया जाय कि मन की चंचलता मिट जाय?

उत्तर : मानव सेवा संघ के दर्शन के अनुसार **मन का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है।** जो चीज़ हमें नापसन्द होती है, उस ओर मन कभी नहीं जाता। यदि हमने मन को अब तक जहाँ लगा रखा था, उस स्थान से हटाकर भगवान में लगा दें तो मन अमन हो जायेगा और अपने आप शान्त, शुद्ध एवं स्वस्थ हो जायेगा। परिस्थिति बदलने से मन की चंचलता थोड़ी देर के लिये दब जाती है, मिटती नहीं। **मन दर्पण की भाँति अपनी दशा का यथार्थ ज्ञान कराता है,** अतः उसे बुरा समझना या उसकी निन्दा करना उचित नहीं है।

2. प्रश्न् : मन रुकता नहीं है, इधर उधर घूमता रहता है। इसका क्या कारण है?

उत्तर : मन के न रुकने का दुःख नहीं है। मन को रोकना आवश्यक है। देखा जाता है कि कोई आवश्यक कार्य पूरा न होने पर मनुष्य को बेचैनी होती है।

धन के अभाव में दुःख होता है। प्रिय के वियोग में दुःख होता है। खाना–पीना

भी अच्छा नहीं लगता है। दुःख भुलाने के लिये गलत मार्ग भी स्वीकार करते हैं—जैसे मादक पदार्थों का सेवन आदि, परन्तु दुःख नहीं मिटता। यह परिस्थिति तो साधारण दुःख की है। यदि किसी को मन न रुकने का इतना दुःख हो जावे कि जब तक मन न रुके, दूसरी कोई बात अच्छी न लगे, तीव्र व्याकुलता हो जावे, चैन न पड़े तो मन रुक सकता है। एक साथ दो काम करने की आदत भी मन को स्थिर नहीं होने देती। देहाभिमान भी मन को स्थिर नहीं होने देता। **सब ओर से हट जाने को ही मन की स्थिरता कहते हैं।** संसार से हटा लेने पर भगवान में मन अपने आप लग जाता है।

3. प्रश्न् : मन को वश में करने का क्या उपाय है?

उत्तर : (1) मन के ऊपर से अपनी ममता का बोझ हटा लो।

(2) अपनी पसन्द को बदल डालो। जहाँ मन लगाना चाहते हो उसे पसन्द कर लो और जहाँ से मन को हटाना हो उसे नापसन्द कर दो।

(3) ज़रूरी काम को पूरा करो और ग़ैर ज़रूरी काम को छोड़ दो।

(4) जो नहीं करना चाहिये और जिसे नहीं कर सकते हो, उसको मत करो और जिसे करना चाहिए और जिसे कर सकते हो, उसे कर डालो।

(5) केवल प्रभु को ही अपना मानो।

(6) अपनी सबसे बड़ी आवश्यकता को अनुभव करो। मन शान्त तथा शुद्ध हो जायेगा।

4. प्रश्न् : मन की चंचलता को कैसे रोका जाय?

उत्तर : मानव–सेवा–संघ के दर्शन के अनुसार मन की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। **अपनी पसन्द के प्रभाव का समूह ही मन है।** जो चीज़ हम पसन्द करते हैं वहाँ मन लग जाता है और जिसको नापसन्द करते हैं, वहाँ से मन हट जाता है।

(1) अतः मन को जहाँ लगाना चाहते हैं उसे पसन्द कर लें और जहाँ से हटाना चाहते हैं, उसे नापसन्द कर दें। **मन की चंचलता का भास तभी मिलता है जब हम पसन्द तो संसार को करते हैं और मन भगवान में लगाना चाहते हैं।**

(2) दूसरा उपाय यह है कि मन पर से

अपनी ममता का भार हटा कर उसको भगवान के हवाले कर दें। वे उसे शुद्ध, स्वस्थ एवं शान्त कर देंगे। फलतः मन की चंचलता समाप्त हो जायेगी।

(3) मन एक प्रकार का दर्पण है जो वस्तुस्थिति का बोध कराता है, मन को बुरा न समझें, न उसकी निन्दा करें, बल्कि विवेक के प्रकाश में अपनी वस्तुस्थिति का अध्ययन करें और अपने में जो कमियाँ दिखाई पड़ें, उन्हें सत्संग के प्रकाश में दूर करने का उपाय करें। इससे भी मन की चंचलता दूर होती है। **जो नहीं कर सकते और जो नहीं करना चाहिये उसके न करने से तथा जो करना चाहिये और कर सकते हैं, उसके कर डालने से मन शान्त हो जाता है।**

राँची में एक गांधीवादी सज्जन ने श्री महाराज जी (स्वामी शरणानन्द जी) से कहा– "महाराज जी, मन को मारने का क्या उपाय है?"

श्री महाराज जी ने कहा, "राम, राम, गांधी जी के शिष्य होकर, मारने की बात करते हो! गांधी जी ने तो असहयोग का मार्ग अपनाया था। आप मन से असहयोग कर दो, मन समाप्त हो जायेगा।"

एक अवसर पर ऋषिकेश (गीता भवन) में प्रवचन से पूर्व एक संत ने स्वामी जी से पूछा–

"महाराज, मन बड़ा चंचल है, इसको एकाग्र करने की टेक्नीक बतायें"

श्री महाराज जी कहने लगे–

"मन किसी टेक्नीक से एकाग्र नहीं होता। सम्बन्ध एक से रखो और उसके नाते सेवा अनेक की करो। मन तो वहाँ जाता है जहाँ आपने अपना सम्बन्ध जोड़ रखा है। **मन को एकाग्र करने का प्रयास मत करो, अपना सम्बन्ध बदल डालो।**"

एक अन्य अवसर पर स्वामी जी ने कहा कि "मन भोगे हुए का और जो भोगना चाहते हैं उसका प्रभाव है। मन भुक्त–अभुक्त के प्रभाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। **भोग के प्रभाव का नाम है मन**, भोग के परिणाम का नाम है शोक, भोग की रुचि का नाम है बुराई। अब आप सोचिये कि जिसका कारण मौजूद है, उसका नाश कारण के रहते होगा।..... **आप नहीं बदलें और मन बदल जाय, यह नहीं होने वाला है।**"

अतः संत की सलाह मान कर, मन को दोषी न बता कर, अपनी पसन्दगी बदलना होगा, प्रभु को पसन्द करना होगा जिससे कि मन उन्हीं में लग जाय और हमारे छुटाये से भी न छूटे।

कुछ लोग ऐसे हो सकते हैं जो कहें कि हम ईश्वर को तो मानते नहीं, फिर हम क्या करें। ऐसे लोगों को पहले यही नेक सलाह होगी कि भइया, ज़िद को छोड़कर ईश्वर को मान लो उसी प्रकार से जिस प्रकार से बिना तर्क के मान लेते हो कि यह मेरा भाई है, बहिन है, माता हैं, पिता हैं।

इसके बावजूद यदि कोई ईश्वर को न मानने पर ही अडिग है, तो इसमें कोई बाधा या पराधीनता तो नहीं है कि हम अपनी पसन्दगी सुख–भोग से हटा कर पर–हित और पर–सेवा में लगा दें। अपनी पसन्दगी अपनी निर्दोषता और बुराई–रहित तथा अभाव–रहित जीवन के प्रति कर दें। स्वार्थ, लोभ और द्वेष से हटा कर उदारता, सबके प्रति सद्भाव और स्नेह की एकता के प्रति कर दें।

मानव सेवा संघ के दर्शन के अनुसार उदारता का अर्थ है 'दुखियों को देखकर करुणित होना और सुखियों को देखकर प्रसन्न होना।' और उदारता में रस है। सुख–भोग से मन हट गया तो पराधीनता मिट गई, स्वाधीन हो गये; स्वाधीनता में भी रस है। आगे चल कर प्रियता का अगाध–अनन्त रस भी मिल जायेगा।

अतः मन को दोष न देकर, अपनी पसन्दगी बदलना अनिवार्य है। ■

वास्तव में तो भलाई और बुराई कर्त्ता में होती है, करण में नहीं होती। जब करण में नहीं होती, तब मन कर्त्ता है ही नहीं, वह तो करण है। जब मन कर्त्ता है ही नहीं, तब हम और आप किस न्याय से, किस ईमानदारी से अपने मन को भला और बुरा बतलाते हैं। हम भले होते हैं, मन भला होता है। हम बुरे होते हैं, मन बुरा होता है।

साधन-सूत्र : 26

एक ही अनेक रूपों में

बहुत वर्ष पुरानी बात है एक बार जब (ब्रह्मलीन) संत परम पूज्य स्वामी कृष्णानन्द जी, अयोध्या में कनक–भवन से भगवान राम का दर्शन कर लौट रहे थे, तब अयोध्या में ही उनसे भेंट होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैंने पूछा कि आपके इष्ट तो कृष्ण भगवान हैं, भगवान राम का दर्शन करके आपको कैसा लगता है? हमेशा मौन रहने के कारण कागज़ पर लिखा "मुझे तो लगता है एन्टे कृष्णा, एन्टे भगवान (अपनी मूल मलायली भाषा में), अर्थात् यही मेरे कृष्ण हैं, यही मेरे भगवान हैं।"

अनेक रूपों में एक ही ईश्वरीय सत्ता की विद्यमानता का इतना सहज और सरल निरूपण से प्रेरित उद्‌गार :–

हे रे कान्हा!– तू ही तू तो है, तेरे सिवा कोई और नहीं कछु और नहीं। तू ने ही तो अपनी इच्छा से, अपने ही में, अपने से, अपने द्वारा समस्त सृष्टि का निर्माण किया है, और तू ही तो अनेक रूपों में इसका लालन, पालन, संचालन कर रहा है (गजेन्द्र–मोक्ष पर आधारित)। हे कान्हा, तुझ को तेरे अनेक नाम रूपों में शत् शत् प्रणाम।

हे कान्हा!– तुझको तेरे निर्गुण निराकार रूप में शत् शत् प्रणाम, तुझको तेरे निर्गुण साकार रूप में शत् शत् प्रणाम, तुझको तेरे सगुण साकार रूप में शत् शत् प्रणाम।

हे कान्हा!– तेरी निज स्वरूपा, नित्य संगिनी, आह्लादिनी शक्ति, श्री राधारानी जी के चरण कमलों में शत् शत् प्रणाम,

श्री राधारानी जी के साथ तेरी युगल छवि के चरण कमलों में शत् शत् प्रणाम।

हे कान्हा!– श्री राधारानी जी के साथ अपनी युगल छवि के श्री चरणों में अनन्य अविरल भक्ति और ( ) प्रेम प्रदान करो।

नोटः ***भक्त वृन्द अपने अपने भाव के अनुरूप, कोई वात्सल्य भाव से, कोई सख्य***

भाव से, कोई दास भाव से तो कोई मात्र अपनत्व भाव से प्रभु को प्रेम करते हैं– इसलिये ब्रैकेट खाली छोड़ दिया है।

हे कान्हा!– तुझ को तेरे परम कृपालु, परम उदार, परम ज्ञानी, ज्ञान के भंडार, विघ्ननाशक, विघ्नहर्ता, आदिगण देवता रूप गणेश भगवान को शत् शत् प्रणाम।

हे कान्हा!– तुझको तेरी करुणामयी, ममतामयी, कृपामूर्ति आदि–अन्त रहित, आदि–शक्ति, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्व–शक्तिमान मातृरूप माँ दुर्गा माँ के चरण कमलों में शत् शत् प्रणाम।

हे कान्हा!– तुझको तेरे औढरदानी, परम कृपालु, करुणासिन्धु, क्षणभर में करुणा से द्रवित होने वाले, परम उदार, संहारकर्ता रूप शंकर भगवान को शत् शत् प्रणाम।

हे कान्हा!– तुझको तेरे सहज कृपालु, कृपानिधान, करुणासिन्धु, बिनु हेतु सनेही, भक्तवत्सल, शरणागतवत्सल, त्रेतायुग में अवतारी मर्यादा पुरूषोत्तम रूप भगवान राम के श्री चरणों में शत् शत् प्रणाम।

हे कान्हा!– तुझको तेरे महाबली, महापराक्रमी, परमकृपालु, चिन्ताहरण, संकटहारी, भक्त–शिरोमणी रूप, संकटमोचन हनुमान महाप्रभु को शत् शत् प्रणाम।

हे कान्हा!– तुझको तेरे अत्यधिक दयालु, दया करने में कभी आलस्य न करने वाले, अतिशय दयालु (गजेन्द्र–मोक्ष से) करुणासिन्धु, भक्तवत्सल, शरणागतवत्सल, शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी चतुर्भुज रूप विष्णु भगवान के चरण कमलों में कोटि कोटि नमन्।

■

प्रेमास्पद अपने हैं, अपने में हैं और अभी हैं– यह सद्गुरु-वाक्य है, वेद-वाणी है। इसमें अविचल आस्था अनिवार्य है। अपने होने से अपने को स्वभाव से प्रिय हैं और अपने में होने से उन्हें कहीं बाहर नहीं खोजना है। अभी होने से भविष्य के लिये प्रतीक्षा नहीं करनी है।

साधन-सूत्र : 27

क्या सुख–भोग ही जीवन है?

नहीं, सुख–भोग जीवन हो ही नहीं सकता। क्यों? क्योंकि सुख हमेशा बना नहीं रह सकता। जीवन तो उसे कहते हैं जो नित्य, अविनाशी, रसरूप है।

सुख है क्या? सुख एक परिस्थिति मात्र है और परिस्थिति हमेशा एक जैसी नहीं रहती–प्राकृतिक नियम के अनुसार निरन्तर बदलती रहती है। जहाँ सुख होगा, वहाँ दुःख को भी होना ही है। संयोग का सुख है तो वियोग का दुःख होगा ही, उससे बचा नहीं जा सकता। इसीलिये कहा है कि सुख रोकने पर भी चला जाता है और दुःख बिना बुलाये चला आता है। या यूँ कहें कि कोई भी सुख को जाने से और दुःख को आने से नहीं रोक सकता।

सुख, दुःख है क्या? अनुकूल परिस्थिति सुख है, प्रतिकूल परिस्थिति दुःख है। कामनापूर्ति सुख है और कामना–अपूर्ति दुःख है। ऐसा होता ही नहीं कि किसी की सभी कामनाएँ पूरी हों और किसी की एक भी कामना पूरी न हुई हो। सभी की कुछ कामनाएँ पूरी होती हैं और कुछ नहीं पूरी होतीं। राजा दशरथ की भी तो कामना पूरी नहीं हुई–वह राम को युवराज बनाना चाहते थे और हुआ क्या? राम वन को चौदह वर्ष के लिये गये।

यह जीवन का अकाट्य सत्य है कि सुख और दुःख का क्रम हर एक के जीवन में रहेगा ही। अतः यदि हम सुख–भोग को ही जीवन मान लेंगे तो दुःख भी भोगना ही पड़ेगा।

तो प्रश्न् उठता है कि सुख आया तो उसका भोग न करें तो क्या करें और क्या सुख–दुःख से अतीत भी कोई जीवन है? है, और उसकी प्राप्ति बहुत सहज है। सिर्फ दृष्टिकोण बदलना है जो हर एक के लिये सम्भव है।

मानव सेवा संघ की प्रथम प्रार्थना में है–

"मेरे नाथ,.....दुःखी प्राणियों के हृदय में त्याग का बल एवं सुखी प्राणियों के हृदय में सेवा का बल प्रदान करें..... ।"

मानव सेवा संघ दर्शन के अनुसार सुख–दुःख मात्र साधन सामग्री है। उसका सदुपयोग करके हम वास्तविक रस–रूप जीवन को प्राप्त करते हैं।

यदि हम सुख का भोग करेंगे अर्थात् सुख में जीवन बुद्धि होगी तो दुःख भोगना ही पड़ेगा। अन्यथा "जो सुख का दास नहीं है वह दुःखी नहीं होता। इसलिये **दुःख से बचने के लिये सुख काल में सुख की वासना का त्याग अनवार्य है।**"

सुख–दुःख का सदुपयोग है क्या? दुःख का भोग से बचने के लिये उन कामनाओं जिनकी अपूर्ति और जिन वासनाओं के कारण (जैसे नेत्रहीन है तो देखने की वासना) दुःख हो रहा है उनका त्याग करना है और सुख का भोग न करके सुखद परिस्थिति का सदुपयोग सेवा में करना है। कोई भी सर्वांश में न तो दुःखी होता है और न ही सर्वांश में सुखी। अतः जिस अंश में दुःख है तो त्याग अपनायें और जिस अंश में सुख है तो सेवा करें। यही सुख–दुःख का सदुपयोग है।

सुखद परिस्थिति में सेवा क्या है, इसके बारे में बड़ा भ्रम है। जब तक हम उदार नहीं होंगे सेवा हो ही नहीं सकती। उदार का यह अर्थ नहीं है कि मंदिर में पंखे टंगवा दिये और तीन पुश्त का ब्लेड पर नाम लिखवा दिया। प्याउ तो लगाया, परन्तु वहाँ अपने नाम का बड़ा बैनर लगा दिया।

उदारता का अर्थ होता है **दुःखियों को देखकर करुणित होना और सुखियों को देखकर प्रसन्न होना।** जब यह हमारे जीवन में उतर जायेगा तब हमसे स्वतः स्वभावतः सेवा होगी। शरीरबल का सुख है तो निर्बलों के काम आयेंगे धन बल है तो निर्धनों के काम आयेंगे, आदि।

स्वामी शरणानन्द जी एक बार अकेले ट्रेन से बलरामपुर जा रहे थे। उसी डिब्बे में एक मुसलमान जज साहेब बैठे थे। उन्हें जब मालूम हुआ कि स्वामी जी बलरामपुर जा रहे हैं, तो उन्होंने उनसे पूछा कि गोण्डा में आप ट्रेन कैसे बदलेंगे? स्वामी जी ने सहज भाव से कहा कि मेरी आंखें नहीं है तो क्या, आपकी तो हैं। जज साहेब इतने प्रभावित हुए कि वे स्वयं उन्हें

ले जाकर बलरामपुर की ट्रेन में बैठाये।

जिन साधनों से हम सेवा करते हैं उन्हें सेव्य की ही धरोहर मान कर करेंगे तब तो सच्ची सेवा होगी और अपने विकास के लिए हितकारी होगी अन्यथा हम कर्तृत्व के अभिमान में फंस जायेंगे।

मानव सेवा संघ की एक सूक्ति इस प्रकरण में उल्लेखनीय है–"जो सुख को बनाये रखने का प्रयत्न करता है, सुख उससे छिन जाता है और जो सुख को बाँट देता है उसे आनन्द मिल जाता है।"

जब हम सुख–दुःख का सदुपयोग करके सुख–दुःख से अतीत जीवन में प्रवेश पाते है तब भगवान राम की तरह युवराज पद(सुख) से न हर्ष होता है और न वनवास (दुःख) से विषाद। हम समता में रहते हैं।

इस प्रश्न् 'क्या सुख भोग ही जीवन है' का बहुत सहज, स्पष्ट और सुन्दर उत्तर मुंशी प्रेमचन्द्र द्वारा लिखी कहानी 'ईदगाह' के नायक बालक हामिद ने दिया है जिसने ईद के मेले में गुब्बारों, मिठाई और खिलौनों के प्रति बाल–सुलभ आकर्षण पर विजय प्राप्त करते हुए अपनी दादी माँ के लिये लोहे का एक चिमटा खरीदा। क्यों? क्योंकि उसकी आँखों के सामने तो तवे पर रोटी सेंकते समय चिमटे के अभाव में दादी माँ की उंगलियों के जलने का दृश्य तैर रहा था। अधिकांश लोगों ने यह कहानी पढ़ी होगी। जिन्होंने न पढ़ा हो वह अवश्य पढ़ें–जीवन का अर्थ और जीने की सही राह मिल जायेगी।

प्रश्नगत् शीर्षक का उत्तर इसमें भी निहित है कि हम सिर्फ़ अपने लिये जी रहे हैं, या दूसरों के लिये। अपने लिये जी रहे हैं तो भोग, दूसरों के लिये जी रहे हैं तो सेवा। यही सिद्धान्त स्वामीजी के महाप्रयाण के पूर्व उद्‌गार में "जो दूसरों के हित के लिये जीता है वह महान है। जो अपने लिये जीता है वह अभागा है। दूसरों के हित के लिये जीओ। सुख–भोग के लिये जीना पाप है। दूसरों के लिये जीना महान पुण्य है।"

एक बात और, जिसने सुख बाँटने के आनन्द (joy of sharing) का रसास्वादन कर लिया है वह सुख का भोगी हो ही नहीं सकता।

नोटः इस विषय के एक अन्य पहलू के लिये साधन-सूत्र-63 देखें।

■

साधन-सूत्र : 28

साधन रूपी पारम्परिक प्रवृत्तियों का मानव सेवा संघ दर्शन में अर्थ

प्रभु प्राप्ति अथवा अपने नित्य, अविनाशी, चिन्मय, रसरूप जीवन की प्राप्ति हेतु साधना के रूप में कुछ प्रवृत्तियों का नाम आता है। मानव सेवा संघ के दर्शन के अनुसार इस हेतु जो भी प्रवृत्ति अपनायी जाये वह सब के लिये सहज और सुलभ हो। यदि उसमें श्रम और पराश्रय अपेक्षित होगा तो वह सबके लिये सहज नहीं होगा क्योंकि सबकी सार्मथ्य अलग–अलग होती है। इसके अतिरिक्त ऐसी साधना अखण्ड नहीं होगी। मानव सेवा संघ के अनुसार अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये हमारा पूरा जीवन ही साधनमय होना आवश्यक है। कुछ देर साधन ओर शेष समय असाधन, इससे काम नहीं बनने वाला।

मानव सेवा संघ के अनुसार साधन किया नहीं जाता अपितु साध्य की प्राप्ति हेतु साधक का पूरा जीवन ही साधनमय हो जाना आवश्यक है। जीवन के सत्य को 'स्व' द्वारा स्वीकार करने और विवेक के प्रकाश में अपनी जानी हुई बुराईयों को निकाल देने पर, साधक के जीवन में साधन की अभिव्यक्ति होती है। साधक साधन से अभिन्न हो कर साध्य से मिलता है।

पारम्परिक ऐसे साधन प्रवृत्तियों का अर्थ और स्वरूप मानव सेवा संघ के प्रणेता परमपूज्य स्वामी शरणानन्द जी ने समय समय पर साधकों के प्रश्नों के उत्तर में स्पष्ट किया है। उन्हीं का संकलन नीचे प्रस्तुत है।

1. प्रश्न्– पूजा का क्या अर्थ है?

उत्तर– संसार को भगवान का मानकर, उन्हीं की प्रसन्नार्थ **संसार से मिली हुई वस्तुओं को संसार की सेवा में लगा देना पूजा है।**

एक अन्य प्रश्न् के उत्तर में उन्होने बताया कि "पूजा का वास्तविक अर्थ है–भगवान के नाते और उन्हीं की प्रसन्नता के लिये संसार की सेवा करना।"

इसी को इस प्रकार भी कहा है कि **प्रभु के नाते किया हुआ प्रत्येक कार्य पूजा है।**

2. प्रश्न्– स्तुति, उपासना तथा प्रार्थना

का क्या अर्थ है?

उत्तर– प्रभु के अस्तित्व एवं महत्व को स्वीकार करना ही **स्तुति** है। प्रभु से अपनत्व का सम्बन्ध स्वीकार करना **उपासना** है और प्रभु–प्रेम की आवश्यकता अनुभव करना **प्रार्थना** है।

ऐसे ही एक प्रश्न् के उत्तर में बताया कि साधक की साध्य में अगाध प्रियता ही **सच्ची उपासना** है और प्रभु से नित्य एवं आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करने से उपासना की अभिव्यक्ति होती है।

3. प्रश्न्– भजन क्या है ?

उत्तर– सेवा, त्याग और प्रेम तीनों इकट्ठे हो गये, भजन हो गया। भजन में सेवा भी है, त्याग भी है और प्रेम भी है। जब तक भगवान को अपना नहीं मानोगे, भगवान प्यारा लगेगा नहीं और जब तक भगवान प्यारा लगेगा नहीं तब तक उसकी याद आयेगी नहीं और जब तक याद नहीं आयेगी भजन होगा नहीं।

एक अन्य प्रश्न् के उत्तर में उन्होने स्पष्ट किया कि "अपने में प्रीति स्वयं होती है और जिससे प्रीति होती है उसकी स्मृति भी स्वतः होती है। अतः **स्वतः स्मृति का होना ही सच्चा भजन है।** जब तक ममता, कामना और आसक्ति का त्याग नहीं करोगे भजन होगा ही नहीं।....."

अन्यत्र उन्होने इसी बात को इस प्रकार कहा– **"है" की अखण्ड स्मृति ही सच्चा भजन है।** अखण्ड स्मृति जिसमें पैदा होती है और जिसके प्रति होती है, दोनों के लिये रसरूप होती है।"

एक स्थान पर स्वामीजी ने कहा है–

"याद आना, प्यारा लगना, अभिलाषा पैदा होना–यही तो भजन है। विचारकों ने इसे 'साधन' कह दिया और श्रद्धालुओं ने 'भजन' कह दिया।"

4.प्रश्न्– व्रत, तप, प्रायश्चित व प्रार्थना का क्या अर्थ है ?

उत्तर– लक्ष्य की प्राप्ति का संकल्प **व्रत** है, उसमें आने वाले कष्टों को हर्षपूर्वक सहन करना **तप** है, की हुई भूल को न दोहराना **प्रायश्चित** है तथा लक्ष्य की अपूर्ति के दुःख से दुःखी होकर व्यथित हृदय की पुकार **प्रार्थना** है।

जप के सम्बन्ध में स्वामी जी कहा करते थे कि तुम्हारा बेटा कहीं दूर गया है, तुम्हें प्यारा लगता है सो उसकी याद आती है। माला लेकर उसका नाम तो नहीं जपते हो। उसी प्रकार ईश्वर को अपना मानो प्यारा लगेगा सो उसकी नित्य स्मृति स्वतः जगेगी। प्रभु स्मृति ही जप है।

स्वामीजी ने जप के स्वरूप को बड़े स्पष्ट ढंग से बताया है–

किसी साधक भाई ने प्रश्न् किया कि नाम–जप के बारे में आपके क्या विचार हैं, तो स्वामीजी ने कहा कि नाम–जप का तो मैं विरोध नहीं करता किन्तु साथ–साथ नाम की महिमा भी स्वीकार करने के लिये कहता हूँ। साधक भाई ने पूछा कि नाम की महिमा कैसे स्वीकार करें तो स्वामीजी महाराज ने बताया कि मेरे प्यारे का नाम है इसलिये प्यारा लगना चाहिये। मैंने तो यह समझा है कि **नाम में प्रेम हो और नाम महिमा में विश्वास हो।**

5. प्रश्न्– ध्यान कैसे किया जाता है? ध्यान पर बैठ जाते हैं पर मन लगता नहीं।

उत्तर– मैं निवेदन करता हूँ, जब तक **ध्यान करेंगे** तब तक ध्यान कभी होगा ही नहीं। .....फिर भी एक हवा बह रही है। विचार कीजिये, पानी का ध्यान, करने से आयेगा या अपने आप आयेगा? उत्तर– प्यास लगने से आयेगा। पानी के ध्यान का मूल कारण हुआ 'प्यास'। अच्छा, आपको अपने परिवार का ध्यान आता है–मूल कारण है 'अपनापन'।

तो **आवश्यकता और अपनापन ध्यान का मूल है।** आँख बन्द करके बैठना अथवा अकड़ कर बैठना ध्यान का मूल नहीं है...।

ध्यान के सम्बन्ध में कुछ और प्रश्नोत्तर प्रस्तुत हैं–

प्रश्न्– ध्यान क्या है ?

उत्तर– 'है' की प्रियता में डूब जाना ही सच्चा ध्यान है।

नोटः ***'है' से तात्पर्य नित्य विद्यमान, आदि–अन्त रहित अविनाशी तत्व जिसे हम लोग ईश्वर, प्रभु आदि कहते हैं, से है।***

प्रश्न्– ध्यान की सिद्धि कैसे हो ?

उत्तर– अपने को सभी विषयों से हटा लेने से ही ध्यान की सिद्धि होती है।

प्रश्न्– ध्यान में विघ्न क्या है ?

उत्तर– व्यर्थ–चिन्तन ध्यान का सबसे बड़ा विघ्न है।

देवकी बहिनजी ने कहा है कि "साध्य से मिलने की तीव्र उत्कण्ठा जग जाने पर साध्य में ध्यान स्वतः लग जाता है।"

6. प्रश्न् – योग क्या है ?

उत्तर– चित्त का शुद्ध एवं शान्त हो जाना ही **योग** है। दूसरों को सहयोग देने और उनके प्रति सद्भावना रखने से चित्त शुद्ध होता है, और बदलें में कुछ न चाहने से शान्त हो जाता है। परिश्रम और पराश्रय को छोड़कर विश्राम और हरिआश्रय को अपनाना योगविद् होने का अचूक उपाय है। अब यदि कोई कहे कि मैं हरि–आश्रय नहीं ले सकता तो वह 'स्व' का आश्रय ले ले और निर्मम तथा निष्काम होकर राग रहित हो जाए। यदि कोई कहे कि मुझे

अपनेपन का बोध नहीं है तो वह कर्तव्य में तो विश्वास कर सकता है। अपने अधिकार का त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा से भी राग की निवृत्ति होती है। राग की निवृत्ति होते ही योग की प्राप्ति स्वतः होती है।

नोटः *ऊपर परिश्रम और पराश्रय छोड़ने की बात कही गई है उसका अर्थ कोई अकर्मण्यता न समझे। मानव सेवा संघ के दर्शन में कर्तव्यपरायणता पर बहुत बल दिया गया है। यदि कर्तव्य पूरा नहीं करेंगे तो शान्ति पा ही नहीं सकते। यहाँ ये शब्द साधना के प्रकरण में प्रयोग किये गये हैं।*

स्वामी जी का कहना था कि योग का अर्थ होता है जुड़ना। प्रभु से, उस नित्य, अविनाशी तत्व से जुड़ना ही योग है। परन्तु आजकल तो योग के नाम पर बौद्धिक और शारीरिक जिम्नास्टिक कराया जाता है। लक्ष्य तो प्रभु मिलन है, इसलिये योग का सही अर्थ और स्वरूप समझना आवश्यक है। स्वामीजी के ही शब्दों में **"जगत से सम्बन्ध टूटकर उस अनन्त के साथ अहं का जुड़ जाने का नाम ही 'योग' है।"**

प्रश्न्– योग में बाधा क्या है ?

उत्तर– भोग की रुचि ही योग की सबसे बड़ी बाधा है।

अब प्रश्न् आता है 'साधना' का इसके सम्बन्ध में प्रस्तर–2 में संक्षेप में उल्लेख है। इसकी विस्तार से चर्चा अलग से होगी। मात्र इतना कहना पर्याप्त होगा कि साधना शरीरधर्म नहीं है। यह स्व–धर्म है। किया हुआ साधन साधक के अहं भाव को ज्यों–का–त्यों सुरक्षित रखता है। ■

शरणागति जीवन में एक बार होती है। जो संसार से आनन्द लेता है वह शरणागति प्राप्त नहीं कर सकता। इसके लिये समय नहीं लगता। व्याकुलता पूर्वक स्मरण करने से किसी का स्मरण और किसी का विस्मरण हो जाता है। सत्य का स्मरण, संसार का विस्मरण होने पर ही होता है। शरणागति कर्म नहीं बल्कि जब कर्म कोई सुख नहीं दे पाता तब शरणागति का भाव उदय हो जाता है, शरणागति होने पर स्थायी संग होता है। जो भक्तों की शरणागति है वही तत्ववेत्ताओं का ज्ञान है, शरणागति के लिए आस्तिकता की ज़रूरत होती है। मानी हुई आस्तिकता, आस्तिकता नहीं है।

–संतवाणी

साधन-सूत्र : 29

दुःख है क्या?

वास्तव में **कामना अपूर्ति दुःख है** और **कामना पूर्ति सुख है।** सुख दुःख परिस्थिति मात्र हैं—**अनुकूल परिस्थिति सुख है** और **प्रतिकूल परिस्थिति दुःख है।** यहाँ चर्चा केवल दुःख की, की जा रही है।

हम सभी के जीवन में किसी न किसी अंश में कभी न कभी दुःख अनिवार्य रूप से आता ही है, इसलिये यह प्रश्न् उठता है कि आखिर दुःख है क्या? जब वह हमारे जीवन में आता है तो हम विह्वल हो जाते हैं, अधीर होते हैं और अपने को अभागा कहते हैं, भाग्य को कोसते हैं या ईश्वर को कोसते हैं—उन्हें निष्ठुर और हृदयहीन कहते हैं।

परन्तु भाग्य स्वयं में तो कुछ है नहीं। हमारे कर्मों से प्रारब्ध कहें या भाग्य कहें, बनता है। इसलिये भाग्य का क्या दोष है? दोष तो हमारा और हमारे कर्मों का ही है।

कभी कभी लोग ऐसा भी कहते हैं कि हमने तो जाने अनजाने कोई गलत कार्य नहीं किया, किसी को सताया नहीं, तो फिर हमारे साथ ऐसा क्यों हुआ। यहाँ हमसे भूल हो जाती है कि हमारा प्रारब्ध केवल इसी जन्म के कर्मों का फल नहीं, बल्कि पूर्व के जन्म—जन्मान्तर के संचित कर्मों का फल है। उसी के अनुसार अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियाँ हमारे जीवन में आयेंगी ही।

यदि हम दुःख को ईश्वर द्वारा प्रदत्त सज़ा कहें, तो वह भी उचित नहीं है। ईश्वर ने अपनी मौज में सृष्टि बनायी और उसका एक विधान बना दिया। उसी विधान से समस्त सृष्टि संचालित हो रही है। प्रभु मंगलकारी हैं और उनका विधान भी मंगलमय है—इसलिये न तो उन्हें दोष दे सकते हैं और न ही उनके विधान को।

मानव सेवा संघ दर्शन के प्रतिपादक ब्रह्मनिष्ठ संत स्वामी शरणानन्द जी ने इस बात को इस प्रकार स्पष्ट किया है "कुछ

लोग सुख और दुःख को कर्मों का फल मानते हैं। परन्तु वास्तव में कर्मों का फल सुख दुःख नहीं है। कर्मों के फल के रूप में तो परिस्थिति प्राप्त होती है। उनमें सुख और दुःख तो मनुष्य के भावानुसार होते हैं।"

"विवेकशील मनुष्य भयंकर परिस्थिति में दुःखी नहीं होता अपितु उसको अपनी उन्नति का हेतु समझकर उसका सदुपयोग करता है तथा सब प्रकार की परिस्थितियों को परिवर्तनशील, अनित्य और अपूर्ण समझकर परिस्थितियों से ऊपर का जीवन प्राप्त करने के लिये, उनसे असंग हो जाता है।"

उन्होंने दुःख के सम्बन्ध में विशेष रूप से एक नवीन सिद्धान्त बताया। उन्होंने दो अलग–अलग शब्दों का प्रयोग किया–**दुःख का भोग** और **दुःख का प्रभाव।**

जीवन में दुःख आया और उससे हम विकल हो गये, अधीर हो गये, अपने को अभागा कहने लगे और ईश्वर पर दोष मढ़ने लगे तो यह **"दुःख का भोग"** है और यदि उसके आने पर उसकी यथार्थता और सृष्टि का अनिवार्य स्वरूप समझ कर सजग और सचेत हो जाते हैं तो इसे **"दुःख का प्रभाव"** कहा है। अनिवार्य स्वरूप यों कि उदाहरण के लिये यदि किसी का संयोग है तो आगे पीछे किसी न किसी समय वियोग होगा ही–किसी का शरीर अमर नहीं होता। सृष्टि में जो कुछ भी उत्पन्न होता है उसका नाश भी होता ही है।

यदि दुःख के भोगी हैं तो दुःख अभिशाप है। पर यदि उसके प्रभाव को अपनाते हैं तो **वह वरदान है।** इससे हमारा उत्तरोत्तर विकास होता है और सुख–दुःख से अतीत जीवन में प्रवेश पाते हैं। दुःख के मांगलिक पक्ष को **"दुःख का प्रभाव"** कहा है।

इसे सुनकर सामान्यतः हम चौंकेंगे और कहेंगे कि दुःख वरदान या मांगलिक कैसे हो सकता है। परन्तु है यह सत्य।

स्वामी शरणानन्द जी जब नौ (9) वर्ष के बालक थे तो उनकी दोनों आँखें चली गईं। घोर दुःख हुआ। उनके मन में प्रश्न् उठा कि क्या ऐसा भी कोई सुख है जिसमें दुःख नहीं होता। उत्तर मिला–हाँ, साधुओं का जीवन ऐसा होता है। बस साधु होने की धुन चढ़ गई–उन्नीस (19) वर्ष की आयु में गृह त्याग कर अपने सद्गुरु के साथ चल दिये और विधिवत सन्यास ले लिये।

आँखों की रोशनी जाने का जो दुःख आया वही उनके जीवन का नया मोड़ (turning point) बन गया। उन्होंने स्वयं अपना कल्याण तो किया ही अनगिनित लोगों को जीवन की सही राह दिखा कर उनका कल्याण किया और उनके शरीर त्याग के बाद भी उनके द्वारा प्रतिपादित दर्शन अनेकों अनेकों लोगों का कल्याण कर रहा है और युगों युगों तक करता रहेगा।

इस साधन–सूत्र के समापन के पूर्व स्वामी जी के शब्दों में–"दुःख के प्रभाव की पहचान क्या है? किसी भी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था और परिस्थिति से सम्बन्ध न रहे; न किसी से कुछ आशा रहे। दुःख के प्रभाव और दुःख के भोग में बड़ा अन्तर है। दुःख का प्रभाव साधन है और दुःख का भोग असाधन।"

स्वामी जी ने 'दुःख का प्रभाव' नाम से एक पुस्तक लिखवाया जो मानव सेवा संघ वृन्दावन द्वारा प्रकाशित है। हम जैसे लोगों के हितार्थ परमपूज्या माँ दिव्यज्योति (देवकी बहिन जी) ने, जिन्होंने मानव सेवा संघ दर्शन को पूर्णरूपेण आत्मसात् किया, संक्षेप में "दुःख–एक विवेचन" नाम से व्याख्या किया है। सद्भावना सहित इसकी फोटोप्रति संलग्न है।

जब कोई दुःख को आने से रोक नहीं सकता, वह जब आना है तब आयेगा ही, कोई बच नहीं सकता, तो बुद्धिमत्ता इसी में है कि **दुःख के प्रभाव** को अपनाया जाय।

■

अनुकूल परिस्थिति का सदुपयोग 'सेवा' में और प्रतिकूल परिस्थिति का सदुपयोग 'त्याग' में है। मानव जीवन में माँग है सरसता की। सो "अनुकूल परिस्थिति में जो सरसता 'उदारता' से आती है, वही सरसता प्रतिकूल परिस्थिति में 'त्याग' से प्राप्त होती है। इस दृष्टि से अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति वर्तमान को सरस बनाने में हेतु नहीं है, अपितु उनका सदुपयोग ही नीरसता मिटाने में समर्थ है।"

दुःख—एक विवेचन

—प्रो० देवकीजी

समस्त सृष्टि सुख-दुःख से युक्त है। इसी कारण कोई भी प्राणी सुख-दुःख से रहित नहीं है। फिर भी दुःख अपना हो या पराया, शारीरिक हो या मानसिक, बड़ा हो या छोटा, किसी को अच्छा नहीं लगता। दुःख बहुत बुरा लगता है। फिर भी वह बिना बुलाये, अनिवार्यतः सभी के जीवन में किसी-न-किसी रूप में आता ही है। मानव-समाज में दुःख के संबंध में युगों-युगों से अनेक प्रकार की धारणाएँ प्रचलित हैं। आइयें, हम विचारें, विचार करें कि जो दुःख जीवन का अनिवार्य अंग है, जिससे आज तक कोई बचा नहीं, वह क्या वस्तुतः बुरा है, भयावह है, निन्दनीय है, दुष्कर्मों का परिणाम है, भाग्य-विधाता का दण्ड-विधान है या कि सृष्टि-कर्ता की भूल है? सामान्य दृष्टि से दुःख के संबंध में उपर्युक्त सब बातें सही मालूम होती हैं। परन्तु यह सोचने की बात है कि यदि दुःख वस्तुतः बुरा होता, तो जीवन में आता क्यों! तब, फिर दुःख को क्या कहा जाय? मानव सेवा संघ के प्रणेता ने दुःख के महत्त्वपूर्ण तत्त्व पर अनोखा प्रकाश डाला है। दुःख के दुःखद स्वरूप और उसके कारण तथा निवारण के विभिन्न उपायों की चर्चा मानव-समाज के इतिहास में प्रारंभ से ही होती आयी है, परन्तु मानव सेवा संघ ने दुःख को एक अनुपम, उपयोगी एवं अनिवार्य तथ्य के रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रस्तुतीकरण में दुःख के प्रति मानव

सेवा संघ का अनुशीलन (approach) अनूठा है। तदनुसार दुःख दुष्कर्मों का परिणाम नहीं है, कृपा-पूरित विधान की अनुपम देन है। जो दुःख जीवन का अभिशाप मालूम होता है, उसको कृपा-प्रसाद मानना विचित्र-सा लगता है, लेकिन है सत्य। जिन संत-शिरोमणि के जीवन के अनुभव पर संघ का चिन्तन आधारित है उन्होंने दुःख के मांगलिक पक्ष को 'दुःख का प्रभाव' कहकर संबोधित किया है। इस दृष्टिकोण को समझने के लिए दुःख और उसके प्रभाव के स्वरूप पर विचार कर लें। कामना-अपूर्ति दुःख है। उससे विकल होना दुःख का भोग है, और उससे सजग होना दुःख का प्रभाव है। इसी में सारा रहस्य छिपा है। दुःख स्वयं अपने में न प्रशंसनीय है और न निन्दनीय। प्रश्न सिर्फ इतना है कि आप दुःख को भोगते हैं या कि उसके प्रभाव से प्रभावित होकर सचेत होते हैं। यदि आप दुःख के भोगी हैं तो दुःख अभिशाप है। वह कभी आपका पीछा नहीं छोड़ेगा। यदि आप दुःख से प्रभावित हैं तो दुःख वरदान है। वह आपको दुःख-रहित जीवन से अभिन्न करा देगा।

दुःख क्या है? दृश्य मात्र उत्पत्ति-विनाशका अनवरत क्रम है। इस दृष्टि से दुःख सृष्टि का अनिवार्य स्वरूप है। मनुष्य इस प्राकृतिक तथ्य को जानते हुए भी जब किसी दृश्य में आसक्त हो जाता है तब उस दृश्य का विनाश उसे दुःखद प्रतीत होता है। अतः दुःख दुःखी की भूल का परिणाम है।

किसी भी रूप में आने वाले दुःख को रोक सकने में असमर्थ होने पर, आये हुए दुःख को दूर करने में और असमर्थता अनुभव करने पर व्यक्ति के अहं का अभिमान गलता है। अहं की कठोरता गलने से हृदय कोमल होता है, सर्व दुःख-निवृत्ति के लिए चेतना जगती है, दृश्य के प्रति सुख-बुद्धि का अन्त होता है। इन क्षणों में जीवन का सत्य प्रत्यक्ष होता है। सत्य की आवाज व्यक्ति पर अपनी गहरी छाप लगाती है। परिणाम-स्वरूप दुःख-रहित परम शान्त जीवन की ओर अपूर्व प्रगति होती है। यह दुःख की देन है।

तत्त्व-दृष्टि से सत्य एक है। वह एक ही अलख, अगोचर, अव्यक्त तत्त्व विराट दृश्य जगत के रूप में व्यक्त होता है। वह एक दिव्य, चिन्मय,

रसरूप प्राणिमात्र के लिए मंगलकारी है। अतः मंगलकारी के मंगलमय विधान से जितनी परिस्थितियाँ बनती हैं, वे स्वरूप से सबके लिए मंगल-कारिणी हैं। सुखद परिस्थितियों में पड़कर व्यक्ति जब सर्वात्मभाव से भावित उदारता एवं सहृदयता का व्यवहार करता हुआ स्वयं सुख-भोग से अलिप्त रहकर परिस्थितियों से अतीत के जीवन की ओर अग्रसर नहीं होता है तो उसका परम हितैषी, परम सुहृद्, परम आत्मीय जो एकमात्र अपना है—दुःखद परिस्थिति का रूप धारण करता है। दुःख आते ही व्यक्ति सचेत होकर त्याग को अपनाता है और दुःख-रहित जीवन पाता है। दुःख के आते ही व्यक्ति अधीर होकर दुःखहारी हरि को पुकारता है और उनके प्रेम-प्रसाद से सदा के लिये दुःख से छूट जाता है। दुःख के रूप में दूसरा और कोई नहीं है, स्वयं अपने वे ही हैं, यह पहचान होते ही दुःखद परि-स्थिति साधन-सामग्री के अतिरिक्त और कुछ नहीं है—यह स्पष्ट हो जाता है। दुःख के बिना जीवन की वास्तविकता का ऐसा प्रत्यक्ष बोध संभव नहीं है।

मंगलकारी सृष्टिकर्ता के मंगलमय विधान के द्रष्टा संत के मुख से ऐसा भी सुना गया है कि जब व्यक्ति सुख आने पर उदारतापूर्वक सेवा नहीं करता तब प्राकृतिक विधान से उसके विकास के लिये दुःखद परि-स्थितियाँ आती हैं। यदि वह प्रमादवश दुःखद परिस्थितियों में त्याग को नहीं अपनाता और दुःखहारी हरि का आश्रय नहीं लेता—किसी भी प्रकार से सचेत होकर अविनाशी जीवन की ओर आगे नहीं बढ़ता, तब विधाना-नुसार उसे चिर-काल के लिये जड़ता में ग्रस्त रहना पड़ता है। जब जड़ता घनीभूत हो जाती है, तब केवल सुख-दुःख की बाध्यता ही शेष रह जाती है। परन्तु, इसके विपरीत, जब व्यक्ति दुःख का भोगी न बनकर गये हुए सुख को वापस लाने के लिये व्यग्र न होकर, दुःख-काल में ही दुःख के प्रभाव को अपना लेता है, दुःख-निवृत्ति का पुरुषार्थ—'त्याग-व्रत' को धारण कर लेता है तब वह सदा-सदा के लिये विविध दुःखों से मुक्त होकर परमानन्द से परिपूर्ण हो जाता है। इस दृष्टि से दुःख परमानन्द की अभिव्यक्ति में हेतु होने से मंगलमय विधान से निर्मित मंगलकारी तत्त्व है।

अतः मानव सेवा संघ ने मानव मात्र को यह परामर्श दिया है कि दुःख के आने पर किसी को भी घबराना नहीं चाहिये, दुःख से भयभीत नहीं होना चाहिये और अपने को दीन एवं भाग्यहीन मानकर दुःख का भोगी भी नहीं बनना चाहिये, प्रत्युत् दुःख के महत्त्व को जानकर, उसके प्रभाव को अपनाकर सदा के लिये दुःख-रहित आनन्दमय जीवन को प्राप्त करना चाहिये। इस सम्बन्ध में मानव सेवा संघ द्वारा प्रस्तुत निम्नलिखित कुछ सूत्र बहुत ही उपयोगी हैं :—

(१) दुःख से बचने के लिये सुख-काल में सुख की वासना का त्याग अनिवार्य है। जो सुख का दास नहीं है वह दुःखी नहीं होता।

(२) सर्वात्मभाव से भावित होकर दुःखी मात्र के दुःख से करुणित होना महान् साधन है। जो हृदय परपीड़ा से पीड़ित होता है, जिस हृदय में करुणा का रस प्रवाहित होता है, उस पर व्यक्तिगत दुःख का आक्रमण नहीं होता। पर-पीड़ा से पीड़ित, पर-हित में निरत सेवा-परायण व्यक्ति का दुःख सारा समाज बाँट लेता है और सेवक निर्द्वन्द्व शान्ति में निवास करता है।

(३) दुःख आने पर दुःख के प्रभाव को अपनाओ और खूब हृदय-मन्थन होने दो। ऐसा करने से प्राकृतिक विधान से प्राप्त दुःख के प्रभाव से दीर्घकाल की दुष्कृतियों का परिणाम नष्ट हो जाता है, दीर्घ-कालीन वासनाओं की जड़ कट जाती है, स्मृति-लाभ हो जाता है। इस दृष्टि से दुःख परम कल्याणकारी है। निष्कामता, निर्वासना, असंगता एवं शरणागति तत्त्वों का जितना विकास दुःख के प्रभाव को अपनाने से, अल्प-काल में हो सकता है, उतना विकास अन्य साधनों से दीर्घकाल में भी कठिन है। अतः आये हुये दुःख का स्वागत करो।

(४) दुःख आने पर हार स्वीकार मत करो। लक्ष्य से निराश मत होओ, दुःखद घटनाओं के अर्थ पर विचार करो और उनके विकासात्मक पहलू को अपनाकर परिस्थितियों को पार कर जाओ।

(५) दुःख स्वयं उतना हानिकारक नहीं है जितना दुःख का भय। भयभीत होकर व्यक्ति भीतर से शक्तिहीन हो जाता है। भयभीत होने के

कारण वह कर्तव्याकर्तव्य का भेद भूल जाता है। बिना सोचे-विचारे घबराहट की प्रतिक्रिया से दुःखद परिस्थिति अधिकाधिक जटिल हो जाती है। संघ की भाषा में "डरने से दुःख दूना हो जाता है और नहीं डरने से आधा रह जाता है, उसका सदुपयोग करने से वह सदा के लिये मिट जाता है।" अतः दुःख से कभी भयभीत मत हो।

(६) संघ के प्रणेता, आन्त-द्रष्टा संत ने दुःख के प्रति अपना मानव मात्र के लिये अत्यन्त उपयोगी एवं अभिनव दृष्टिकोण दिया है, उसका विशेष परिचय संघ द्वारा प्रकाशित 'दुःख का प्रभाव' नामक पुस्तिका से मिलता है। इस पुस्तिका में दुःख तत्त्व का रचनात्मक प्रस्तुतीकरण सर्वथा मौलिक, मार्मिक एवं हृदयग्राही है, क्योंकि वह श्री महाराजजी का अनुभूत सत्य है। जैसा कि हम लोगों ने श्री महाराजजी के श्रीमुख से ही सुना है कि उनके सामने बाल्यकाल में ही दुःख विकट रूप में आया। असाधारण मेधावी बालक के अरमानों को गहरी ठेस लगी और जीवन की खोज आरम्भ हो गई। उस दुःख ने उन्हें वहाँ पहुँचा दिया जहाँ दुःख का लेश नहीं है—जहाँ चिर-विश्राम, पूर्ण-स्वाधीनता और नित-नव प्रेम का रस परिपूर्ण है। अतः दुःख तत्त्व के कल्याणकारी स्वरूप का जो चित्रण है वह श्री महाराजजी का जीवन ही है। एक बार एक संत-प्रेमी मित्र ने श्री महाराजजी से निवेदन किया था कि महाराजजी मैं आपकी जीवनी लिखना चाहता हूँ, आपकी जीवनी क्या है मुझे बताइये। श्री महाराजजी ने उत्तर दिया—मेरी जीवनी लिखोगे? लिख लो "दुःख का प्रभाव।"

जो सुख को अपने रखने का प्रयास करता है, सुख उससे छिन जाता है और जो सुख को बाँट देता है उसे आनन्द मिल जाता है।

साधन-सूत्र : 30

जीवन में अशान्ति क्यों?

यह प्रश्न् इसीलिए उठता है कि अशान्ति किसी भी मानव को पसन्द नहीं है, किसी को अच्छी नहीं लगती है। सब को शान्ति प्रिय है। मानव की, जीवन में सर्वतः (universally) माँग ही होती है शान्ति, स्वाधीनता और प्रियता की। और यह प्राप्य भी है, फिर भी हमसे क्या त्रुटि होती है कि जीवन में अशान्ति आती ही है?

विचार करने पर मालूम होता है कि सबसे पहली भूल यह होती है कि हम जीवन का अर्थ ही नहीं समझते। जन्म से मृत्यु तक जो समय अवधि (time-span) है उसे ही जीवन मानते हैं। परन्तु जीवन तो नित्य, अविनाशी, रसरूप तत्व है।

दूसरी भूल होती है कि हम अपने बारे में विचार ही नहीं करते कि 'मैं' हूँ क्या,– क्या मैं मात्र शरीर हूँ या शरीर से भिन्न अपना कोई अस्तित्व है।

सच्चाई यह है कि "मैं शरीर नहीं हूँ और शरीर मेरा नहीं है"। यह मानने में बाधा क्या है? हम शारीरिक और मानसिक दोनों ही रूप से कोल्हू के बैल की तरह निरन्तर चलते ही रहते हैं, अर्थात् हर समय कुछ न कुछ करते रहते हैं और कुछ न कुछ आगे पीछे का चिन्तन करते रहते हैं। कोई ठहराव है ही नहीं जब हम शान्त होकर आत्म–चिन्तन कर सकें।

यदि हम शान्त होकर अपने बारे में विचार करें तो यह सहज समझ में आयेगा और अनुभव करेंगे कि मैं शरीर नहीं हूँ। क्यों, क्योंकि यदि मैं शरीर होता तो शरीर का दृष्टा नहीं हो सकता था। हमारा अनुभव है कि हम दृष्टा के रूप में देखते हैं कि मन क्या चाह रहा है, बुद्धि क्या सोच रही है, विवेक क्या कह रहा है, चित्त खिन्न या प्रसन्न है, आदि। तब यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि मैं शरीर से अलग कुछ हूँ।

मानव सेवा संघ के प्रणेता स्वामी शरणानन्द जी का इस विषय पर व्याख्या/प्रतिपादन यहाँ प्रस्तुत है जिस से उपर्युक्त तथ्य और स्पष्ट हो जायेंगेः–

"आप सोचिये जो शरीर आपको मिला

है उसको आप 'मैं' कहते हैं क्या? मेरा शरीर कहते हैं कि मैं शरीर कहते हैं?..... जिसको 'यह' कहते हैं उसको 'मैं' कह सकते हैं क्या?.....अपने ज्ञान के प्रकाश में. .....ऐसा लगता है कि शरीर को हम 'यह' करके अनुभव करते हैं। अच्छा तो जो 'यह' है उसका नाम 'मैं' नहीं हो सकता और जिस पर मेरा स्वतन्त्र अधिकार नहीं है, वह मेरा नहीं हो सकता.....।''

होता यह है कि जब हम देह से अपने को मिला देते हैं अर्थात् शरीर में ही जीवन बुद्धि हो जाती है– अपने को शरीर ही मानते हैं, तब अपने में अनेक उपाधियाँ जोड़ लेते हैं, मैं अमुक हूँ, मेरा 'यह' आदि। ''देश, जाति, मत, सम्प्रदाय, पद, कुटुम्ब और कार्यक्षेत्र के अनुरूप अनेक मान्यताओं से अपने को मिला लेते हैं, पर सभी मान्यताओं की भूमि केवल देह है।'' यही देहाभिमान का रूप ले लेता है। अपने को देह मानने से भोग की ही रुचि उत्पन्न होती है जो सब प्रकार से अहितकर है। इसलिए देहाभिमान कैसे उत्पन्न होता है और उसका नाश होना क्यों आवश्यक है इस पर विस्तृत विचार आवश्यक है।

इस संबंध में मानव सेवा संघ दर्शन से उद्धरण विचार हेतु प्रस्तुत है:–

''देह के तादात्म्य (identity) से ही देह का अभिमान उत्पन्न होता है और देह के अभिमान से ममता और कामनाओं का जन्म होता है। **देह अभिमान का परिणाम है–ममता और कामना।**''

ममता और कामना है क्या और उनका हमारे जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है। मानव सेवा संघ दर्शन के अनुसार ''ममता सुख लेने का एक उपाय मात्र है। जिससे जितना ज़्यादा सुख लेंगे, उससे ममता तोड़ना उतना ही कठिन होगा। **अपना मानना ही ममता है।**''

ममता कैसे छूटे? मानव सेवा संघ दर्शन का उद्धरण बताता है कि–

''साधक को ममता रहित होना है। **ममता** शब्द का क्या अर्थ समझा आपने? अगर सभी को अपना मानो तो ममता नहीं कहलाती। और किसी को अपना मानो और किसी को अपना मत मानो, इसका नाम **ममता** है। यह कैसे छूटे?..... जिसके साथ मेरा नित्य सम्बन्ध नहीं रह सकता उसको अपना नहीं मानना चाहिए। उसकी सेवा करनी चाहिए।..... **तो सेवा करना और अपना न मानना, इससे ममता नाश हो जाती है।** और इसका फल होता है कि मनुष्य को निर्विकारता प्राप्त होती है। उसके चित्त में किसी प्रकार का विकार नहीं रहता।''.....''**निर्विकारता**

बिना निर्ममता के प्राप्त नहीं होती।"

नोटः जिसके चित्त में किसी प्रकार का विकार नहीं होगा, उसके जीवन में अशान्ति का प्रश्न् ही नहीं।

आगे उद्धरण से ज्ञात होगा कि जीवन में ममता रहने से क्या कुपरिणाम होता है:—

"देश काल की ममता सीमित बनाती है तथा **वस्तु और व्यक्ति की ममता लोभ और मोह में आबद्ध करती है।** ..... लोभ की उत्पत्ति जड़ता में और मोह की उत्पत्ति वियोग के भय में आबद्ध करती है। ..... वस्तुओं की ममता अपने को संग्रही बनाती है और समाज में दरिद्रता उत्पन्न करती है जो विप्लव का हेतु है। व्यक्तियों की ममता अपने को मोही बनाकर आसक्त कर देती है और जिनसे ममता की जाती है उनमें अधिकार लालसा जागृत करती है। **मोह और आसक्ति कर्तव्य का ज्ञान नहीं होने देते** और अधिकार लालसा, की हुई सेवा तथा प्रीति का दुरुपयोग कराती है और तृष्णा में आबद्ध करती है।"

अगला प्रश्न् होता है कि ममता और कामना छूटने से जीवन पर क्या प्रभाव आता है? मानव सेवा संघ दर्शन से उद्धरण इसे स्पष्ट करता है:—

".....देखिये, वस्तु हमारे हृदय को दूषित नहीं करती, लेकिन वस्तु की ममता हृदय को दूषित करती है, वस्तु की कामना हृदय को दूषित करती है। वस्तु की ममता से तो जड़ता आ जाती है और वस्तु की कामना से **अशान्ति** आ जाती है। अगर वस्तु की ममता न रहे और वस्तु की कामना न रहे, **मेरा कुछ नहीं है, ममता गई, मुझे कुछ नहीं चाहिए, कामना गई।** तो मेरा कुछ नहीं है और मुझे कुछ नहीं चाहिए, इन दो बातों से हृदय में न तो जड़ता रहती है **और न अशान्ति रहती है..... ममता जाने से जड़ता गई, कामना जाने से अशान्ति गई।"**

नोटः 1. "मेरा कुछ नहीं है, यह बात मानने का अर्थ होता है कि शरीर भी मेरा नहीं है।"

2. जड़ता का अर्थ होता है अपने स्वरूप की विस्मृति

3. 'हृदय' का अर्थ इस प्रसंग में "व्यक्ति के मनोभावों का केन्द्र से है। उसमें प्रेम का भी उदय होता है।"

कामनापूर्ति के फेर के बारे में मानव सेवा संघ दर्शन कहता है कि—

"कामनापूर्ति के जीवन में प्रवृत्ति है, परन्तु प्राप्ति कुछ नहीं है, कारण कि अनेक

बार कामनाओं की पूर्ति होने पर भी **अभाव का अभाव नहीं होता,** अपितु जड़ता परतन्त्रता एवं शक्ति-हीनता में ही आबद्ध होना पड़ता है जो स्वभाव से ही प्रिय नहीं है।.... कामना पूर्ति के जीवन में श्रम है, विश्राम नहीं; गति है स्थिरता नहीं; भोग है, योग नहीं; **अशान्ति है, चिर शान्ति नहीं.....।"**

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि जीवन में सारी विकृत्तियों का आरम्भ यहीं से होता है जब हम शरीर को ही 'मैं' मान लेते हैं। परिणाम यह होता है कि शरीर के नाते ही हम किसी को अपना और किसी को ग़ैर मानते हैं और मिले हुए को अपना और अपने लिए मानते हैं।

इस भूल के कारण हम इन्द्रियों द्वारा विषय भोग को ही जीवन का उद्देश्य और शरीर की आवश्यकताओं को जीवन की माँग समझ बैठते हैं। ऐसी मान्यताओं से उत्पन्न विभिन्न प्रकार की विकृत्तियों यथा लोभ, मोह, स्वार्थ, राग–द्वेष आदि में हम जकड़ जाते हैं। सांसारिक उपलब्धियों को ही जीवन का उद्देश्य और जीवन की सफलता मानते हैं। उसके पीछे पागल की तरह (mad race) दौड़ते रहते हैं परन्तु मृगतृष्णा की तरह वह दौड़ाता ही रहता है।

यह हमें समझने की बात है कि देहाभिमान अर्थात शरीर में जब तक जीवन बुद्धि रहेगी तब तक निर्मम, निष्काम नहीं हो सकते। निर्मम, निष्काम नहीं होंगे तो कर्तव्य–परायण नहीं हो सकते, कर्तव्य–परायण नहीं होंगे तो कर्तव्य–कर्म के पश्चात् **सहज निवृत्ति और शान्ति नहीं पा सकेंगे।**

कामनाओं के रहते हुए, कामना–पूर्ति के सुख और कामना–आपूर्ति के दुःख में फँसे रहेंगे। कामना पूर्ति नवीन कामनाओं को जन्म देती है और सभी कामनाएँ किसी की पूरी होती नहीं, सो फिर दुःख और **परिणामतः अशान्ति।**

जब तक कामनाएँ रहेंगी, उनके रहते हम अपने में सन्तुष्ट नहीं होंगे। अपने में सन्तुष्ट नहीं होंगे तो स्वाधीन नहीं होंगे। सो **पराधीनता के रहते शान्ति कहाँ।**

हम चाहते तो यह हैं कि जीवन में अशान्ति न रहे, परन्तु साथ ही देहाभिमान भी नहीं छोड़ते। **देहाभिमान के कारण ही हमें क्षोभ होता है, क्रोध आता है, ममता और कामनाओं का जन्म होता है।** "देहाभिमान जो होता है, वह अपनी रुचि के विरुद्ध बात सुन नहीं सकता।"

अतः यदि हम चाहते हैं कि जीवन में अशान्ति न हो तो हमें देहाभिमान से

छुटकारा पाना ही होगा। देहाभिमान होता है देह से तादात्म्य (identity) के कारण। सो देह से तादात्म्य टूटना आवश्यक है। एक प्रश्न् के उत्तर में स्वामी शरणानन्द जी ने इसका सहज उपाय बताया है:–

प्रश्न्: देह से तादात्म्य कैसे टूटे?

उत्तर: (1) ज्ञान पूर्वक यह अनुभव करें कि 'मैं' शरीर नहीं हूँ अथवा शरीर मेरा नहीं है, देह से तादात्म्य का नाश हो जाता है।

(2) दूसरों को सहयोग देने से **स्थूल शरीर** से, इच्छारहित होने से **सूक्ष्म शरीर** से और अप्रयत्न होने से **कारण शरीर** से असंगता प्राप्त होती है। तीनों शरीरों से असंगता प्राप्त होते ही देह से तादात्म्य का नाश हो जाता है।

इस पूरी व्याख्या को मानव सेवा संघ ने संक्षेप में इस प्रकार कहा है:–

"जीवन के सत्य को स्वीकार करना सत्संग है। जीवन का सत्य क्या है? देह 'मैं' नहीं हूँ, देह मेरी नहीं है, यह जीवन का सत्य है। दृश्य–मात्र से मेरा नित्य सम्बन्ध नहीं है, यह जीवन का सत्य है। जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है उसकी ममता और कामना के त्याग से **अशान्ति और पराधीनता का नाश** होता है, यह जीवन का सत्य है।"

अतः मात्र इस सत्य को स्वीकार करने से **अशान्ति** से छुटकारा निश्चित है।

अन्त में– **ईश्वर के शरणागत मानव के जीवन में अशान्ति नहीं होती।**

■

सोचने लगते हैं कि किसी पोथी को पढ़ेंगे, तब हमारे जीवन में निर्ममता आयेगी। किसी गुरु के पास जायेंगे, तब हम निष्काम हो जायेंगे।... दूसरे लोग परामर्श दे सकते हैं, इस बात का समर्थन कर सकते हैं। पर आपकी ममता आपको छोड़नी है, न अपने–आप मिटेगी और न उसे कोई छुड़ा पायेगा।

साधन-सूत्र : 31

जीवन में अशान्ति से छुटकारा : एक अन्य दृष्टि-कोण

साधन–सूत्र–30 में यह उल्लेख किया गया है कि जीवन में अशान्ति के मूल में देहाभिमान है जो देह से तादात्म्य का परिणाम है। इसलिए यह आवश्यक है कि इस मान्यता को दृढ़तापूर्वक अपनाएँ कि 'मैं' शरीर नहीं हूँ और शरीर मेरा नहीं है। परन्तु यदि कोई यह कहे कि मुझे यह बात समझ में नहीं आती कि 'मैं शरीर नहीं हूँ–इससे कुछ अलग हूँ', तो ऐसी स्थिति में भी शरीर और संसार के सम्बन्ध में सोच बदलने से काम बन जायेगा। इसके बारे में परम संत स्वामी शरणानन्द जी का कथन प्रस्तुत है।

"....शरीर आदि से तद्रूप होने पर तो विश्व का दर्शन होता है। अथवा यों कहो कि शरीर उसी विश्व–रूपी सागर की एक बूँद जान पड़ता है, और कुछ नहीं। शरीर और विश्व का विभाजन सम्भव नहीं है।..... शरीर से तद्रूप होने पर 'मैं' का अर्थ समस्त विश्व हो जाता है.....।"

"क्या विश्व के साथ एकता होने वाली मान्यता हमारे जीवन में कुछ अर्थ रखती है? यदि रखती है, तो कहना होगा कि जिस प्रकार हम समस्त विश्व से उपेक्षा–भाव रखते हैं, उसी प्रकार हमें शरीर से भी उपेक्षा रखनी होगी। अथवा जिस प्रकार शरीर के प्रति आत्मीयता रखते हैं, उसी प्रकार समस्त विश्व के प्रति आत्मीयता करनी होगी। शरीर के प्रति उपेक्षा होने पर भी मोह जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रहती और समस्त विश्व के प्रति आत्मीयता होने पर सीमित प्यार जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रह सकती। मोह तथा सीमित प्यार का अन्त होते ही अविवेक तथा सब प्रकार के राग का अन्त स्वतः हो जाता है। अविवेक का अन्त होते ही नित्यज्ञान से अभिन्नता और राग का अन्त होते ही नित्य–योग की प्राप्ति स्वतः हो जाती है।"

आगे स्वामी जी ने बताया है कि "मैं और विश्व एक है, यह मान्यता भी साधनरूप मान्यता हो सकती है।..... विश्व से एकता स्वीकार करते ही सामूहिक सुख–दुःख अपना सुख–दुःख हो जाता है, जो हृदय में करुणा और प्रसन्नता प्रदान करने में

समर्थ है। **करुणा, भोग–प्रवृत्ति को और प्रसन्नता, भोग–वासनाओं को खा लेती है**, ऐसा होते ही समस्त कामनाओं का अन्त हो जायेगा। कामनाओं का अन्त होते ही निर्दोषता आ जायेगी और गुणों का अभिमान गल जायेगा....।"

इस प्रकार ऐसे व्यक्ति को भी वही जीवन प्राप्त होगा जो उस व्यक्ति को मिलता है जिसकी मान्यता है कि "मैं शरीर नहीं हूँ और शरीर मेरा नहीं है।" और **उस जीवन में अशान्ति होने का प्रश्न् ही नहीं है।**

नोट 1: ऊपर जो शब्द 'अविवेक' आया है उसका अर्थ है विवेक का अनादर। विवेक का अनादर ही अविवेक है।

नोट 2: नित्य–ज्ञान जो शब्द आया है उसका अर्थ निम्नलिखित से स्पष्ट हो जायेगा:–

"इन्द्रियों का ज्ञान पूरा ज्ञान नहीं है, अल्प ज्ञान है और बुद्धि का ज्ञान भी अनन्त ज्ञान नहीं है, सीमित है। इन्द्रिय–ज्ञान से बुद्धि–ज्ञान भले ही विशेष हो, परन्तु अविवेक का अन्त होने पर जिस ज्ञान से अभिन्नता (total identity) होती है, वह तो अनन्त और नित्य–ज्ञान है, सीमित तथा परिवर्तनशील नहीं।"

■

मानसिक अशान्ति से प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास ही होता है, कोई लाभ नहीं होता, यह ध्रुव सत्य है। इस कारण विचारशील प्रत्येक दशा में मानसिक शान्ति सुरक्षित रखते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि उन्हें प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग की सामर्थ्य मंगलमय विधान से मिल जाती है।

साधन-सूत्र : 32

मानव जीवन में निवृत्ति काल का सदुपयोग

मानव जीवन के प्रसंग में प्रवृत्ति और निवृत्ति दो शब्द आते हैं। अपने व्यवसाय अथवा कार्यक्षेत्र से सम्बन्धित आवश्यक कर्तव्य–कर्म तथा परिवार के प्रति दायित्वों को निष्ठापूर्वक, कर्तव्य–परायणता के भाव से निबटाने को प्रवृत्ति कहते हैं। वैसे तो प्रत्येक कार्य जिसमें श्रम और पराश्रय अपेक्षित है वह प्रवृत्ति की ही श्रेणी में आता है। परन्तु आवश्यक कार्य को सही ढंग से पूरा करने के उपरान्त सहज निवृत्ति आती है जब यह महसूस होता है कि मुझे अब कुछ नहीं करना है। पर यह स्थिति तब ही आती है जब हम कार्य को निष्ठापूर्वक, मेहनत से लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए, निष्काम भाव से सम्पादित करते हैं। अन्यथा कार्य पूरा हो जाने के बाद भी किये हुए कर्म की, और आगे का चिन्तन बना रहता है। यह वह निवृत्ति नहीं है जिसके सदुपयोग की यहाँ चर्चा की जा रही है। वास्तव में वह निवृत्ति सही माने में हुई ही कहाँ जब हम आगे पीछे के चिन्तन में व्यस्त हैं।

यहाँ पहले चर्चा ऐसे लोगों से सम्बन्धित की जा रही है जो अब सक्रिय सेवा–काल (नौकरी आदि) से अवकाश पा चुके हैं (retired from active phase of life, service etc.)।

ऐसी आयु के अधिकांश लोगों के सामने यह समस्या होती है कि समय (निवृत्ति वाला जब सब आवश्यक कार्य पूरा कर चुके होते हैं) कैसे कटे और इसके लिए निरर्थक प्रवृत्तियों में लगे रहते हैं। उनके लिये समय बोझ स्वरूप हो जाता है। परन्तु समय तो अमूल्य है, उसे किसी प्रकार निष्प्रयोज्य कार्यों में नष्ट तो नहीं करना है (Time is precious and it is not meant to be killed)। उसका तो सदुपयोग करना है अपने जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति हेतु। लक्ष्य तो है, शान्ति, स्वाधीनता और प्रियता, दूसरे शब्दों में योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति। आत्म–साक्षात्कार या प्रभु–मिलन (self-realization, God-realization) भी कह सकते हैं।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो जीवन के सक्रिय चरण से अवकाश प्राप्त करने के पश्चात् समाज–सेवा, परोपकारी प्रवृत्तियों और आवश्यकतानुसार अर्थ–अर्जन के लिए किसी उद्यम, व्यवसाय आदि में लगे रहते हैं। ऐसे लोगों के जीवन में भी प्रवृत्तियों के पश्चात्, (भले ही कम अवधि के लिए) निवृत्ति की अवस्था आती ही है जब यह भाव आता है कि अब कुछ नहीं करना है। अतः जो तथ्य निवेदित हैं, वे उन पर भी वैसे ही लागू होते हैं।

जानकारी न होने से या इस बात में विश्वास न होने के कारण कि "न करने में ही वास्तविक जीवन है", हम लोग आवश्यक कार्य सही ढंग से पूरा करने के पश्चात् जो सहज निवृत्ति होती है, उस निवृत्ति काल में कुछ भी न करके अन्दर बाहर से शान्त होकर अचिन्त की दशा प्राप्त करने के बजाय, कुछ व्यर्थ–चिन्तन करते रहते हैं, या कुछ न कुछ करते रहते हैं, टी0वी0 के चैनल घुमाते रहेंगे, अखबार चाटेंगे, कोई पत्रिका उलटते–पलटते रहेंगे (सिर्फ समय काटने के लिए)।

ऐसा करने से बेहतर है भगवत्-चिन्तन, भगवान की लीला–कथाओं का पठन, ऐसे भजन–गीत सुनना या गाना या ऐसे रचनात्मक शौक (creative hobbies) जो हमें निजानन्द और शान्ति प्रदान करें। वे हमारे मानसिक और अध्यात्मिक स्तर को ऊपर उठायें (elevate करें) और आन्तरिक प्रसन्नता (elation) प्रदान करें।

परन्तु यह भी अखण्ड नहीं हो सकता। इनके पश्चात् भी कुछ न करने की स्थिति में आयेंगे ही क्योंकि इस प्रकार की प्रवृत्ति में क्रिया और पराश्रय होना ही है। इसलिए कुछ समय पश्चात् विराम आयेगा ही।

मानव सेवा संघ के प्रणेता ब्रह्मलीन संत स्वामी शरणानन्द जी ने 'मूक–सत्संग तथा नित्य योग' का दर्शन प्रतिपादित किया है। इस नाम की पुस्तक मानव सेवा संघ वृन्दावन से प्रकाशित है।

इस विषय की चर्चा अलग से होगी। संक्षेप में–मूक का अर्थ है अन्दर बाहर से शान्त हो जाना। सत्संग का अर्थ है सत् का संग। योग का अर्थ है जुड़ना। सत्य से जुड़ने को ही योग कहते हैं।

जब हम निवृत्ति काल में कुछ 'न करने' की स्थिति में होते हैं तब हम सत्य के संग होते हैं (चूँकि हम सत्य के संग नित्य ही होते हैं, इसलिये यह कहना उपयुक्त होगा कि हम सत्य के सम्मुख होते हैं)। अतः निवृत्ति काल में कुछ 'न करने' वाली स्थिति के लिए हमें अन्दर बाहर से शान्त

हो जाना है। **शरीर द्वारा कोई क्रिया नहीं और अपनी ओर से कोई चिन्तन नहीं**। ऐसी दशा में अपने आप अपने मानस–पटल पर अपने किये और जो करना चाहते हैं का चित्र सिनेमा रील की भाँति आयेगा। मानव सेवा संघ दर्शन में इसे भुक्त और अभुक्त का प्रभाव कहते हैं जो उभर कर आता है। भुक्त और अभुक्त का अर्थ है जो हम भूतकाल में भोग चुके हैं या जिसे भोगना चाहते थे और नहीं भोग सके, और भविष्य में जो करना चाहते हैं। ये दृश्य की भाँति जो अपने आप आते हैं, वे हमारे एक प्रकार से चित्र हैं।

अब यदि अपना कोई कुरूप चित्र आया तो उसका न तो विरोध करें और न ही किसी सार्थक चिन्तन द्वारा दबाने का प्रयास करें। इसी प्रकार यदि कोई सुन्दर चित्र आता है तो उसका समर्थन न करें और उसमें रस न लें। इन चित्रों का केवल इतना महत्व है कि यदि कुरूप चित्र आता है तो मानव सेवा संघ के नियम संख्या–2 के अनुसार की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लें। हमारा वर्तमान (living present) निर्दोष होता है, अतः भूतकाल की भूलों के आधार पर अपने को दोषी न समझें और न इससे क्षुभित हों। भविष्य का कोई चित्र आता है तो मनोराज्य में लिप्त न हों, बल्कि जो आवश्यक कार्य भविष्य के लिए हैं उन्हें नोट कर लें, उसका प्रभाव समाप्त हो जायेगा।

सृष्टि में जो भी चीज़ उत्पन्न होती है उसका नाश भी होता है। इसलिए जो चित्र मानस-पटल पर आते हैं, वे भुक्त–अभुक्त के अंकित प्रभाव नाश होने के लिए उत्पन्न होते हैं। परन्तु हम उनका विरोध करके, उनमें रस लेकर या सार्थक चिन्तन द्वारा दबाने का प्रयास करके उन्हें सत्ता प्रदान कर देते हैं और वे बार–बार और वेग से आते हैं।

इसलिए हमें निर्लिप्त दृष्टा के रूप में मात्र असहयोग रखना है। जब हम राग और द्वेष रहित होकर निष्काम भाव से जो भी कार्य करेंगे उनके नवीन प्रभाव अंकित नहीं होंगे। पुराने अंकित प्रभावों का नाश हो जाने पर हम जब भी अन्दर बाहर से शान्त होकर बैठेंगे तो अचिन्त (thoughtlessness) की दशा और शान्ति होगी।

इसी शान्ति में विचार का उदय होता है और योग की भी प्राप्ति होती है। इस दशा में यदि रमण न करने लगें तो आगे अपने आप 'बोध' और प्रेम की प्राप्ति होगी। इन सब में रस ही रस है और रस में

आनन्द ही आनन्द है। ऐसा जीवन किसे पसन्द नहीं आयेगा ?

यह सारी चर्चा अवकाश प्राप्त व्यक्तियों को दृष्टि में रख कर की गयी। परन्तु यह उन लोगों के लिए भी है जो अवकाश प्राप्त नहीं है। ऐसे लोगों के भी जीवन में रोज़ की दिनचर्या में निजी, पारिवारिक और व्यवसाय/सेवा (service) सम्बन्धी आवश्यक कार्य (प्रवृत्ति) सही ढंग से पूरा करने के पश्चात्, चाहे थोड़ी ही देर के लिए ही हो, निवृत्ति काल आता है। कार्य के मध्य में भी यह स्थिति आती है। एक कार्य के अन्त और दूसरे कार्य के आदि– के बीच भले ही क्षणिक हो, पर निवृत्ति काल होता है। मानव सेवा संघ की सलाह है कि यदि हम इस छोटी अवधि में भी अन्दर बाहर से शान्त होने की आदत बना लें तो कार्य सम्पादन के पश्चात् थकित नहीं होंगे और कार्य कुशलता भी बढ़ जायेगी। जिस प्रकार विश्राम से पुनः शारीरिक शक्ति प्राप्त होती है उसी प्रकार मानसिक रूप से शान्त हो जाने पर उसी शान्ति में सामर्थ्य की प्राप्ति होती है और विचार का उदय होता है। मानसिक शक्ति (energy) की बैटरी रिचार्ज (recharge) हो जाती है। समस्याओं और प्रश्नों का हल अपने आप निकल आता है।

अन्त में, इस सत्य में दृढ़ आस्था आवश्यक है कि **कुछ न करने में ही जीवन है।** शेष, करना तो सेवा और कर्तव्य पालन का ही अंग है अथवा उसी का रूप है।

■

तुम होने वाले चिन्तन को मिटाना चाहते हो करने वाले चिन्तन से! उससे डरते क्यों हो? देखते रहो, बिल्कुल देखते रहो। अगर तुम हाँ नहीं करोगे तो वह नाश हो जायेगा। और उससे लड़ोगे नहीं, तब भी नाश हो जायेगा। और उससे अपने को मिलाओगे नहीं, तब भी नाश हो जायेगा।

साधन-सूत्र : 33

सेवा का अर्थ और स्वरूप

पर–हित की दृष्टि से समाज में अनेकों लोग व्यक्तिगत रूप से, निजी संगठनों (Private institutions) के माध्यम से अथवा गैर सरकारी संस्थाओं (NGO) के माध्यम से रोगियों, अशिक्षित वर्ग, शारीरिक रूप से अक्षम व निर्धनों आदि के लिए विभिन्न प्रकार के परोपकारी कार्य करते हैं। पर क्या उनमें से सभी लोग निःस्वार्थ भाव से, करुणावश, समाज के प्रति दायित्व या समाज से जो पाया है वह ऋण चुकाने के भाव से प्रेरित होकर ऐसे हितकारी कार्य करते हैं? अपने अन्दर झाँक कर देखना होगा कि कहीं हमारे दिल के एक कोने में स्वार्थ भाव तो नहीं छिपा है कि इससे हमें ख्याति प्राप्त होगी, मान सम्मान मिलेगा, दानियों/परोपकारियों की लिस्ट में नाम आयेगा, जिनकी सेवा कर रहे हैं उनकी कृतज्ञता प्राप्त होगी या और कुछ नहीं तो वोट बैंक बनेगा या पुण्य कमायेंगे। यदि है तो ऐसी प्रवृति परोपकार और पुण्य भले ही हो, परन्तु सेवा की संज्ञा नही बनेगी।

सेवा उसे कहते है जो मानव कहें अथवा साधक कहें के द्वारा जीवन के वास्तविक लक्ष्यः नित्य, अविनाशी, रसरूप जीवन की अथवा योग–बोध–प्रेम की, (ईश्वरवादी हैं तो प्रभु–प्रेम की) एक शब्द में अपने साध्य की प्राप्ति हेतु, उसके **साधन निर्माण में सहायक हो।**

अतः सेवा का अर्थ और उसका स्वरूप क्या है की विवेचना उपयुक्त होगी।

ब्रह्मनिष्ठ संत स्वामी शरणानन्द जी द्वारा प्रणीत मानव सेवा संघ की पुस्तक "साधन–त्रिवेणी" में **'सच्चा साधक कौन'** शीर्षक के अन्तर्गत स्वामी जी की वाणी हैः–

"अब सेवा का अर्थ क्या है? **सेवा का अर्थ है कि जिसके बदले में हम सुख का भोग न करें।** जैसे–आपने कोई सेवा की और मन में ऐसा प्रतीत हुआ कि हम बड़े उदार आदमी हैं। हमने बड़ी सेवा की है। यह किया, वह किया, अब आपने इससे बड़ा सुख लिया तो सेवा नहीं भोग हो गया।"

".....सेवा होती है दूसरों के हित के लिये– अगर हम सुख का भोग करेंगे

तो मोह और आसक्ति में आबद्ध हो ही जायेंगे। अगर सेवा करेंगे तो बोध और प्रेम से अभिन्न हो जायेंगे।"

"सेवा कैसे करनी चाहिए इस सम्बन्ध में भी विचार करना चाहिए। सामर्थ्य के अनुसार विवेक के अनुसार सेवा करनी है। **ज्ञान और सामर्थ्य के अनुसार ही सेवा की जाती है।**"

"ज्ञान विरोधी सेवा करनी नहीं है और सामर्थ्य विरोधी सेवा कर ही नहीं सकते आप। **सेवा का अर्थ होता है अपना सुख बाँटना**। किसी की आवश्यकता को पूरा करना तो अपने हाथ में है नहीं, अपना सुख बाँटना हाथ में है। तो हमारे पास जो सुख की वस्तु हो–शरीर का सुख है तो शरीर से सेवा करना, मन से सद्भाव रखना, बुराई रहित होना। यह सेवा कहलाती है। **मन, वाणी, कर्म से अगर हम बुराई रहित हो जाएँ,** तो **यह विश्व की सेवा कहलाती है** और ज्ञान और सामर्थ्य के अनुसार **दूसरों के काम आ जाएँ,** यह **समाज सेवा** कहलाती है और यदि **अचाह हो जाएँ** तो यह **अपनी सेवा** कहलाती है। यदि हम **प्रभु की प्रियता प्राप्त करलें** तो यह **प्रभु की सेवा** कहलाती है।"

हममें से बहुत लोग शरीर बल, धन बल, बुद्धि बल में अथवा परिस्थिति वश, औरों की अपेक्षा कम समर्थ होते हैं। ऐसे लोगों के लिए स्वामीजी की नीचे प्रस्तुत वाणी बहुत उत्साहवर्धक है:–

"सेवा में यह नहीं कहा जाता कि जिसके पास विशेष सामर्थ्य होगी उसकी सेवा का विशेष फल होगा और अल्प सामग्री से जो सेवा की जायेगी उसका फल अल्प होगा। ऐसा नहीं होता। **सेवा का फल समान होता है।** चाहे किसी तृषावन्त (प्यासे) को अपनी सामर्थ्य के अनुसार एक गिलास पानी पिला दो और चाहे सम्पत्तिशाली होकर वाटर वर्क्स बना दो। चाहे एक विद्यार्थी की सेवा कर दो और चाहे एक विश्वविद्यालय बनवा दो। इसमें कोई फ़र्क नहीं पड़ता।"

एक दृष्टान्त पर्याप्त होगा इसे समझने के लिए। महात्मा गाँधी के आश्रम में एक कुष्ठ रोगी रहा करते थे। प्रातःकालीन टहलने के उपरान्त गाँधी जी स्वयं अपने हाथों से उनके घावों को साफ़ करके मरहम पट्टी करते थे। केवल यही नहीं, वे आश्रम के शौचालयों की सफ़ाई में भी सहयोग करते थे।

सेवा दो प्रकार की होती है–क्रियात्मक और भावात्मक। इस बारे में अर्थात् सेवा के स्वरूप के बारे में स्वामी जी ने कहा है कि–

"सुखमय परिस्थिति में आपको क्रियात्मक सेवा करनी चाहिए और दुःखमय परिस्थिति में भावात्मक सेवा करनी चाहिए। **जो क्रियात्मक सेवा का फल होता है वही भावात्मक सेवा का फल होता है।** लेकिन आप यह कहें कि सुखमय परिस्थिति होगी तो हम बहुत सा दान करेंगे, बहुत सा काम करेंगे, उससे हमें बड़ा लाभ होगा। तो बड़ा लाभ नहीं होगा। लाभ उतना ही होगा जितना अल्प से होगा।"

मानव सेवा संघ की पुस्तक 'प्रेरणा–पथ' के पृष्ठ–97 पर स्वामी जी का कथन विशेष महत्व का है:–

"आप जानते हैं कि बचने का क्या अर्थ होता है? जो न कर सकें, उसको तो करने की सोचें और जो कर सकें उससे जान बचायें। क्या बतायें महराज! धन होता तो, दान दे देते! हमने कहा भले आदमी, उसमें से कितना दे दिया जो पास में है? जो है, उसमें से कितना दे दिया।"

सेवा करने के लिए क्या बात अपेक्षित है, इसको स्वामी जी ने इस प्रकार स्पष्ट किया है:–

"अब कोई यह कहे कि राग के बिना हम अपने प्रियजनों की सेवा कैसे करेंगे? तो कहना होगा कि **सेवा करने के लिए राग अपेक्षित नहीं है, अपितु उदारता की अपेक्षा है।** कारण कि, उदारता आ जाने पर पराया दुःख अपना दुःख बन जाता है और फिर अपना सुख वितरण करने में लेश मात्र भी संकोच नहीं रहता। **इतना ही नहीं, सुख–भोग की आसक्ति का अन्त हो जाता है। यही सेवा की वास्तविक सार्थकता है।** सेवा का अन्त किसी वस्तु, पद आदि की प्राप्ति में नहीं है। **सेवा का अन्त तो त्याग में और त्याग का अन्त प्रभु–प्रेम में होता है।**....."

".....वास्तविक सेवा क्रियात्मक रूप से भले ही सीमित हो, किन्तु भावरूप से असीम ही होती है। क्योंकि **सेवा का जन्म ही होता है स्वार्थ–भाव के मिट जाने पर अर्थात् राग–रहित हो जाने पर।** जिन साधनों से क्रियात्मक सेवा की जाती है, वे सीमित ही होते हैं। इस कारण सेवक का कर्म सीमित होता है। किन्तु जिस सर्वहितकारी सद्भावना से सेवा की जाती है, वह भाव असीम ही होता है।"

" यह नियम है कि जो कर्म जिस भाव से किया जाता है, अन्त में कर्ता उसी भाव में विलीन हो जाता है। इस दृष्टि से सेवक का सीमित कर्म भी सेवक को असीम प्रेम से अभिन्न कर देता है।"

प्रथम पृष्ठ पर सेवा को जीवन के लक्ष्य

(साध्य) की प्राप्ति हेतु साधन–निर्माण में सहायक कहा गया है। इस बिन्दु पर स्वामी जी का कथन बड़ा स्पष्ट है–

"मानव जीवन में सेवा का व्रत एक महत्वपूर्ण साधन है क्योंकि **सेवा प्रेम का क्रियात्मक रूप है** और **त्याग प्रेम का विवेकात्मक रूप है। प्रेम–तत्व में ही जीवन की पूर्णता है**। जब तक प्रेम–तत्व से अभिन्नता नहीं होती तब तक जीवन पूर्ण नहीं होता। **प्रेम–तत्व की प्राप्ति के लिए सेवा और त्याग साधन है।** सेवा के बिना और त्याग के बिना प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। **तो दुःख का प्रभाव हमें त्याग की प्रेरणा देता है और सुख हमें सेवा की प्रेरणा देता है।"**

सेवा का अर्थ तथा स्वरूप को और स्पष्ट करने के लिए स्वामी जी ने इस प्रकार कहा है–

"सेवा का आरम्भ जो होता है वह बुराई–रहित होने से, मध्य में सुखद घड़ियों में यथाशक्ति भलाई से और अन्त में अचाह होने से। अगर भलाई का फल चाहेगा तो सेवा नहीं हो सकती, बुराई रहित नहीं होगा तो सेवा नहीं हो सकती। तो भलाई का फल मत चाहो और बुराई रहित हो जाओ यही तो सेवा का स्वरूप है। **सभी के प्रति सद्भाव यह सेवा है, यथाशक्ति सहयोग यह सेवा है**। .....लेकिन दुःख की बात तो यह है कि कुछ लोग सोचते हैं कि पैसा खर्च कर दो सेवा हो गई। कुछ लोग समझते हैं कि शरीर से कार्य कर दो तो सेवा हो गई। कर्म में और सेवा में भेद है। कर्म अपने सुख की भावना से प्रेरित होकर किया जाता है और सेवा पर–हित की दृष्टि से की जाती है। तो **जो सभी का हित चाहता है वह सेवा कर सकता है।**"

स्वामी जी ने एक और बात के प्रति सचेत किया जो संक्षेप में यह है कि साधन के साथ–साथ असाधन भी होगा तो बात नहीं बनेगी। जिस साधन से सेवा करें वह न्यायपूर्वक अर्जित हो अन्यथा वह उसी प्रकार का हो जायेगा जैसे एक तरफ़ तो गलत धंधा करके धन बटोरा और दूसरी ओर मंदिर धर्मशाला आदि बनवा दिया। पाप–पुण्य का लेखा–जोखा भले ही बराबर होता रहे पर यह सेवा की संज्ञा में नहीं आयेगा।

सारे कथन का सारांश के रूप में स्वामी जी के ही शब्दों में–

"**क्रियात्मक सेवा निकटवर्ती प्रिय जनों की करो और भावात्मक सेवा सारे संसार की करो।** किसी का बुरा मत चाहो, यह भावात्मक सेवा हो गई और

यथाशक्ति किसी की मदद कर दो यह क्रियात्मक सेवा हो गई। यथाशक्ति किसी की सहायता कर दी, यह क्रियात्मक सेवा हो गई। किसी को बुरा मत समझो, यह भावात्मक सेवा हो गई। बुराई न करना, यह क्रियात्मक सेवा हो गई। बुराई न चाहना, यह भावात्मक सेवा हो गई।"

परन्तु बाधा क्या है जिसके कारण सेवा हमारा स्वभाव नहीं बन पाता। इसके बारे में स्वामी शरणानन्दजी ने कहा है कि–

"लोभ और मोह में आबद्ध प्राणी सेवा नहीं कर सकता, अतः **सेवा करने के लिये निर्लोभता और निर्मोहता अत्यन्त आवश्यक है। निर्लोभता आने पर वस्तुओं की अपेक्षा व्यक्तियों का महत्त्व बढ़ जायेगा, तब सेवा स्वभाव से ही होने लगेगी।**"

प्रश्न् होता है कि लोभ और मोह की उत्पत्ति ही क्यों होती है। इसके सम्बन्ध में स्वामीजी ने बताया है कि–

"देश, काल की ममता सीमित बनाती है तथा वस्तु और व्यक्ति की ममता, लोभ और मोह में आबद्ध करती है। **ममता रहित होकर वस्तुओं का सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा करने से निर्लोभता और निर्मोहता आती है।**"

सेवा द्वारा हम अपने को संसार के लिये उपयोगी बनाते हैं। जीवन की सार्थकता इसी में है कि हम अपने को उपयोगी बना लें। अतः सेवा का व्रत अपनाना ही है। इसके लिये ममता का त्याग करना ही होगा, अन्यथा ममता के रहते, सेवा–भावी कहलाने की चाह लेकर सेवा कार्य करेंगे जो वास्तविक सेवा नहीं होगी। ■

महाप्रयाण के पूर्व स्वामी जी के उद्‌गार

"सब प्रभु का है, सब प्रभु का है और केवल प्रभु ही हैं। सेवा करो तो इसे ध्यान में रखो। इस भाव से सेवा किसी की भी करोगे, तो वह प्रभु की ही सेवा होगी। प्रभु विश्वासी के लिये सेवा महान बल है। सेवा में लगने से बल स्वतः आ जाता है। यह महामन्त्र है।"

साधन-सूत्र : 34

मानव सेवा संघ दर्शन में साधना का अर्थ और साधना–प्रणाली

साधना क्या है? साधना उसे कहते हैं जो साधक को साध्य से मिला दे। दूसरे, साधना की नहीं जाती बल्कि साधक के जीवन में इसकी अभिव्यक्ति होती है। साधना में श्रम और पराश्रय अपेक्षित नहीं है। यदि श्रम और पराश्रय अपेक्षित होता तो यह सबको समान रूप से उपलब्ध नहीं होती क्योंकि सब इसमें समान रूप से समर्थ नहीं होते। फिर वह साधना, साधना कैसी जो सबके लिए समान रूप से सुलभ न हो।

साधक–साधन–साध्य की सूक्ष्म चर्चा साधन–सूत्र–15 में की गयी थी। यहाँ थोड़ा विस्तार से प्रस्तुत है।

मानव सेवा संघ की परम कोटि की साधिका माँ दिव्यज्योति (देवकी बहिन) के दो लेख–"साधना क्या है" और "मानव सेवा संघ की साधना–प्रणाली" नाम से मानव सेवा संघ रजत जयन्ती स्मारिका में प्रकाशित हुए थे। उन्हीं से कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं जो इस विषय पर सहज और सटीक ढंग से प्रकाश डालेंगे।

"**साधना साधक का जीवन और साध्य का स्वभाव है।**..... साधक उसे कहते हैं जिसे अपनी वर्तमान दुर्बलताओं का पता हो, जो अपनी माँग को जानता हो और माँग की पूर्ति के लिए अपने दायित्व को पूरा करने में तत्पर हो।..... माँग की पूर्ति के लिए जो दायित्व साधक पर है उसको पूरा करना साधना का आधार है। मानव सेवा संघ के अनुसार साधना ऊपर से भरी नहीं जातीं, प्रत्युत **सत्संग के फलस्वरूप व्यक्ति के व्यक्तित्व में ही साधना की अभिव्यक्ति होती है।** जैसे, जो सदा के लिए साथ नहीं रह सकता उसकी ममता और कामना रखना भूल है। मानव का निज अनुभव है कि दृश्य जगत की कोई भी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति सदा के लिए साथ नहीं रह सकती। अतः इनकी ममता और कामना रखना भूल है। **भूल को भूल जानकर उसका त्याग कर देना सत्संग है। ममता और कामना का त्याग करने से व्यक्तित्व में निर्विकारता आती है। यह निर्विकारता साधना है।** बिना देखे, बिना जाने परमात्मा से आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति से

प्रिय की स्मृति जागृत होना साधना है। इस प्रकार **भगवत–स्मृति, निष्कामता, निर्विकारता साधना है** जो साधक के व्यक्तित्व में स्वतः ही अभिव्यक्त होती है।"

आगे बताया है कि "जो साधना साधक में अभिव्यक्त होती है वह कभी खण्डित नहीं होती। वह साधना साधक को आत्मसात् करके साध्य की अभिन्नता में विलीन हो जाती है। साधना, साधक और साध्य के बीच भेद, भिन्नता और दूरी नहीं रहने देती।"

साधना के स्वरूप के सम्बन्ध में स्पष्ट किया है कि– **"साधना शरीर–धर्म नहीं है।** यह साधक का स्व–स्वरूप और साध्य का स्वभाव है। साधक की अभिन्नता साधन से ही होती है, अर्थात् साधक साधना होकर साध्य से मिलता है। **साधना माने क्या, साध्य की अगाध प्रियता।** साधक का सम्पूर्ण अहं साध्य की अगाध प्रियता में रूपान्तरित हो जाता है।"

ऊपर कहा गया है कि साधना शरीर धर्म नहीं है। उसी क्रम में आगे बताया गया है कि–

"साधना उसे नहीं कहते जो साधक को पराश्रित और पराधीन बना दे। जिस साधना से साध्य से अभिन्नता (मिलन अर्थात् Total identity) होती है वह साधना साधक के सूक्ष्माति–सूक्ष्म अहं का रूपान्तर है। इसलिए मानव सेवा संघ ने साधन करने की बात नहीं कही, 'साधन– निर्माण' की बात कही। साधन–निर्माण का अर्थ क्या है? .....मानव सेवा संघ किसी भी विध्यात्मक साधना–प्रणाली का आग्रह या विरोध नहीं करता, परन्तु योग, बोध और प्रेम जो साधक मात्र के जीवन का लक्ष्य है उसकी अभिव्यक्ति के लिए मौलिक और अनिवार्य तथ्यों को अपनाने का परामर्श देता है। जैसे ईश्वरवादी साधक अपनी–अपनी रुचि के अनुसार साकार उपासना अथवा निराकार उपासना चाहे जैसा पसन्द करें कर सकते हैं। वे अपनी निष्ठा, अपनी पसन्दगी के अनुसार विध्यात्मक साधना में स्वाधीन हैं। परन्तु **मानव सेवा संघ ने उपासना का अर्थ बताया– 'साध्य से आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति।'** विश्वास–पथ के साधकों की साधना का मूल मंत्र है–जिस ईश्वर की सत्ता को आस्था, श्रद्धा, विश्वास के आधार पर स्वीकार किया गया, उससे आत्मीय सम्बन्ध को मानना और सब सम्बन्ध एक सम्बन्ध में, सब विश्वास एक विश्वास में विलीन कर देना अर्थात् अन्य सम्बन्धों तथा अन्य विश्वासों को छोड़ देना।..... **इस प्रकार सत्य की स्वीकृति के फलस्वरूप भगवत्–स्मृति तथा अन्य की विस्मृति का अभ्यास नहीं करना पड़ता, यह सब स्वतः हो जाता है।** मानव सेवा

संघ ने **इसी को भगवत्–भजन कहा है।** साधक की सम्पूर्ण वृत्तियाँ इस स्मृति से एकाकार होकर साध्य के मिलन की उत्कट् अभिलाषा का रूप धारण कर लेती हैं। **इसको मानव सेवा संघ ने साधन–तत्व कहा है।** साधक का अहम् प्रिय–मिलन की उत्कट् अभिलाषा से भिन्न और कुछ नहीं रह जाता। तब उसी में उसका साध्य प्रकट होकर साधक को सदा–सदा के लिए अपना लेता है।"

"इस दृष्टि से **विश्वास–पथ के साधक की साधना का मूल मंत्र है, साध्य के साथ आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति।** यह स्वीकृति शरीर धर्म नहीं है। **यह स्वीकृति कोई अभ्यास या अनुष्ठान नहीं है।** यह स्वीकृति साधक का स्वधर्म है।"

इस कारण इस बात पर बल दिया है–

".....साधक..... जिस विध्यात्मक प्रणाली को स्वीकार करना चाहे कर सकता है, परन्तु **'स्व' के द्वारा साध्य से आत्मीय सम्बन्ध अवश्य स्वीकार करे, अन्यथा कोई भी विध्यात्मक साधना सजीव नहीं होगी।**"

नोट1:इस व्याख्या के दोनों विषय आपस में इतने जुड़े हैं कि इनके बीच कोई सीमा रेखा खींचना सम्भव नहीं है। इसलिए इनकी चर्चा में समिश्रण (overlapping) स्वाभाविक है।

नोट2:ऊपर कहा गया है कि "अर्थात् अन्य सम्बन्धों तथा अन्य विश्वासों को छोड़ देना।" इससे भ्रम न हो जाये इसलिए इसका तात्पर्य समझना आवश्यक है। जिन व्यक्तियों और वस्तुओं से सम्बन्ध माना है और उन पर विश्वास किया है–उन व्यक्तियों/वस्तुओं को छोड़ने की बात नहीं है। व्यक्तियों की सेवा और वस्तुओं का सदुपयोग करना है। उनसे माने हुए सम्बन्ध और उन पर विश्वास को छोड़ना है।

क्रियात्मक साधना के सम्बन्ध में यह बताया गया है कि–

"क्रियात्मक साधना अखण्ड नहीं हो सकती। शरीरों पर आधारित क्रियाओं के फलस्वरूप साधक के व्यक्तित्व में अलौकिक जीवन का अनुभव उद्भूत नहीं होता। **क्रिया में जब साधक के अविनाशी ज्ञान और प्रेम का पुट रहता है तो आगे चलकर अविनाशी तत्व विकसित होते चले जाते हैं। उनकी सरसता में साधना का क्रियात्मक पक्ष गौण होता जाता है और अन्त में सब क्रियायें भाव में विलीन हो जाती हैं।** तभी साधना सफल होती है।"

यह वास्तविकता कई बार दोहराई जा चुकी है कि साधना की नहीं जाती बल्कि

साधक के व्यक्तित्व में इसकी स्वतः अभिव्यक्ति होती है। देवकी बहन जी ने 'मानव सेवा संघ की साधना–प्रणाली' नामक व्याख्या में इसे पुष्ट करते हुए इस प्रकार कहा है–

"मानव सेवा संघ के अनुसार साधना की नहीं जाती, सत्संग के प्रभाव से साधना निर्मित होती है और व्यक्ति के व्यक्तित्व में से साधन–तत्व की अभिव्यक्ति होती है। साधक होने के लिए सत्संग करना अनिवार्य है। सत्संग क्या है? **जीवन के सत्य को स्वीकार करना सत्संग है।** जीवन का सत्य क्या है? देह मैं नहीं हूँ , 'देह' मेरी नहीं है। यह जीवन का सत्य है। दृश्य–मात्र से मेरा नित्य सम्बन्ध नहीं है, यह जीवन का सत्य है। जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है, उसकी ममता और कामना के त्याग से अशान्ति और पराधीनता का नाश होता है, यह जीवन का सत्य है। प्राप्त सामर्थ्य के द्वारा पर–पीड़ा में हाथ बटाने से उदारता और करुणा का रस बढ़ता है जो अहम् की शुद्धि में हेतु है, यह जीवन का सत्य है। जिससे नित्य सम्बन्ध है, उस बिना देखे, बिना जाने परमात्मा में आस्था, श्रद्धा, विश्वास–पूर्वक आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करने से उस नित्य-प्राप्त की प्रीति जागृत होती है, यह जीवन का सत्य है। **अपने जाने हुए असत् के त्याग से असाधनों का नाश स्वतः होता है** और **जीवन के सत्य को स्वीकार करने से व्यक्ति के व्यक्तित्व में विद्यमान अलौकिक तत्वों का विकास होता है**। मानव सेवा संघ में **इन्हीं दो बातों को साधक का परम पुरुषार्थ बताया गया है।"**

"साधक होने के लिए व्यक्ति को किसी बाह्य वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति की अपेक्षा नहीं है। व्यक्ति के व्यक्तित्व में ही विद्यमान भाव–शक्ति, विचार–शक्ति और कार्य–क्षमता के आधार पर साधना का निर्माण होता है। **कार्य–क्षमता के आधार पर साधना क्या है?** प्राप्त बल का दुरुपयोग न करना एवं निकटवर्ती जन–समुदाय की यथाशक्ति क्रियात्मक सेवा करना साधना है। **मन से, वचन से, कर्म से बुराई–रहित होकर सद्भाव–पूर्वक सभी को सहयोग देना कर्म–क्षेत्र की साधना है।** इसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप है दुःखी मात्र के दुःख से करुणित होना एवं सुखी मात्र के सुख से प्रसन्न होना। **करुणा और प्रसन्नता उदारता है**। उदारता साधन–तत्व है, इसी के आधार पर कर्तव्यनिष्ठ साधक को विश्व–प्रेम प्राप्त होता है, जो साधना की सफलता है।"

"विचार–शक्ति के आधार पर दृश्य

जगत में 'मेरा कुछ नहीं है' और 'मुझे कुछ नहीं चाहिए' ऐसा जानकर किये हुए सर्व हितकारी कर्म के फल तथा कर्तापन के अभिमान को छोड़ना साधना है। **निर्मम, निष्काम होने से स्वतः ही शरीरों से असंगता होती है। अकिंचन अचाह होकर अप्रयत्नपूर्वक अहंकृति–रहित होना विचारक साधक की साधना है।** असंगता से चिर–विश्राम और स्वाधीनता आती है, ये साधन–तत्व हैं, ये साधन तत्व व्यक्ति के व्यक्तित्व में से ही अभिव्यक्त होते हैं और इन्हीं के द्वारा साधक दिव्य–चिन्मय जीवन से अभिन्न हो जाता है।''

''भाव–शक्ति के आधार पर बिना देखे, बिना जाने, परमात्मा से आत्मीयता को स्वीकार किया जाता है। इस स्वीकृति से जो अपने ही में विद्यमान है, उसकी मधुर–स्मृति जागृत होती है। **मधुर–स्मृति का जागृत होना विश्वासी साधक की साधना है।** इस स्मृति के जागृत होते ही साधक के जीवन की निरसता का नाश होता है। **प्रिय की मधुर–स्मृति विश्वासी साधक के सम्पूर्ण अहम् को प्रेम की धातु में रूपान्तरित कर देती है।** विश्वासी साधक प्रेम होकर प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाता है, यह उसकी साधना की सफलता है।''

''उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि मानव सेवा संघ ने व्यक्ति के व्यक्तित्व के तीनों पहलुओं पर आधारित तीन साधना प्रणाली का प्रतिपादन किया है। कार्य–क्षमता के आधार पर कर्तव्य–पथ, विचार शक्ति के आधार पर ज्ञान–पथ एवं भाव शक्ति के आधार पर भक्ति–पथ। इन तीनों ही साधन–प्रणालियों को समान रूप से महत्वपूर्ण माना गया है। किसी प्रणाली को सहज और किसी को कठिन नहीं माना गया है।''

''भाव, विचार और कर्म एक ही व्यक्तित्व के अनिवार्य पहलू (component parts) हैं। फलस्वरूप कर्तव्य–पथ, ज्ञान–पथ और भक्ति–पथ में परस्पर विरोध नहीं है, प्रत्युत तीनों ही एक दूसरे के सहायक हैं। कर्तव्य–पथ के साधक में सही प्रवृत्ति के बाद सहज निवृत्ति की शान्ति स्वतः अभिव्यक्त होती है। मानव सेवा संघ के सिद्धान्त में कर्तव्य–विज्ञान का उत्तर पक्ष योग बताया गया है। योग में बोध एवं बोध में प्रेम स्वतः अभिव्यक्त होता हैं। **योग–बोध–प्रेम में जीवन की पूर्णता है।** विचार–पथ की प्रणाली से भी वही सत्य मिलता है जो विश्वास पथ की प्रणाली से मिलता है।''

परन्तु जीवन में असाधन रहते हुए कोई भी प्रणाली सफलता प्रदान नहीं कर सकती

क्योंकि–

"असाधन के साथ–साथ किया गया साधन सफल नहीं होता। इस कारण साधक–समाज को असाधनों के नाश का पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिए। उदाहरणार्थ–बल का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए, विवेक का अनादर नहीं करना चाहिए, ईश्वर–विश्वास में विकल्प नहीं करना चाहिए, प्राप्त गुणों एवं साधन के फल का अभिमान लेकर अहम् को पोषित नहीं होने देना चाहिए, श्रद्धा में तर्क और तर्क में श्रद्धा नहीं मिलाना चाहिए। ..... असाधन उत्पन्न करने वाली भूलों का त्याग कर देने पर साधक के लिए साधना सहज स्वाभाविक हो जाती है। असाधनों का त्याग ऐसी अपरिहार्य साधना है कि संघ के प्रणेता श्री महाराज जी ने अनेक स्थानों पर कहा है कि–**साधना माने क्या? बुराई रहित होना।"**

मानव सेवा संघ की साधना–प्रणाली की चर्चा करते हुए देवकी बहिन जी ने बताया है कि इसमें "मूक–सत्संग विशेष महत्वपूर्ण स्थान रखता है। मूक हो जाना अर्थात् कुछ न चाहना, कुछ न करना एवं अप्रयत्न हो कर अहंकृति–रहित होना।"

साधना के सम्बन्ध में देवकी बहिन जी ने एक विशेष बात कहा है जो बहुत ही मार्मिक है–

"साधना सम्बन्धी सबसे ऊँची और अन्तिम बात है साध्य से अभिन्न होने की तीव्र मांग की जागृति। श्री महाराज जी ने कहा है कि **साध्य से मिलने के लिए अत्यन्त व्याकुल हो जाना सबसे बड़ी साधना है।"**

देवकी बहिन जी के इन दोनों लेखों यथा, **साधना क्या है**–और **मानव सेवा संघ की साधना–प्रणाली,** में विस्तार से व्याख्या की गई है। यह चर्चा बहुत लम्बी न हो जाये, इसलिए कुछ खास–खास बिन्दुओं को ऊपर प्रस्तुत किया गया है।

जिस स्मारिका (पुस्तक) में ये लेख छपे थे, वह उपलब्ध नहीं (out of print) है। विस्तार से इस व्याख्या को पढ़ने और समझने के इच्छुक पाठकों को दृष्टि में रखकर इन दोनों लेखों की फोटो प्रतियाँ संलग्नक (क) और (ख) के रूप में प्रस्तुत हैं।

■

प्राकृतिक नियम के अनुसार सभी परिस्थितियों में साधन का निर्माण हो सकता है।

संलग्नक–क

साधना क्या है ?

—प्रो० देवकीजी

साधना साधक का जीवन और साध्य का स्वभाव है। मानव का एक नया नाम साधक भी है। साधनयुक्त जीवन ही मानव-जीवन है। साधक उसे कहते हैं जिसे अपनी वर्तमान दुर्बलताओं का पता हो, जो अपनी माँग को जानता हो और माँग की पूर्ति के लिये अपने दायित्व को पूरा करने में तत्पर हो। जिसमें कोई दुर्बलता नहीं, जो अपनी माँग के प्रति जागरूक नहीं और माँग-पूर्ति के लिये जो अपने दायित्व को पूरा करने में तत्पर नहीं है वह साधक नहीं है। माँग की पूर्ति के लिये जो दायित्व साधक पर है उसको पूरा करना साधना का आधार है। मानव सेवा संघ के अनुसार साधना ऊपर से भरी नहीं जाती, प्रत्युत सत्संग के फलस्वरूप व्यक्ति के व्यक्तित्व में ही साधना की अभिव्यक्ति होती है। जैसे, जो सदा के लिये साथ नहीं रह सकता उसकी ममता और कामना रखना भूल है। मानव का निज अनुभव है कि दृश्य जगत् की कोई भी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति सदा के लिये साथ नहीं रह सकती। अतः इनकी ममता और कामना रखना भूल है। भूल को भूल जानकर उसका त्याग कर देना सत्संग है। ममता और कामना का त्याग करने से व्यक्ति के व्यक्तित्व में निर्विकारता आती है। यह निर्विकारता साधना है। बिना देखे, बिना जाने परमात्मा से आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति से प्रिय की स्मृति का जाग्रत होना साधना

है। इस प्रकार भगवत्-स्मृति, निष्कामता, निर्विकारता साधना है जो साधक के व्यक्तित्व में स्वतः ही अभिव्यक्त होती है।

जो साधना साधक में अभिव्यक्त होती है वह कभी खंडित नहीं होती। वह साधना साधक को आत्मसात् करके साध्य की अभिन्नता में विलीन हो जाती है। साधना साधक और साध्य के बीच भेद, भिन्नता और दूरी नहीं रहने देती। साधना शरीर-धर्म नहीं है। यह साधक का स्व-स्वरूप और साध्य का स्वभाव है। साधक की अभिन्नता साधना से ही होती है, अर्थात् साधक साधना होकर साध्य से मिलता है। साधना माने क्या ? साध्य की अगाध प्रियता। साधक का सम्पूर्ण अहम् साध्य की अगाध प्रियता में रूपान्तरित हो जाता है। उसके अहम् की गंध भी शेष नहीं रहती। साध्य और साधक की प्रियता का अनन्त विहार साधक और साध्य का अनन्त मिलन है।

मानव सेवा संघ के सिद्धान्त के अनुसार साधना शरीर-धर्म नहीं है। साधना उसे नहीं कहते जो साधक को पराश्रित और पराधीन बना दे। जिस साधना से साध्य से अभिन्नता होती है वह साधना साधक के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अहम् का रूपान्तर है। इसलिये मानव सेवा संघ ने साधन करने की बात नहीं कही, 'साधन-निर्माण' की बात कही। 'साधन-निर्माण' का अर्थ क्या है ? प्रत्येक साधक रुचि, योग्यता, परिस्थिति आदि में एक दूसरे से भिन्न होता है। इस व्यक्तिगत भिन्नता के प्राकृतिक तथ्य को मानव सेवा संघ की साधन-प्रणाली में उचित महत्त्व दिया गया है। तदनुसार प्रत्येक साधक अपने व्यक्तित्व की बनावट के आधार पर विभिन्न प्रकार की विध्यात्मक साधना-प्रणालियों का अनुसरण करने में पूर्णतः स्वाधीन है। मानव सेवा संघ किसी भी विध्यात्मक साधन-प्रणाली का आग्रह या विरोध नहीं करता, परन्तु योग, बोध और प्रेम जो साधक मात्र के जीवन का लक्ष्य है उसकी अभिव्यक्ति के लिये मौलिक और अनिवार्य तथ्यों को अपनाने का परामर्श देता है। जैसे, ईश्वर-विश्वासी साधक अपनी-अपनी रुचि के अनुसार साकार उपासना अथवा निराकार उपासना, चाहे जैसा पसन्द करें, कर सकते हैं। वे अपनी निष्ठा, अपनी पसन्दगी के अनुसार विध्यात्मक साधना में स्वाधीन हैं। परन्तु मानव सेवा संघ ने उपासना का

अर्थ बताया--'साध्य से आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति।' विश्वास-पथ के साधकों की साधना का मूल मंत्र है–जिस ईश्वर की सत्ता को आस्था, श्रद्धा, विश्वास के आधार पर स्वीकार किया गया उससे आत्मीय सम्बन्ध को मानना और सब सम्बन्ध एक सम्बन्ध में, सब विश्वास एक विश्वास में विलीन कर देना, अर्थात् अन्य सम्बन्धों तथा अन्य विश्वासों को छोड़ देना। जो ऐसा कर लेता है उस साधक के जीवन में से अन्य चिन्तन का नाश स्वतः हो जाता है। आत्मीय-सम्बन्ध की स्वीकृति से उदित प्रिय की मधुर स्मृति जाग्रत हो जाती है। यह मधुर स्मृति अविनाशी साध्य के समान ही अविनाशी है। प्रिय की मधुर स्मृति की जागृति से अन्य की विस्मृति हो जाती है। इस प्रकार सत्य की स्वीकृति के फलस्वरूप भगवत्-स्मृति तथा अन्य की विस्मृति का प्रयास नहीं करना पड़ता, यह सब स्वतः हो जाता है। मानव सेवा संघ ने इसी को भगवत्-भजन कहा है। साधक की सम्पूर्ण वृत्तियाँ इस स्मृति से एकाकार होकर साध्य के मिलन की उत्कट अभिलाषा का रूप धारण कर लेती हैं। इसको मानव सेवा संघ ने साधन-तत्त्व कहा है। साधक का अहम् प्रिय-मिलन की उत्कट अभिलाषा से भिन्न और कुछ नहीं रह जाता। तब उसी में उसका साध्य प्रकट होकर साधक को सदा-सदा के लिये अपना लेता है। इस दृष्टि से विश्वास-पथ के साधक की साधना का मूल-मंत्र है साध्य के साथ आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति। यह स्वीकृति शरीर-धर्म नहीं है। यह स्वीकृति कोई अभ्यास या अनुष्ठान नहीं है। *यह स्वीकृति साधक का स्वधर्म है।* यह स्वीकृति साध्य से भिन्न के सम्बन्ध एवं विश्वास की अस्वीकृति से सजीव होती है। मानव सेवा संघ ने विश्वास-पथ के साधकों को उपासना का यह मौलिक सत्य स्वीकार करने का परामर्श दिया। ईश्वर की उपासना की विविध प्रणालियाँ ईश्वर-विश्वासी साधकों के बीच प्रचलित हैं। मानव सेवा संघ प्रत्येक साधक को यह खुली छूट देता है कि वह अपनी-अपनी पसन्दगी के अनुसार चाहे जिस विधयात्मक प्रणाली को स्वीकार करना चाहे, कर सकता है, परन्तु स्व के द्वारा साध्य से आत्मीय सम्बन्ध को अवश्य स्वीकार करे, अन्यथा कोई भी विधयात्मक साधना सजीव नहीं होगी।

साधना उसे नहीं कहते जो साध्य से मिलाने में असफल रह जाय। साधना उसे नहीं कहते कि जिसको अपनाने में साधक को कठिनाई महसूस हो, प्रत्युत साधना उसे कहते हैं जिसकी अभिव्यक्ति साधक के लिये इतनी सहज एवं स्वाभाविक हो जाती है कि कभी यह भास नहीं होता कि मैं साधना करना चाहता हूँ और मुझसे हो नहीं रही है, जैसे कोई ईश्वर-विश्वासी यह कहे कि मेरा मन पहले भगवान में लगता था अब नहीं लगता है, तो इससे यह समझना चाहिये कि उसकी साधना का निर्माण ही नहीं हुआ। जब साधना का निर्माण हो जाता है तो मन लगने और हटने का प्रश्न शेष नहीं रहता। साधक की साध्य के प्रति आत्मीयता सजीव होते ही उसका मन सर्वेन्द्रियों सहित साध्य में सदा के लिये स्वतः लग जाता है, लगाने का प्रयास शेष नहीं रहता। तभी साधना अखण्ड होती है। अखण्ड साधना ही साधक को साध्य से मिलाती है।

संघ की विचारधारा के अनुसार प्रत्येक साधक की साधना उसके व्यक्तित्व में से अभिव्यक्त होकर उसके सम्पूर्ण अहम् को आत्मसात् कर लेती है। ऐसी साधना किसी क्रिया पर आधारित नहीं हो सकती। यह तो वह जीवनी-शक्ति है जो बुराइयों के त्याग से शुद्ध होकर साध्य की ओर लग जाती है। क्रियात्मक साधना अखण्ड नहीं हो सकती। शरीरों पर आधारित क्रियाओं के फलस्वरूप साधक के व्यक्तित्व में अलौकिक जीवन का अनुभव उद्भूत नहीं हो सकता। क्रिया में जब साधक के अविनाशी ज्ञान और प्रेम का पुट रहता है तो आगे चल कर अविनाशी तत्त्व विकसित होते चले जाते हैं। उनकी सरसता में साधना का क्रियात्मक पक्ष गौण होता जाता है और अंत में सब क्रियायें भाव में विलीन हो जाती हैं। तभी साधना सफल होती है। इस कारण मानव-सेवा-संघ ने साधना सम्बन्धी बाह्य क्रियाओं की चर्चा नहीं की। वस्तुतः बाह्य क्रियाओं की चर्चा आवश्यक भी नहीं है, क्योंकि जिसने सेवा के लिये प्राणि-मात्र को किसी-न-किसी नाते अपना माना, उसके द्वारा बुराई-रहित भलाई होने ही लगेगी। जिसने तीनों शरीरों से सम्बन्ध तोड़ लिया अथवा अपने साध्य से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार कर लिया, उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति राग-निवृत्ति का साधन एवं प्रेमास्पद की पूजा

हो ही जायेगी। इस दृष्टि से साधन में प्रधानता उदारता, असंगता एवं आत्मीयता की है न कि किसी क्रिया-विशेष की।

साधन के क्रियात्मक विधि-विधानों के प्रति प्रचलित प्रथा के कारण कुछ साधक ऐसा कहने लगते हैं कि मानव सेवा संघ में केवल सैद्धान्तिक साधना की बात कही जाती है, व्यावहारिक कुछ नहीं बताया जाता। इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि मानव सेवा संघ जिस अर्थ में साधन को लेता है वही व्यावहारिक है, और कुछ भी व्यावहारिक नहीं है। जैसे, ममता और कामना का त्याग करने से शान्ति का सम्पादन स्वतः होता है। ममता और कामना रखते हुए मन और चित्त को शान्त करने का कोई अभ्यास कभी सफल नहीं होता। अतः अभ्यास पर आधारित साधना व्यावहारिक (Practical) नहीं है। ईश्वर में मन लगाने का प्रयास किया जाय और मन इधर-उधर भटकता रहे, इसको व्यावहारिक कहेंगे कि मन-सहित सर्वस्व को भगवत्-समर्पित करके उनकी कृपा-शक्ति की गोद में विश्राम लिया जाय, इसको व्यावहारिक कहेंगे? विचारक-जन स्वयं विचार करें। संघ द्वारा प्रतिपादित साधना-प्रणाली इतनी व्यावहारिक है कि एक बार आरम्भ होकर वह साधक-सहित साधन में विलीन ही हो जाती है, बीच में कभी खण्डित नहीं होती।

एक अंग्रेज युवक साधक एक बार श्री महाराजजी के पास आया और उसने कहा, 'मुझे आप मेडीटेशन (ध्यान करना) सिखा देंगे?' श्री महाराजजी ने कहा—'नहीं।' उसने पूछा—'क्यों?' श्री महाराजजी ने उत्तर दिया—'तुमसे नहीं होगा, यों।'

जो करने से होता नहीं है वह व्यावहारिक है या जो स्वतः होता है वह व्यावहारिक है? संघ के अनुसार असत् के संग के त्याग से चित्त-वृत्तियों का निरोध स्वतः होता है, साध्य से मिलने की उत्कण्ठा जग जाने पर साध्य में ध्यान स्वतः लग जाता है। इसी कारण साधकों को यह परामर्श दिया गया कि बुराई-रहित हो जाओ, भलाई होने लगेगी। ममता, कामना छोड़ दो, शान्ति मिल जायगी। अहम् का अभिमान गला दो, स्वाधीन जीवन मिल जायगा। प्रभु को अपना मान लो, ध्यान-पूजन-भजन

स्वतः होगा। यही स्वाभाविक है, यही हो सकता है, यही होता है। बाकी सब कुछ अव्यावहारिक (Impractical) है। फिर भी संघ का कोई आग्रह नहीं है कि सभी संघ की साधना-प्रणाली अवश्य मानें। संघ साधक-मात्र का परम हितैषी सेवक है। जीवन का सत्य जो अनुभव में आया, परम कारुणिक संत ने उसे आपकी सेवार्थ प्रणाली के रूप में युक्तियुक्त ढंग से प्रस्तुत कर दिया। आपको रुचे, जँचे, पसंद आये तो मानें। इसे मानेंगे तो आपका भला अवश्य होगा।

इन्द्रिय-दृष्टि का सदुपयोग सेवा में और बुद्धि-दृष्टि का सदुपयोग राग-रहित होने में है।

संलग्नक—ख

मानव सेवा संघ की साधना-प्रणाली

—प्रो० देवकीजी

मानव सेवा संघ के अनुसार साधना की नहीं जाती, सत्संग के प्रभाव से साधना निर्मित होती है और व्यक्ति के व्यक्तित्व में से साधन-तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है। साधक होने के लिये सत्संग करना अनिवार्य है। सत्संग क्या है ? जीवन के सत्य को स्वीकार करना 'सत्संग' है। जीवन का सत्य क्या है ? 'देह' मैं नहीं हूँ, 'देह' मेरी नहीं है, यह जीवन का सत्य है। दृश्य-मात्र से मेरा नित्य सम्बन्ध नहीं है, यह जीवन का सत्य है। जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है उसकी ममता और कामना के त्याग से अशान्ति और पराधीनता का नाश होता है, यह जीवन का सत्य है। प्राप्त सामर्थ्य के द्वारा पर-पीड़ा में हाथ बँटाने से उदारता और करुणा का रस बढ़ता है जो अहम् की शुद्धि में हेतु है, यह जीवन का सत्य है। जिससे नित्य सम्बन्ध है, उस बिना देखे, बिना जाने परमात्मा में आस्था, श्रद्धा, विश्वास-पूर्वक आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करने से उस नित्य-प्राप्त की प्रीति जाग्रत होती है, यह जीवन का सत्य है। अपने जाने हुए असत् के त्याग से असाधनों का नाश स्वतः होता है और जीवन के सत्य को स्वीकार करने से व्यक्ति के व्यक्तित्व में विद्यमान अलौकिक तत्त्वों का विकास होता है। मानव सेवा संघ में इन्हीं दोनों बातों को साधक का परम पुरुषार्थ बताया गया है।

साधक होने के लिये व्यक्ति को किसी बाह्य वस्तु, व्यक्ति, अवस्था,

परिस्थिति की अपेक्षा नहीं है। व्यक्ति के व्यक्तित्व में ही विद्यमान भाव-शक्ति, विचार-शक्ति और कार्य-क्षमता के आधार पर साधना का निर्माण होता है। कार्य-क्षमता के आधार पर साधना क्या है? प्राप्त बल का दुरुपयोग न करना एवं निकटवर्ती जन-समुदाय की यथा-शक्ति क्रियात्मक सेवा करना साधना है। मन से, वचन से, कर्म से बुराई-रहित होकर सद्भाव-पूर्वक सभी को सहयोग देना कर्म-क्षेत्र की साधना है। इसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप है दुखी-मात्र के दुख से करुणित होना एवं सुखी-मात्र के सुख से प्रसन्न होना। करुणा और प्रसन्नता उदारता है। उदारता साधन-तत्त्व है, इसी के आधार पर कर्तव्यनिष्ठ साधक को विश्व-प्रेम प्राप्त होता है, जो साधना की सफलता है।

विचार-शक्ति के आधार पर दृश्य जगत में 'मेरा कुछ नहीं है' और 'मुझे कुछ नहीं चाहिये', ऐसा जान कर किये हुए सर्व-हितकारी कर्म के फल तथा कर्तापन के अभिमान को छोड़ना साधना है। निर्मम, निष्काम होने से स्वतः ही शरीरों से असंगता होती है। अकिंचन, अचाह होकर अप्रयत्नपूर्वक अहंकृति-रहित होना विचारक साधक की साधना है। असंगता से चिर-विश्राम और स्वाधीनता आती है, ये साधन-तत्त्व हैं। ये साधन-तत्त्व व्यक्ति के व्यक्तित्व में से ही अभिव्यक्त होते हैं और इन्हीं के द्वारा साधक दिव्य-चिन्मय जीवन से अभिन्न हो जाता है।

भाव-शक्ति के आधार पर बिना देखे, बिना जाने, परमात्मा से आत्मीय सम्बन्ध को स्वीकार किया जाता है। इस स्वीकृति से जो अपने ही में विद्यमान है उसकी मधुर-स्मृति जाग्रत होती है। मधुर-स्मृति का जाग्रत होना विश्वासी साधक की साधना है। इस स्मृति के जाग्रत होते ही साधक के जीवन की नीरसता का नाश हो जाता है। प्रिय की मधुर-स्मृति विश्वासी साधक के सम्पूर्ण अहम् को प्रेम की धातु में रूपान्तरित कर देती है। विश्वासी साधक प्रेम होकर प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाता है, यह उसकी साधना की सफलता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि मानव सेवा संघ ने व्यक्ति के व्यक्तित्व के तीनों पहलुओं पर आधारित तीन साधन-प्रणालियों का प्रतिपादन किया है। कार्य-क्षमता के आधार पर कर्तव्य-पथ, विचार-शक्ति

के आधार पर ज्ञान-पथ एवं भाव-शक्ति के आधार पर भक्ति-पथ—इन तीनों ही साधन-प्रणालियों को समान रूप से महत्त्वपूर्ण माना गया है। किसी प्रणाली को सहज और किसी को कठिन नहीं माना गया। किसी को अधिक और किसी को कम महत्त्वपूर्ण नहीं माना गया।

श्री महाराजजी ने तो ऐसा कहा है कि साधक चाहे किसी प्रणाली से साधना आरम्भ करे, लक्ष्य की प्राप्ति में उसे वही जीवन मिलता है जो आज तक किसी भी सिद्ध पुरुष को मिला है। भाव, विचार और कर्म एक ही व्यक्तित्व के अनिवार्य पहलू (Component Parts) हैं। फलस्वरूप कर्तव्य-पथ, ज्ञान-पथ और भक्ति-पथ में परस्पर विरोध नहीं है, प्रत्युत तीनों ही एक दूसरे के सहायक हैं। कर्तव्य-पथ के साधक में सही प्रवृत्ति के बाद सहज निवृत्ति की शान्ति स्वतः अभिव्यक्त होती है। मानव सेवा संघ के सिद्धान्त में कर्तव्य-विज्ञान का उत्तर-पक्ष योग बताया गया है। योग में बोध, एवं बोध में प्रेम स्वतः अभिव्यक्त होता है। योग-बोध-प्रेम में जीवन की पूर्णता है। विचार-पथ की प्रणाली से भी वही सत्य मिलता है जो विश्वास-पथ की प्रणाली से मिलता है। विचारक जान कर मानता है और विश्वासी मान कर जानता है। विचारक की अन्तिम परिणति में बोधमय प्रेम-रस रहता है और विश्वासी की अन्तिम परिणति में रसमय बोध रहता है।

जीवन के इस अनुभूत सत्य को लेकर संघ के प्रणेता ने संघ की साधना-प्रणाली में किसी भी प्रणाली विशेष का आग्रह अथवा विरोध नहीं किया। मानव सेवा संघ की साधना-प्रणाली एकदेशीय नहीं है, सर्वदेशीय है। साधक को पूरी स्वाधीनता है कि वह अपने व्यक्तित्व की बनावट के अनुसार रुचि, योग्यता एवं परिस्थिति का उपयोग करते हुए, जिस प्रणाली का साधक बनना चाहे, बन सकता है। संघ ने प्रत्येक साधक को अपनी आँखों देखने और अपने पैरों चलने का परामर्श दिया है। एकदेशीय साधना-प्रणाली के प्रचार और आग्रह से साधकों में साधन-तत्त्व का विकास नहीं होता, जिससे साधन में असफलता रहती है। सत्संग के आधार पर असाधनों का नाश और साधनों की अभिव्यक्ति होने देने का जो महत्त्वपूर्ण, अनिवार्य क्रम है, उसका अनुसरण न करके ऊपर से साधना सीख-सीख कर अभ्यास

करने में साधकों के बहुत से समय और शक्ति का अपव्यय होता रहता है। साधक-समाज को इस क्षति से तथा साधन में असफलता की पीड़ा से मुक्त करने के लिये मानव-सेवा-संघ ने मानव-जीवन के विशुद्ध वैज्ञानिक, दार्शनिक एवं आस्तिक तत्त्वों पर साधना-प्रणालियों का निर्माण किया है।

साधक-समाज की कठिनाई को दूर करने के लिए यह सुझाव दिया गया है कि साधक को अपने व्यक्तित्व में उत्पन्न हुए असाधनों का नाश अनिवार्यतः करना चाहिए। असाधन के रहते जब साधन करने का प्रयास किया जाता है तो बड़ी कठिनाई होती है, जैसे :—

(क) सुख-स्वार्थ के विकारों का नाश किये बिना, सुविधा और सन्मान की इच्छा का त्याग किये बिना, जन-समाज की सेवा नहीं बनती है। निस्पृह भाव से निर्मम होकर प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग जन-हितकारी कार्य में किये बिना राग निवृत्त नहीं होता। राग-रहित हुए बिना योग, बोध, प्रेम संभव नहीं है।

(ख) देह में से जीवन-बुद्धि का नाश किये बिना शरीरों से असंग होने की चेष्टा की जाय तो यह संभव नहीं होता। शरीर और संसार की ममता और कामना का त्याग किये बिना व्यर्थ चिन्तन का नाश नहीं होता।

(ग) विवेक-विरोधी सम्बन्ध एवं विश्वास का त्याग किये बिना भगवत्-विश्वास एवं भगवत्-सम्बन्ध सजीव नहीं होता। भेद-बुद्धि से उत्पन्न राग-द्वेष का नाश किये बिना हृदय सरस नहीं होता। गुणों के अभिमान का त्याग किये बिना अहम् अभिमान-शून्य नहीं होता।

मानव सेवा संघ ने असाधन के नाश पर बहुत जोर दिया है। कभी-कभी साधना-सम्बन्धी विचार करते समय कुछ विचारक ऐसा कहने लगते हैं कि मानव सेवा संघ ने निषेधात्मक साधना-प्रणाली का प्रतिपादन किया है, परन्तु यह बात इस रूप में सही नहीं है। यदि हम ऐसा कहें तो संघ की साधना-प्रणाली को एकदेशीय और सीमित कर देने के हम दोषी होंगे। संघ ने यह कहा है कि असाधन के साथ-साथ किया गया साधन सफल नहीं

होता। इस कारण साधक-समाज को असाधनों के नाश का पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिए, उदहरणार्थ—बल का दुरुपयोग नहीं करना चाहिये, विवेक का अनादर नहीं करना चाहिये, ईश्वर-विश्वास में विकल्प नहीं करना चाहिये, प्राप्त गुणों एवं साधन के फल का अभिमान लेकर अहम् को पोषित नहीं होने देना चाहिये, श्रद्धा में तर्क और तर्क में श्रद्धा नहीं मिलाना चाहिये। इन उपायों से जब असाधनों का नाश हो जायगा तब साधक के व्यक्तित्व की बनावट के अनुसार, उसकी अपनी निजी निष्ठा के अनुसार विध्यात्मक (Positive) साधना स्वतः अभिव्यक्त होगी। उसकी साधनरूपा स्वीकृति में सजीवता आयेगी, जिसके आने पर ही साधक की साधना सहज एवं स्वाभाविक होती है, अन्यथा नहीं। इस दृष्टि से ऐसा नहीं कहा जा सकता कि मानव-सेवा-संघ की साधना-प्रणाली निषेधात्मक है। साधक-समाज का अनुभव है और मानव-जीवन का सत्य है कि साधन-रूपा स्वीकृतियों को विकसित करके साधन-तत्त्व के रूप में बदल डालने के लिये असाधन-रूपा स्वीकृतियों का त्याग अनिवार्य है। अतः मानव सेवा संघ ने साधन-तत्त्व की अभिव्यक्ति के लिये असाधन के नाश को महत्त्वपूर्ण बताया है। वस्तुतः साधक-समाज को असाधन के नाश के अतिरिक्त और कोई पुरुषार्थ नहीं करना है।

इस दिशा में विचारणीय मुद्दा यह भी है कि करने वाली बातें (विध्यात्मक साधना) हर साधक की अलग-अलग हो सकती है। इतना ही नहीं, विध्यात्मक साधना दो साधकों की भी सर्वांश में समान नहीं होती। प्रत्येक साधक की विध्यात्मक साधना अपने निजी ढंग की होती है और होनी चाहिये। उसी से उसको सफलता मिलती है। पर नहीं करने वाली बातें साधक मात्र के लिये समान रूप से त्याज्य हैं। मानव सेवा संघ ने उन बातों को चुनकर साधक-समाज के सामने रखना पसंद किया जो समान रूप से सबके लिये अनुसरणीय हैं, जिनको पूरा किये बिना किसी साधक को किसी साधना से सफलता नहीं मिल सकती एवं जिनको पूरा करने में साधक मात्र समर्थ तथा स्वाधीन भी है। इतना ही नहीं, न करने वाली बातों को छोड़ देने पर करने वाली बातें सहज स्वभाव से होने लगती हैं। असाधन उत्पन्न करने वाली भूलों का त्याग कर देने पर साधक के लिये

साधना सहज स्वाभाविक हो जाती है। असाधनों का त्याग ऐसी अपरिहार्य साधना है कि संघ के प्रणेता, श्री महाराजजी ने अनेक स्थलों पर कहा है कि "साधना माने क्या ? बुराई-रहित होना।"

मानव सेवा संघ की साधना-प्रणाली में मूक-सत्संग विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। मूक हो जाना अर्थात् कुछ न चाहना, कुछ न करना, एवं अप्रयत्न होकर अहंकृति-रहित होना। असत् से छूट कर सत् से अभिन्न होने के लिये, आसक्ति से मुक्त होकर भक्ति में डूबने के लिये, अनित्य से असंग होकर परम स्वाधीन अपरिच्छिन्न दिव्य चिन्मय रसरूप जीवन से अभिन्न होने के लिये, सभी प्रणालियों के साधकों के अहम् का अभिमान-शून्य होना अनिवार्य है। इसकी अनिवार्यता को ध्यान में रखकर संघ के प्रणेता ने मूक-सत्संग की साधना का प्रतिपादन किया। ईश्वरवादी, अनीश्वरवादी, भौतिकवादी, अध्यात्मवादी, हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, बौद्ध, सिख, जैन, पारसी आदि सभी मत, सम्प्रदाय, एवं प्रणालियों के साधकों के लिये मूक-सत्संग अनिवार्य है एवं निर्विरोध है। अनिवार्य इस दृष्टि से है कि जब तक साधक की जीवनी-शक्ति जो बाह्य प्रवृत्तियों में बहती रहती है, बाहर की ओर से अन्तर्मुख होकर शान्ति के सन्धि-स्थल पर घनीभूत न हो जाय तब तक उसमें उद्गम की ओर स्वतः गति उत्पन्न ही नहीं होती, जिसके बिना साधक का शुद्ध सात्विक साधनमय अहम् साध्य से अभिन्न नहीं हो सकता। इसलिये मूक सत्संग अनिवार्य है। निर्विरोध इसलिये है कि यह शुद्ध जीवन-विज्ञान, जीवन-दर्शन और जीवन की आस्तिकता पर आधारित है। इसमें किसी प्रकार की सीमा नहीं है। शुद्ध विचारक को विचार के आधार पर कर्म-चिन्तन से मुक्त होकर अप्रयत्न एवं अहंकृति-रहित होना अभीष्ट है। ईश्वरवादी शरणागत साधक को अपने सहित सब कुछ शरण्य के समर्पित कर सब प्रकार से उनके आश्रित होकर अप्रयत्न एवं अहंकृति-रहित होना अभीष्ट है। अनीश्वरवादी को भी व्यर्थ चिन्तन से मुक्त होकर निर्विकारता की चिर-शान्ति अभीष्ट है। सब प्रकार के साधकों का अभीष्टदाता मूक सत्संग है। आज तक के सभी महापुरुषों के जीवन में, अनुभव एवं कथन में, मूक सत्संग विद्यमान रहा है, भले ही उन्होंने इस तथ्य को 'मूक-सत्संग' के नाम से सम्बोधित किया हो अथवा नहीं

किया हो। सब कुछ को कुछ नहीं में विलीन कर स्वयं को अहं-शून्य करना सबने स्वीकार किया है, क्योंकि यह जीवन का सत्य है। इस रूप में मानव-सेवा-संघ ने एक विश्वजनीन साधन-प्रणाली को साधक-समाज के लिये प्रस्तुत किया है।

साधना-सम्बन्धी सबसे ऊँची और अन्तिम बात है साध्य से अभिन्न होने की तीव्र माँग की जागृति। श्री महाराजजी ने कहा है कि साध्य से मिलने के लिये अत्यन्त व्याकुल हो जाना सबसे बड़ी साधना है। जो सत्य है, नित्य है, आनन्द-स्वरूप है, प्रेम-रस का अनन्त सागर है, वह अपने ही में है। वह सभी का है, समर्थ है, सर्वत्र सदैव विद्यमान है। उसकी माँग जब तीव्र हो जाती है, तो माँग की तीव्रता साधक के भूतकाल की सब वासनाओं का नाश कर देती है। चूँकि जिसकी माँग साधक में जगती है वह नित्य तत्त्व साधक में ही विद्यमान है, इसलिये माँग की तीव्र जागृति में ही माँग की पूर्ति निहित है। आवश्यकता का जागृत होना और साध्य का प्रत्यक्ष होना युगपत् है। इस दृष्टि से साधक को, सबसे बड़ा पुरुषार्थ, यही करना है कि उसके अनेक संकल्प, अनेक इच्छायें-कामनायें एक साध्य से मिलने की आवश्यकता में विलीन हो जावें। साध्य से मिलने की उत्कट अभिलाषा में साध्य के समान ही सरस आकर्षण है। एक बार उत्कट अभिलाषा जागृत हो जाय तो साधक का सम्पूर्ण अहम् अभिलाषा-स्वरूप ही हो जाता है। जैसे सूखी लकड़ी जल की धारा में अनायास ही बहती हुई अपने गन्तव्य पर पहुँच जाती है, वैसे ही साध्य से मिलन की उत्कट अभिलाषा जाग्रत होने पर साधक की सम्पूर्ण जीवनी-शक्ति स्वतः साध्य की ओर प्रवाहित होने लगती है। फिर साधक और साध्य में कोई भेद नहीं रह जाता। इसी आधार पर अनुभवी जन साधन-तत्त्व को महत्त्व देते हैं। मेरे विचार से साधना वही सार्थक है जो साधक के जीवन में उत्साह भर दे और नीरसता का नाश कर दे। साधन-काल में ही साधक बाह्य वस्तुओं, व्यक्तियों एवं अन्य साधन-सामग्रियों की अपेक्षा न रख कर अपने आप में ही नित्य जीवन की उपस्थिति की अनुभूति में मस्त रहने लग जाय।

इस दृष्टि से मानव सेवा संघ प्रत्येक साधक को परामर्श देता है कि

अपनी ओर देखो, तुम्हारे व्यक्तित्व में से असाधन का नाश हो गया कि नहीं ? साधन तत्त्व का विकास हो रहा है कि नहीं ? अहम् का अभिमान गला कि नहीं ? साध्य से मिलने के लिये व्याकुलता बढ़ रही है कि नहीं ? यह सब हो रहा है तो साधना ठीक है, और नहीं तो कहीं कुछ भूल है जिसका निराकरण अनिवार्य है। साधना वही है जो साध्य से मिला दे।

साधन का आरम्भ चाहे जिस पद्धति के अनुसार हो, परन्तु अन्त में तो सभी साधन एक होकर उस साध्य से अभिन्न हो जाते हैं जो वास्तविक जीवन है।

साधन-सूत्र : 35

सत्संग का अर्थ और स्वरूप

सत्संग का शाब्दिक अर्थ तो है सत् (सत्य) का संग अर्थात् सत्य के संग होना। वास्तव में जब हम असत् का त्याग कर देते हैं तब हम सत् के संग हो जाते हैं, वैसे हम सत् से कभी अलग हो ही नहीं सकते, सत् के संग नित्य रहते ही हैं। अतः कह सकते हैं कि असत् के रहते सत् से विमुखता होती है। सत्संग से सत् के प्रति सम्मुखता हो जाती है।

प्रचलित भाषा में सत्–चर्चा को ही लोग सत्संग कहते हैं। पर देवकी बहिन जी ने कहा है– "वक्ता और श्रोता मिलकर सत्य का विवेचन करते हैं। इस गोष्ठी को भी सत्संग कहते हैं। स्वामी शरणानन्द जी ने सत्य के विवेचन को सत्–चर्चा, सत्य के सम्बन्ध में सोचने– विचारने को सत्–चिन्तन कहा है और सर्व–हितकारी कार्य को सत्–कार्य कहा है। सत्–चर्चा, सत्–चिन्तन और सत्–कार्य सत्संग नहीं है। वे सत्संग के सहयोगी हो सकते हैं।"

स्वामी जी ने 'मूक–सत्संग तथा नित्य–योग' नामक पुस्तक में सत्संग और सत्चर्चा–सत्चिन्तन के भेद को समझाया है। वह नीचे उद्धरित है:–

"सत् की चर्चा, उसके चिन्तन एवं सत् के संग में बड़ा भेद है। **सत् की चर्चा तथा उसका चिन्तन श्रम साध्य है, किन्तु सत् का संग श्रम–रहित होने से ही सम्भव है।** सत् की चर्चा तथा चिन्तन करने के लिए मानव को शरीर इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की अपेक्षा होती है, कारण कि श्रम का सम्पादन शरीरादि के बिना सम्भव नहीं है, किन्तु सत् का संग करने के लिए शरीर के सहयोग की आवश्यकता नहीं होती। वह तो श्रम–रहित होने पर अपने आप हो जाता है। जब तक साधक उन्हीं प्रवृत्तियों को महत्व देता है, जिनके लिए उसे वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि की आवश्यकता होती है, **तब तक विश्राम से साध्य, सत् का संग नहीं होता।** .....सत् की चर्चा तथा उसके चिन्तन से सत्संग की अभिरुचि जागृत होती है, सत् का संग नहीं होता, अर्थात् सत्संग की माँग सबल होती है। **सत्संग की माँग में असत् के त्याग की सामर्थ्य निहित**

है। .....सत्संग का प्रभाव शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि पर स्वतः होता है।"

"विवेचन और चिन्तन के बाद जब व्यक्ति असत् के संग का त्याग कर देता है और जीवन के सत्य को स्वीकार कर लेता है तब उसके व्यक्तित्व में आमूल परिवर्तन तत्काल हो जाता है। यही सत्संग का फल है। मानव सेवा संघ मानव–समाज को इसी अर्थ में सत्संग को अपनाने की प्रेरणा देता है।"

एक प्रकार से सचेत किया गया है कि "सत्–चर्चा और सत्–चिन्तन को ही सत्संग मान लेने से सफलता नहीं मिलती।"

वास्तविक सत्संग क्या है इसे अनेक प्रकार से समझाया गया है–

- प्राप्त विवेक के प्रकाश में जाने हुए असत् का त्याग **सत्संग** है।
- जीवन के सत्य को स्वीकार करना **सत्संग** है।
- निज विवेक का आदर करना **सत्संग** है।
- भूल को भूल जानकर उसका त्याग कर देना **सत्संग** है।
- ज्ञान के आधार पर अकिंचन या अचाह होकर अप्रयत्न हो जाना **सत्संग** है।
- **सत्संग का अर्थ है**–विवेक–विरोधी कर्म, विवेक–विरोधी सम्बन्ध व विवेक–विरोधी विश्वास का त्याग।
- आस्था के आधार पर सुने हुए प्रभु के अस्तित्व, महत्व एवं अपनत्व को स्वीकार करके निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाना **सत्संग** है।

मानव सेवा संघ दर्शन में, "सत्संग मानव का स्वधर्म बताया गया है। स्वधर्म के पालन में व्यक्ति सर्वदा समर्थ एवं स्वाधीन है। .....सत् के संग में व्यक्ति सदैव रहता है। सत् उसे नहीं कहते जो सदैव, सर्वत्र और सभी में न हो। सत् ही सर्व उत्पत्ति का आधार और सर्व प्रतीति का प्रकाशक है। अतः सत् से कोई व्यक्ति अलग नहीं हो सकता। **अपने जाने हुए असत् के संग से उत्पन्न हुए विकारों के कारण व्यक्ति को नित्य विद्यमान सत् की विद्यमानता का आनन्दमय अनुभव नहीं होता।**"

"मानव सेवा संघ ने असत् के संग–जनित विकारों के नाश को ही साधक का परम पुरुषार्थ बताया है। यह जीवन का सत्य है कि **असत् के संग का त्याग कर देने पर, अर्थात् विवेक–विरोधी कर्म, सम्बन्ध और विश्वास का त्याग कर देने पर व्यक्ति के अहम् रूपी अणु में विद्यमान सत्य प्रत्यक्ष हो जाता है।**

असत् के त्याग में सत् का संग निहित है, मानव सेवा संघ के अनुसार सत्संग का यही अर्थ है।"

स्वामी शरणानन्द जी ने 'सत्संग' की व्याख्या इस प्रकार भी किया है:–

"सत्संग तीन प्रकार का होता है:–

(क) **कर्तव्यनिष्ठ होने का सत्संगः** इस सत्य को स्वीकार करो कि सभी अपने हैं–निज स्वरूप हैं; तो सुखी को देखकर प्रसन्न हो जाओगे, दुःखी को देखकर करुणित हो जाओगे। **करुणा से भोग की रुचि का नाश व प्रसन्नता से नीरसता का नाश होगा।**

(ख) **ज्ञानी का सत्संगः** मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिये।

(ग) **ईश्वर विश्वासी का सत्संगः** प्यारे प्रभु मेरे अपने हैं, अपने में हैं और कण–कण में व्याप्त हैं।

यह तीनों प्रकार का सत्संग स्वधर्म है।

सत्संग की तीन विधियां बतायी गई हैं:–

(क) **मूक और व्यक्तिगत सत्संग–**

"व्यक्ति सोकर जागते ही प्रातःकाल ब्रह्म–मुहूर्त में शान्त होकर अपने सम्बन्ध में विचार करे, अपने लक्ष्य को स्पष्ट करे, वर्तमान में जो दोष दिखाई दें उनका त्याग करे, निर्दोषता की शान्ति में अहंकृति रहित होकर निवास करे। अहंकृति रहित होने से जीवन के मंगलमय विधान के अनुसार शरीरों से तादात्म्य तोड़ने की सामर्थ्य आ जाती है। अशरीरी जीवन का अनुभव हो जाता है।"

नोट1: आदर्श समय तो यही है, परन्तु यदि अपनी अपरिहार्य दिनचर्या के कारण प्रातःकाल यह सम्भव नहीं है तो रात्रि में सोने से पहले इसे अपनाया जा सकता है अन्यथा अपनी दिनचर्या के बीच जो निवृत्ति काल हो जब अपने को कुछ भी नहीं करना है, तब यह सत्संग अपनाया जा सकता है। मुख्य बात यह है कि यह सब इस बात पर निर्भर करेगा कि इस विधि पर कितना दृढ़ विश्वास है कि इससे मुझे नित्य, अविनाशी, रसरूप जीवन प्राप्त होगा और इस जीवन को प्राप्त करने के प्रति कितनी तीव्र उत्कण्ठा (भूख) है।

नोट 2. ऊपर शब्द आये हैं 'अहंकृति रहित होकर'। अहंकृति रहित होने का अर्थ है कर्तृत्व (कर्तापन) का अभिमान न हो–क्रिया जनित सुख का भोग न हो और कर्म के फल में आसक्ति न हो।

(ख) **पारिवारिक सत्संग–**

"पारिवारिक जीवन में चौबिस घंटे में

कोई एक समय ऐसा निकालना चाहिए कि जिसमें परिवार के सभी सदस्य प्रेमपूर्वक एवं साथ बैठकर जीवन के सत्य पर विचार कर सकें। पारस्परिक पारिवारिक व्यवहार की कठिनाइयों एवं मतभेदों को दूर करने के लिए अपनी–अपनी भूलों को जान सकें और उनका त्याग करने का व्रत लें। प्रेमपूर्वक सर्व–हितकारी भाव से प्रार्थना करें। इस योजना से परिवार के भीतर गलतफ़हमी के कारण उत्पन्न होने वाले वैमनस्य का अन्त होता है और एक दूसरे के सह–संकल्प से शुभ विचारों को पुष्टि मिलती है, परिवार के अन्य सदस्यों के अधिकारों की रक्षा करने में अपनी–अपनी कर्तव्यनिष्ठा की पुष्टि होती है। ये सभी बातें आंतरिक और व्यवहारिक उन्नति में सहयोगी हैं।'' तत्पश्चात् थोड़ी देर के लिये सभी लोग भीतर बाहर से शान्त हो जायें–मूक हो जायें। मूक होकर सत् के संग हों। (इसके सम्बन्ध में साधन–सूत्र–37 पढ़ें)

(ग) **सामूहिक सत्संग–**

''जब कभी हम सामूहिक सत्संग के लिए एकत्रित हों तो अनेक प्रकार की भिन्नता होते हुए भी साध्य की एकता के नाते मूक होकर सर्वात्मभाव की पुष्टि करें। प्रीति की एकता ही सामूहिक उन्नति की नींव है। मानव सेवा संघ ने इस प्रीति की एकता को सुरक्षित रखने पर बहुत ज़ोर डाला है।''

अन्त में सत्संग की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि–

''मानव के जीवन में सत्संग का महान फल होना बताया है। मानव सेवा संघ की पद्धति में शान्ति, मुक्ति, भक्ति को सत्संग से साध्य माना गया, अभ्यास से नहीं। **सत्संग कर लेने पर साधन, ध्यान, भजन आदि स्वतः होने लगते हैं।** इसके विपरीत सत्संग किये बिना किसी प्रकार की साधना का प्रयास असफल ही रहता है। **क्रियात्मक साधना के अभ्यास से व्यक्ति की उस क्रिया विशेष में आसक्ति हो जाती है, उससे अपने वास्तविक जीवन की अभिव्यक्ति नहीं होती।**''

नोट– इससे स्पष्ट है कि सत्संग कोई अभ्यास या अनुष्ठान नहीं है।

''ज्ञान के आधार पर किये हुए सत्संग का फल 'साधन' है और आस्था के आधार पर किये हुए सत्संग का फल 'भजन' है।''

■

साधन-सूत्र : 36

'मैं' हूँ क्या?

पिछले कुछ साधन–सूत्रों में इस बात की चर्चा हो चुकी है कि 'मैं' देह नहीं हूँ और देह मेरी नहीं है। कोई कहे कि ठीक है, मैंने समझ भी लिया और स्वीकार भी कर लिया कि 'मैं' देह नहीं हूँ, पर यह प्रश्न् करना स्वाभाविक है कि देह नहीं हूँ तो फिर हूँ क्या?

पारम्परिक व्याख्याओं में इस सम्बन्ध में आत्मा–परमात्मा अथवा ब्रह्म–जीव की चर्चा होती है। परन्तु 'मैं' आत्मा हूँ या 'मैं' जीव हूँ का अनुभव नहीं है, सुनी हुई बात है। इसके विपरीत शरीर, परिस्थिति, अवस्था से परे 'मैं' कुछ हूँ, इस मैंपन का भास का अनुभव हर व्यक्ति को होता है।

मानव सेवा संघ दर्शन में इस प्रकरण में तीन शब्दों का प्रयोग होता है, यथा- 'यह', 'मैं', और 'वह'। 'वह' को ही 'है' नाम से भी कहा जाता है। 'यह' उसे कहते हैं जो पर–प्रकाश्य है, जिसकी प्रतीति होती है। जो अविनाशी परम–सत्ता (किसी भी नाम से पुकारें–ईश्वर–परमात्मा– ब्रह्म) जो नित्य है उसी को 'है' कहते हैं। वही सर्व प्रतीतियों का प्रकाशक है, उसे ही 'वह' भी कहा है।

ब्रह्मनिष्ठ संत स्वामी शरणानन्द जी द्वारा प्रणीत मानव सेवा संघ के दर्शन में इस विषय की कैसे व्याख्या की गई है, नीचे प्रस्तुत है–

'' 'मैं', 'यह' और 'वह' तीनों सत्ताओं में 'यह' और 'वह' का सैद्धान्तिक विवेचन गौण रखकर 'मैं' का दार्शनिक विश्लेषण प्रमुख रूप से किया गया है। 'मैं' को ही 'यह' की प्रतीति होती है, 'मैं' में ही 'वह' की जिज्ञासा और प्रिय–लालसा जगती है। अतः मानव सेवा संघ के दर्शन का प्रतिपादन व्यक्ति के अहम रूपी अणु के अध्ययन से आरम्भ किया जाता है। असाधन–काल में व्यक्ति को जगत सत्य और सुख रूप प्रतीत होता है। साधन–काल में उसी व्यक्ति के अहम रूपी अणु में जब परिवर्तन आता है तो 'यह' की सत्यता और सुख–रूपता मिट जाती है। साधक जगत के आकर्षण से मुक्त होकर निर्मम, निष्काम होकर प्राप्त परिस्थिति का साधन–सामग्री के रूप में उपयोग करने

लगता है। उसी साधक में जब शरीरों से असंग होने की सामर्थ्य आ जाती है, तब प्रतीत होने वाला जगत नहीं रहता। 'यह' की प्रतीति लुप्त हो जाती है और 'वह' की विद्यमानता प्रत्यक्ष हो जाती है।.....मानव सेवा संघ के प्रणेता ने मानव–दर्शन में 'मैं' के विवेचन को ही प्रधान, अनिवार्य, उपयोगी और सर्वाधिक व्यवहारिक माना है। संघ के दर्शन के अनुसार–**अहम्रूपी अणु में जगत का बीज भी है, सत्य की खोज भी है और परम–प्रेम की लालसा भी है।** तीनों ही तत्व अहम रूपी अणु के अनिवार्य (component parts) पहलू हैं।''

'मैं' क्या है, इसका विवेचन संघ के दर्शन में एक नवीन ढंग से हुआ है जो नीचे प्रस्तुत है:–

'' 'मैं ब्रह्म हूँ', 'मैं अमर हूँ' यह वेदवाणी सुनी हुई है। 'मैं', 'यह' नहीं हूँ, यह जीवन का अनुभव है। जीवन के अनुभव को पहले मानो, तब वेद–वाणी सिद्ध होगी। जीवन के अनुभव को माने बिना वेद–वाणी अपने लिए अनुभव सिद्ध नहीं होगी। 'मैं' को 'यह' की प्रतीति हो रही है। जिसको प्रतीति हो रही है, वह स्वयं प्रतीति नहीं है, अर्थात् 'मैं' दृश्य नहीं हूँ। 'मैं' को ब्रह्म अथवा आत्मा अथवा जीव अथवा शरीर मानकर 'मैं' के स्वरूप की खोज भ्रममूलक है। हमें विचार करना चाहिए कि जो कामना–जनित विकारों में आबद्ध है उसी में निर्विकारता की माँग है। निर्विकार में निर्विकारता की माँग हो नहीं सकती और पर–प्रकाश्य अनात्मा में आत्मा की जिज्ञासा हो नहीं सकती। जिसमें आत्मा की जिज्ञासा है, जिसमें ब्रह्म की खोज है वह स्वयं न ब्रह्म हो सकता है न आत्मा। अनात्मा की ममता और आत्मा की जिज्ञासा जो अपने में अनुभव कर रहा है, जिसने ममता की निवृत्ति और जिज्ञासा पूर्ति को अपना लक्ष्य बनाया है वह निर्विकार आत्मा अथवा पर–प्रकाश्य अनात्मा हो ही नहीं सकता। अतः 'मैं' न 'यह' है और न 'वह' है। मैं क्या है? इस समस्या पर विचार करने से स्पष्ट विदित होता है कि समस्या आत्मा और अनात्मा में नहीं है, समस्या ब्रह्म और जगत में नहीं है, समस्या उसी में है जो आत्मा–अनात्मा से मिलकर प्रकाशित होता है। आत्मा–अनात्मा से वही मिल सकता है जो न आत्मा है और न अनात्मा। **उसी को सीमित अहम् भाव** तथा 'साधक' के नाम से सम्बोधित करना चाहिए। **वही 'मैं' है। ...मानव सेवा संघ दर्शन के अनुसार 'मैं' कामना, जिज्ञासा और लालसा का पुंज है।''**

नोटः यदि कोई इस विषय को और विस्तार से समझना/पढ़ना चाहें, वह मानव सेवा संघ की पुस्तक ''मैं की खोज'' देख सकते हैं।

■

साधन-सूत्र : 37

व्यर्थ–चिन्तन क्या है और उससे कैसे छुटकारा मिले

ब्रह्मनिष्ठ संत स्वामी शरणानन्द जी द्वारा प्रणीत मानव सेवा संघ के ग्यारह नियमों में ग्यारहवाँ नियम है:–

"व्यर्थ–चिन्तन का त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना।"

प्रश्न् उठता है कि व्यर्थ–चिन्तन है क्या जिसे उज्ज्वल भविष्य के लिए त्यागने की बात कही गई है और मानव जीवन की पूर्णता हेतु प्रतिपादित इन ग्यारह नियमों में उसे शामिल किया गया है।

व्यर्थ–चिन्तन का अर्थ स्वामी जी ने इस प्रकार बताया है–

"व्यर्थ–चिन्तन का अर्थ क्या है? मेरे भाई! जो आपके न चाहने पर होता है, आप के न करने पर होता है, ऐसा जो चिन्तन है, वह व्यर्थ–चिन्तन है। एक बात। दूसरी बात यह है कि जिसकी प्राप्ति कर्म–सापेक्ष है, उसका चिन्तन व्यर्थ–चिन्तन है। तीसरी बात यह है कि जिसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, उसका चिन्तन व्यर्थ–चिन्तन है।"

आगे उन्होंने कहा है कि–

"इस व्यर्थ–चिन्तन से सभी साधकों को चाहे वे भौतिकवादी हों, चाहे वे अध्यात्मवादी हों, चाहे वे ईश्वरवादी हों, बचना है। क्यों बचना है? इसलिए कि **व्यर्थ–चिन्तन के रहते हुए न तो शान्ति मिलती है और न स्वाधीनता मिलती है।** इतना ही नहीं, मिली हुई सामर्थ्य का ह्रास भी होता है और यह बड़ी भारी क्षति है। क्या आप जानते नहीं कि प्राकृतिक–विधान के अनुसार जिस भाई को जो सामर्थ्य मिली है, जो योग्यता मिली है, जो परिस्थिति मिली है, वह उसकी आवश्यकता के अनुसार ठीक–ठीक ही मिली है, अधिक नहीं मिली है, कम नहीं मिली। जितनी योग्यता से हमारा विकास हो सकता है, जितनी सामर्थ्य से हमारा विकास हो सकता है, जिस परिस्थिति से हमारा विकास हो सकता है, हमें वही सब मिला है। मानव सेवा संघ के दर्शन में मिले हुए का आदरपूर्वक स्वागत

करना है, उससे खीजना नहीं है।..... इसलिए भाई मेरे, **व्यर्थ–चिन्तन में प्रधान कारण है–प्राप्त परिस्थिति का आदरपूर्वक स्वागत न करना।** यदि आप प्राप्त परिस्थिति का आदरपूर्वक स्वागत नहीं करते हैं, तो कभी व्यर्थ–चिन्तन से मुक्त नहीं हो सकते। जीवन का बहुत बड़ा भाग इसी चिन्ता में निकल जाता है–ऐसा क्यों हुआ? ऐसा होता तो अच्छा होता। ऐसा क्यों हुआ? ऐसा होता तो ठीक होता और ऐसा जो हम कहते हैं कि ऐसा क्यों हुआ? इसके मूल में दुःख का भय छिपा रहता है, सुख का प्रलोभन छिपा रहता है। दुःख का भय और सुख का प्रलोभन को रखते हुए, क्या होना चाहिए–इसका निर्णय करना कभी भी सम्भव नहीं है। इसलिए भाई, जो मिला है–रुचि, योग्यता, सामर्थ्य, वस्तु, परिस्थिति, अनुकूलता, प्रतिकूलता–कुछ लोग उसी से जीवन में आनन्द पाते हैं।"

"व्यर्थ चिन्तन का एक और भी कारण है। वह क्या है? जो मिला है वह सुरक्षित बना रहे। यह व्यर्थ–चिन्तन में हेतु है।"

ऊपर जो सलाह दी गई है उसको दृढ़ता के साथ अपनाने से जो व्यर्थ–चिन्तन हम करते हैं, उससे अवश्य छुटकारा मिल जायेगा। स्वामी जी से किसी ने प्रश्न् किया था–वही प्रश्नोत्तर नीचे प्रस्तुत है जो इस विषय पर और प्रकाश डालता है।–

प्रश्नः व्यर्थ–चिन्तन क्या है?

उत्तरः व्यर्थ–चिन्तन वह चिन्तन है जिसका सम्बन्ध वर्तमान क्रिया से नहीं है।

प्रश्नः व्यर्थ–चिन्तन का त्याग कैसे किया जाये?

उत्तरः व्यर्थ–चिन्तन को व्यर्थ करके जानना उसके त्याग में हेतु है। अपने न करने पर यदि ऐसा चिन्तन होता है तो उससे भयभीत न होना। बल्कि यह जानकर कि **जिसको हम कर नहीं रहे हैं, फिर भी वह हो रहा है, तो उसका उत्तरदायित्व हमारा नहीं है।** वह हो रहा है–मिटने के लिए। उस चिन्तन का न तो विरोध किया जाय और न उससे सहयोग। बस, उसके कर्ता होने का अपने पर आरोप न किया जाये।

'मूक–सत्संग तथा नित्य–योग' पुस्तक में स्वामी जी ने व्यर्थ–चिन्तन का बहुत ही वैज्ञानिक विश्लेषण किया है। उस ग्रन्थ के प्राक्कथन में परम कोटि की साधिका दिव्यज्योति (देवकी बहन जी) ने उसका

सार संक्षेप में लिखा है। उसका उद्धरण नीचे प्रस्तुत है।–

"जब हम अपनी ओर से कार्य करना बन्द करते हैं, तो मस्तिष्क में आगे पीछे का व्यर्थ–चिन्तन आरम्भ होता है। यह व्यर्थ–चिन्तन क्या है?

(क) यह भुक्त–अभुक्त का प्रभाव है। हम जो कर चुके हैं, भोग चुके हैं और जो करना तथा भोगना चाहते हैं, उसका प्रभाव मस्तिष्क पर अंकित है।

(ख) यह अनुस्मृति (memory) मात्र है। इसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है।

(ग) अहंकृति–काल में जो किये हुए का प्रभाव अंकित है, वह स्पष्ट रूप से विदित नहीं होता, परन्तु रहता है। जिस प्रकार दबा हुआ रोग विदित नहीं होता, उसी प्रकार कार्य में लगे रहने पर, जो कर चुके हैं अथवा जो करना चाहते हैं, उसका प्रभाव प्रतीत नहीं होता। अहंकृति–रहित होते ही वह प्रकट होता है–मिटने के लिए।

(घ) मस्तिष्क को व्यर्थ की बातों से मुक्त करने की यह एक प्राकृतिक प्रक्रिया (natural process) है। मस्तिष्क में जमा हुए प्रभावों को यदि अभिव्यक्त होने का अवसर मिलता है तो वे प्रकट होकर मिट जाते हैं। परन्तु इस प्राकृतिक तथ्य को न जानने के कारण व्यर्थ–चिन्तन को साधक मनोविकार एवं मन की चंचलता मानता है और उससे क्षुब्ध होकर जल्दी–से–जल्दी उसे रोकने में बल का प्रयोग करता है। स्पष्ट है कि जो क्रिया मस्तिष्क को स्वस्थ एवं शान्त करने के लिए आरम्भ होती है, उसको रोककर हम व्यर्थ–चिन्तन के नाश में बाधक बनते हैं तथा विश्राम से वंचित रहते हैं। अतः **व्यर्थ–चिन्तन के नाश के लिए हमें कुछ करना नहीं है। क्योंकि किसी कृति–विशेष से किसी कृति के प्रभाव का नाश नहीं होता, उसका नाश विश्राम से ही होता है।**

(ङ) प्राकृतिक नियमानुसार कोई उत्पत्ति ऐसी होती ही नहीं जो स्वतः नष्ट न हो जाये। **व्यर्थ–चिन्तन उत्पन्न हुआ है, इसलिए वह अपने आप नष्ट भी होता है।"**

मानव (साधक) द्वारा अपने नित्य, अविनाशी, रसरूप वास्तविक जीवन की

प्राप्ति हेतु **विश्राम** अत्यन्त महत्वपूर्ण है एवं मानव–मात्र की स्वाभाविक माँग भी है। जब हम भीतर–बाहर से शान्त हो जाते हैं, अर्थात् अपनी ओर से कुछ भी नहीं करते हैं तब उस विश्राम काल में क्या होता है वह आगे उद्धरित है–

"उस विश्राम काल में मानसिक हलचल कुछ अधिक मालूम होती है। भूतकाल की घटनाओं की याद, वर्तमान की दुविधायें और भविष्य की कल्पनाओं का ऐसा ताँता बंधता है कि व्यक्ति घबरा उठता है।"

"इन मानसिक क्रियाओं के प्रति साधारणतः व्यक्ति निम्नलिखित प्रतिक्रियाएं करता है:–

(1) उस हलचल की दशा को नापसन्द करना तथा सुखद मनोराज्यों का रस लेना।

(2) बलपूर्वक उन मानसिक क्रियाओं को रोकने का प्रयास करना

(3) किसी सार्थक–चिन्तन द्वारा व्यर्थ–चिन्तन को दबाना।

(4) असफलताओं से क्षुभित होना और विश्राम से निराश होना।

ये सभी प्रतिक्रियाएं बिल्कुल अवैज्ञानिक हैं। इसलिए सर्वथा त्याज्य हैं।"

"मानसिक हलचल की दशा एक अवस्था है। साधक को अवस्थातीत जीवन की ओर गतिशील होना है। अतः अवस्थाओं से असंग होना है परन्तु जब किसी दशा को हम नापसन्द अथवा पसन्द करने लगते हैं अथवा जिसकी उपस्थिति से क्षुब्द होने लगते हैं, तब उससे सम्बन्ध टूटता नहीं है।... इसलिए **न चाहने तथा न करने पर भी जो व्यर्थ–चिन्तन उत्पन्न हुआ है, उसका न समर्थन करना है और न विरोध, अपितु उससे असहयोग रखना है।** जिससे असहयोग हो जाता है, उसका प्रभाव अपने पर नहीं रहता, उससे सम्बन्ध टूट जाता है। **असहयोग विरोध नहीं है।** विरोध से द्वेष और समर्थन से राग की उत्पत्ति होती है। असहयोग से राग–द्वेष का नाश होता है। अतएव **अपने आप होने वाले व्यर्थ–चिन्तन से असहयोग रखना है और कुछ नहीं।"**

"बलपूर्वक मानसिक हलचल को रोकने के प्रयास में व्यक्ति अधिकाधिक श्रमित होता है। व्यर्थ–चिन्तन को किसी सार्थक–चिन्तन द्वारा दबाने का प्रयास करने से व्यर्थ–चिन्तन का नाश नहीं होता। यह भी एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जिन मानसिक क्रियाओं को अन्य क्रिया के द्वारा

दता दिया जाता है, वे मिटती नहीं हैं, और भी अधिक वेग से प्रकट होना चाहती हैं और होती भी हैं। इस संघर्ष में मानसिक शक्ति की बड़ी क्षति होती है, विश्राम नहीं मिलता।"

"व्यर्थ–चिन्तन की व्याख्या को जानते ही साधक का भय मिट जाता है। **व्यर्थ–चिन्तन भी एक अवस्था है।** यद्यपि व्यक्ति की भूल से यह उत्पन्न हुआ है, फिर भी साधक के जीवन में उससे क्षुब्ध होने का कोई कारण नहीं है, प्रत्युत् उसका भी उपयोग है।"

व्यर्थ–चिन्तन का उपयोग क्या है, इसके बारे में आगे बताया है कि–

"उसका अध्ययन कीजिए। साधन की प्रारम्भिक अवस्था में, विश्राम–काल में जब मानसिक हलचल होने लगे और आप उससे असहयोग न कर सकें, तो दो–दो, चार–चार मिनट बाद कुछ क्षणों के लिए अन्तर्निरीक्षण कीजिए और देखिये कि व्यर्थ-चिन्तन में आपके भूत के और भविष्य के कौन-कौन से चित्र मानस-पटल पर आ रहे हैं। आप पायेंगे कि–

(1) व्यर्थ-चिन्तन आपकी डायरी है। उससे विदित होता है कि भूतकाल में आपने क्या–क्या किया है और भविष्य में क्या–क्या करना चाहते हैं। उसके अध्ययन से अपने जाने हुए असत् के संग का ज्ञान होगा। उसका त्याग कर दीजिये। नवीन प्रभावों का अंकित होना बन्द हो जायेगा। **भूतकाल की घटनाओं के अर्थ को अपनाकर घटनाओं को भूल जाइये। वर्तमान में उसका अस्तित्व नहीं है,** इसलिए भूतकाल की भूल को न दोहराने का व्रत लेने से ही वर्तमान निर्दोषता सुरक्षित हो जाती है।

(2) व्यर्थ–चिन्तन के अध्ययन से आपको यह भी पता चलेगा कि भविष्य में आप क्या–क्या करना चाहते हैं। उनमें जो आवश्यक कार्य जमा हों, उनको जान लीजिये तथा प्रवृत्ति–काल में उन्हें कर डालिये। **जो कर्म सापेक्ष है वह चिन्तन से प्राप्त नहीं होता।** इसलिए **जो विवेक और सामर्थ्य के अनुरूप वर्तमान आवश्यक कार्य हो, उसे कर डालिये। उसके चिन्तन से मुक्ति मिलेगी।"**

"अनावश्यक कार्य, अर्थात् जिसे नहीं कर सकते और जो नहीं करना चाहिए, उसके करने का विचार छोड़ दीजिये। उसके चिन्तन से भी मुक्ति मिलेगी।"

"जो करना चाहिए, पर आप नहीं

कर सकते, ऐसे सामर्थ्य–विरोधी शुभ संकल्पों को प्रभु के अथवा जगत के संकल्प से मिलाकर आप निश्चिन्त हो जाइये, विश्राम मिलेगा। इस प्रकार व्यर्थ चिन्तन के अध्ययन एवं उसके मूल में जो अपनी भूल हो, उसके त्याग के द्वारा विश्राम लीजिये।''

''परन्तु इस बात में सावधान रहना है कि व्यर्थ–चिन्तन के अध्ययन को मूक–सत्संग न मान लिया जाय, इस प्रक्रिया में तल्लीन न हुआ जाय। इसको व्यर्थ-चिन्तन के नाश का सहायक अंग माना जाय। **मुख्य उपाय तो असहयोग रखना ही है, क्योंकि व्यर्थ–चिन्तन कोई करता नहीं है, वह तो अपने आप होता है।** जो अपने आप होता है, जिसे हम करते नहीं है, उससे अपना कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिये उससे असहयोग रखना अनिवार्य है। हमारा सहयोग पाकर ही वह पोषित होता रहता है। अतः हमारे असहयोग से उसका नाश स्वतः होता है। एक रहस्य समझ लेना है कि **व्यर्थ–चिन्तन श्रम नहीं है, व्यर्थ–चिन्तन से उलझ पड़ने में श्रम है।** व्यर्थ–चिन्तन हो रहा है शरीर में, विश्राम सम्पादित होगा 'स्व' के द्वारा। शरीर में अपने आप होने वाली क्रिया 'स्व' को क्यों श्रमित करेगी? नहीं कर सकती। परन्तु हम व्यर्थ–चिन्तन से असहयोग नहीं रखते, इसलिये श्रमित होते हैं।''

इस प्रकार, व्यर्थ–चिन्तन एक वह है जो निवृत्ति काल में जब हम भीतर–बाहर से शान्त होकर बैठते हैं तब उत्पन्न होता है, अपने आप हमारे बिना किये, बिना चाहे होता है। इसके स्वरूप और उससे छुट्टी पाने का उपाय ऊपर उद्धरणों में विस्तार से हम लोगों के लिए बताया गया है। **इसे अपनाने से विश्राम प्राप्त होगा।**

एक और व्यर्थ–चिन्तन है जो स्वयं हमारे द्वारा किया जाता है–निरर्थक, निरुद्देश्य तथा निष्प्रयोज्य। मनोराज्य जिसे अंग्रेजी में day-dreaming कहते हैं, में लिप्त होते हैं। इसका सम्बन्ध वर्तमान क्रिया से नहीं होता, इसलिये व्यर्थ–चिन्तन ही तो हुआ। एक वह भी होता है जो है तो कर्म–सापेक्ष, परन्तु हम उस कार्य को पूरा तो करते नहीं उसका चिन्तन करते रहते हैं। ऐसे व्यर्थ–चिन्तन से भी छुटकारा पाने का सहज उपाय पूर्व प्रस्तरों में समझाया गया है।

प्रश्नोत्तर में, जो प्रारम्भ में उल्लिखित

है, स्वामी जी ने बड़े स्पष्ट ढंग से कहा है–

"व्यर्थ–चिन्तन को व्यर्थ करके जानना उसके त्याग में हेतु है।"

उन्होंने, व्यर्थ–चिन्तन का नाश कैसे हो प्रश्न् का एक और प्रकार से समाधान किया है। उन्होंने कहा है कि–

"इसका नाश, नीरसता के नाश से होता है। नीरसता से 'काम' की उत्पत्ति होती है जो सभी दोषों का मूल है। .....नीरसता की भूमि में ही असाधन उत्पन्न होते हैं।"

इससे स्पष्ट है कि जब जीवन में नीरसता रहती है तब व्यर्थ–चिन्तन भी होता है और अनेक असाधन भी होते हैं। अतः नीरसता का नाश आवश्यक है। इसके हेतु स्वामी जी का कथन है कि "नीरसता का अन्त करने के लिये शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम की अभिव्यक्ति अनिवार्य है, जो एकमात्र सत्संग से ही सम्भव है।"

इसी प्रसंग में स्वामीजी का एक प्रश्नोत्तर पढ़िये–

प्रश्न्– व्यर्थ–चिन्तन का नाश कैसे हो?

उत्तर– व्यर्थ–चिन्तन का नाश नीरसता का नाश होने से होता है और नीरसता का नाश उदारता, स्वाधीनता एवं प्रियता से होता है। उदारता का अर्थ है सभी को अपना मानना। जिस तरह एक शरीर की सेवा करते हैं, उसी तरह अनेक शरीरों की सेवा करें। स्वाधीनता का अर्थ है अपनी प्रसन्नता के लिये दूसरों की आवश्यकता अनुभव न करना, अथवा दूसरे शरीरों की तरह अपने शरीर से भी असंग रहना। **प्रियता का अर्थ है प्रभु से बिना किसी शर्त के आत्मीय तथा नित्य सम्बन्ध स्वीकार करना।**

सारांश के रूप में– जीवन में विश्राम का बहुत महत्व है। विश्राम में ही शान्ति और आगे स्वाधीनता और प्रियता की प्राप्ति होती है। दूसरे शब्दों में योग बोध प्रेम की प्राप्ति होती है जो साधक की माँग और जीवन का लक्ष्य है।

नोटः जिस विश्राम की चर्चा की गई है उसके बारे में स्वामी शरणानंद जी ने कहा है कि "विश्राम अकर्मण्यता तथा अकर्तव्य नहीं है अपितु योग तथा कर्तव्यपरायणता की भूमि है।"

■

मुझे अपने लिये कुछ नहीं करना, इसको कहते हैं अप्रयत्न होना।

साधन-सूत्र : 38

व्यापार : साधक की दृष्टि में

मानव सेवा संघ के वार्षिक सत्संग समारोह में वृन्दावन आश्रम गया था। उसी समय भारत में क्रिकेट वर्ल्ड–कप के मैच हो रहे थे। मैच के परिणाम को लेकर सट्टा (betting) बड़े ज़ोरों पर था। वार्तालाप में एक सज्जन ने बताया कि उनके बेटे कह रहे थे कि एक लाख रुपया लगा दिया जाय, दस लाख मिल जायेगा। परन्तु उन्होंने रुपया डूब जाने के भय से सट्टा में नहीं लगाया। अनायास मैं पास के कमरे में गया, आलमारी में मानव सेवा संघ की पुस्तकें लगी थीं, मंत्रवत् एक पुस्तक उठा लिया और उसे बीच से खोला। उस पेज पर जो लिखा था, उसको पढ़कर आश्चर्य–चकित रह गया। एक मिनट पहले जिस विषय पर हम लोग चर्चा कर रहे थे, उसी का समाधान था।

अवश्य ही कोई अदृश्य शक्ति मुझे प्रेरित करके उस पुस्तक तक ले गई और वह पृष्ठ खुलवाया। पुस्तक का नाम था–'एक महात्मा का प्रसाद' जो गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित हुई थी। अब यथावश्यक संशोधन के साथ मानव सेवा संघ द्वारा 'संत–सौरभ' के नाम से प्रकाशित है। उसका उद्धरण नीचे प्रस्तुत है:–

"मनुष्य को जो सुख किसी के दुःख से मिलता है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि जिसका जन्म किसी के दुःख से होता है, उसका फल भी दुःख होगा। आम के बीज का फल आम ही होगा और बबूल के बीज का फल काँटा होगा।"

"व्यापार के दो रूप होते हैं। एक तो वह सट्टे का व्यापार है जिसमें जुए की भाँति किसी एक का नुकसान ही दूसरे का लाभ होता है। इस बात को सभी जानते हैं कि सट्टे में धन बाहर से नहीं आता। सट्टा करने वालों में ही एक का नुकसान और दूसरे का लाभ होता है। सट्टा करने वाले सभी लाभ की आशा से करते हैं, परन्तु सबको लाभ नहीं हो सकता। इस व्यापार में **किसी का दुःख ही, दूसरे का सुख है, अतः यह व्यापार उचित नहीं है।**"

"दूसरा व्यापार वह है जिसमें समाज

की आवश्यकता पूरी करने के लिए वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है, जहाँ वस्तुएँ अधिक होती हैं, वहाँ से उस जगह पहुँचायी जाती हैं, जहाँ उसकी आवश्यकता होती है। इस प्रकार जो व्यापार समाज की आवश्यकता पूरी करने के लिए किया जाता है, उसमें किसी का नुकसान नहीं होता। श्रम करने वाले से लेकर भोक्ता तक सभी को सुख मिलता है। और व्यापारी को भी उसके परिश्रम के बदले में धन मिल जाता है। यह व्यापार ठीक है।''

नोटः *जुआ, द्युत–क्रीड़ा, रेस आदि प्रथम श्रेणी में ही आते हैं। जमाखोरी भी एक प्रकार का सट्टा ही है।*

अधिकांश लोग सुप्रसिद्ध भक्त एवं साहित्यकार सुदर्शन सिंह चक्र जी के नाम से परिचित होंगे। गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित होने वाले 'कल्याण' ग्रन्थ में उनके लेख छपा करते थे। वे ही ब्रह्मनिष्ठ संत स्वामी शरणानन्द जी से अनेक अवसरों पर मिलते थे और उनसे जो सत्चर्चा होती थी, उसे 'कल्याण' के अंकों में 'एक महात्मा का प्रसाद' शीर्षक से छपवाते थे। बाद में उन्हीं लेखों का संकलन करके पुस्तक का रूप दे दिया गया।

वैसे तो हर युग में अच्छे बुरे दोनों ही होते हैं, पर अनुपात की बात होती है। जिस काल की चर्चा है उस समय आज जैसा भयंकर भोग–वाद और धन का महत्व नहीं था। अधिकांश व्यापारी लोग अपनी जीविका हेतु यथोचित (reasonable) मुनाफ़ा लेते थे और उसी में सन्तुष्ट रहते थे। परन्तु आज कल तो धन और भोग के महत्व ने जीवन में इतना विकराल रूप ले लिया है कि लाभ के प्रतिशत की कोई सीमा ही नहीं रह गई है। उत्पाद–मूल्य और विक्रय मूल्य में कोई सह–सम्बन्ध (correlation) ही नहीं है। पाँच रुपये की दवा फुटकर विक्रेता के यहाँ पचपन की, सवा दो हजार का इन्जेक्शन सवा पाँच हजार का मिलता है। यही दशा अन्य क्षेत्रों में भी है। रातों रात धनाढ्य होने और ऐशो–आराम की सभी वस्तुओं को जल्द से जल्द हथियाने की इस कोटि की चाह–तृष्णा हो गई है कि उन्हें इस बात की ग्लानि ही नहीं होती कि मरीज़ों का, उपभोक्ताओं का भयंकर शोषण कर रहे हैं। धन और वस्तुओं में ही जीवन-बुद्धि हो गई है।

संत ने दूसरे प्रकार के व्यापार जिसको ठीक बताया था वह अब ठीक कहाँ रहा? अब तो उसका भी वही विकृत रूप हो गया जिसमें एक का लाभ दूसरे की हानि और दुःख है। चौतरफा लूट मची हुई है।

जब दूसरों के प्रति कोई संवेदना ही नहीं है, उसके दुःख और मजबूरी का एहसास ही नहीं है, आँखों पर लोभ का चश्मा लगा लिया है तो यही कहना पड़ेगा कि 'मानवता' और 'इन्सानियत'–ये शब्द अब शब्द–कोष से बाहर कर दिये गये हैं।

यहाँ ऐसे व्यापार की चर्चा नहीं की जा रही है जिसमें नकली दवाइयाँ, नकली दूध, चर्बी का मिलावटी देशी घी, अनेक मिलावटी खाद्य पदार्थ आदि धड़ल्ले से बेचे जा रहे हैं। वह तो व्यापार है ही नहीं–वह तो सीधा जघन्य अपराध है।

अनुचित और अन्यायपूर्ण ढंग से जो भी धन–सम्पत्ति बटोरी जाती है वह किसी की हानि और दुःख ही होता है।

यह चर्चा साधकों को दृष्टि में रखकर की जा रही है। साधक का स्वरूप ही है सेवा–त्याग–प्रेम और उसके जीवन में माँग है शान्ति, स्वाधीनता और प्रियता की। अतः जिनको शान्ति, स्वाधीनता और प्रेम की ही लालसा है उन्हें इस साधन–सूत्र में वर्णित दर्शन को अपनाना ही होगा।

मानव सेवा संघ का दर्शन कहता है कि **उस सुख का त्याग कर दो जो किसी का दुःख हो।** अतः यदि अपने को साधक स्वीकार किया है तो उद्धरित संत–वाणी के प्रकाश में दृढ़ व्रत लेना होगा कि मानवीय दृष्टिकोण अपनाते हुए, सबके प्रति सौहार्द् संवेदनशीलता और सेवा के भाव से ही कोई भी व्यापार/व्यवसाय करेंगे और इस बात के लिए सजग रहेंगे कि मैं जो कर रहा हूँ वह किसी को अनुचित हानि या दुःख तो नहीं पहुँचा रहा है। जो उचित और न्यायपूर्ण लाभ होगा वही अर्जन करुँगा–किसी की मजबूरी का लाभ उठाकर उसका शोषण नहीं करुँगा। न्यायोचित ढंग से जो मिल जायेगा उसी में सन्तुष्ट और प्रसन्न रहूँगा। स्वामी शरणानन्द जी का कथन है कि– "अपने को सुन्दर बनाओ, सुन्दर समाज का निर्माण स्वतः होगा।"

अतः यदि हमें सुन्दर समाज की लालसा है, तो हम में से हर एक को अपने जीवन में क्रान्ति लाना होगा। **हर इन्सान को अपने जैसा ही इन्सान समझना होगा** और उसके प्रति इन्सानियत का दृष्टिकोण और व्यवहार अपनाना होगा। **जब हम हर व्यक्ति को अपने जैसा ही इन्सान समझेंगे तब हम दूसरों के प्रति वह नहीं करेंगे जो हम अपने प्रति नहीं किया जाना चाहते**– और यही इन्सानियत है। इसी को अंग्रेज़ी में इस प्रकार कहा गया है: DO NOT DO UNTO OTHERS THAT YOU DO NOT WANT TO BE DONE UNTO YOU.

■

साधन-सूत्र : 39

मानव जीवन में वर्तमान की निर्दोषता

मानव जीवन की भौतिकता, आध्यात्मिकता एवं आस्तिकता के उच्च आदर्शों का पालन व्यवहारिक जीवन में सहज से हो सके, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये कुछ मौलिक नीतियाँ मानव सेवा संघ दर्शन में प्रतिपादित की गई हैं जिनमें से एक है–

"वर्तमान सबका निर्दोष है"

इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है–

"यह नीति व्यक्तिगत जीवन को निर्दोष बनाने का एवं सामूहिक जीवन में निर्दोषता का प्रसार करने का अचूक उपाय है। **जीवन मूलतः निर्दोष ही है क्योंकि जीवन का मूल स्रोत निर्दोष है।** जब व्यक्ति दोष करता है तब दोषी हो जाता है। जब दोष करना छोड़ देता है तो मौलिक निर्दोषता सुरक्षित हो जाती है। भूतकाल के दोषों के आधार पर अपने को और दूसरों को दोषी मानते रहना निर्दोषता की सुरक्षा में बड़ी भारी बाधा है। 'मेरा वर्तमान निर्दोष है' ऐसा मान लेने पर व्यक्ति आत्म–ग्लानि की ज्वाला से बच जाता है और आगे निर्दोष रहकर जीवन के विकास में उसकी प्रगति हो जाती है। 'वर्तमान सभी का निर्दोष है' ऐसा मान लेने पर हिंसा–द्वेष की वृत्ति मिटती है। मनुष्य के मस्तिष्क में दूसरे के प्रति बुरे भावों एवं बुरे विचारों का अन्त हो जाने से बुराई का प्रसार रुक जाता है और निर्दोषता की भावना प्रसारित होने लगती है। इस दृष्टि से इस नीति का पालन व्यक्ति के कल्याण और सुन्दर समाज के निर्माण में अत्यन्त उपयोगी है।"

इसी विषय पर स्वामी शरणानन्द जी द्वारा और भी व्याख्या की गई है। साधन पथ में चित्त–शुद्धि का बहुत बड़ा महत्व है। बल्कि पहला प्रश्न् है– चित्त को शुद्ध करना।

"चित्त शुद्ध होने से सब प्रकार की पूर्णता आ जाती है। योगी को योग, विचारशील को बोध और विश्वासी को प्रेम अपने आप मिल जाता है..... **निर्दोषता की स्थापना से चित्त शुद्ध होता है,** क्योंकि मनुष्य अपने को जैसा मानता है, वैसा ही बन जाता है। यह प्रकृति का नियम है।"

इसको इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि जीवन में साधन–पथ में सफलता के लिए चित्त–शुद्धि परम आवश्यक है और चित्त–शुद्धि के लिए अपने में निर्दोषता की स्थापना नितान्त आवश्यक है। इसके दो पहलू हैं– एक तो यह कि 'प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना' और उन्हें पुनः न दोहराने का दृढ़ता पूर्वक व्रत लेना। इसके साथ ही अपने विवेक का आदर करते हुए जीवन में नवीन दोष न आने देना।

दूसरा पहलू यह है कि इस बात में पूर्ण आस्था हो कि मेरा वर्तमान (the livinig moment) और अन्य का भी वर्तमान निर्दोष होता है। अतः **भूतकाल के दोषों के आधार पर स्वयं अपने को या औरों को दोषी न माने।**

स्वामी जी के शब्दों में–

"अतः साधक को चाहिये कि दोषकाल में अपने को दोषी माने और उस समय दोष को देखकर भविष्य में उत्पन्न न होने देने का दृढ़ संकल्प करे। साधक को इस प्रकार विचार करना चाहिए कि दोष उत्पन्न होने के पहले मुझमें दोष नहीं था और मिट जाने के बाद भी नहीं रहेगा। अतः मैं स्वभाव से निर्दोष हूँ। फिर मुझमें दोष कैसे आ सकते हैं? इस प्रकार निर्दोष काल में निर्दोषता की दृढ़ भावना करने से दोष मिट जाते हैं और उनकी पुनः उत्पत्ति नहीं होती।"

उदाहरण के लिए उन्होंने कहा–

"झूठ न बोलने के काल में सभी सत्यवादी होते हैं। झूठ बोलकर समाप्त होते ही फिर सत्यवादी हो जाते हैं, हर समय कोई मिथ्यावादी नहीं रहता, इसी प्रकार हर एक दोष के विषय में समझ लेना चाहिए।"

आगे उन्होंने एक प्राकृतिक नियम की ओर साधकों का ध्यान आकर्षित कराया है:–

"जिसको मनुष्य स्वीकार कर लेता है वह दृढ़ हो जाता है। जिसकी स्वीकृति नहीं रहती उसकी सत्ता मिट जाती है, यह नियम है, अतः जिसको मिटाना हो उसे अस्वीकार कर देना चाहिए।"

यह भी समझना आवश्यक है कि हमारे जीवन में दोष उत्पन्न ही क्यों होते हैं। इस सम्बन्ध में संतवाणी है कि "प्राणी स्वयं ही दोषों का पोषण करके उनको बलवान बना लेता है। दोष के कारण को मिटा देने से वह सुगमता से मिट सकता है। **देह में "मैं" भाव और भोगों की चाह, यही दोषों की उत्पत्ति का कारण है**".....

एक दूसरे अवसर पर कहा है कि–

"मैं शरीर हूँ यह मानना और संसार को चाहना, यही सब दोषों का मूल है। इनके मिटते ही सब दोष अपने आप मिट जाते हैं। एक दोष से दूसरे दोष का सम्बन्ध है। इसी प्रकार एक गुण से भी दूसरे गुण का सम्बन्ध है। अतः एक दोष के मिटने से दूसरे सब दोष भी मिट जाते हैं। तथा एक गुण को अपनाने से दूसरे गुण भी अपने आप आ जाते हैं।"

साधकों के लिए यह बहुत ही उत्साहवर्धक कथन है कि–"दोष प्राणी का स्वभाव नहीं है। इसलिए वह सदैव नहीं रह सकता। उसका उदय और अन्त अवश्य होता है। निर्दोषता के साथ प्राणी की जातीय एकता है, अतः वह हर समय निर्दोषी रह सकता है।"

परन्तु संत ने सचेत भी किया है कि "मनुष्य का जीवन सर्वथा दोषयुक्त नहीं होता, उसमें गुण भी रहते ही हैं, परन्तु उन गुणों में जो अभिमान है वह भी दोष ही है।..... **दोषों की उत्पत्ति न हो और गुणों का अभिमान न हो, यही वास्तविक निर्दोषता है।"**

इसी प्रसंग में स्वामी जी द्वारा इस विषय का एक अन्य प्रकार से विवेचन इसी क्रम में प्रस्तुत है–

".....गुण–दोष का समूह ही जीवन है। गुणों को सीमित कर देने पर दोष भासने लगते हैं। परन्तु वास्तव में मानव का लक्ष्य गुण और दोष से अतीत वास्तविक जीवन को प्राप्त करना है। उसके लिये गुण और दोष का द्वन्द्व का अन्त करना होगा। यह तभी संभव होगा जब दोष की उत्पत्ति न हो और गुणों का अभिमान गल जाय। .....गुण और दोष का द्वन्द्व का कैसे अन्त हो? तो कहना होगा कि गुण और दोष के स्वरूप को जान लेने पर ही द्वन्द्व का अन्त हो सकता है। सभी को सुख देने के प्रयास को गुण कहते हैं; किन्तु केवल एक ही शरीर को सुखी रखने का प्रयास किया जाए, तो वह दोष हो जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि **गुण को सीमित कर देना दोष हो जाता है।**....."

सार यह हुआ कि गुणों का अभिमान नहीं रखना है और साथ ही गुणों को सीमित भी नहीं करना है– फलस्वरूप हमारी निर्दोषता सुरक्षित रहेगी। ■

"अपनी अच्छाई और दूसरों की बुराई भूल जाओ"

–स्वामी शरणानन्द जी

साधन-सूत्र : 40

भक्तिः अर्थ एवं स्वरूप तथा भक्त के लक्षण

विश्वास-पथ के साधकों के जीवन में ईश्वर, उसी परम सत्ता की और उसके साकार रूपों में भक्ति की चर्चा होती है। अक्सर सुनते हैं कि अमुक बहुत बड़े भक्त थे या हैं—अमुक ने बहुत भक्ति किया या कर रहे हैं। एक भ्रम यह भी होता है कि ईश्वर की साकार विभिन्न नामधारी प्रतिमाओं की विधियात्मक पूजा को ही भक्ति कहते और समझते हैं। अमुक बहुत बड़े भक्त हैं रोज़ बैठकर तीन घंटे पूजा करते हैं आदि। परन्तु यह यदि मात्र क्रिया ही रही या कोई अपनी कामना लेकर की जा रही है तब तो जिसकी पूजा कर रहे हैं वह साध्य न होकर साधन हो गये कामनापूर्ति हेतु। इस प्रकार की पूजा न तो पूजा हुई और न ही भक्ति।

वास्तव में भक्ति है क्या? यह एक बहुत वृहद् और गूढ़ विषय है। 'भक्ति' का अर्थ और स्वरूप की व्याख्या करना हमारे जैसे लोगों के लिए सम्भव नहीं है। इसलिए धार्मिक ग्रन्थों और संतों की शरण में जाकर अपनी जानकारी और हितार्थ और अपनी अल्प बुद्धि की पकड़ में आ सके ऐसी सरल चर्चा संकलित है।

गोस्वामी तुलसी कृत श्री रामचरितमानस के 'अरण्य काण्ड' में प्रभु श्रीराम और परमभक्त शबरी जी के बीच संवाद में श्रीराम द्वारा शबरी जी को सुनाई गई नवधा भक्ति नीचे प्रस्तुत है। चौपाइयाँ न लिख कर केवल उनका अर्थ लिखा जा रहा है।

- पहली भक्ति है संतों का सत्संग।
- दूसरी भक्ति है मेरे (श्रीराम) कथा प्रसंग में प्रेम।
- तीसरी भक्ति है अभिमान रहित होकर गुरु के चरण कमलों की सेवा करना।
- चौथी भक्ति यह है कि कपट छोड़कर मेरे गुण समूहों का गान करे।
- पाँचवी भक्ति है मेरे (राम) मन्त्र का जाप और मुझमें दृढ़ विश्वास।
- छठी भक्ति है इन्द्रियों का निग्रह, शील, बहुत कार्यों से वैराग्य और निरन्तर संत पुरुषों के धर्म/आचरण में लगे रहना।

- सातवीं भक्ति है जगत भर को समभाव से मुझमें ओतप्रोत (राममय) देखना और संतों को मुझसे भी अधिक करके मानना।
- आठवीं भक्ति है जो कुछ मिल जाय उसी में सन्तोष करना और स्वप्न में भी पराये दोषों को न देखना।
- नवीं भक्ति है सरलता और सब के साथ कपट रहित बर्ताव करना, हृदय में मेरा भरोसा रखना और किसी भी अवस्था में हर्ष और दैन्य (विषाद) का न होना।

आगे प्रभु श्री राम ने शबरी जी से कहा कि इन नवों में से जिनके एक भी होती है, वह स्त्री–पुरुष, जड़–चेतन कोई भी हो, हे भामिनि! मुझे वही अत्यन्त प्रिय है। फिर तुझमें तो सभी प्रकार की भक्ति दृढ़ है। अतएव जो गति योगियों को भी दुर्लभ है, वही आज तेरे लिए सुलभ हो गई है।

श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध के दसवें अध्याय में स्वयं भगवान श्री कृष्ण ने अपने मित्र उद्धव जी को भक्ति और भक्तजनों के लक्षण को विस्तार से बताया है। उसके कुछ अंश उद्धरित हैं:–

"आत्मजिज्ञासा और विचार के द्वारा आत्मा में जो अनेकता का भ्रम है, उसे दूर कर दे और मुझ सर्वव्यापी परमात्मा में अपना निर्मल मन लगा दे तथा संसार के व्यवहारों से उपराम हो जाय। यदि तुम अपना मन परब्रह्म में स्थिर न कर सको, **तो सारे कर्म, निरपेक्ष होकर मेरे ही लिए करो।..... मेरे आश्रित रहकर मेरे ही लिए धर्म, अर्थ और काम का सेवन करना चाहिए।** प्रिय उद्धव! जो ऐसा करता है, उसे मुझ अविनाशी पुरुष के प्रति अनन्य प्रेममयी भक्ति प्राप्त हो जाती है। भक्ति की प्राप्ति सत्संग से होती है, जिसे भक्ति प्राप्त हो जाती है, वह मेरी उपासना करता है, मेरे सान्निध्य का अनुभव करता है।"

भगवान श्री कृष्ण ने आगे कहा है–

"मेरा भक्त कृपा की मूर्ति होता है। वह किसी भी प्राणी से वैर भाव नहीं रखता और घोर–से–घोर दुःख भी प्रसन्नतापूर्वक सहता है। उसके जीवन का सार है सत्य और उसके मन में किसी प्रकार की पाप वासना कभी नहीं आती। वह समदर्शी और सबका भला करने वाला होता है। उसकी बुद्धि कामनाओं से कलुषित नहीं होती। वह संयमी, मधुर स्वभाव और पवित्र होता है। संग्रह–परिग्रह से सर्वथा दूर रहता है। ....उसकी बुद्धि स्थिर होती है। उसे केवल मेरा ही भरोसा होता है। ...उसके हृदय में करुणा भरी होती है। मेरे तत्व का उसे

यर्थाथ ज्ञान होता है। मेरा जो भक्त... केवल मेरे ही भजन में लगा रहता है वह परम संत है। मैं कौन हूँ, कितना बड़ा हूँ–इन बातों को जाने चाहे न जाने, किन्तु जो अनन्य भाव से मेरा भजन करते हैं, वे मेरे विचार से मेरे परम भक्त हैं।"

श्रीमद्भागवत महापुराण के सप्तम स्कन्ध में दैत्यराज हिरण्यकशिपु के जीवन और भगवान विष्णु के प्रति द्रोह और उससे प्रेरित कर्मों का वर्णन है। उसी में यह प्रसंग भी है कि जब हिरण्यकशिपु घोर तपस्या करने चला गया, उस अवधि में उसकी गर्भवती पत्नी नारद मुनि के आश्रम में उनके संरक्षण में रहीं। नारद जी ने उन्हें भागवत धर्म का रहस्य और विशुद्ध ज्ञान दोनों का उपदेश किया। उपदेश करते समय उनकी दृष्टि गर्भस्थ बालक (प्रहलाद) पर भी रहती थी। अतः प्रहलाद को सारा उपदेशित ज्ञान जन्मजात प्राप्त रहा।

इसी स्कन्ध के सप्तम अध्याय में प्रह्लाद द्वारा विद्याध्ययन के समय दैत्य बालकों को अपने पास बैठा कर उन्हें भगवान और भगवद्भक्ति के बारे में समझाने का प्रसंग है। अन्त में उन्होंने बालकों से कहा कि–

"दैत्य बालकों! भगवान को प्रसन्न करने के लिये ब्राह्मण, देवता या ऋषि होना, सदाचार और विविध ज्ञानों से सम्पन्न होना तथा दान, तप, यज्ञ, शारीरिक और मानसिक शौच और बड़े बड़े व्रतों का अनुष्ठान पर्याप्त नहीं है। **भगवान केवल निष्काम प्रेम–भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं**, और सब तो विडम्बना मात्र है। इसलिये दानव बन्धुओं! समस्त प्राणियों को अपने समान ही समझकर सर्वत्र विराजमान, सर्वात्मा, सर्वशक्तिमान भगवान् की भक्ति करो। भगवान की भक्ति के प्रभाव से दैत्य, यक्ष, राक्षस, स्त्रियाँ, शुद्र, गोपालक अहीर, पक्षी, मृग और बहुत से पापी जीव भी भगवद्भाव को प्राप्त हो गये हैं। इस संसार में या मनुष्य शरीर में जीव का सबसे बड़ा स्वार्थ अर्थात् एकमात्र परमार्थ इतना ही है कि वह भगवान श्रीकृष्ण की अनन्य भक्ति प्राप्त करे। **उस भक्ति का स्वरूप है सर्वदा, सर्वत्र सब वस्तुओं में भगवान का दर्शन।**"

स्वामी शरणानन्द जी ने भक्ति का इस प्रकार वर्णन किया है–

"अपने को सब ओर से हटाकर अपने में ही अपने प्रेम–पात्र का अनुभव करना अनन्य भक्ति है।"

एक प्रश्नकर्ता ने स्वामी जी से पूछा–

प्रश्नः भक्ति कैसे हो?

उत्तरः भक्ति दास्य भाव से प्रारम्भ होती है। सेवा करते–करते मित्र बनने से सख्य भाव, प्रेम उमड़ता है तो वात्सल्य भाव और अन्त में मधुर भाव। दास्य भाव में स्वामी के सिवाय किसी और की स्मृति होती है क्या? चिन्तन होगा क्या? भय होगा क्या? नहीं। **भक्त संसार के कार्य को भगवान का कार्य समझता है।** संसार को अपने लिए अस्वीकार करता है।

एक अन्य साधक ने उनसे प्रश्न् किया कि भक्ति का यथार्थ स्वरूप क्या है? तो स्वामी जी ने उत्तर दिया–

मेरा कुछ नहीं है, यही भक्ति है
मुझे कुछ नहीं चाहिए, यही भक्ति है
मैं कुछ नहीं हूँ, यही भक्ति है
इस भक्ति की प्राप्ति में सभी स्वाधीन हैं।

उन्होंने एक अन्य अवसर पर कहा कि भक्त वही है जो प्रेमपात्र से विभक्त न हो अर्थात् जिसका सद्भाव पूर्वक प्रेमपात्र से सम्बन्ध हो जाता है।

नोटः आगे इस विषय पर स्वामी विवेकानन्द की व्याख्या अंग्रेजी में प्रस्तुत है क्योंकि पुस्तक अंग्रेजी में ही उपलब्ध थी।

In vol. 3 of the set of 8 volumes of the complete works of Swami Vivekanand, the swami has dwelt at length and in depth on the various aspects of 'Bhakti' in two chapters captioned Bhakti-Yoga and 'Para Bhakti or Supreme Devotion'. In this very volume of his works, he has talked about 'Bhakti' in two lectures he delivered, one in Sialkot and the other in Lahore.

Some extracts therefrom are reproduced below which are very enlightening on this subject:-

"Bhakti-Yoga is a real genuine search after the Lord, a search beginning, continuing and ending in love..... 'Bhakti says Narada in his explanation of the Bhakti-aphorisms- is intense love to God'. When a man gets it, he loves all, hates none; he becomes satisfied for ever. This love cannot be reduced to any earthly benefit, because so long as worldly desires last, that kind of love does not come. ..... Bhakti is its own fruition, its own means, its own end."

"Upasana in the form of Bhakti is everywhere supreme and Bhakti is

more easily attained than Jnana (ज्ञान). The latter requires favourable circumstances and strenuous practice. Yoga cannot be properly practiced unless a man is physically very healthy and free from all worldly attachments. But Bhakti can be more easily practiced in every condition of life. Shandilya Rishi, who wrote about Bhakti, says that **extreme love for God is Bhakti.** Prahlada speaks to the same effect."

"Bhakti is not the outcome of fear or greedings. He is the true Bhagvata who says 'O God, I donot want a beautiful wife, I do not want knowledge or salvation. Let me be born and die hundred of times. What I want is that I should be ever engaged in Thy service'. It is at this stage and when a man sees God in everything and everything in God- that he attains perfect Bhakti."

"Bhakti is described in several ways in the Shastras. We say that God is our father. In the same way we call Him, Mother and so on. These relationships are conceived in order to strengthen Bhakti in us, and they make us feel nearer and dearer to God."

"..... in the world, there are always some who get intoxicated when they hear of God, and shed tears of joy when they read of God. Such men are true Bhaktas."

"God is love personified. He is apparent in everything. ..... The God of Love is the one thing to be worshipped. So long as we think of Him only as the Creator and Preserver, we can offer Him external worship but when we get beyond all that and **think Him to be Love Incarnate, seeing Him in all things and all things in Him, it is then that supreme Bhakti is attained."**

■

So 'God is Love and Love is God'
&
Bhakti and Love for God are the same.

साधन-सूत्र : 41

करने में सावधान और होने में प्रसन्न रहना

मानव सेवा संघ दर्शन के प्रतिपादक ब्रह्मनिष्ठ संत स्वामी शरणानन्द जी के शरीर त्याग के पश्चात् श्री रघुकुल तिलक जी, जो राजस्थान के राज्यपाल भी रहे ने संस्मरण में लिखा कि स्वामी जी ने गीता के कर्मयोग का थोड़े से शब्दों में निरुपण किया– **"करने में सावधान और होने में प्रसन्न रहना।"**

जीवन के सम्बन्ध में मानव सेवा संघ दर्शन द्वारा कुछ मौलिक नीतियों का निरूपण किया गया है। उनमें से एक नीति यही है जो ऊपर अंकित है।

हम सभी लोगों का अनुभव है कि कुछ तो हम करते हैं और कुछ बिना हमारे किये ही अपने आप होता है। उदाहरण के लिए किसान ने बड़ी मेहनत से खेत बनाया, खूब बढ़िया बीज बोकर यथा समय खाद पानी दिया। फसल अच्छी लहलहाने लगी। कुछ ही दिनों की बात है, दाने पक जायेंगे तो काटकर घर में अनाज आ जायेगा। पर इसी बीच ओला–वृष्टि हो गई और सारी फसल बरबाद हो गई। इसे क्या कहेंगे?–'होना' ही तो कहेंगे।

मरीज़ का इलाज डॉक्टर पूरी ईमानदारी से पूरी योग्यता लगाकर सावधानी से करता है–कहीं चूक नहीं होने देता, घर वाले भी तिमारदारी बिल्कुल सही ढंग से करते हैं, कोई असावधानी नहीं होने देते– फिर भी मरीज़ बच नहीं पाता। इसीलिए तो डॉक्टरों के क्लीनिक में और अस्पतालों में लिखा रहता है– WE TREAT HE CURES या DOCTOR TREATS HE CURES (हम इलाज करते है, ठीक 'वह' करता है या डॉक्टर इलाज करता है, 'वह' ठीक करता है)।

परन्तु यह हमें स्वीकार्य तभी होगा जब इलाज में पूरी सावधानी बरती जाय अर्थात् करने में सावधान रहें।

यदि हम असावधानी बरतेंगे तब तो 'होने' के बाद हमें ग्लानि होगी, अपने को दोषी और उस 'होने' का कारण मानेंगे। ऐसे में फिर 'होने में प्रसन्न रहना' तो नहीं हो पायेगा।

अतः जो विधि के विधान से अपने आप होता है, उसमें प्रसन्न रहना तब ही हो पायेगा जब हम अपने कर्म को पूरी सावधानी

से करेंगे।

सावधानी का अर्थ कह सकते हैं, लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए अपनी पूरी सामर्थ्य और योग्यता लगाते हुए मेहनत और पूरी निष्ठा के साथ सही समय पर कार्य को करना।

मानव सेवा संघ के रजत जयन्ती स्मारिका में प्रकाशित लेख शीर्षक 'मानव सेवा संघ की नीति' में इस विषय की व्याख्या के कुछ अंश उद्धरित हैं जिनमें इस बिन्दु को साधक के दृष्टिकोण से समझाया गया है।

"(1) मानव जीवन में कार्य–क्षमता के साथ–साथ विवेक का प्रकाश भी मिला हुआ है। .....अतः कार्य–क्षमता का सदुपयोग बड़ी ही सावधानी से विवेक के प्रकाश में देखकर करना चाहिये। .....क्षमता के दुरूपयोग में व्यक्ति का ह्रास और सदुपयोग में विकास निहित है। इसलिये सावधानीपूर्वक प्रवृत्ति, कार्य–क्षेत्र की एक सुन्दर नीति है।

(2) .....सामूहिक सहयोग के बिना किसी कार्य का संपादन संभव नहीं है। समूह के वृहत् कार्य में उसी व्यक्ति का जीवन उपयोगी सिद्ध होता है जो प्रत्येक प्रवृत्ति को सावधानीपूर्वक करता है।

(3) .....जो कर्ता अपने लक्ष्य को जाने बिना कर्म में प्रवृत्त होता है, उसकी प्रवृत्ति सावधानीपूर्वक नहीं होती। .. ....प्रत्येक प्रवृत्ति के फल दो रूपों में होते हैं– एक तो वह जो दृश्य रूप से प्रतीत होता है और दूसरा वह जो अदृश्य रूप से उसके अहंभाव में अंकित हो जाता है। प्रवृत्ति का जो दृश्य फल बनता है उसका सुख–दुःख प्रवृत्ति काल में ही कर्ता को प्रत्यक्ष हो जाता है, परन्तु प्रवृत्ति का दूसरा रूप जो अदृश्य के रूप में अंकित हो जाता है, उसका फल प्राकृतिक विधान के अनुसार कालान्तर में किसी न किसी परिस्थिति के रूप में प्रकट होता है। .....वर्तमान की असावधानी कालान्तर में बहुत ही दुःखद फल उत्पन्न करने वाली बन जाती है। इससे मुक्त रहने के लिये कर्ता को वर्तमान में प्रत्येक प्रवृत्ति में, करने में सावधान होना अनिवार्य है।

(4) "यह कर्तव्य–विज्ञान का सत्य है कि सही प्रवृत्ति के फलस्वरूप कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति में सहज निवृत्ति की शान्ति अभिव्यक्त होती है। **प्रत्येक प्रवृत्ति को सावधानीपूर्वक करना राग-निवृत्ति का साधन है।** .....राग-

निवृत्ति की ही शान्ति में योग, बोध और प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। **योग, बोध, प्रेम में ही जीवन की पूर्णता है। करने में सावधान रहने की नीति जीवन की पूर्णता का साधन है।''**

इसके पश्चात् 'होने में प्रसन्न रहना' की चर्चा में कहा गया है कि–

''जो कुछ भी हो रहा है उसमें प्रिय घटनाओं को पकड़ लेने और अप्रिय घटनाओं को घटित होने से रोक देने में, व्यक्ति का कोई वश नहीं चलता। व्यक्ति जो चाहे सो हो जाय ऐसा सम्भव नहीं है। अतः जो कुछ हो रहा है उसमें प्रसन्न रहने की नीति ही व्यक्ति के व्यक्तित्व को संतुलित रख सकती है। अचानक, अप्रत्याशित घटनाओं से क्षुब्ध होकर व्यक्ति अपने को बर्बाद कर लेता है। निज विवेक का आदर करने वाला व्यक्ति जीवन के इस सत्य को जानता है कि जो कुछ हो रहा है उस दृश्य–मात्र से त्रिकाल में भी उसका नित्य सम्बन्ध नहीं है। वह यह भी जानता है कि जो बन रहा है, बदल रहा है, बिगड़ रहा है और मिट रहा है, वह जीवन नहीं हो सकता। इस सत्य के आधार पर भी होने वाली घटनाओं के प्रति मनुष्य का यही रुख सही मालूम होता है कि वह स्वयं दृश्यों से असंग रहते हुए, जो हो रहा है, उसमें प्रसन्न रहे।''

''सृष्टि में जो कुछ भी हो रहा है, वह सृष्टिकर्ता के विधान से हो रहा है। इस तथ्य पर दृष्टि जाते ही 'जो हो रहा है' वह स्वाभाविक लगने लगता है। जो मंगलमय प्रभु के मंगलमय विधान में आस्था रखता है, वह जो हो रहा है, उसमें प्रसन्न रहने लगता है। अनन्त के मंगलमय विधान को स्वीकार कर लेने वाला..... प्रत्येक परिस्थिति को मंगलमय विधान से निर्मित, अपने लिये परम हितकारी जान कर, उसमें प्रसन्न रहता है। इतना ही नहीं, जिस ईश्वर–विश्वासी साधक ने एक अपने परम प्रेमास्पद की ही सत्ता को स्वीकार किया, उस एक से ही सम्बन्ध रखा, उसी की प्रियता को जीवन माना, उसकी प्रीति–निर्मित दृष्टि में 'जो कुछ हो रहा है' सब परम प्रेमास्पद की मधुर लीला ही दिखती है और वह उसमें आनन्दमग्न रहता है।''

''मानव जीवन के उच्चतम विकास के लिये करने में सावधान और होने में प्रसन्न रहने की नीति बहुत ही उपयोगी है।''

■

साधन-सूत्र : 42

अहैतुकी कृपा करने वाले अतिशय दयालु प्रभु

महात्मा गाँधी का कहना था कि "मुझे ऐसा कोई अवसर याद नहीं आता जब मैंने उन्हें (ईश्वर को) सच्चे मन से पुकारा हो और उन्होंने न सुना हो।"

श्रीमद्भागवत् में गजेन्द्र–मोक्ष का एक प्रसंग है। सरोवर में ग्राह गजराज को खींच कर ले जा रहा था। साथ के हाथी उसकी कोई मदद नहीं कर पाये और उसका भी बल काम नहीं कर रहा था। तब उसने असहाय होकर भगवान को पुकारा। पूर्व जन्म में सीखकर कंठस्थ किये हुए स्तोत्र का पाठ करने लगा। उसकी पुकार सुनकर श्री हरि (भगवान) प्रकट हो गये और करुणावश गजराज को ग्राह के चंगुल से बचा लिया।

गीता प्रेस गोरखपुर के द्वारा वही स्तुति गजेन्द्र–मोक्ष के नाम से छोटी सी पुस्तिका के रूप में प्रकाशित है। उसके आरम्भ में 'परिचय' में हनुमान प्रसाद पोद्दार जी ने लिखा है 'महामना मालवीय जी (पं0 मदन मोहन) महाराज कहा करते थे कि गजेन्द्र–कृत इस स्तवन का आर्त–भाव से पाठ करने पर लौकिक, पारमार्थिक महान संकटों और विघ्नों से छुटकारा मिल जाता है.....।'

तात्पर्य हुआ कि जिस प्रकार गजराज ने भगवान को पुकारा था, उसी भाँति कोई भी पुकारे तो वह सुनते हैं और उसका उद्धार करते हैं।

महाभारत ग्रंथ में धृतराष्ट्र की राजसभा में उनके पुत्र दुःशासन द्वारा द्रौपदी को निर्वस्त्र करने के प्रयास का प्रसंग है। उन्होंने पहले अपने पतियों की ओर फिर पितामह और अन्य गुरुजनों की ओर आशा भरी दृष्टि से देखा पर जब किसी ने भी उनकी लाज बचाने हेतु कोई उपक्रम नहीं किया तब उन्होंने असमर्थ होकर द्वारिकाधीश (कृष्ण भगवान) को आर्त–भाव से पुकारा तो भगवान उनका चीर अन्तहीन बढ़ाते ही गये। दुःशासन थककर बैठ गया और द्रौपदी को भगवान ने निर्वस्त्र होने से बचाकर उनकी लाज रखी।

इन दृष्टांतों से यह प्रश्न् उठता है कि क्या ईश्वर पुकारने पर ही सुनते हैं अन्यथा नहीं? यदि ऐसा होता तो उन्हें अहैतुकी कृपा करने वाला कैसे कह सकते थे?

वह तो अतिशय दयालु हैं और दया करने में आलस्य नहीं करते (गजेन्द्र–मोक्ष से)। स्वामी कृष्णानन्द जी ने एक अवसर पर कहा था : "He protects us all the time-we must learn to see His grace in every event."(वह निरन्तर हमारी रक्षा करते रहते हैं–हमें हर घटना में उनकी कृपालुता का दर्शन करना सीखना चाहिये)

यह उनका स्वयं का अनुभव था और अनेक और लोगों का भी ऐसा ही अनुभव है। जब राणा ने मीराबाई के पास ज़हरीला सर्प और फिर विष का प्याला भेजा तो उनके आराध्य गिरधर गोपाल ने स्वयं उन्हें फूलों की माला और अमृत में परिवर्तित कर दिया।

हिरण्यकशिपु ने जब अपने पुत्र प्रह्लाद को पहाड़ से नीचे फेंकवाया, आग में जलाने का प्रयास किया तब उन्होंने (प्रह्लाद) भगवान को पुकारा नहीं, बस उनके ध्यान में मग्न रहे। प्रभु ने अपने आप ही अपने भक्त, अपने शरणी की रक्षा की।

ब्रह्मनिष्ठ संत स्वामी शरणानन्द जी की साधना–काल में उनके सद्गुरु ने उनसे कहा था कि "ठहरी हुई बुद्धि में श्रुतियों का ज्ञान स्वतः प्रकट होता है।" स्वामी जी के जीवन का एक प्रसंग है–पटना में नेशनल साइन्स कांग्रेस का अधिवेशन हो रहा था। स्वामी जी के प्रेमियों ने उन्हें भी आमंत्रित किया। फिर कहा गया कि वह अधिवेशन को सम्बोधित करेंगे। जब वह मंच पर पहुँचे तो अधिवेशन में भाग लेने वालों में से किसी ने कहा कि आप परमाणु–विज्ञान पर कुछ बताइये। प्रश्नकर्त्ता ने चाहे जिस भी भाव से पूछा हो, परन्तु स्वामी जी आधा घन्टा तक विशेषज्ञ की भाँति परमाणु–विज्ञान पर बोलते रहे। जब वह चलने लगे तो एक भक्त ने पूछा कि आप तो केवल कक्षा चार या पाँच तक पढ़े थे, आपने यह सब कैसे बोला। इस पर उन्होंने कहा कि जिसने साइन्स बनाई है उसी ने मुझे बता दिया।

इसका एक पहलू तो यह है कि ठहरी हुई बुद्धि में परमाणु–विज्ञान का ज्ञान स्वतः प्रकट हो गया। दूसरा पहलू यह है कि उनके शरण्य (प्रभु) ने अपने शरणागत का मान रखने के लिये स्वयं ही उनकी वाणी के माध्यम से बोल दिया। स्वामी जी की जिस कोटि की शरणागति थी–सम्पूर्ण समर्पण (total surrender) उसमें उनके द्वारा प्रभु से मदद के लिए कहना–पुकार लगाना, सोचा ही नहीं जा सकता। अतः यही मानना पड़ेगा कि प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से अपनी ही ओर से स्वयं ही उनके मुख से आधे घंटे तक बोलते रहे।

परमहंस योगानन्दजी के जीवन का भी एक ऐसा ही प्रसंग है। जब वह जहाज़ से विदेश जा रहे थे तो रास्ते में उनसे सह–यात्रियों को सम्बोधित करने को कहा गया। परन्तु वह एक शब्द नहीं बोल सके।

अपने केबिन में जाकर अपने गुरु को याद करके खूब रोये। अगले दिन वह पाँच मिनट के बजाय पैंतालिस मिनट तक सुन्दर अंग्रेज़ी भाषा में बोलते रहे और श्रोता शान्त होकर सुनते रहे। यदि रोने को पुकार माना जाय तो दूसरी बात होगी, अन्यथा उनके गुरु ने (सद्गुरु, ईश्वर का ही रूप तो होता है) या प्रभु ने स्वयं अपने बालक की लाज रखने के लिए उनके मुख से बोला।

ऐसा ही अनुभव एक अन्य व्यक्ति का है। किशोरावस्था में इन्टर साइन्स का छात्र था। पढ़ाई ठीक से न करने के कारण क्लास में पिछड़ गया था। एक दिन ट्रिग्नॉमेट्री के क्लास में बोर्ड पर एक प्रश्न् हल करने को कहा गया। उसकी और उसके बाद कुछ और छात्र जिनसे कहा गया, की असफलता पर टीचर बहुत रुष्ट हुए और चेतावनी दी कि यदि एक सप्ताह में क्लास के अपटूडेट नहीं आये तो मैथेमेटिक्स छोड़कर आर्ट्स का विषय ज्वाइन करना पड़ेगा। वह किशोर बहुत परेशान और भयभीत हो गया कि घर पर उसकी बड़ी भद्द हो जायेगी। मैथेमेटिक्स के एलजेब्रा, कोऑर्डिनेट ज्योमेट्री, ट्रिग्नॉमेट्री आदि अनेक उप–विषय थे। उन सब में एक सप्ताह में अपटूडेट आना असम्भव ही था।

कुछ ही दिनों पश्चात् टीचर ने ब्लैक बोर्ड पर कोऑर्डिनेट ज्योमेट्री का एक प्रश्न् लिख दिया और बारी–बारी से उन सबसे अगला स्टेप पूछने लगे जिनको चेतावनी दी थी। उस किशोर ने इस आशंका से कि कहीं उससे न पूछ दिया जाय, डेस्क में मुँह छिपाने का प्रयास किया, तब तक उसे अपना नाम सुनाई पड़ा–वह मंत्रवत खड़ा हुआ और अगला स्टेप बोल दिया जो बिल्कुल सही था। क्लास के अन्त में सबसे तेज़ लड़कों ने पूछा कि तुमने कैसे बता दिया, यह तो हमें भी नहीं मालूम था। उसने कहा कि उसे भी नहीं मालूम कि उसने कैसे बताया।

कदाचित् घबड़ाहट के कारण बुद्धि ठहर गई थी और उसी ठहरी हुई बुद्धि में स्वमेव उत्तर आ गया। परन्तु इसके पीछे प्रभु की अहैतुकी कृपा और अतिशय दयालुता ही मानना चाहिये कि उन्होंने उसे फजीहत से बचाने के लिए उसकी वाणी में स्वयं उत्तर दे दिया। यदि ठहरी हुई बुद्धि का योगदान कहा जाय तब भी उन्हीं की कृपालुता तो थी जिसने उसकी बुद्धि को ठहरा दिया। उसे तो बुद्धि ठहरने का उस समय अता–पता भी नहीं था। सब कुछ अपने आप ही हो गया।

नोटः– वैसे ठहरी हुई बुद्धि में ज्ञान का स्वतः प्रकट होना और उस अनन्त ज्ञान के भंडार प्रभु द्वारा किसी के मुख से स्वयं बोलना तत्वतः एक ही बात है। जब हमारी सोचने की प्रक्रिया बन्द होगी, तभी तो

उन्हें बोलने का या ज्ञान देने का अवसर मिलेगा। यह एक प्रकार से शरणागति ही है। जब अपनी विचार शक्ति का भरोसा टूट जाता है तब वह परम कृपालु स्थिति सम्भाल लेते हैं। उनके लिये सब कुछ बहुत सहज है, हम उनकी शरण में जायें तो! वह तो जब हमें ज्ञान के प्रकाश की आवश्यकता होती है तब ज्ञान देते हैं और जब हम मुखर होते हैं तब वह प्लेबैक सिंगर का रोल अदा करते हैं।

कैसी विलक्षणता है कि:–

(1) उनके बनाये नियम के अनुसार ठहरी हुई बुद्धि में हम उन परम चैतन्य से सीधे जुड़ जाते हैं।

(2) कैसे विशाल और विचित्र कम्प्यूटर हैं कि न website (वेबसाइट) की ज़रूरत और न connectivity (जुड़ने) की समस्या। Instant connection (तत्काल जुड़ जाना) होता है।

(3) उत्तर के लिए search (खोज) भी नहीं करना पड़ता। हमें question feed (प्रश्न् भरना) भी नहीं करना पड़ता। प्रासंगिक (relevent) उत्तर तत्काल (instantly) आ जाता है। यह भी उनकी कृपालुता ही तो है कि वह प्रासंगिक (relevent) ही उत्तर आता है–यह नहीं होता कि उसके बजाय अपनी भक्ति का रहस्य बताने लगें।

(4) यह भी नहीं होता कि वह कहें कि अभी मेरा मन (mood) नहीं है, तुम अपनी समस्या स्वयं झेलो। उन्हें इसीलिए **दया करने में आलस्य नहीं करने वाला** कहा गया है।

पूर्व प्रस्तरों में उन दृष्टान्तों को प्रस्तुत मात्र यह कहने के लिए किया गया है कि ऐसा नहीं है कि प्रभु केवल पुकारने पर ही कृपा करते हैं बल्कि वह अपनी कृपालुता के वश में होकर स्वमेव ही अपने बच्चों का हित साधन करते रहते हैं।

उनकी करुणा, कृपालुता, महिमा का कहाँ तक बखान किया जाय। पुरुषोत्तमदास जलोटा जी ने एक भजन गाया है जिसकी मुख्य (lead) पंक्ति है–

'प्रबल प्रेम के पाले पड़कर प्रभु
को नियम बदलते देखा।
अपना मान टले टल जाये,
भक्त का मान न टलते देखा।।'

ऐसे प्रभु की शरणागति न अपनाकर इधर–उधर अन्य विश्वासों में भटकते रहने से बढ़कर हम लोगों का और क्या दुर्भाग्य हो सकता है? मनुष्य जन्म पाकर उसको गँवाने के समान है।

अतः जिसने उनके प्रति अपने को पूर्णरूपेण समर्पण कर दिया, उनकी शरणागति अपना लिया वह तो निर्भय

और निश्चिन्त हो जाता है। वह उनसे कोई अपेक्षा या चाह नहीं रखता, इसलिए किसी भी परिस्थिति में उसका उन्हें अपने लिए सहायता, कृपा हेतु पुकारने का प्रश्न ही नहीं होता। वह तो अपने को पूर्णतया उनको सौंप देता है और जो भी होता है उसी में प्रसन्न और आनन्दित रहता है।

परन्तु उन्हें पुकारना भी ठीक ही है। किसी संकट की घड़ी में हम उन परम कृपालु सर्व सामर्थ्यवान अपने परम हितैषी को ही तो पुकारेंगे। परन्तु अन्य विश्वास, धन का, बल का या बुद्धि का विश्वास रखते हुए प्रभु को पुकारने का कोई अर्थ नहीं होगा। अनेक विश्वास एक विश्वास में और अनेक सम्बन्ध एक सम्बन्ध में विलीन कर देने पर ही उन्हें पुकारना अर्थ-पूर्ण होता है। जब द्रौपदी ने सबसे निराश होकर, हाथ से और दाँत से भी चीर की पकड़ छोड़ दिया और असमर्थ भाव से उन्हें पुकारा तब कृष्ण भगवान ने उनकी लाज रख ली।

हम उन्हें पुकारते ही तब हैं जब अपनी सामर्थ्य से हार जाते हैं और अपने को नितान्त असमर्थ अनुभव करते हैं। मीरा जी ने और प्रह्लाद ने इसका झंझट ही नहीं रखा। वे पूर्णरूपेण उनके आश्रित हो गये और उनकी भक्ति और प्रेम में मग्न रहे। अपनी कोई इच्छा/चाह ही नहीं रही सिवा उनके प्रेम की।

नोटः— इसका यह अर्थ नहीं है कि हम निष्क्रिय हो जायें। हमें उन्हीं (प्रभु) के आश्रित और शरणागत होकर अपना कर्तव्य–कर्म जो विवेक–विरोधी या अपनी सामर्थ्य–विरोधी नहीं है, को करना ही है। कर्तव्य होता ही वह है जो विवेक–विरोधी और सामर्थ्य–विरोधी न हो। कार्य में सफलता में विलम्ब होने पर हम अधीर और उद्विग्न होते हैं, जिसके लिए वास्तव में कोई औचित्य नहीं है। दृढ़ विश्वास के साथ अपने कर्म में लगे रहें। ऐसे अनेक अनुभूत दृष्टान्त हैं जिन्हें लिखने पर यह गाथा बहुत लम्बी हो जायेगी। इतना ही कहना पर्याप्त और विश्वास को सुदृढ़ करने वाला होगा कि जिस विलम्ब को लेकर हम परेशान होते रहे थे, वह कार्य को सफल बनाने हेतु प्रभु की सुविचारित योजना थी। ऐसे परम हितैषी, परम कृपालु, परम उदार प्रभु के हम आश्रित हो जायें या आर्तभाव से पुकारें वह तत्वतः उनके प्रति विश्वास ही है। और बस आनन्द ही आनन्द है।

■

साधन-सूत्र : 43

ठहरी हुई बुद्धि में श्रुतियों का ज्ञान स्वतः प्रकट होता है

ब्रह्मनिष्ठ, क्रान्तदर्शी, प्रज्ञा–चक्षु संत स्वामी शरणानन्द जी के साधना काल में उनके सद्गुरु ने उनसे कहा कि "अरे भाई, ठहरी हुई बुद्धि में श्रुति का ज्ञान स्वतः अभिव्यक्त (प्रकट) होता है। उसकी पाठशाला है 'एकान्त' और पाठ है 'मौन'।"

उन्होंने ऐसा क्यों और कब कहा वह आगे की चर्चा से ज्ञात हो जायेगा। स्वामी शरणानन्द जी नौ वर्ष के बालक थे तभी उनकी दोनों आँखें चली गईं। घोर दुःख आया। उन में यह प्रश्न् उठा कि क्या ऐसा भी कोई सुख होता है जिसमें दुःख नहीं होता। उत्तर मिला हाँ साधुओं के जीवन में दुःख नहीं होता। बस साधु होने की धुन लग गई। कुछ समय पश्चात् गाँव में एक संत मंडली आई। वह बालक भी वहाँ बैठा था। गाँव वालों ने संत को दुःखी बालक का दुःख सुना दिया।

संत ने कहा– "भैया! राम–राम कहा करो"। बालक ने कहा "मेरा राम–नाम में विश्वास नहीं है"। संत ने कहा "कोई बात नहीं। ईश्वर को तो मानते हो?" बालक ने कहा "हाँ! ईश्वर को मानता हूँ।" इस पर संत ने कहा कि "अच्छी बात है ईश्वर के शरणागत हो जाओ।" संत ने कहा, बालक ने सुना। संत की वाणी जादू का काम कर गई।

संत की वाणी ने मंत्र का काम तो कर ही दिया था। जीवनी में साधुता का विकास आरम्भ हो गया था, परन्तु सन्यास लेना बाकी था। गुरु की आज्ञानुसार माता–पिता के जीवन काल तक रुके रहे। अब तक 18–19 वर्ष की आयु हो चली थी। अन्य संतों–भक्तों की मंडली लेकर सद्गुरु आये और वह घर सम्पत्ति आदि सब छोड़ कर सद्गुरु के साथ चल दिये और विधिवत् सन्यास ले लिए।

गुरु के पास बैठे–बैठे एक समय उन तेजोमय युवक सन्यासी के मन में उपनिषद् पढ़ने का संकल्प उठा, पर आँखें तो थीं नहीं, मन ही मन सोच कर चुप रह गये। तभी सद्गुरु ने उनके बिना पूछे ही वह

ज्ञानोपदेश उन्हें दिया जो ऊपर प्रथम प्रस्तर में अंकित है।

युवक सन्यासी को उत्तर मिल गया। संत (सद्गुरु) ने जो कहा, युवक सन्यासी जिनका अब शरणानन्द नामकरण हो चुका था, ने उसे किया और वे प्रज्ञा–चक्षु हो गये। "मैं" 'यह' और 'वह' का प्रत्यक्ष बोध हो गया। फिर तो यह परिणाम हुआ कि उस बेपढ़े–लिखे की बात सुनकर बड़े–बड़े विद्वद्वरेण्य भी चकित होने लगे।

गौतम बुद्ध ने (राजकुमार सिद्धार्थ) गृह त्याग करने के बाद सत्य की खोज में घोर तप किया। यह सब सर्व विदित है, मात्र इतना लिखना पर्याप्त है कि उसके परिणाम स्वरूप शरीर बहुत ही कमज़ोर और शक्ति क्षीण हो गई थी। उठना, चलना भी कठिन हो गया था। तब वह बिल्कुल निष्चेष्ट हो गये। किसी प्रकार की कोई क्रिया या चिन्तन नहीं था, उस निष्चेष्ट अवस्था में ठहरी हुई बुद्धि में सत्य का प्रकाश अभिव्यक्त हो गया।

इसी प्रकार के तीन दृष्टान्तों का साधन सूत्र–42 में उल्लेख किया गया है। प्रश्न् होता है कि ठहरी बुद्धि है क्या? सद्गुरु ने (प्रथम प्रस्तर) कहा कि उसकी पाठशाला है 'एकान्त' और पाठ है 'मौन'। एकान्त इसलिये कि उसमें भीतर बाहर से शान्त होना सहज होगा। भीड़भाड़ तथा शोरगुल में शान्त होने में व्यवधान होगा। भीतर बाहर से जब शान्त हो जाते हैं– कोई शारीरिक क्रिया या मानसिक हलचल नहीं होगी तब उसी शान्ति में विचार का उदय होता है और सामर्थ्य की प्राप्ति होती है।

ठहरी हुई बुद्धि का अर्थ हुआ जब बुद्धि ठहर गई अर्थात् उसमें कोई हलचल नहीं है– अचिन्त (thought-lessness) की दशा है।

यह सबका अनुभव होगा कि बुद्धि का ठहराव क्षणिक भी होता है। किसी परिस्थिति विशेष में या किसी समस्या का हल समझ में नहीं आता है तब हम अपनी ओर से सोचना बन्द करके शान्त हो जाते हैं। उसी शान्ति में, बुद्धि के उसी क्षणिक ठहराव में समस्या का हल या किसी प्रश्न् का उत्तर अपने आप आ जाता है। इसको इस प्रकार कह सकते हैं कि हमारी चेतना में उस परम चैतन्य से उत्तर आ जाता है। जब बुद्धि ठहर जाती है तब हमारा चेतन उस परम चैतन्य से जुड़ जाता है। वह परम चैतन्य सभी कुछ तो हैं गणितज्ञ, वैज्ञानिक, भाषाविद्, संगीतज्ञ आदि सभी प्रकार का ज्ञान उन्हीं से तो निकला है।

इसीलिए साधन सूत्र–42 में वर्णित छात्र को उन्होंने कोऑर्डिनेट ज्योमेट्री के प्रश्न् का उत्तर बता दिया।

ऐसा भी बहुतों को अनुभव होगा कि किसी परिस्थिति विशेष में क्या करना है समझ में नहीं आता तब यदि हम शान्त हो जाते हैं तो उसी शान्ति में मार्गदर्शक के रूप में विचार का उदय होता है। इसे स्पष्ट करने के लिए एक दृष्टांत प्रस्तुत है। एक व्यक्ति को एक अवसर पर अचानक उपस्थित लोगों को कुछ सुनाने की बात कही गई। अपनी ओर से उसने कुछ नहीं सोचा। क्षणभर की स्वमेव शान्ति या बुद्धि का ठहराव कहें, में क्या बोलना है उसमें अपने आप आ गया।

इस प्रसंग में कुछ अपना अनुभव प्रस्तुत कर रहा हूँ । नाती जो दसवें कक्षा में है कभी–कभी गणित के प्रश्न् पूछता है। यह विषय 65 वर्ष पहले पढ़ा था। फिर भी उनके हल काफी हद तक बता लेता हूँ। परन्तु कभी–कभी हल समझ में नहीं आता है। विभिन्न अवसरों पर एक ज्योमेट्री, एक एल्जेब्रा और एक ट्रिग्नॉमेट्री के प्रश्न् का हल जब समझ में नहीं आ रहा था, तब क्षण भर के लिए शान्त हो गया। स्फुरण के रूप में तीनों के हल जो विशेष ढंग के थे, अपने आप आते गये।

ऐसा ही अनुभव अनेकों को अपने विद्यार्थी जीवन का भी होगा। उस समय यह समझ में नहीं आया कि ऐसा कैसे हो जाता है। पर मानव सेवा संघ दर्शन से परिचित होने पर 'ठहरी हुई बुद्धि' का महत्व समझ में आया।

अतः मानव सेवा संघ के इस दर्शन के महत्व को स्वीकार करके, सब भाँति अपने हितार्थ, एक कार्य के अन्त और दूसरा कार्य प्रारम्भ करने के मध्य थोड़ी–थोड़ी देर शान्त होने का स्वभाव बनाना उपयुक्त होगा। इससे मानसिक थकान नहीं होगी और विचार का उदय भी होगा। नित्य–योग की प्राप्ति हेतु पिछले साधन–सूत्रों में वर्णित मूक–सत्संग को अपनाना हितकर होगा। नित्य–योग की प्राप्ति से ही बोध और प्रेम की प्राप्ति होती है जो मानव की माँग और जीवन का लक्ष्य है। जैसा पहले सूत्रों में लिखा गया है, मूक–सत्संग के लिये सबसे अच्छा समय तो प्रातःकाल (early morning) ही है जब वातावरण शुद्ध और शान्त होता है। अन्यथा रात्रि में सोने से पहले या दिन–चर्या में जब भी अवकाश मिले इसे नियमपूर्वक (regularly) अपनाना, हमारे जीवन में विकास की दिशा में

चमत्कारी / विस्मयकारी (amazing) परिवर्तन लायेगा।

यहाँ एक महत्व की बात सोचने और समझने की है कि उस परम–तत्व परमात्मा से नित्य ही इस प्रकार से जिसका पूर्व प्रस्तरों में वर्णन किया गया है हमारी मुलाकात होती है फिर भी हमें इसका एहसास क्यों नहीं होता। वह हमारे अन्दर, बाहर सदैव विद्यमान हैं, फिर भी उनकी नित्य विद्यमानता का अनुभव क्यों नहीं होता। सबसे पहला कारण तो यह प्रतीत होता है कि हम इसके बारे में इस प्रकार सोचते ही नहीं। मशीनवत् यह सब चलता रहता है हमारे लिये, हम इसके पीछे उस रहस्य पर ध्यान ही नहीं देते।

इसके अतिरिक्त हमने जीवन में उन परम कृपालु, महिमावान के प्रेम की आवश्यकता ही नहीं समझा है। केवल सांसारिक माँगों को लेकर मात्र उन अवसरों पर उन्हें स्वार्थवश याद करते हैं।

हमें यदि आनन्दमय, रसपूर्ण जीवन चाहिये तो उनके प्रति आस्था, श्रद्धा और विश्वास को अपनाते हुए, उन्हें साधन के बजाय साध्य स्वीकार करना होगा।

सोच कर ही लगता है कि वह जीवन कितना सुन्दर होगा जिसमें शान्ति होगी, स्वाधीनता होगी और प्रियता होगी।

■

संसार से सुख की आशा के रहते 'त्याग' नहीं होता। ममता के रहते 'विकार' नहीं मिटते। कामनाओं के रहते 'शान्ति' नहीं मिलती। चाह-रहित हुए बिना 'योग' की सिद्धि नहीं मिलती। असंगता के बिना 'बोध' नहीं हो सकता। आत्मीयता के बिना प्रेम की प्राप्ति नहीं हो सकती। ये सब बातें ध्रुव सत्य हैं। या कहो कि प्रभु का ऐसा कुछ विधान ही है।

साधन-सूत्र : 44

क्या ईश्वर केवल माना ही जा सकता है, जाना नहीं जा सकता

इस प्रश्न् का उत्तर परम कोटि के संत स्वामी शरणानन्द जी से प्राप्त हुआ। परन्तु यह प्रश्न् कैसे उत्पन्न हुआ और किस प्रकार इसका उत्तर मिला इसकी पृष्टिभूमि के वर्णन से इसे समझना सहज होगा।

सर्वप्रथम स्वामी जी का दर्शन का सौभाग्य वर्ष 1955 के दिसम्बर माह में गाज़ीपुर में अपनी ससुराल में प्राप्त हुआ। उस समय दूसरे की निर्बलता को अपना बल न मानना और प्राप्त बल का दुरुपयोग न करना–विषय पर चर्चा हो रही थी।

जब मेरी पत्नी 5–7 वर्ष की थीं तब से उनका और उनके माता पिता–पूरे परिवार का स्वामी जी से बहुत आत्मीय सम्बन्ध था। विवाह के पश्चात् इन्हीं लोगों के माध्यम से स्वामी जी के निकट आने का अवसर और सौभाग्य प्राप्त होता रहा। सेवा–काल में जब जब सम्भव हुआ हम लोग उनके द्वारा स्थापित मानव सेवा संघ आश्रम वृन्दावन जाते रहे।

विद्यार्थी जीवन में मेरे एक मित्र दर्शन–शास्त्र के विद्यार्थी थे। उनसे सुना था कि पूरे ब्रह्माण्ड में एक कल्पित तत्व (hypothetical substance) जिसे ईथर (ether) कहा जाता है, व्याप्त है। उसी में तीव्र कम्पन हुआ जिससे सारी सृष्टि की उत्पत्ति हुई।

बचपन से ही ईश्वर के विभिन्न रूपों से परिचय तो था ही और संस्कार के रूप में आस्था भी मिली कि ईश्वर हैं और कृपालु और दयालु हैं।

परन्तु बड़े होने पर जिज्ञासु बुद्धि (inquisitive mind) से सोच बनने लगा कि ईश्वर कैसे हैं, क्या हैं, कहाँ से आये, आदि। एक बार वर्ष 1965 के जुलाई माह में लखनऊ में सत्संग चल रहा था तो मैं भी ऑफ़िस के बाद रोज़ वहाँ जाता था।

स्वामी जी एकान्त में लेटे थे। मैंने उनके पास जाकर विश्वविद्यालय के अपने मित्र द्वारा बतलाई हुई बात का उल्लेख करते हुए पूछा कि यदि ऐसा है तो ईश्वर में करुणा, कृपालुता और दया कैसे और कहाँ से आई? (ईथर की बात सुनकर मेरे मन में प्रश्न् उठा था कि ईथर तो जड़ होगा, फिर उसमें चेतना कैसे होगी)।

स्वामी जी ने मात्र एक प्रश्न् के रूप में उत्तर दिया कि ये सब तुम्हारे में कहाँ से आये। उनकी उत्तर देने की शैली यही थी। खुलासा बहुत कम करते थे, छोटे सूत्र में ही उत्तर देते थे। बाद में मुझे इस शैली का रहस्य समझ में आया–यदि खुलासा कर दिया जाय तब विषय पर वहीं विराम लग जाता है, पर यदि सूत्र में उत्तर मिलेगा तब उसका अर्थ समझने और पकड़ने के लिए अपनी ओर से उस पर मनन–चिन्तन होता रहेगा।

और यही प्रक्रिया मष्तिष्क में चलने लगी। वर्ष 1966 के जाड़ों में बहराइच, बलरामपुर आदि स्थानों में सत्संग का कार्यक्रम था जिसमें हम लोग भी सम्मिलित हुए। अन्त में गोण्डा रेलवे स्टेशन पर हम लोग स्वामी जी के साथ ट्रेन की इन्तज़ार में खड़े थे। उन्हें मुज़फ्फरपुर जाना था। कई लोगों से बातचीत कर रहे थे। मैं बगल में खड़ा था। उन्होंने अनायास पूछा 'क्या तुमको ईश्वर में विश्वास है?' मेरा उत्तर था–स्वामी जी, खिचड़ी वाला है। उन्होंने बड़े स्नेह से मेरे सिर पर हाथ फेरा और बोले–हो जायेगा।

इसी पृष्ठभूमि में मैंने कुछ वर्ष पश्चात् लखनऊ में सत्संग के अवसर पर स्वामी जी से पूछा कि 'क्या ईश्वर केवल माना ही जा सकता है, जाना नहीं जा सकता।'

उन्होंने विस्तार से समझाया और उनके पश्चात् देवकी बहन जी के प्रवचन का यही विषय रहा। और सब बातें तो भूल गईं, परन्तु मूल याद रहा। उन्होंने कहा कि ईश्वर असीम–अनन्त है। उस असीम–अनन्त को हम अपनी सीमित ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जान नहीं सकते (limited faculty से infinite को comprehend नहीं कर सकते)। जीवन में जैसे अनेक बातों की हमें जानकारी नहीं होती है, पर उसे बिल्कुल सत्य के रूप में मानते हैं, उसी प्रकार ईश्वर को माना ही जा सकता। वह इन्द्रिय

गोचर नहीं है, 'स्व' के द्वारा उसका अनुभव होता है।

देवकी बहन जी ने प्रवचन में कहा कि जिस प्रकार ज्योमेट्री में किसी थ्योरम को सिद्ध करने के लिए एक प्राक्कल्पना (hypothesis) लेकर चलते हैं और अन्त में जो थ्योरम था वह सिद्ध हो जाता है। उसी प्रकार ईश्वर को मान कर चलो तो वह अपने को जना भी देते हैं।

उनके अपने को जनाने के तरीके भी अनेक हैं। कुछ वर्ष उपरान्त मेरी माँ लखनऊ राधास्वामी सत्संग में भाग लेने के लिए गाज़ीपुर से कई और महिला और पुरुष भक्तों के साथ आई थीं।..... लौटते समय मेरे सामने समस्या हुई कि उन्हें ट्रेन से कैसे भेजें। उनका स्वास्थ्य बहुत कमज़ोर था। पर वह अकेले फर्स्ट क्लास में जा नहीं सकती थीं और मेरे पास इतने पैसे नहीं थे कि एक अन्य साथी का उसी क्लास का टिकट लेकर उनके साथ भेज दूँ।

अतः उस ज़माने का थर्ड क्लास का ही टिकट खरीद कर उन्हें साथ लेकर प्लेटफार्म पर ट्रेन की इन्तज़ार कर रहा था। प्लेटफार्म पर बड़ी भीड़ थी। मन में आया कि ट्रेन तो हरदोई से चल चुकी होगी, यदि ईश्वर हैं तो रास्ते में वह कैसे मेरी माँ के लिए जगह बना देंगे। उस ज़माने में एक डिब्बे में कई कम्पार्टमेंट अलग–अलग होते थे। जब ट्रेन आई तो ठसाठस भरी हुई थी। साथ के लोग आगे दौड़कर गये। पर मैं माँ के साथ वहीं खड़ा रहा। पाठक गण पढ़कर आश्चर्य चकित हो जायेंगे कि मेरे ठीक सामने एक कम्पार्टमेंट रुका जो पूरा खाली था–केवल एक आदमी अन्दर से लॉक करके बैठा था। मैंने अन्दर झाँका तो उसने पूछा कि आना है? मेरे हाँ कहने पर उसने दरवाज़ा खोल दिया और मैंने माँ का बिस्तर नीचे बर्थ पर बिछाकर उन्हें आराम से लिटा दिया। साथ वाले दौड़कर बुलाने आये कि आगे जगह बन गई है, तो मैंने माँ के साथ के लिए उन्हीं में से दो तीन को यहीं बुला लिया।

ईश्वर विश्वासी तो इसे संयोग (chance) न कहकर ईश्वर द्वारा इस तरीके से अपने को जनाना ही मानेंगे। अनेकों लोगों के ऐसे ही अनुभव अवश्य होंगे।

पिछले कुछ सूत्रों में ईश्वर–दर्शन, ईश्वर–प्राप्ति आदि की चर्चा हुई है। साधकों के लिए जीवन का लक्ष्य योग, बोध और प्रेम कहा गया है। बोध अपने और ईश्वर को तत्वतः जानना ही तो है। परन्तु यह बोध या जानना ज्ञानेन्द्रियों से नहीं होता है बल्कि 'स्व' द्वारा अनुभव होता है।

प्रभु–प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है। अतः ईश्वर को जानने के लिए नहीं बल्कि उनको मानकर उनके प्रेम की प्राप्ति के लिए हम लोगों को दृढ़तापूर्वक साधन–पथ पर अग्रसर होना है। स्वामी जी कहते थे कि उस प्रेम में अनन्त अगाध रस है जिसकी न कभी क्षति होती है और न पूर्ति। नित–नव रस बना रहता है और साधक उसी में छका रहता है।

अपनी विद्यमानता का अनुभव तो वह कराते ही रहते हैं, बस हमें उसे समझना और पकड़ना है। प्रभु–विश्वासी की दृष्टि में सर्वत्र उनकी विद्यमानता दिखाई देती है और प्रत्येक घटना में उनकी लीला का दर्शन होता रहता है।

■

जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते हैं, उससे सम्बन्ध जोड़ने में भी विश्वास ही हेतु है अर्थात् आस्तिकता का मूल विश्वास ही है। यह नियम है कि जिस पर विश्वास हो जाता है, उससे नित्य सम्बन्ध तथा आत्मीयता स्वतः होने लगती है।

साधन-सूत्र : 45

मानव जीवन का अभिशाप : राग-द्वेष

ब्रह्मनिष्ठ संत स्वामी शरणानन्द जी द्वारा प्रणीत मानव सेवा संघ की द्वितीय प्रार्थना है–"मेरे नाथ! आप अपनी सुधामयी, सर्व–समर्थ, पतित पावनी, अहैतुकी कृपा से मानव मात्र को विवेक का आदर तथा बल का सदुपयोग करने की सामर्थ्य प्रदान करें एवं हे करुणासागर! **अपनी अपार करुणा से शीघ्र ही राग–द्वेष का नाश करें।** सभी का जीवन सेवा, त्याग प्रेम से परिपूर्ण हो जाय।"

प्रश्न् उठता है कि राग–द्वेष है क्या, और वह ऐसा क्या अवगुण है कि उसके नाश के लिए प्रभु की करुणा की दुहाई देकर उनसे प्रार्थना की गई है।

स्वामी शरणानन्द जी ने राग–द्वेष का अर्थ और उनसे छुटकारा पाने का उपाय अनेक प्रकार से समझाया है। मूल तथ्य यह है कि जीवन में राग–द्वेष रहते कोई भी साधना सफल नहीं हो सकती। वह साधन और असाधन साथ–साथ रहने के समान है। वास्तव में साधना का मूल आधार और प्रारम्भ (starting point) है ही राग–द्वेष का जीवन में अभाव।

स्वामी जी से एक साधक ने पूछा–

प्रश्न्– राग–द्वेष क्या है?

उत्तर– दोष मालूम होते हुए भी त्याग न करना राग है। गुण मालूम होते हुए भी ग्रहण न करना द्वेष है। राग त्याग नहीं होने देता व द्वेष प्रेम नहीं होने देता। त्याग व प्रेम से राग–द्वेष मिट जाते हैं। **सारी बुराइयाँ राग–द्वेष से होती हैं।** सारी अच्छाइयाँ त्याग और प्रेम से होती हैं।"

एक ऐसे ही प्रश्न् कि "राग–द्वेष का क्या अर्थ है" उन्होंने इस प्रकार बताया–

उत्तर– भूल को भूल जानकर भी, करना अर्थात् यह जानते हुए भी कि कोई भी संसार में अपना नहीं है, फिर भी किसी को अपना करके, मानना राग है और जो वास्तव में अपना है, उसे अपना न मानना द्वेष है।

निम्नलिखित प्रश्न् और उत्तर से दूसरे ढंग से इस विषय पर प्रकाश मिलता है:–

प्रश्न्– मानव सेवा संघ में कहा जाता है कि या तो किसी को अपना मत मानो या सब को अपना मानो। इसका क्या अर्थ है?

उत्तर– किसी को अपना न मानने से राग

की उत्पत्ति नहीं होती और **सबको अपना मानने से द्वेष उत्पन्न नहीं होता।** इस तरह दोनों मान्यताओं से राग–द्वेष से छुट्टी हो जाती है, जो मानव के विकास में सहायक है।

एक अन्य प्रसंग में मानव जीवन में निर्मलता का महत्व बतलाते हुए स्वामी जी ने कहा कि–

".....अमानवता से मुक्त होने के लिए निर्मलता की ओर गतिशील होना अनिवार्य है। कारण कि निर्मलता के बिना कोई मानव, 'मानव' नहीं हो सकता। ....निर्मलता का वास्तविक स्वरूप क्या है? ...जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं है उसका अपने में आरोप कर लेना ही मलिनता है। उस मलिनता का त्याग करना ही वास्तविक निर्मलता है। वही वस्त्र निर्मल कहलायेगा, जिसमें वस्त्र से भिन्न और किसी वस्तु का समावेश न हुआ हो। यदि किसी कारण से वस्त्र में अन्य वस्तु का समावेश हो गया है, तो उसके निकाल देने पर ही वस्त्र निर्मल हो सकेगा।"

"उसी प्रकार हमारे जीवन में राग–द्वेष आदि का जो समावेश हो गया है, उनके निकालने पर ही हम निर्मल हो सकेंगे।"

"अब विचार यह करना है कि राग–द्वेष की उत्पत्ति क्यों होती है? तो कहना होगा **जिससे मानी हुई एकता और जातीय तथा स्वरूप की भिन्नता हो, उसी से राग होता है** और किसी एक से राग होने पर ही किसी दूसरे से द्वेष होने लगता है। अथवा यों कहो कि जातीय भिन्नता होने पर भी हम किसी को अपना मान लेते हैं तथा अपने को मान लेते हैं। तो इस दृढ़ता से ही राग की उत्पत्ति होती है। इसका जन्म निज ज्ञान के अनादर से होता है। अर्थात् **देह 'मैं' हूँ अथवा देह 'मेरी' है, ऐसी मान्यता ही राग उत्पन्न कर देती है।**"

इसी को और स्पष्ट करते हुए स्वामी जी ने आगे कहा है कि– "यह सभी का अनुभव है कि जिसको हम 'यह' कहते हैं, उसे 'मैं' कहना प्रमाद (भूल) के अतिरिक्त कुछ नहीं है। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को 'यह' कहकर अथवा 'मेरा' कहकर सम्बोधन करते हैं। इस अनुभूति के आधार पर **शरीर को अपना स्वरूप नहीं कह सकते।** जब शरीर के साथ ही 'मैं' पन सिद्ध नहीं हो सकता, तो किसी अन्य के साथ 'मैं' लगाना कहाँ तक सही सिद्ध हो सकता है? अर्थात् कदापि नहीं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि **सीमित 'मैं' और सीमित 'मेरा' ही राग–द्वेष का मूल है, जो वास्तव में अविवेक है।**"

राग–द्वेष की यथार्थता के सम्बन्ध में स्वामी जी का कथन है कि–"राग–द्वेष का मानव जीवन में कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि **राग से पराधीनता और द्वेष से ईर्ष्या आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं**। और मानव जीवन मिला है–निर्दोषता के लिए। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि राग–द्वेष रहित होने पर ही मानव वास्तविक 'मानव' हो सकता है।"

स्वामी जी के कथनानुसार जो अति स्पष्ट और अनुभव सिद्ध है–**अपने सुख–दुःख का कारण अन्य को मानना बड़ी भूल है। जिनको अपने सुख का कारण मानते हैं, उनके प्रति राग होता है** और **जिनको अपने दुःख का कारण मानते हैं उनके प्रति द्वेष होता है**। और राग–द्वेष के रहते हम निर्मलता/निर्दोषता से कोसों दूर रहेंगे। बिना निर्मलता/निर्दोषता के साधन–पथ पर हम अग्रसर हो ही नहीं सकते। इन्हें स्वामी जी ने दिव्यता कहा है। इनके अभाव में साधन का निर्माण नहीं हो सकता और हमारे जीवन के लक्ष्य : योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति नहीं हो सकती।

इसीलिए मानव सेवा संघ की द्वितीय प्रार्थना में राग–द्वेष के नाश पर बल दिया गया है। और प्रथम पृष्ठ पर स्वामी जी के प्रश्नोत्तर के अनुसार त्याग व प्रेम अपने जीवन में अपनाने से राग–द्वेष का नाश हो जायेगा। वास्तव में राग–द्वेष और त्याग–प्रेम एक दूसरे के अन्योन्य (reciprocal) हैं– अन्यत्र स्वामी जी ने कहा है कि ज्यों–ज्यों हृदय राग–द्वेष रहित होता जायेगा, त्यों–त्यों त्याग–प्रेम स्वतः बढ़ता जायेगा।

इसी क्रम में आगे कहा है कि– "**किसी से ममता न रहे, यही त्याग है। त्याग राग को खा लेता है। सभी में अपना दर्शन हो, यही प्रेम है। प्रेम द्वेष को खा लेता है** । त्याग से असंगता–निवार्सना स्वतः आ जाती है। यही वास्तव में मुक्ति है। प्रेम से अभिन्नता और अभिन्नता से एकता आ जाती है। यही वास्तव में भक्ति है। भक्ति और मुक्ति दोनों ही तुम्हारे निज–स्वरूप की दिव्य छटा है। भोग–वासना ने तुम्हें इनसे विमुख किया है। अतः उनका विवेक पूर्वक अन्त कर दो बस, बेड़ा पार है।" ■

राग के बिना द्वेष उत्पन्न ही नहीं होता; अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वेष मिटाने के लिये राग का मिटाना अनिवार्य है।

साधन-सूत्र : 46

गुरु के अनेक शरीर

साधन–सूत्र–20, शीर्षक 'साधन–पथ में गुरु' में यह चर्चा की गई थी कि साधन–पथ के लिए शरीरी गुरु अनिवार्य नहीं है। साथ ही यह भी कहा गया था कि संतों से सुना है कि हम में यदि साधन–पथ पर चलने की, सत्य से अभिन्न होने की तीव्र लालसा है और शरीरी गुरु की आवश्यकता है तो हमें उन्हें नहीं ढूंढ़ना पड़ेगा, सद्गुरु हमें स्वयं ही ढूंढ़ लेंगे और आवश्यक मार्ग–दर्शन करा देंगे।

संतशिरोमणि स्वामी शरणानन्द जी के जीवन का उनका स्वयं का अनुभव, इस प्रकरण में प्रासंगिक है। वही यहाँ प्रस्तुत है:–

"स्वामी शरणानन्दजी के साधना–काल में उनके सद्गुरु का शरीर शान्त होने का समय आया। स्वामी जी महाराज ने सद्गुरु से कहा–'आपका शरीर कुछ काल और रह जाता तो मेरी साधना के लिए अच्छा रहता।' यह सुनकर श्री गुरुदेव ने उत्तर दिया कि "ऐसा क्यों सोचते हो? मेरे अनेकों शरीर हैं, तुम्हें जब आवश्यकता होगी मैं मिल जाऊँगा।"

"सद्गुरु के सद्शिष्य ने गुरुवाणी को गाँठ बाँध लिया। उसके बाद अनेकों बार का अनुभव उन्होंने निज श्रीमुख से हमें सुनाया है कि साधन की दृष्टि से जब–जब स्वामी जी के दिल में कोई प्रश्न् उठता, तत्काल कोई न कोई संत मिल जाते और समाधान कर जाते। श्री महाराज जी को यह पक्का अनुभव हो गया कि उनके सद्गुरु के अनेकों शरीर हैं और किसी न किसी रूप में वे मार्गदर्शन कर देते हैं। इतना निश्चय होते ही स्वामी जी महाराज निश्चिन्त हो गये।"

"एक समय एक समस्या को लेकर गंगा जी के तट पर अकेले बैठे थे। गुरुदेव की याद आई। श्री स्वामी जी ने तुरन्त सोच लिया कि जब अनेकों शरीर गुरुदेव के हैं तो यह शरीर भी तो उन्हीं का है।

किसी भी शरीर के माध्यम से जब वे मार्ग दिखा सकते हैं, तो यह शरीर भी तो उनका ही अपना है। इसके माध्यम से भी वह मेरी मदद कर सकते हैं। इतनी बात ध्यान में आने भर की देर थी कि समस्या हल होने में देर नहीं लगी।''

''फिर तो गुरु–तत्व को अपने ही में विद्यमान जानकर, बाह्य गुरु की आवश्यकता को ही उन्होंने समाप्त कर दिया। शरीर के लिए संसार का आश्रय तो वे पहले ही छोड़ चुके थे, अब गुरु–तत्व को स्वयं में ही विद्यमान जानकर इस दिशा में भी वह सर्वथा स्वाधीन हो गये। भीतर बाहर परमानन्द छा गया।''

गुरु के सम्बन्ध में एक प्रश्नोत्तर भी महत्वपूर्ण है। एक साधक ने पूछाः–

प्रश्नः गुरु की पूजा करनी चाहिए क्या?

उत्तरः पूजा–प्रार्थना सब परमात्मा के साथ करने वाली बात है। गुरु परमात्मा का बाप हो सकता है, परमात्मा नहीं। हाँ, गुरु–वाक्य, ब्रह्म–वाक्य हो सकता है। गुरु श्रद्धास्पद हो सकता है, प्रेमास्पद नहीं। व्यक्ति को यदि परमात्मा मानना है तो सबको मानो। सब में परमात्मा है। **गुरु साधन रूप हो सकता है, साध्य नहीं।**

■

अगर बाह्य गुरु के बिना तत्त्व–साक्षात्कार नहीं होता, तो आप यह बताइये कि सबसे पहले तत्व–साक्षात्कार कैसे हुआ होगा? आखिर गुरु परम्परा चली होगी कि नहीं? तो जो सबका गुरु होगा, मानना पड़ेगा कि उसका गुरु कोई नहीं होगा। यदि एक व्यक्ति को भी बिना गुरु के तत्त्व–साक्षात्कार हो सकता है, तो यह विधान तो नहीं हुआ कि बिना गुरु के तत्व–साक्षात्कार नहीं हो सकता।

साधन-सूत्र : 47

प्रभु–प्रेम की प्राप्ति का सहज उपाय

मानव सेवा संघ दर्शन में मानव की माँग और जीवन का लक्ष्य शान्ति, स्वाधीनता और प्रियता; दूसरे शब्दों में योग–बोध–प्रेम कहा गया है। परन्तु अन्तिम लक्ष्य प्रभु–प्रेम की प्राप्ति ही है। पिछले कई साधन–सूत्रों में प्रभु–प्रेम की चर्चा की गई है और उसकी प्राप्ति के लिए केवल उन्हें अपना मानना ही सहज उपाय कहा गया है।

एक साधक द्वारा पूछने पर स्वामी शरणानन्द जी ने बहुत ही सुन्दर ढंग से सहज सुस्पष्ट उपाय बताया है जो उद्धरित है:–

प्रश्नः प्रेम की प्राप्ति कैसे हो?

उत्तरः सब दूसरी ममताओं को त्यागकर, केवल प्रभु को ही अपना मानो, इसी से प्रेम की प्राप्ति होगी। **एक मात्र प्रभु को अपना मानना और कुछ नहीं चाहना–यही प्रेम प्राप्त करने का उत्तम साधन है।** बहुत तप तथा यज्ञ करने से प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। तप तो हिरण्यकशिपु और रावण ने बहुत किये थे, परन्तु उनको प्रेम की प्राप्ति नहीं हुई। एक सहस्त्र यज्ञ करके इन्द्र बनकर स्वर्ग का राज करता है, किन्तु उसे भी प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। ध्यान और चिन्तन से भी प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। इससे तो चित्त की शुद्धि होती है।

"उपर्युक्त सब बातें प्रेम की प्राप्ति में सहायक हैं परन्तु **प्राप्ति का मुख्य साधन प्रभु से अपनी आत्मीयता का होना है।** आत्मीयता होती है अन्य सभी ममताओं के त्याग से। धन भी मेरा और प्रभु भी मेरा–दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं।"

"अपना मान लेने पर प्रीति का प्रादुर्भाव होना अनिवार्य है। सब इस बात को जानते हैं। अपना शरीर रोगी हो तब भी प्यारा लगता है। अपना पुत्र काना हो तब भी प्यारा लगता है। अपना जीर्ण–शीर्ण मकान भी प्यारा लगता है। फिर प्रभु तो सर्वगुण सम्पन्न, सुख के

भण्डार और सौन्दर्य की निधि हैं। हम भगवान को अपना मान लें और प्रीति जागृत न हो –यह बात कैसे हो सकती है?''

ऐसे ही एक और प्रश्न् का स्वामी शरणानन्द जी का उत्तर बहुत ही प्रासंगिक है और उससे इस विषय के बारे में हर प्रकार का भ्रम का निवारण हो जाता है। उसका उद्धरण प्रस्तुत है:–

प्रश्न्: मानवता का स्वरूप क्या है और भगवान में मन कैसे लगे?

उत्तर: उदार होना, असंग होना और भगवान का होकर रहना अर्थात् **जीवन में सेवा–त्याग–प्रेम का आ जाना ही मानवता का स्वरूप है।** भगवान में आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता करने पर उनमें प्रीति होगी तब प्रभु की स्मृति जगेगी और सहज ही प्रभु में मन लग जावेगा। प्रभु की महिमा स्वीकार कर लेने पर, प्रभु से नित्य सम्बन्ध मानने पर, एक मात्र प्रभु का आश्रय ग्रहण कर लेने पर, मनुष्य के हृदय में प्रीति जागृत होगी और सहज ही मन भगवान में लग जायेगा।

उन्होंने आगे कहा है:–

''जब तक हम संसार की ममता, आसक्ति और कामनाओं का त्याग नहीं करेंगे, तब तक संसार हमारी छाती पर चढ़ा ही रहेगा। हम चाहेंगे चिन्तन करना भगवान का, होगा संसार का। हाथ में माला व मुख से नाम लेते रहने पर भी मन संसार में भटकता रहेगा। यही तो संसार का छाती पर चढ़ा रहना है। भूल यह है कि हमने संसार को प्रभु का नहीं माना। यदि हम सच्चे हृदय से संसार को भगवान का मान लें फिर मन भगवान में न लगे–ऐसा हो नहीं सकता। जब तक कुटुम्ब का मोह, धन का लोभ और भोगों की आसक्ति बनी रहेगी तब तक सब कुछ सुनने व समझने के बाद भी न तो मन भगवान में लग सकेगा और न ही हमारा कल्याण ही हो सकेगा। अतः साधक को मोह, लोभ और आसक्ति का त्याग करके साधन करना चाहिए, सफलता अवश्य मिलेगी।''

नोटः स्वामी जी के शब्दों में ''अपने कल्याण का अर्थ है, अपनी प्रसन्नता के लिए 'पर' की आवश्यकता न रहे।''

■

साधन-सूत्र : 48

मंगलकारी प्रभु का मंगलमय विधान

ईश्वर ने सृष्टि की रचना की और उसका एक विधान बना दिया। उसी विधान की मर्यादा में सारी सृष्टि चल रही है। प्रभु मंगलकारी हैं और उनका विधान भी मंगलमय है। स्वामी शरणानन्द जी ने 'मंगलमय विधान' नाम से एक पुस्तक लिखवाया, जो मानव सेवा संघ वृन्दावन से प्रकाशित है। विधान की मंगलमयता के सम्बन्ध में एक प्रश्न् और स्वामी जी का उत्तर आगे प्रस्तुत है–

प्रश्न्: प्रभु का हर विधान मंगलमय है–यह बात कैसे समझ में आये?

उत्तरः "यह श्रद्धा का विषय है। साधक को आस्था और पूर्ण विश्वास हो जाने से एक बड़ा लाभ यह होता है कि उसे प्रभु का बल मिलता है। प्रभु परम दयालु हैं, क्रूर नहीं, परम शान्त हैं, क्रोधी नहीं। प्रभु सदा सजग हैं, वहाँ भूल नहीं होती। हमारी भलाई का जितना हमें ज्ञान है, उन्हें उससे अधिक ज्ञान है। जो काम नहीं करना है उसे भी हम कर लेते हैं और चाहते यह हैं कि ईश्वर से सब प्रकार की सुविधा मिले। जैसे–सूर्य का प्रकाश, श्वॉस लेने के लिए वायु, पीने के लिए जल और धरती माता का आश्रय हमें निरन्तर मिल रहा है। जो इतने उदार व कृपालु हैं, वे हमारे लिये कठोर विधान कैसे बना सकते हैं।"

"इस प्रकार चिन्तन करते रहने से उनके मंगलमय विधान में श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। विधान में तीन बातें होती हैं–जानना, मिलना और होना, **यदि हम जाने हुए का आदर, मिले हुए का सदुपयोग करने लग जायें तो जो होने वाला है वह मंगलमय ही होगा। करने में सावधान रहने से होने में प्रसन्न रहने की योग्यता आ जाती है।**"

प्रो0 देवकी जी, जिनको स्वामी शरणानन्द जी ने में उनके साधन–पथ पर मंजिल के लिये चल पड़ने पर नया नाम दिव्यज्योति प्रदान किया, ने 'मंगलमय विधान' पुस्तक में परिचय (preface) में स्वामी जी के सम्पर्क में आने के पूर्व की अपनी

दशा और स्वामी जी की प्रेरणा से साधन-पथ पर चल पड़ने के उपरांत की अपनी दशा का वर्णन इस प्रकार किया है:–

"एक समय था जब सृष्टि का विधान मुझे अपनी ज़रुरत के सर्वथा विपरीत प्रतीत होता था। घटना–चक्र का आशातीत गति से घूमते रहना, अनुकूलता का प्रतिकूलता में बदल जाना, प्रिय संयोग के सुख का दुस्सह वियोग के दुःख में बदल जाना..... और अपना वह विवश चित्र–ठगी ठगी सी हत्बुद्धि हो देखते का देखते रह जाना–बड़ा ही क्रूर प्रतीत होता था। कोमल हृदय की कोमल भावनायें नियति के कठोर थपेड़ों से चकनाचूर हो जातीं और घायल हृदय के विवश क्षोभ की आवाज़ सुनाई देती–कौन है सृष्टि का मालिक? कौन है मेरा निर्माता? क्या मज़ा आता है उसको सृष्टि बनाने में और व्यक्ति को इतना विवश और दुःखी करके रखने में कि **वह जो चाहता है सो होता नहीं, जो होता है सो भाता नहीं और जो भाता है वह रहता नहीं?** यह भी कोई लीला है जिसमें कोई तड़प–तड़प कर जीने के लिए बाध्य हो और किसी का खेल चले?"

"पर धन्य है सृष्टि का करुणामय विधायक और धन्य है उसका मंगलमय विधान। मुझमें विद्रोह उठता रहा और उसमें प्यार उमड़ता रहा, जिसका मिठास मैं आज अनुभव कर रही हूँ.....।"

पुस्तक के 'परिचय' में उन्होंने थोड़े में ईश्वर के विधान की मंगलमयता का जो वर्णन किया है उसके कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं:–

"वस्तुतः जो व्यक्ति का किया हुआ नहीं है, विधान से स्वयं हो रहा है, वह किसी भी प्रकार किसी के लिए अहितकर नहीं है।.....उदाहरणार्थ निम्नलिखित स्वतः होने वाली वैधानिक बातों पर विचार करें–

प्रत्येक उत्पत्ति का विनाश हो रहा है।

प्रत्येक संयोग वियोग में बदल रहा है।

प्रत्येक जन्म मृत्यु में बदल रहा है।

प्रत्येक प्रवृत्ति से सामर्थ्य का ह्रास हो रहा है।"

"सारांश में 'यह' कि प्रतीति में निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। इसका कर्ता कोई व्यक्ति नहीं है। यह सब किसी विधान से स्वतः हो रहा है। जिस विधान से यह सब हो रहा है उसी विधान से व्यक्ति को विवेक का प्रकाश मिला है। उस प्रकाश में यह स्पष्ट दिखाई देता है कि जो प्रतीत हो रहा है उसमें अनवरत गति है। अतः उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। फिर भी हम यदि प्रतीति का आश्रय लेकर जीना

चाहते हैं तो यह विवेक का अनादर है। यह अपनी भूल है। 'प्रतीति में स्थायित्व नहीं है', इस वैधानिक तथ्य के प्रति सजग होते ही विचारों और भावों का प्रवाह चलने लगता है। प्रतीति से अतीत जीवन की खोज तथा **प्रतिपल नये–नये रूप धारण करने वाले दृश्यों की लुभावनी कलाकृति के कुशल कलाकार में आस्था आरम्भ हो जाती है।** खोज के द्वारा उससे अभिन्न होकर, आस्था के द्वारा उसकी प्रीति होकर मानव कृतकृत्य हो जाता है। अतः जो कुछ हो रहा है मंगलमय विधान से ही हो रहा है।"

कोई यह प्रश्न् कर सकता है कि आखिर ईश्वर ने ऐसा विधान ही क्यों बनाया जिसमें प्रत्येक उत्पत्ति का विनाश हो रहा है, प्रत्येक जन्म मृत्यु में बदल रहा है आदि? परन्तु यह प्रश्न्कर्ता को भी स्पष्ट होगा, थोड़ा विचार करने पर कि यदि यह विधान नहीं बना होता और जन्म ही जन्म होता मृत्यु न होती तो पृथ्वी पर जन्म लेने वालों को पैर रखने की भी जगह नहीं मिलती। 'प्रतीति' में स्थायित्व होता तो सब कुछ घिसा–पिटा, नीरस और उबाऊ होता (stale and uninteresting)।

इसलिए देवकी बहन जी ने कहा है कि "उत्पत्ति के मूल में किसी का संकल्प है। इस दृष्टि से भी अव्यक्त जब व्यक्त हुआ है, तो इस व्यक्त रूप का नयापन बना रहे, अविछिन्नता (continuity) बनी रहे, इसके लिए निरन्तर परिवर्तन अनिवार्य है। परिवर्तन की अनिवार्यता पर दृष्टि जाते ही 'जो हो रहा है' वह स्वाभाविक लगने लगता है.....।"

पुस्तक में विधान के मंगलमय होने के अनेक चमत्कारिक उदाहरणों का होना बताते हुए उन्होंने एक उदाहरण प्रस्तुत किया है:

"मानव के जीवन में सामर्थ्य के सदुपयोग से जो विकास होता है, असमर्थता की पीड़ा से भी वही विकास होता है। कैसा अनुपम विधान है जिसमें सामर्थ्यवान और असमर्थ दोनों का हित समान रूप से निहित है।"

मानव जीवन के एक अन्य पहलू को लेकर पुस्तक के 'परिचय' में उन्होंने कहा है कि– "व्यक्तिगत भिन्नता एक प्राकृतिक तथ्य है।..... साथ ही माँग की दृष्टि से मानव–मात्र एक है, इसलिए कि शान्ति, स्वाधीनता और प्रेम सभी को चाहिये। इस माँग की पूर्ति का ऐसा अद्भुत विधान है कि रुचि, योग्यता एवं परिस्थितियों की भिन्नता कोई अर्थ नहीं रखती, कारण कि **माँग की पूर्ति श्रम–रहित होने में है। श्रम करने में सभी एक दूसरे से**

भिन्न हैं, परन्तु श्रम–रहित होने पर सभी एक हैं। इस दृष्टि से जीवन की माँग की पूर्ति में सभी समान रूप से स्वाधीन एवं समर्थ हैं। जिस विधान से उन्हें यह स्वाधीनता एवं सामर्थ्य मिली है वह मंगलमय है''

इसी पुस्तक में स्वामी जी का कथन है कि–

''आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति मंगलमय विधान से स्वतः होती है। कर्तव्यनिष्ठ के लिए आवश्यक सामर्थ्य और जिज्ञासा–पूर्ति के लिए विचार का उदय एवं शरणागत में प्रीति का उदय स्वतः मंगलमय विधान से होता है। **प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग करने पर ही मानव असमर्थता में आबद्ध होता है।** सामर्थ्य का सदुपयोग करने पर आवश्यक सामर्थ्य बिना ही माँगे प्राप्त होती है। इतना ही नहीं, **असमर्थता की व्यथा में भी विकास निहित है, यह मंगलमय विधान है।**''

अन्त में देवकी बहन जी ने एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। उन्होंने लिखा है:–

''जो व्यक्ति का किया हुआ नहीं है, अपने आप ही हो रहा है, जिसका सामना करने के लिए व्यक्ति बाध्य है, उसके सम्बन्ध में जिज्ञासा स्वाभाव से ही होती है। जो विधान से हो रहा है, उसका ठीक अभिप्राय न समझने के कारण अनेक भ्रमात्मक धारणायें उसके सम्बन्ध में व्यक्ति बना लेता है, विधान और विधायक को कोसता है और अपने विकास में अपने को विवश मान लेता है। इससे उसका जीवन निष्फल हो जाता है। अतः अपने जीवन के विधान के सम्बन्ध में स्पष्ट परिचय सभी के लिए अत्यन्त आवश्यक है।''

मंगलकारी प्रभु का विधान मंगलमय होना ही है। ऐसे महान करुणामय प्रभु की हम सभी शरणागति अपनायें, इसी में हमारा कल्याण है। ■

ममता और कामना के त्याग का दायित्व मानव पर है, जिसको पूरा करने पर निर्विकारता तथा परम शान्ति की अभिव्यक्ति उसी मंगलमय विधान से स्वतः होती है।

साधन-सूत्र : 49

क्या चाह और कामना के अभाव में, निष्क्रियता आ जायेगी?

नहीं ऐसा नहीं होता। विचार करने की बात है कि यदि कोई ऐसा सोचता है कि कर्म के लिए चाह या कामना आवश्यक है तो उस दशा में भगवान श्री कृष्ण द्वारा मानव जाति के लिए प्रदत्त कर्मयोग और निष्काम–कर्म का सारा ज्ञान वृथा हो जायेगा।

यदि किसी कर्म के पीछे प्रेरक कामना या चाह है तो सबसे पहले यह मानना होगा कि हम अपनी कामना, चाह की पूर्ति हेतु गलत/अवांछनीय तरीके भी अपना सकते हैं। दूसरे किसी की सभी कामनाएँ कभी पूरी नहीं होतीं अतः कामना/चाह की अपूर्ति में दुःख और निराशा प्राप्त होगी।

साधन–सूत्र–33 शीर्षक 'सेवा का अर्थ एवं स्वरूप' में स्वामी शरणानन्द जी के शब्दों का उल्लेख किया गया है कि सेवा करने के लिए राग अपेक्षित नहीं है, अपितु उदारता की अपेक्षा है।

एक साधक ने स्वामी जी से प्रश्न् किया कि बिना इच्छा के कर्म कैसे हो सकता है। इसका समाधान स्वामी जी ने इस प्रकार किया:–

"देखो! कर्म और चीज़ है, सेवा और चीज़ है। कर्म तो होता है अपने सुख के प्रलोभन को लेकर और सेवा होती है दूसरों के हित को लेकर। **आपकी इच्छायें अपने सुख को लेकर न उठें, हमारी पीड़ा को लेकर उठें।** हे भगवान, तुमने मुझे आँखें दी हैं, मैं अन्धे के काम आ जाऊँ। हे भगवान, तुमने मुझे धन दिया है, मैं निर्धन के काम आऊँ। हे भगवान, तुमने मुझे बल दिया है, मैं निर्बल के काम आऊँ।"

"**आप इच्छाओं का रुख बदल दीजिये, इच्छायें मिट जायेंगी।** परन्तु दुःख की बात यह है कि आपको जो कुछ मिलता है आप उसी से सुख लेना चाहते

हैं। आप समाज व परिवार को कुछ देना नहीं चाहते, उनसे सुख की अपेक्षा करते हैं। **इच्छा यह उठे कि मैं दूसरों के काम आ जाऊँ।** जब आपकी यह माँग सबल हो जायेगी, इच्छायें मिट जायेंगी। भगवान ने आपको इतना सुन्दर बनाया है कि आप चाहो तो सारे संसार के काम आ जाओ।"

"आप कहें कि कैसे आ जायें, हमारे पास तो थोड़ा सा बल है, और संसार बहुत बड़ा है। मानव सेवा संघ कहता है कि मन, वाणी, कर्म से बुराई रहित हो जाओ, संसार के काम आ जाओगे। **बुराई मत करो, भलाई करो या न करो।**"

कोई प्रश्न् कर सकता है कि यदि किसी व्यक्ति–उदाहरणार्थ एक विद्यार्थी में कोई महत्वाकांक्षा (ambition) और चाह (desire) नहीं होगी तो वह पढ़ाई ठीक से करने के लिए कैसे उत्प्रेरित होगा। यहीं पर हम लोगों से भूल होती है कि हम बच्चों के ऊपर अपनी इच्छाओं/कामनाओं का बोझ लाद देते हैं कि तुम्हें कक्षा में अव्वल आना है, तुम्हें आई0ए0एस0/डॉक्टर/इन्जीनियर आदि बनना ही है। कभी–कभी बच्चे स्वयं भी गलत धारणाओं के कारण अपने लिए लक्ष्य निर्धारित (targets fix) कर लेते हैं कि मुझे कक्षा/परीक्षा में यह श्रेणी (position) लाना ही है, अमुक पद पाना ही है। इसका नतीजा होता है कि बच्चा तनाव (stress/tension) में रहता है। और यदि संकल्प (expectation) के अनुरूप सफलता नहीं मिलती है तो हताशा से ग्रसित हो जाता है जिसका बहुत कुपरिणाम होता है।

अतः बच्चों में चाह/कामना के बजाय कर्तव्यपरायणता का बीज बोना चाहिये। छात्र जीवन में ठीक से पढ़ाई करना छात्र का कर्तव्य है। **कर्तव्य–निष्ठा का भाव ठीक से पढ़ाई करने के लिए उत्प्रेरक होना चाहिए।** लेखक के एक मित्र पढ़ाई के प्रति इसी भाव से सत्र (session) प्रारम्भ होने के पहले ही दिन से नियमित (regular) पढ़ाई करते थे। परिणाम भी अच्छे आते थे। उन्हें जो उपलब्धि हुई उसे उन्होंने कभी लक्ष्य (target) नहीं बनाया। बिल्कुल शान्त मन से कर्तव्य की दृष्टि से पढ़ाई करते थे। बी0एस0सी0 की फाइनल परीक्षा के पूर्व उनके पिताजी इलाहाबाद

होस्टल में मिलने आये थे। उन्होंने अपने बेटे से पूछा कि कैसा डिवीज़न आयेगा। उन्होंने संकोच (humility) वश धीरे से कहा कि प्रथम डिवीज़न आना चाहिये। इस पर पिता जी ने पूछा कि तुमने पढ़ाई ठीक से किया है कि नहीं। उनके हाँ कहने पर पिता जी ने कहा कि तुमने अपनी ड्यूटी पूरी किया है तो यदि तुम फ़ेल भी हो जाओ तो मुझे कोई शिकायत नहीं होगी। उक्त मित्र ने कोई लक्ष्य (targets) नहीं बनाया था, परन्तु फिर भी इन्टर साइन्स के तीनों विषयों में डिस्टिन्कशन प्राप्त किया था और बी0एस0सी0 में सर्वोच्च स्थान प्राप्त (top) किया।

यही बात कर्म के हर क्षेत्र में लागू होती है। ऊपर उद्धरण में अंकित है कि स्वामी जी ने सलाह दिया है कि "इच्छाओं का रुख बदल दीजिये, इच्छायें मिट जायेंगी।" देखिये, एक व्यक्ति यह इच्छा रखता है कि मैं डॉक्टर बनूँगा, खूब पैसे अर्जित करुँगा, बड़ा मकान बनवाऊँगा, बड़ी–बड़ी मोटर गाड़ियाँ होंगी, खूब ऐशो–आराम करुँगा। दूसरा व्यक्ति इस भाव से डॉक्टर बनना चाहता है कि डॉक्टर बनकर मरीज़ों की खूब सेवा करुँगा। बात वही है, पर एक की प्रेरणा चाह और स्वार्थ है, जबकि दूसरे की प्रेरणा सेवा–वृत्ति है।

एक अन्य उदाहरण लें। एक वैज्ञानिक कैन्सर की दवा निकालने के लिए रिसर्च में लगा हुआ है। वह सोचता है कि मैं सफल हो गया तो उसे पेटेन्ट करा लूँगा, ख़ूब धन कमाऊँगा, खूब ख्याति होगी और नोबेल प्राइज़ मिलेगा। दूसरा वैज्ञानिक कैन्सर के भयावह परिणामों को सोचता है कि मरीज़ कितना शारीरिक और मानसिक कष्ट झेलता है, उसके परिवार को कितना मानसिक कष्ट और आर्थिक कठिनाई झेलनी पड़ती है। मरीज़ बचा नहीं तो परिवार उजड़ गया और यदि मरीज़ ही कमाऊ (earning member) था तो आर्थिक विपदा भी भोगना पड़ता है। वह किसी अपनी चाह से नहीं बल्कि करुणा से प्रेरित होकर रिसर्च में जुटा रहता है। ऐसा सुना है कि यदि भाव शुद्ध हो तो ईश्वरीय सहायता (divine help) भी मिलती है।

किसी ने प्रश्न किया कि ईश्वर–प्रेम की प्राप्ति अथवा अपने नित्य, अविनाशी,

रसरूप जीवन की प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य बताया गया है। इसके लिए चाह और कामना होगी तब ही तो इसकी प्राप्ति होगी। अन्यथा कैसे होगी?

विचार करने की बात है कि चाह और कामनाएँ शरीर और संसार को लेकर उठती हैं। जिसने अपने को साधक स्वीकार किया उसके जीवन में शान्ति, स्वाधीनता और प्रियता/योग, बोध, प्रेम की **माँग** होती है। अपना दायित्व पूरा करने पर माँग की पूर्ति स्वतः होती है।

पर यदि कोई प्रभु–प्रेम की प्राप्ति के सम्बन्ध में चाह और कामना शब्द का प्रयोग करना ही चाहता है तो उसका अर्थ सांसारिक वस्तुओं, परिस्थितियों की प्राप्ति, नहीं होगा बल्कि भाव की दृष्टि से वह प्रभु–प्रेम की **'लालसा'** के ही अर्थ में आयेगा।

यह अर्थ उसी दशा में सत्य होगा जब हमने प्रभु को अपना साध्य माना है न कि सांसारिक उपलब्धियों के लिए साधन बनाया है। स्वामी जी कहते थे कि **यदि प्रभु से कोई चाह हो, तो यही होना चाहिए कि प्रभु तुम मुझे प्यारे लगो।** यह चाह उस 'चाह' से भिन्न है जिसे लेकर जीवन में 'अचाह' होने के लिए संतो द्वारा, अपने धार्मिक ग्रंथों द्वारा सलाह दी गई है।

अतः चाह/कामना रहित होकर हम निष्क्रिय नहीं होंगे बल्कि हम से जो भी कर्म होंगे वे अति सुन्दर होंगे, कर्म के अन्त में सन्तोष और प्रसन्नता होगी, फल जो भी हो। ऐसे व्यक्ति को इस बात का पूर्ण ध्यान रहता है कि उसकी भूमिका (role) सिर्फ़ कर्म करना है–फल उसके हाथ में नहीं है–फल तो विधान से बनता है।

■

यदि कोई यह कहे कि निष्काम होने से तो भौतिक विकास ही नहीं होगा; कारण कि कामना से प्रेरित होकर ही मानव भौतिक उन्नति में प्रवृत्त होता है, पर वास्तविकता यह नहीं है। भौतिक विकास प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग अर्थात् कर्तव्य–कर्म से होता है। भौतिक उन्नति कामनायुक्त प्राणियों की होती है, इसमें लेशमात्र भी वास्तविकता नहीं है।

साधन-सूत्र : 50

जीवनोपयोगी संत-वचन (भाग–1)

मानव सेवा संघ के प्रणेता ब्रह्मनिष्ठ, क्रान्तदर्शी, प्रज्ञा-चक्षु संत स्वामी शरणानन्द जी द्वारा प्रदत्त दर्शन के कुछ उद्धरण नीचे प्रस्तुत हैं जो अनमोल रत्न के समान हैं जिन्हें धारण करके हम अपने जीवन को सुन्दर और आनन्दमय बना सकते हैं। इस साधन–सूत्र के पहले जीवन संबंधी अनेक विषयों पर साधन–सूत्र के रूप में जो चर्चा हुई है उनके लिये अब प्रस्तुत उद्धरण में से कई पूरक के रूप में उपयोगी होंगे और सभी वास्तविक नित्य, अविनाशी, रसरूप जीवन की प्राप्ति के लिये मार्गदर्शक और प्रेरणादायक सिद्ध होंगे। अधिकांश प्रश्नोत्तर के रूप में हैं जिन्हें इस साधन सूत्र–50 और अगले साधन सूत्र–51 में उल्लेख किया जा रहा है:–

1.प्रश्न: स्वामी जी बोध किसे कहते हैं?
उत्तर: यह सब सृष्टि, ब्रह्मा, विष्णु, महेश सब कुछ मैं ही हूँ। यह है बोध, यानि बोध में अहम् विभू हो जाता है।

नोट: मानव जीवन की माँग या लक्ष्य, योग, बोध, प्रेम बताया गया है। उसी बोध शब्द का अर्थ स्पष्ट किया गया है।

2.प्रश्न: चेतना क्या है?
उत्तर: चेतना सूर्य के समान है जो स्वयं प्रकाशित है और जिससे जड़ पदार्थ प्रकाशित होते हैं।

नोट: पहले एक प्रसंग में जड़ता का अर्थ लिखा गया था– 'अपने स्वरूप की विस्मृति' वही दूसरे शब्दों में–

3.प्रश्न: जड़ क्या है?
उत्तर: जो दूसरों की सत्ता से प्रकाशित हो, जो स्वाधीन न हो और जो पराधीन हो वह जड़ है।

4.प्रश्न: आनन्द क्या है?
उत्तर: जो होकर कभी मिटे नहीं। जिसके मिलने पर फिर कुछ और पाने की इच्छा न रहे, वही आनन्द है।

5.प्रश्न: महाराज जी जीवन–मुक्त कौन है?
उत्तर: जो ईमानदार है और ईमानदार वही है जो संसार की किसी भी चीज को अपना नहीं मानता है।

6.प्रश्न: जीवन मुक्ति का स्वरूप क्या है?
उत्तर: इच्छायें रहते हुए प्राण चले जायें, मृत्यु हो गई, फिर जन्म लेना पड़ेगा और प्राण रहते इच्छायें चली जायें, मुक्ति हो गई। जैसे बाज़ार

गए पर पैसे समाप्त हो गए और ज़रूरत बनी रही तो फिर बाज़ार जाना पड़ेगा और यदि पैसे रहते ज़रूरत समाप्त हो जाये तो बाज़ार काहे को जाना पड़ेगा।

नोटः इस बात को बड़े स्पष्ट ढंग से समझना आवश्यक है कि मुक्ति शरीर रहते ही मिलती है। मुक्ति का अर्थ क्या है, किसी बन्धन का न होना। स्वामी जी का अन्य अवसरों पर कहा हुआ है कि ममता और कामना ही बन्धन है। यदि ममता और कामना का त्याग हो गया तो फिर कोई बन्धन नहीं और बन्धन नहीं तो हम मुक्त हो गये। यह भी आम धारणा है कि किसी की मृत्यु के पश्चात् बड़े पैमाने पर धूम–धाम से कर्मकाण्ड करने से मृतक को मुक्ति मिल जाती है। यदि ऐसा होगा तो फिर तो बहुत धनवालों को जीवन भर बुराई और पाप में ही लिप्त रहने का लाइसेंस मिल जायेगा, क्योंकि मृत्यु के पश्चात् धनबल से उत्तराधिकारी बड़े स्केल पर कर्मकाण्ड करवा देंगे और उनकी मुक्ति हो जायेगी। परन्तु वास्तविकता यह है कि मृतक की गति जीवन–काल में उसके द्वारा किये गये कर्मों के अनुसार ही होती है।

स्वामी जी का कथन नीचे प्रस्तुत हैः

"जो जीवन में मुक्त नहीं होता, वह मरने के बाद भी मुक्त नहीं होता और जो ऐसा मानता है कि मुक्ति अभी नहीं मिली, मरने के बाद मिलेगी, वह अपने को धोखा देता है।"

जीवन–मुक्त कौन? इसके बारे में स्वामी जी के कुछ और वचन–

"अगर तुम्हें यह अनुभव हो जाय कि मेरा कुछ नहीं है मुझे कुछ नहीं चाहिये, बस, मुक्त हो गये।

"ममता और कामना का नाश करने के बाद जो गृहस्थ बनता है, वह गृहस्थ जीवन–मुक्त होता है।"

"जीवन-मुक्त वह होता है, जो निज विवेक का आदर करता है।"

"**अहम् तथा ममरुप जो सम्बन्ध है, उससे मुक्त होना ही वास्तविक मुक्ति है।** मुक्ति के लिये इसके अतिरिक्त और कोई प्रयत्न अपेक्षित नहीं है।"

7.प्रश्नः स्वाधीन जीवन से क्या तात्पर्य है?

उत्तरः जिस व्यक्ति को अपनी प्रसन्नता के लिये दूसरों की ओर देखना नहीं पड़ता, उसी का जीवन स्वाधीन है?

8.प्रश्नः सबसे बड़ी बुराई क्या है?

उत्तरः पराधीनता को पसन्द करना सबसे बड़ी बुराई है। पराधीन बने बिना कोई भी सुख भोग नहीं सकता। अतः पराधीनता–जनित सुख का भोग सबसे बड़ी बुराई है, जिसका जन्म, जो अपना नहीं है उसको अपना मानने से और जो अपना है, उसे अपना न मानने से होता है।

नोटः एक अन्य अवसर पर उन्होंने इसी को दूसरे ढंग से समझाया है।

9.प्रश्न्: बुराई क्या है?

उत्तरः हमारे स्वाधीन होने में जो बाधक होवे, हमारे उदार होने में जो बाधा डाले और हमारे प्रेमी होने में जो बाधा डाले, वही बुराई है।

10.प्रश्न्: बुराई रहित होने का क्या उपाय है?

उत्तरः ईश्वर के नाते सभी को अपना मानना बुराई रहित होने का सुगम उपाय है, क्योंकि अपने के साथ कोई बुराई नहीं करता।

11.प्रश्न्: मरने से क्यों डर लगता है?

उत्तरः प्राण–शक्ति के नाश हो जाने और वासनाओं के शेष रह जाने का ही नाम मृत्यु है। यदि प्राण शक्ति के रहते सर्व वासनाओं का नाश हो जाये तो मरने से डर नहीं लग सकता हैं।

नोटः सर्व वासनाओं में जीने की चाह भी शामिल है। जब तक जीना है तब तक जीयेंगे ही, परन्तु चाह रहित होकर जीयेंगे तो मृत्यु का भय नहीं सतायेगा।

12.प्रश्न्: असत् क्या है?

उत्तरः असत् वही है जिसे आप अपने प्रति नहीं करना चाहते। जब अपने साथी को बेईमान नहीं देखना चाहते तो हम जिसके साथ रहते हैं या व्यवहार करते हैं, उनके प्रति ईमानदार बनें।

13.प्रश्नः विवेक और बुद्धि में क्या अन्तर है?

उत्तरः विवेक प्रकाश है और बुद्धि दृष्टि है। जैसे चक्षु–इन्द्रिय सूर्य के प्रकाश में कार्य करती हे, वैसे ही बुद्धि विवेक के प्रकाश में कार्य करती है। **विवेक का आदर करने से बुद्धि विवेकवती हो जाती है।** उस बुद्धि की बड़ी महिमा है।

14.प्रश्न्: क्या साधन करने के लिए घर गृहस्थी आदि छोड़ना आवश्यक है?

उत्तरः साधन के निर्माण के लिए सत्संग करना आवश्यक है, किसी परिस्थिति विशेष का कोई अर्थ नहीं है। **सत्संग करने में मानव मात्र हर परिस्थिति में समान रूप से स्वाधीन है।**

15.प्रश्न्: गृहस्थ जीवन में रहते हुए साधन सम्बन्धी बातें बहुत कठिन मालूम पड़ती हैं, क्या किया जाय?

उत्तरः गृहस्थ जीवन, वास्तविक जीवन की एक प्रयोगशाला है। यदि हम दूसरों के अधिकारों की रक्षा करते हुए अपने अधिकार का त्याग कर दें तो पूरा गृहस्थ जीवन साधन–युक्त हो जायेगा और किसी प्रकार की कठिनाई मालूम नहीं पड़ेगी। परन्तु हम भूल के कारण अपने अधिकारों को छोड़ने के लिए तैयार नहीं होते हैं, फलतः गृहस्थ जीवन में कठिनाई मालूम होती है।

16.प्रश्न्: सर्व दुःखों की निवृत्ति कैसे हो सकती है?

उत्तरः इच्छा पूर्ति में सुख और अपूर्ति में

दुःख का अनुभव होता है। अतः इच्छा रहित होने से दुःख की निवृत्ति हो जाती है जो विवेक का आदर करने से साध्य है।

17.प्रश्नः दुःख का आना मानव के लिए पतित अथवा पापी होने का परिचय है क्या?

उत्तरः दुःख का आना पतित होने का फल नहीं है। **दुःख तो भोग की आसक्ति को मिटाने के लिए आता है।**

18.प्रश्नः भय और दरिद्रता का नाश कैसे हो?

उत्तरः ममता छोड़ने से भय और कामना छोड़ने से दरिद्रता का नाश हो जाता है।

19.प्रश्नः लोभ और मोह का नाश कैसे हो?

उत्तरः मिले हुए को अपना और अपने लिए न मानने से लोभ और मोह का नाश होता है। मोह का नाश होने से भय का नाश होता है और लोभ का नाश होने से दरिद्रता का नाश होता है।

20.प्रश्नः मिले हुए को अपना न मानने का क्या अर्थ है?

उत्तरः मिले हुए के द्वारा सुख भोगने की आशा न रखना अपितु उसके द्वारा दूसरों की सेवा करना।

21. साधन–पथ के लिए स्वामी जी द्वारा प्रदत्त एक अन्य महत्वपूर्ण सूत्रः–

(i) जिसके न होने की वेदना है, वह होने लगता है और जिसके होने की वेदना है, वह अपने आप मिट जाता है।

(ii) निर्बलताओं को मिटाने के लिए व्याकुलतापूर्वक प्रेम–पात्र से प्रार्थना करो।"

नोटः ***निर्बलताओं का अर्थ है जिस कारण से चाहते हुए भी जो करना चाहिये उसे करते नहीं, और जो नहीं करना चाहिये उसको छोड़ते नहीं।***

22. थोड़े शब्दों में जीवन का पूरा सिद्धान्तः–

(i) "प्राप्त में ममता नहीं, प्राप्त का दुरुपयोग नहीं और अप्राप्त की कामना नहीं। बस, कर्तव्यपरायणता, असंगता और स्थिरता आ जायेगी। विचार की दृष्टि से वस्तु मेरी नहीं, कर्म की दृष्टि से वस्तु का दुरुपयोग नहीं और भाव की दृष्टि से सब कुछ प्रभु का है।"

(ii) "बुराई रहित हो जाओ, भलाई होने लगेगी। ममता, कामना छोड़ दो, शान्ति मिल जायेगी। अहम् का अभिमान गला दो, स्वाधीन जीवन मिल जायेगा। प्रभु को अपना मान लो, ध्यान–भजन–पूजन स्वतः होगा।"

23. मानव सेवा संघ दर्शन पर आधारित एक सूत्रः–

हमें अपने बारे में पूरा ज्ञान होता है, परन्तु दूसरों के बारे में हमारा ज्ञान हमेशा अधूरा रहता है। इसलिये अधूरे ज्ञान के आधार पर किसी को बुरा मान लेने का हमें अधिकार नहीं है। ■

साधन-सूत्र : 51

जीवनोपयोगी संत–वचन (भाग–2)

साधन–सूत्र–50 में स्वामी शरणानन्द जी के जीवनोपयोगी कुछ वचन जो प्रश्नोत्तर के रूप में हैं, प्रस्तुत किये गये। उसी क्रम में साधन–पथ के लिए कुछ और सामग्री (पाथेय) प्रस्तुत है:–

1. मानव सेवा संघ दर्शन में हम ने अनेक बार सुना है कि 'अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण' या 'अपने को सुन्दर बनाओ सुन्दर समाज का निर्माण स्वतः होगा।' इस बिन्दु को स्वामी शरणानन्द जी ने निम्नलिखित प्रश्नोत्तर में इस प्रकार स्पष्ट किया है:–

प्रश्नः मानव सेवा संघ का उद्देश्य क्या है?

उत्तरः मानव सेवा संघ का उद्देश्य मानव का अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण है। **अपने कल्याण का अर्थ है अपनी प्रसन्नता के लिए 'पर' की आवश्यकता न रहे। सुन्दर समाज का अर्थ है ऐसे समाज का निर्माण जिसमें सभी के अधिकार सुरक्षित हों, किसी के अधिकार का अपहरण न होता हो।** इस उद्देश्य की पूर्ति दूसरों के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार के त्याग से होती है। दूसरों के अधिकार की रक्षा करने से सुन्दर समाज का निर्माण और विद्यमान राग की निवृत्ति होती है और अपने अधिकार के त्याग से नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती है।

नोटः अपने नित्य अविनाशी रसरूप जीवन की प्राप्ति के लिए राग–रहित जीवन में साधन की अभिव्यक्ति होती है।

2. मानव सेवा संघ दर्शन में मानव की जो व्याख्या की गई है उसके अनुसार **"मानव किसी आकृति विशेष का नाम नहीं है। जो प्राणी अपनी निर्बलता एवं दोषों को देखने और उन्हें निवृत्त करने में समर्थ (तत्पर) है, वही वास्तव में 'मानव' कहा जा सकता है।"** फिर

कहा गया है कि प्रत्येक मानव की सार्विक (universal) माँग होती है–शान्ति, स्वाधीनता और प्रेम की। एक साधक ने इसी की प्राप्ति के सम्बन्ध में स्वामी जी से प्रश्न् किया:

प्रश्न्: माँग कैसे पूरी हो सकती है?

उत्तर: माँग तीन प्रकार से होती है। कामना को लेकर, लालसा को लेकर तथा जिज्ञासा को लेकर। भोगों की कामना, सत्य की जिज्ञासा और प्रभु–प्रेम की लालसा। **जिज्ञासा कहते हैं जानने की इच्छा को, लालसा कहते हैं पाने की इच्छा को और कामना कहते हैं भोगों की इच्छा को।** जिसमें भोग की कामना, सत्य की जिज्ञासा और परमात्मा की लालसा होती है उसे 'मैं' कहते हैं। कामना भूल से उत्पन्न होती है, उसकी निवृत्ति हो सकती है। जिज्ञासा और लालसा स्वभाव से ही उत्पन्न है, उसकी पूर्ति हो जाती है। अतः **कामना की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति** और **परमात्मा की प्राप्ति मनुष्य को हो सकती है।**

3. किसी साधक ने सेवा, त्याग, प्रेम के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रश्न् किया, वह और उसका उत्तर उद्धरित है:–

प्रश्न्: मानव सेवा संघ के दर्शन में सेवा, त्याग और प्रेम की बात कही जाती है। इसमें से किसी एक को लेकर चला जाय या तीनों को?

उत्तर: हर मानव को तीन शक्तियाँ विधान से मिली हैं:–

(1) करने की शक्ति (कर्तव्य)

(2) जानने की शक्ति (ज्ञान)

(3) मानने की शक्ति (विश्वास)

इन तीनों शक्तियों में से किसी एक शक्ति की प्रधानता होती है। अतः साधक में जिस शक्ति की प्रधानता हो उसको लेकर चलना चाहिये। शेष दोनों शक्तियों का विकास अपने आप हो जायेगा। साधक चाहे तो तीनों साथ साथ लेकर भी चल सकता है।

4. साधन–सूत्र–33 शीर्षक 'सेवा का अर्थ और स्वरूप' में सेवा के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा की गई है। मानव सेवा संघ के ग्यारह नियमों में सातवाँ नियम है: 'निकटवर्ती जन समाज की यथाशक्ति क्रियात्मक रूप से सेवा करना।' एक साधक

ने इसी के अर्थ के बारे में स्वामी जी से प्रश्न् किया–

प्रश्न्: निकटवर्ती जनसमाज की यथाशक्ति क्रियात्मक सेवा करने का क्या अर्थ है?

उत्तरः सेवा दो प्रकार की होती है–एक क्रियात्मक दूसरी भावात्मक। भावात्मक सेवा असीम होती है और अपनी शक्ति के अनुसार जिन व्यक्तियों से अपना माना हुआ सम्बन्ध है, उनकी क्रियात्मक सेवा की जा सकती है। अतः जो समाज हमारे समीप है यथाशक्ति उसकी क्रियात्मक सेवा करने की बात कही गई है। सबसे निकट हमारा शरीर है, उसके बाद परिवार के सदस्य अन्य सम्बन्धी, पड़ोसी इत्यादि आते हैं।

नोटः शरीर की सेवा का क्या अर्थ है, इसका उल्लेख साधन–सूत्र–15 शीर्षक 'साधक, साधन और साध्य' में किया गया है।

5. साधन सूत्र–27 शीर्षक 'क्या सुख–भोग ही जीवन है' में यह चर्चा की गई है कि दुःख का भोग से बचने के लिए उन कामनाओं जिनकी अपूर्ति और जिन वासनाओं के कारण (जैसे नेत्र–हीन हैं तो देखने की वासना) दुःख हो रहा है, उनका त्याग करना है। इसी को स्वामी जी ने एक प्रश्न् के उत्तर में बड़े सहज ढ़ंग से स्पष्ट किया है:–

प्रश्न्: मानव सेवा संघ की पहली प्रार्थना में यह कहा जाता है कि दुःखियों के हृदय में त्याग का बल प्रदान करें। दुःखी बेचारा क्या त्याग करेगा?

उत्तरःजब मनुष्य कुछ चाहता है और उसका चाहा हुआ नहीं होता है, तो वह दुःख का अनुभव करता है। इससे सिद्ध हुआ कि दुःख का कारण 'चाह' है। अतः अगर दुःखी दुःख से छुट्टी पाना चाहता है तो उसे चाह का त्याग कर देना चाहिये। चाह का त्याग करने में मानव मात्र स्वाधीन है।

नोटः इसी प्रकार के प्रश्न् के उत्तर में स्वामी जी ने कहा कि जब बचपन में मेरी आँखें चली जाने से जो दुःख आया, उस मेरे दुःख को सारी सृष्टि भी मिलकर दूर नहीं कर सकती थी, यदि मैंने देखने की वासना का त्याग नहीं किया होता।

6. प्रेम की प्राप्ति के लिए प्रभु को अपना

मानने की बात कही गई है। अपना अपने को प्यारा लगता ही है। इसी विषय को स्वामी जी ने निम्नलिखित ढंग से भी समझाया है:–

प्रश्नः प्रेम की प्राप्ति कैसे हो?

उत्तरः यदि भगवान के पास कामना लेकर जायेंगे तो भगवान संसार बन जायेंगे और संसार के पास निष्काम होकर जायेंगे तो संसार भी भगवान बन जायेगा। अतः भगवान के पास उनसे प्रेम करने के लिए जाएँ और संसार के पास सेवा के लिए, और बदले में भगवान और संसार दोनों से कुछ न चाहें तो दोनों से ही प्रेम मिलेगा। प्रेम के अतिरिक्त इस जगत में और कुछ सार वस्तु है ही नहीं।

7. हम सब का अनुभव है कि हमें जीवन में रस की माँग है। जीवन में नीरसता जब होती है तब हम सांसारिक वस्तुओं में, भोग में रस ढूंढ़ते हैं। परन्तु इन्द्रिय-सुख भले मिल जाये, रस नहीं मिलता और नीरसता, रस की तृष्णा वैसी ही बनी रहती है। स्वामी शरणानन्द जी ने बताया है कि रस कहाँ मिलेगा और कितने प्रकार का होता है:

"रस चार प्रकार के हैं–(क) उदारता का रस (ख) शान्ति का रस (ग) स्वाधीनता का रस और (घ) प्रेम का रस। दुःखी को देखकर करुणित होना और सुखी को देखकर प्रसन्न होना–यह उदारता का रस है। अचाह होकर शान्त होने में शान्ति का रस है। अपने में सन्तुष्ट होकर स्वाधीन होने में स्वाधीनता का रस है और प्रभु को अपना मानकर उनका प्रेमी होने में प्रेम का रस है।"

8. साधन-सूत्र-37 में व्यर्थ-चिन्तन क्या है और उससे मुक्ति कैसे हो सकती है की चर्चा की गई है। उसमें एक शब्द 'सार्थक चिन्तन' भी आया था। स्वामी जी का इस विषय पर एक प्रश्नोत्तर प्रस्तुत है:–

प्रश्नः व्यर्थ–चिन्तन, और सार्थक–चिन्तन क्या है?

उत्तरः जो वर्तमान का कार्य नहीं है बल्कि भूत की याद है, वही व्यर्थ-चिन्तन है। **प्राप्त के सदुपयोग के लिए जो भी कुछ किया जाता है वह सार्थक–चिन्तन है।** व्यर्थ–चिन्तन से प्राणशक्ति क्षीण होती

है और **सार्थक–चिन्तन संसार के काम आता है।** दोनों में जीवन नहीं है। स्मृति में जीवन है। चिन्तन और स्मृति अलग–अलग है। स्मृति में प्रियता उमड़ती है। जिसमें स्मृति जगती है तथा जिसकी होती है, वे दोनों एक हो जाते हैं। स्मृति में प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। आनन्द बढ़ता ही जाता है। **स्मृति का नाम ही भजन है।**

एक साधक द्वारा पूछने पर कि व्यर्थ–चिन्तन का नाश कैसे हो, स्वामी जी ने बताया:–

''नीरसता का नाश होने पर व्यर्थ–चिन्तन का नाश हो जाता है। नीरसता का नाश असंगता, उदारता एवं प्रियता से हो जाता है।''

9. 'साधन' की चर्चाओं में अनेक बार 'असंगता' शब्द आया है जिसका अर्थ 'सम्बन्ध–शून्यता' बताया गया है। स्वामी जी के एक प्रश्नोत्तर से यह और स्पष्ट होता है:–

प्रश्न: असंगता किसे कहते हैं और उसकी प्राप्ति के क्या उपाय हैं?

उत्तर:असंगता का अर्थ है–जगत से अपने को अलग अनुभव करना (जो जगत का दृष्टा है वह जगत नहीं हो सकता)। सेवा करने से स्थूल शरीर से, इच्छा रहित होने से सूक्ष्म शरीर से और अप्रयत्न होने से कारण शरीर से असंगता प्राप्त होती है। तीनों शरीरों से असंग होते ही योग की सिद्धि हो जाती है, जो बोध और प्रेम से ओत–प्रोत है।

10. इसी प्रकार साधन की चर्चा में 'काम' शब्द आता है। 'काम' का व्यापक अर्थ क्या है इसको समझना आवश्यक है। नीचे एक प्रश्नोत्तर महत्वपूर्ण है:–

प्रश्न: 'काम' का क्या अर्थ है और उसके नाश के क्या उपाय हैं?

उत्तर: वस्तु, व्यक्ति परिस्थिति एवं अवस्था के प्रति आकर्षण को 'काम' कहते हैं, अर्थात् 'नहीं' के आकर्षण का नाम ही 'काम' है।

'नहीं' के अस्तित्व को अस्वीकार करने से और 'है' (प्रभु) के अस्तित्व को स्वीकार करने से 'काम' का नाश हो जाता है और राम मिल जाते हैं।''

अन्यत्र स्वामीजी ने कहा है कि ''जो प्राणी शरीर को काम–वासनाओं की पूर्ति का साधन बना देते हैं वे न तो मनुष्यता पाते हैं न सच्चा सुख। **परिवर्तनशील**

सीमित सौन्दर्य में आबद्ध हो जाना ही वास्तव में 'काम' है।''

11. साधन–सूत्र:29 शीर्षक 'दुःख है क्या' में कहा गया है कि हमारे कर्मों से भाग्य बनता है, और भाग्य से परिस्थितियाँ बनती हैं। इसी को लेकर एक साधक ने प्रश्न् किया जिसका उत्तर स्वामी जी ने इस प्रकार दिया:–

प्रश्न्: जब सभी परिस्थितियाँ भाग्य से निर्मित हैं तो मानव जीवन में कुछ करने का महत्व क्या है?

उत्तर:''यह सही है कि सभी परिस्थितियों का निर्माण भाग्य से होता है परन्तु उनका सदुपयोग अथवा दुरुपयोग करने की स्वाधीनता मानव मात्र को मिली है। दूसरी बात, हम किये बिना रह नहीं पाते, क्योंकि करने का राग हममें विद्यमान है। इस विद्यमान राग की निवृत्ति के लिए आवश्यक कार्य सद्भावना पूर्वक लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए, पूरी शक्ति लगाकर शुद्ध भाव से करना चाहिये, जिससे करने के राग की निवृत्ति हो जाय।''

''अतः करने के सम्बन्ध में दो बातें हुईं। वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करने से सुन्दर समाज का निर्माण होता है और दूसरी ओर करने के राग की निवृत्ति होने से अपना कल्याण होता है जो मानव का लक्ष्य है।''

■

यह नियम है कि वर्तमान के सदुपयोग से ही भविष्य उज्ज्वल बनता है, व्यर्थ चिन्तन से नहीं। परिस्थिति का सदुपयोग कर्म से होता है। परिस्थितियों के चिन्तन से तो उनमें आसक्ति ही उत्पन्न होती है। अतः परिस्थितियों का चिन्तन कोई साधन नहीं है, अपितु अनेक दोषों की उत्पत्ति का हेतु है। कर्म का सम्बन्ध वर्तमान से होता है और चिन्तन का भूत और भविष्य से। चिन्तन तो केवल उसी का करना है जिसकी उपलब्धि कर्म से न हो।

–दिव्य ज्योति देवकी बहिन जी

साधन-सूत्र : 52

क्या प्रभु की दृष्टि में पात्र–अपात्र का भेद है?

प्रभु ने अपनी ही इच्छा से, अपने ही में, अपने से, अपने द्वारा समस्त सृष्टि का निर्माण किया। जब सभी उन्हीं के अंश हैं, उन्हीं में स्थित हैं और वही सबमें व्याप्त हैं, तो भेद–दृष्टि का प्रश्न् ही कैसे उठ सकता है? वह तो सभी को समान रूप से प्यार करते हैं, उनकी देखभाल करते हैं।

यह अवश्य है कि उन्होंने सृष्टि बनाकर एक विधान के सुपुर्द कर दिया। उसी विधान के अनुसार सब कुछ हो रहा है। उन्होंने कुछ के लिए एक विधान और कुछ के लिए दूसरा विधान नहीं बनाया। हाँ, उन्होंने मानव जाति को अच्छे बुरे (सही–गलत) की परख के लिए विवेक का प्रकाश दिया और उसका आदर या अनादर करने की स्वाधीनता भी दिया।

विधान में कुछ मापदंड (standards) निर्धारित (prescribe) कर दिये और उसी के अनुसार हमारी उपलब्धियाँ होती हैं। यह तो हमारे लिये है कि देखें कि हम उन मापदण्डों (standards) पर खरे उतरते हैं (qualify करते हैं) या नहीं। इसकी थोड़ी चर्चा आगे होगी।

उसी विधान के अन्तर्गत हमारे कर्मों से भाग्य बनता है और भाग्य के अनुसार परिस्थिति बनती है। यदि परिस्थिति मन के अनुकूल नहीं बनी तो यह सोचना कि भगवान ने मुझे पात्र नहीं समझा और मुझे यह नहीं दिया, वह नहीं दिया, ऐसा किया, वैसा किया, उस सम–दृष्टि वाले परम स्नेही प्रभु के प्रति घोर अन्याय ही तो होगा। उनकी दृष्टि में कोई भेद नहीं है। हम ही अपने विचारों और कर्मों के द्वारा अपने को अयोग्य बना लें और विधान के मापदण्डों को पूरा नहीं करते तो इसके लिए उन पर लांछन क्यों? विधान में कोई भेद नहीं है। जो जैसा करेगा वैसा पायेगा।

यदि कोई उनमें पात्र–अपात्र की भेद–दृष्टि आरोपित करेगा तो एक प्रश्न् खड़ा हो जायेगा–उन्हें अहैतुकी कृपा करने

वाला कहा जाता है, तो पात्र–अपात्र का कैसा प्रश्न् और यदि पात्र–अपात्र का भेद है, तब अहैतुकी कृपा करने वाले कैसे?

इच्छा के प्रतिकूल परिस्थिति में ही हम लोग पात्र–अपात्र का प्रश्न् उठाते हैं। वैसे तो यह सब कुछ विधान के अनुसार ही होता है। फिर भी इसे प्रभु से जोड़ें तब यह एक प्रकार से उनकी ओर से ताड़ना–प्रताड़ना के ही रूप में लेना चाहिये। क्यों? सोचने की बात है कि उनकी ताड़ना–प्रताड़ना भी परोक्ष रूप से करुणा से प्रेरित कृपा ही तो है। माँ अपने बच्चे को प्रताड़ित करती है तो उसके पीछे बच्चे का हित ही तो छिपा है और कृपा का ही स्वरूप हुआ। गलती हमसे होती है कि हम अपनी सीमित बुद्धि–दृष्टि के कारण उनकी प्रताड़ना को उनकी कृपा के रूप में नहीं देखते।

वह तो इतने करुणावान और हमारे शुभचिन्तक है कि परमपूज्य स्वामी शरणानन्द जी द्वारा प्रदत्त मानव सेवा संघ दर्शन में कहा गया है कि–

"वह एक दिव्य, चिन्मय, रसरूप, प्राणीमात्र के लिए मंगलकारी है। अतः मंगलकारी के मंगलमय विधान से जितनी परिस्थितियाँ बनती हैं, वे स्वरूप से सबके लिए मंगलकारी हैं। सुखद परिस्थितियों में पड़कर व्यक्ति जब स्वात्मभाव से भावित उदारता एवं सहृदयता का व्यवहार करता हुआ स्वयं सुख–भोग से अलिप्त रहकर परिस्थितियों से अतीत जीवन की ओर अग्रसर नहीं होता है, तो उसका परम हितैषी, परम सुहृद, परम आत्मीय जो एक मात्र अपना है–दुःखद परिस्थिति का रूप धारण करता है। दुःख आते ही व्यक्ति सचेत होकर त्याग अपनाता है और दुःख रहित जीवन पाता है। दुःख के आते ही व्यक्ति अधीर होकर दुःखहारी हरि को पुकारता है और उनके प्रेम प्रसाद से सदा के लिए दुःख से छूट जाता है। दुःख के रूप में दूसरा और कोई नहीं है, स्वयं अपने वे ही हैं, यह पहचान होते ही दुःखद परिस्थिति साधन–सामग्री के अतिरिक्त और कुछ नहीं है–यह स्पष्ट हो जाता है।"

बचपन में एक अग्रेंज़ी कविता पढ़ी थी जो इस प्रकार थी 'His mercy like the rain falls...' इसके आगे याद नहीं है पर तात्पर्य यह था कि जैसे वर्षा अच्छा बुरा देखे बिना ही सब पर समान रूप से जल–वृष्टि करती है, वैसे ही प्रभु की कृपा

की सभी पर समान रूप से अनवरत वर्षा होती रहती है।

हम लोग उनकी दृष्टि में पात्र–अपात्र के भेद का प्रश्न् सांसारिक उपलब्धियों और प्रभु-भक्ति एवं प्रभु-प्रेम दोनों ही के प्रकरण में उठाते हैं।

प्रभु की भक्ति और प्रेम के संबंध में विचार किया जाय तो यह मानना पड़ेगा कि वह तो नित्य निरन्तर अपनी भक्ति और प्रेम बाँटने के लिए तत्पर रहते हैं क्योंकि जब कोई मानव उन्हें प्रेम करता है तो उन्हें अच्छा लगता है। यदि अमृत की वर्षा हो रही हो और हमारा घड़ा (घट) उल्टा हो या खारे जल से भरा हो तो उसमें अमृत का प्रवेश कैसे होगा? उसी प्रकार हम यदि संसार में लिप्त हों और अपने घट को सांसारिक भोग, लोभ, वासना, आसक्ति आदि विकारों से भरे रहेंगे तो उसमें प्रभु–प्रेम और भक्ति कैसे समायेगी? और यह भी है कि जैसे एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकती, वैसे ही एक घट में एक अंश में संसार का भोग और एक अंश में ईश्वर रहें ऐसा नहीं होता और न ऐसा हो सकता है। हाँ, संसार साथ में रह सकता है, भोग के लिए नहीं बल्कि सेवा के लिये। प्रभु की ही दी हुई सामग्री (बल, बुद्धि, धन आदि) संसार को प्रभु का ही समझकर उसकी सेवा में लगा दें तो फिर यह (संसार) घट में जगह नहीं घेरेगा। बल्कि निर्मम (ममता–रहित) और निष्काम सेवा द्वारा हम अपना घट प्रभु को स्थान देने के लिए रिक्त कर देंगे।

अतः प्रभु की भक्ति और प्रेम के लिए उनकी ओर से पात्र–अपात्र का कोई भेद नहीं है। हम उनकी आवश्यकता महसूस तो करें। परन्तु अपनी सांसारिक कामनापूर्ति के लिये और उन्हें साध्य के बजाय साधन बनायें और साथ में प्रेम और भक्ति भी चाहें तो इसका अर्थ हुआ कि प्राथमिकता तो सांसारिक कामनापूर्ति की है और उनकी भक्ति और प्रेम गौण है। तो हमें जो करना है वह तो करें नहीं और उन पर भेद–दृष्टि का आक्षेप करें।

तो करना यह है कि सांसारिक आवश्यकताएँ उन्हीं पर छोड़ दें, बस अपना कर्तव्य-कर्म निष्ठापूर्वक पूर्ण रूप से उनके आश्रित होकर करते रहें। वह क्या करेंगे, क्या नहीं करेंगे, इसकी कोई चिन्ता ही नहीं, किसी प्रकार का कोई भय नहीं। उनपर दृढ़ विश्वास होना चाहिये कि जो

कुछ वे करेंगे वह हमारे हित में ही होगा।

उनके प्रेम और भक्ति के लिये सर्वप्रथम तो हमें उसकी आवश्यकता अनुभव करना और उसके प्रति तीव्र लालसा जागृत करना होगा। हम उन्हें अपना आत्मीय मानें तो, उनसे सम्बन्ध जोड़ें तो, उनसे उनका प्रेम और भक्ति माँगें तो। उनकी ओर से पात्र–अपात्र का भेद ही नहीं है– वह तो भक्त से भक्तवत्सलता के नाते मिलते हैं तो साथ में पतित से पतितपावन के नाते मिलने के लिये तत्पर रहते हैं।

■

कारण का नाश होने पर भी कार्य की प्रतीति होती है। जिस प्रकार वृक्ष का मूल कट जाने पर भी, उसकी हरियाली कुछ काल प्रतीत होती है, उसी प्रकार असत् का त्याग करने पर भी असत् के संग के प्रभाव को कुछ काल साधक अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में देखता है और भयभीत हो जाता है। इतना ही नहीं, अपने किये हुए असत् के त्याग में भी विकल्प कर बैठता है। असत् का त्याग वर्तमान की वस्तु है; परन्तु उसके प्रभाव के नाश में काल अपेक्षित है। अपने निर्णय में विकल्प करना भी तो असत् का ही संग है। जब साधक सावधानी पूर्वक अपने निर्णय में विकल्प नहीं करता, तब अपने आप असत् के संग का प्रभाव नष्ट हो जाता है।

साधन-सूत्र : 53

मानव जीवन में क्षमा–प्रार्थना और क्षमाशीलता का महत्व

यदि हम अपने प्रति ईमानदार होते हैं और अपने को अपनी दृष्टि में वर्तमान में निर्दोष देखना चाहते हैं तब यदि हमसे किसी के प्रति अपराध या बुराई हो जाती है, तब हमें आत्म–ग्लानि होती है। चित्त अशुद्ध एवं अशान्त हो जाता है। खिन्नता होती है और हम चैन अनुभव नहीं कर पाते (we are restless)।

इसी प्रकार जब हमारे प्रति कोई बुराई या अपराध करता है तो हमें उसके प्रति आक्रोश होता है, उसे बुरा समझते हैं–एक प्रकार की तिलमिलाहट होती है। उससे बदला लेने की, ईंट का जवाब पत्थर से देने का, बराबर (quitz) होने का विचार उठता है। बदला नहीं ले पायेंगे तो कुढ़ते रहेंगे। इस प्रकार अपनी शान्ति भंग होती है। चित्त अशुद्ध, अशान्त रहेगा। यदि हम बदला ले लें तब भी उस काण्ड की स्मृति बनी रहती है और चित्तशुद्ध और शान्त नहीं हो पाता। दूसरे, बदला लेने से किसी विवाद का अन्त नहीं होता। वार और पलटवार का क्रम चलता रहता है।

ऐसी दोनों ही परिस्थितियों में हमारी जो दशा होती है वह अपने को प्रिय नहीं होती। इसका समाधान क्या है?

सर्वप्रथम हमें अपने को साधक स्वीकार करना होगा और अपनी माँग से परिचित होना पड़ेगा–माँग होती है शान्ति, स्वाधीनता और प्रेम। जिसे यह स्पष्ट हो गया तब वह अपने अहं को पकड़े बैठा नहीं रहता, बल्कि ऊपर वर्णित दशाओं से छुटकारा पाने का उपाय सोचता है।

स्वामी शरणानन्द जी ने मानव–जीवन के दर्शन पर अनेक पुस्तकें लिखवाईं। उनमें से एक पुस्तक है 'चित्त–शुद्धि'। इसमें एक अध्याय है 'क्षमा–प्रार्थना और क्षमाशीलता का महत्व'। उसमें प्रारम्भ में ही स्वामी जी ने कहा है कि–

"की हुई भूल के आधार पर अपने में

दोषी–भाव अंकित हो जाने से और अपने प्रति अन्याय तथा अत्याचार के आधार पर दूसरों को दोषी मान लेने से चित्त में अशुद्धि आ जाती है।"

प्रश्न् उठता है कि इसे किस प्रकार मिटाया जाय। स्वामी जी ने आगे कहा है कि–

"उसकी निवृत्ति के लिए यह अनिवार्य है कि की हुई भूल को न दुहराने का व्रत लेकर व्यथित हृदय से क्षमा–याचना की जाय और जिन्होंने अपने प्रति बुराई की है, उसके बिना ही माँगे, स्वयं अपनी ओर से सदा के लिए क्षमा कर दिया जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त की अशुद्धि मिट जाती है।"

अब विचारणीय बिन्दु है कि क्षमा–प्रार्थी होने का बल किसे होता है और क्षमा–प्रार्थना में हिचक या बाधा क्यों होती है। नीचे प्रस्तुत उद्धरण से यह स्पष्ट हो जायेगा–

".....क्षमा मांगने का बल उन्हीं प्राणियों में होता है जो एक क्षण भी दोषी नहीं रहना चाहते, अपनी भूल को बड़ी ही ईमानदारी से स्वीकार कर लेते हैं। अर्थात् जो वर्तमान में निर्दोष होना चाहते हैं, वे ही क्षमा–प्रार्थी हो सकते हैं।"

इस बात पर बल दिया गया है कि "सच्चाई पूर्वक क्षमा वही माँग सकता है, जो दोषी होने से घोर दुःखी है।"

अन्यथा "दुःख से बचने के लिए तो सर्व–साधारण अर्थात् बड़े से बड़ा अपराधी भी क्षमा माँगने लगता है।" यह इस प्रकरण में बेमानी होता है। आगे स्वामी जी ने यह भी कहा है कि–

"क्षमा–प्रार्थी वही हो सकता है, जो की हुई भूल को किसी भी प्रलोभन तथा भय से दुहराता नहीं है, अपितु पूर्ण निर्दोषता ही जिसे अभीष्ट है। अथवा यों कहो कि जो अपना सर्वस्व देकर निर्दोष रहना चाहता है। निर्दोषता को सुरक्षित रखने के लिए जिसे बड़ीं–से–बड़ी कठिनाई सहन करने में प्रसन्नता होती है, वही सच्चा क्षमा–प्रार्थी है।"

जब इसकी इतनी महिमा है कि "क्षमा माँगने और क्षमा करने से चित्त शुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही निर्दोषता तथा निर्वैरता जीवन में स्वाभाविक आ जाती है" तब हम क्षमा–प्रार्थना में संकोच क्यों करते

हैं? इसका उत्तर स्वामी जी के वचनों में इस प्रकार है–

"यद्यपि प्रत्येक दोषी में दोष की स्वीकृति स्वतः होती है, परन्तु अनादर के भय से जानते तथा मानते हुए भी अपने और दूसरों से उसे छिपाना चाहता है, क्योंकि स्वभाव से प्राणी अपनी तथा दूसरों की दृष्टि में दोषी होकर रहने में क्षुभित होता है और क्षोभ के दुःख से बचने के लिए मिथ्या प्रयास करता है।"

परन्तु यह तो अपने को धोखा देने के ही समान है। इससे न तो निर्दोषता की ही स्थापना होगी और न ही चित्त शुद्ध होगा।

अतः जीवन में निर्दोषता के प्रकरण में स्वामी जी ने कहा है कि–

"यदि जीवन में निर्दोषता न होती, तो दोष का ज्ञान ही न होता, क्योंकि सर्वांश में प्राणी कभी भी दोषी नहीं होता। .....जो सर्वांश में दोषी नहीं है, उसे ही दोषी–भाव की स्वीकृति व्यथित करती है। ज्यों–ज्यों वह व्यथा तीव्र होती जाती है, त्यों–त्यों दोषी–भाव के निवारण की रुचि जागृत होती है। सर्वांश में निर्दोष होने की रुचि जागृत होते ही प्राणी बड़ी सुगमतापूर्वक क्षमा–याचना कर सकता है और दोष को न दुहराने का व्रत लेकर अपने में निर्दोषता की स्थापना कर सकता है, जिसे करते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।"

एक स्वाभाविक प्रश्न् होता है कि हमने तो क्षमा माँग लिया परन्तु जिससे क्षमा माँगी उसने क्षमा नहीं किया तब?

इस सम्बन्ध में स्वामी जी का कथन है कि–

"क्षमा–याचना करने पर यदि कोई क्षमा न करे तो लेशमात्र भी चिन्तित नहीं होना चाहिए, क्योंकि क्षमा करने की क्षमता उस अनन्त में ही है। व्यक्ति के रूप में उसी से क्षमा–याचना की जाती है। किन्तु क्षमा माँगने का अर्थ यह होना चाहिए कि अब जाने हुए दोषों की पुनरावृत्ति की तो कौन कहे, उत्पत्ति ही नहीं होगी अर्थात् पूर्ण रूप से निर्दोषता को अपना लिया है, यह भावना दृढ़ बनी रहे। यही क्षमा–याचना का वास्तविक स्वरूप है।"

क्षमा–शीलता के महत्व के सम्बन्ध में स्वामी जी का उद्‌बोधन है कि–

"...यदि अपने प्रति बुराई करने वालों

को बिना मांगे क्षमा नहीं कर दिया, तो चित्त में वैर–भाव तथा प्रतिहिंसा के संस्कार अंकित रहेंगे, जो पूर्ण रूप से निर्दोषता से अभिन्न (identity) नहीं होने देंगे। इस कारण क्षमाशील होना अनिवार्य है। वास्तव में क्षमा–प्रार्थी वही हो सकता है जो क्षमाशील हो। **निर्दोषता की अभिव्यक्ति तभी सुरक्षित रह सकती है जब किसी के प्रति वैर भाव की गंध तक न रहे...।**"

क्षमाशीलता के बारे में उन्होंने आगे कहा है कि–

"क्षमाशीलता बल है, निर्बलता नहीं; उदारता है, संकीर्णता नहीं। क्षमा–शीलता में अभिन्नता है, भिन्नता नहीं। क्षमाशील वही हो सकता है जो सभी में अपने प्रेमास्पद का दर्शन करता है। जिसके जीवन में से प्रति–हिंसा की भावना का अत्यन्त अभाव हो गया हो, जो सभी का हित चाहता है. ... जिसमें दोष देखने की दृष्टि ही नहीं है, वही क्षमाशील हो सकता है।"

इस सबके सार के रूप में स्वामी जी का कथन है कि–

"क्षमा माँगने तथा क्षमा करने से चित्त शुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही निर्दोषता एवं निर्वैरता जीवन में स्वाभाविक आ जाती है।.... **क्षमा–प्रार्थी अपने प्रति न्याय करता है और क्षमाशील होकर दूसरे के प्रति प्रेम करता है।** जो क्षमा–प्रार्थी है वही क्षमा–शील है और जो क्षमा–शील है वही क्षमा–प्रार्थी हो सकता है। **अपने प्रति न्याय करने से निर्दोषता और दूसरों के प्रति प्रेम करने से निर्वैरता आ जाती है।** निर्दोषता और निर्वैरता का प्रादुर्भाव होते ही सीमित अहंभाव गल जाता है जिसके गलते ही प्रेमी और प्रेमास्पद में, जिज्ञासु और तत्वज्ञान में, शरीर और विश्व में तथा व्यक्ति और समाज में अभिन्नता (total identity) हो जाती है।" यही अभीष्ट है। ■

दोषी होने की तीव्र वेदना प्राणी को क्षमा-प्रार्थी बना कर दोषमुक्त करने में समर्थ है।

साधन-सूत्र : 54

मानव जीवन की विडम्बना (Irony)

यदि हम थोड़ा सा भी समय निकाल कर विचार करें तो हमें इस विडम्बना का स्पष्ट परिचय हो जायेगा कि हम हैं तो अधिकारी शान्तिमय, स्वाधीन तथा प्रेम रस से भरपूर जीवन के (हमारा अस्तित्व ही है नित्य, अविनाशी, रसरूप) परन्तु क्यों ऐसा होता है कि हम इसका आनन्द नहीं ले पाते। संसार में उलझे रहते हैं, देह बुद्धि लेकर। कभी सुख, कभी दुःख; अहं का अभिमान और परिस्थिति मन के अनुकूल न होने पर कुंठा व क्षोभ झेलते रहते हैं। जीवन में अशान्ति, पराधीनता और नीरसता बनी रहती है।

इसका कोई वृहत् विश्लेषण न करके थोड़े में इस पर विचार किया जाय तो इसके मूल में सहज दिखाई देगा कि हम–

(1) प्राप्त विवेक का आदर न करके उसका अनादर ही करते रहते हैं।

(2) प्राप्त का सदुपयोग करते नहीं, अप्राप्त का चिन्तन करते रहते हैं,

(3) बल का सदुपयोग नहीं करेंगे, बल्कि उसका दुरुपयोग करने में ही शान समझते हैं (चाहे धन बल हो, शरीर बल हो या बुद्धि बल हो)

(4) वर्तमान का सदुपयोग करेंगे नहीं, भूतकाल और भविष्य का चिन्तन करते रहेंगे। भूतकाल की सुखद घड़ियों को याद करके मनोराज्य में लिप्त होंगे या मन के विपरीत क्षणों को याद करके क्षुभित होते रहेंगे। भविष्य को लेकर चिंता या सुन्दर कल्पनाओं को लेकर उन्हीं में रमते रहेंगे।

(5) आवश्यक कार्य को तो पूरा नहीं करेंगे और अनावश्यक कार्य की सोचते और उसी में उलझे रहेंगे।

नोट 1 : ऐसे सभी कार्य जो विवेक और सामर्थ्य विरोधी नहीं हैं और जिसका सम्बन्ध वर्तमान से हो, जिसके बिना किये किसी प्रकार रह न सकें, जिसके सम्पादन के साधन उपलब्ध हों, जिससे किसी का अहित न हो, वैसे सभी कार्य आवश्यक कार्य हैं।

नोट 2: आवश्यक कार्य को पूरा न करने से और अनावश्यक कार्य का त्याग न करने से, कर्ता उद्देश्य–पूर्ति में सफल नहीं होता।

(6) दुःखद परिस्थिति में त्याग और सुखद में सेवा अपनाते नहीं, इसके विपरीत दुःख–सुख का भोग करते हैं। दुःख में विकल और सुख में पराधीन बने रहते हैं।

(7) शरीर, संसार और जीवन के प्रति अपनी एक कोई धारणा बनाकर बुद्धि पर ताला लगा लेंगे (shut mind), कोई अन्य बात सुनने, समझने को तैयार नहीं। (have no receptivity, rather develop resistance)

इस प्रकार देखते जायें तो लम्बी सूची हो जायेगी। परन्तु इन सबके अंतर्निहित समान कारक (underlying common factor) को देखा जाय तो यही निकलेगा कि–

"जो हमें करना चाहिये उसे करते नहीं और जो नहीं करना चाहिये उसे छोड़ते नहीं"

एक बार मानव सेवा संघ की परम कोटि की साधिका देवकी बहन जी अपने प्रवचन में समझा रहीं थी कि जब हम भीतर बाहर से शान्त हो जाते हैं तो उस शान्ति में विचार का उदय होता है और सामर्थ्य की प्राप्ति होती है।

तब एक श्रोता ने पूछा कि सामर्थ्य की प्राप्ति का क्या यही अर्थ है कि **'जो करना चाहिये उसे करने की और जो नहीं करना चाहिये उसे न करने की सामर्थ्य मिलती है।'**

उन्होंने इसकी पुष्टि किया कि हाँ, इसका यही अर्थ है।

सच ही जीवन का मूल मंत्र तो यही है कि "जो हमें करना चाहिये उसे कर डालें और जो हमें नहीं करना चाहिये उसे छोड़ दें, उसे भूल जाएँ।"

इसको समझना और अपनाना बहुत ही सहज है। इसे अपने जीवन का मार्ग--दर्शक (guiding principle) बना लेना बहुत ही श्रेयस्कर होगा। देवकी बहिन जी ने कहा है कि **"यह नियम है कि जो नहीं करना चाहिये वह न करने से जो करना चाहिये वह स्वतः होने लगता है।** अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जो नहीं करना चाहिये उसका न करना ही मानव का परम पुरुषार्थ है और उसी का नाम मानवता है।"

क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये वह हमारा विवेक बताता है। विवेक का आदर करने से सब ठीक हो जायेगा।

यदि हम इसे पालन करने में असमर्थता अनुभव करते हैं, तो सहज निवृत्ति काल का सदुपयोग विश्राम में करके शान्ति–सम्पादन करें, आवश्यक सामर्थ्य अर्थात् जो करना चाहिए उसको करने का और जो नहीं करना चाहिये उसे न करने का बल मिलेगा। (वास्तव में सहज निवृत्ति काल का सभी को सामान्य रूप से नित्य ही शान्ति सम्पादन में सदुपयोग करना चाहिये–बहुत ही हितकर सिद्ध होगा।)

स्वामी शरणानन्द जी का उद्‌बोधन है कि साधन–पथ पर "न चलने की वेदना में ही चलने की सामर्थ्य निहित है।" अतः ऊपर इंगित सूत्र का पालन न कर सकने की तीव्र वेदना हो तो उसी से उसको अपने जीवन में उतारने की सामर्थ्य आ जायेगी।

उनका दिया हुआ बहुत बड़ा आश्वासन इस सम्बन्ध में भी लागू होता है कि यदि अपनी तरफ से पूरा प्रयास करने पर भी इस मूल–मंत्र को जीवन में उतारने में हम अपने आप को असमर्थ पाते हैं तो सरल विश्वास पूर्वक दुःखी हृदय से सर्वसमर्थ प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिये। असमर्थता अवश्य मिट जायेगी।

■

जो प्राणी बाहरी साधनों में अपने को अधिक बाँध लेता है, उसमें साधन का मिथ्या अभिमान आ जाता है। बाहरी साधन निर्बलताओं को ढक देता है, मिटा नहीं पाता।... छिपा हुआ साधन बाहरी साधनों से कहीं अधिक सबल होता है। छिपा हुआ त्याग तथा प्रेम बढ़ जाता है, छिपी हुई प्रीति सच्ची व्याकुलता उत्पन्न करती है, जो वास्तव में सच्चा भजन है। किसी ने भी बहुमूल्य वस्तुओं को बाहर निकाल कर नहीं रखा, सब छिपा कर ही रखते हैं। अतः प्रीति जैसी अमूल्य वस्तुओं को हृदय में छिपा कर रखना चाहिये।

साधन-सूत्र : 55

हमारा जीवन कैसा है – एक विश्लेषण

यदि हम अपने को शरीर ही मानते हैं (देह–बुद्धि) और 'स्व' और शरीर में कोई भेद नहीं समझते, तो हम शरीर से सम्बन्धित आवश्यकताओं को ही अपनी, 'स्व' की आवश्यकता समझने के भ्रम में पड़ जाते हैं।

परन्तु यदि हम गहराई से विचार करें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि यदि 'मैं' शरीर होता तो शरीर का दृष्टा नहीं हो सकता था। अतः सत्य यह है कि 'स्व' जिसे 'मैं' से सम्बोधित करें, शरीर से भिन्न है। 'मैं' नित्य, अविनाशी हूँ और शरीर नाशवान है।

शरीर मेरा है, यह भी एक गलत धारणा है। यदि शरीर मेरा होता तो इसकी नाशवान प्रकृति नहीं होती बल्कि वह मेरे साथ सदा–सर्वदा (eternally) रहता। सभी का अनुभव है कि ऐसा है नहीं। इससे स्पष्ट है कि शरीर पर हमारा स्वतन्त्र अधिकार नहीं है। जब स्वतन्त्र अधिकार ही नहीं है तो मेरा कैसे हो सकता है। अतः हमें इसे बुनियादि सच्चाई (basic truth) के रूप में समझना और स्वीकार करना है कि **'मैं' शरीर नहीं हूँ और शरीर मेरा नहीं है।** सृष्टिकर्ता द्वारा यह हमें किसी विशेष अभिप्राय से दिया गया है।

जब यह स्वीकृति दृढ़ हो जाती है तब इस वास्तविकता को समझना (realize) सहज हो जाता है कि 'स्व' और 'शरीर' की आवश्यकताएँ भिन्न–भिन्न हैं। **'स्व' की लालसा तो है शान्ति, स्वाधीनता और प्रेम।**

दूसरी तरफ **शरीर की आवश्यकताएँ हैं रोटी, कपड़ा और मकान।** ये बिल्कुल सहज और स्वाभाविक हैं। शरीर इनमें कोई विशेषता नहीं आरोपित करता है कि ये क्या और कैसे होने चाहिये। यह हमारे इन्द्रिय–सुख भोग की कभी न तृप्त होने वाली वासना और उसकी दासता का परिणाम है कि हम शरीर की मूल (basic) आवश्यकता में विशेषण जोड़ देते हैं।

हम सब का अनुभव है कि जब प्यास

लगती है तब शरीर मात्र तरल पदार्थ की तलब करता है। यह तो है स्वाद की अपनी इच्छा एवं दासता कि हम पानी के बजाय अनेक प्रकार के पेय पदार्थों को लेते हैं, प्यास बुझाने के लिये। जब भूख लगती है तब शरीर तो मात्र यह कहता है कि पेट में कुछ आहार डालो। फिर वही स्वाद और उसके द्वारा इन्द्रिय–सुख की बात है कि हम अनेक प्रकार के पकवानों की इच्छा करते हैं और खाते हैं–भूख मिटाने के लिये।

शरीर को यदि ठंढक लगती है तो वह सिर्फ़ गर्माहट माँगता है। एक साधारण मोटे कम्बल और साधारण कपड़ों से बने वस्त्रों से काम चल सकता है। परन्तु हम शरीर को सजाने और किमती से किमती कपड़ों को पहन कर अपना मूल्यांकन बढ़ाने और उससे एक प्रकार का मानसिक सुख के भाव से उसके पीछे भागते हैं; कोई साधारण शॉल ओढ़ता है तो कोई पश्मीने का शॉल ओढ़ने में शान समझता है।

यही बात मकान (shelter) के बारे में लागू होती है। मकान तो रहने के लिये होता है न कि महल बना कर उसमें इन्द्रिय–सुख भोग, विलासिता, हर प्रकार के ऐशोआराम का साधन जुटाना और उनके द्वारा अपने अहं की पुष्टि करना।

इस प्रकरण में माँ दिव्यज्योति (देवकी बहिन जी) का उद्‌बोधन बहुत ही प्रासंगिक और सटीक है। उन्होंने कहा है कि–

"अगर आप शारीरिक ज़रूरतों को पूरा करने के पीछे पड़ जाओ कि अमुक प्रकार का भोजन मिलना ही चाहिये, अमुक प्रकार का रहन सहन होना ही चाहिये, अमुक प्रकार की सुविधा मिलनी ही चाहिये। अगर ऐसा सोच लो भीतर भीतर तो क्या हो गया? सबसे पहले शरीर की दासता आ गई। फिर परिवार के कुटुम्बजनों की दासता आ गई। फिर क्या हुआ? अप्राप्त वस्तु, परिस्थिति के चिन्तन ने आपको शान्ति से दूर कर दिया। ठीक है न? जैसा मिला है वह पसन्द नहीं आता, तो इतना बढ़िया मकान चाहिये, ऐसा अच्छा परिवार होना चाहिये, ऐसा भोजन होना चाहिये, तो चाहिये सब कुछ लेकिन सृष्टिकर्ता के विधान में तुम्हारे लिये प्रावधान होगा तब न मिलेगा। तो अब जो मिला है वह सन्तोष नहीं दे रहा है, और जो नहीं मिला है उसको सोच–सोच करके जो मिल गया है, सामने है उसका भी सुख उसकी भी सुविधा तुम्हें कुछ लग नहीं रही है, तो रहो परेशान। आज किसी ने कटु वचन कह दिया तो कलेजा फट गया। कल किसी ने मन की बात पूरी नहीं की तो पराधीनता से दुःखी

हो गए। तो खातिर करते रहो शरीर की। खुशामद करते रहो संसार की। अपना कोई मूल्य नहीं रह जाता। मिट्टी के मोल जीवन हो जाता है।''

परन्तु खेद तो यह है कि इन्द्रिय–सुख भोग और अपने अहं की पुष्टि करने की ऐसी गुलामी हो गई है कि उसे ही जीवन और जीवन का महत्व मान कर उसी में लिप्त रहते हैं। चार हज़ार करोड़ रुपये का विशाल–आलीशान भवन बनाकर अपनी महानता (greatness) और शान समझते हैं। यदि वह बड़े आदमी इसलिये हैं कि उनके पास इतना कीमती और बड़ा मकान है, तो मकान बड़ा हुआ या वह।

उस महल में क्या वह शान्त–चित्त रह पाता है जब उसे इस बात की जानकारी अवश्य होगी कि उसी शहर में लाखों लोग झुग्गी–झोपड़ियों में जीवन व्यतीत करते हैं ? क्या उसे अपराध बोध नहीं होता ? ऐसा व्यक्ति रात में शान्ति से कैसे सो पाता है जब उसी शहर में असंख्य लोग सड़क की पटरी पर रात गुज़ारते हैं। क्या उसकी अंतरात्मा उसको धिक्कारती नहीं है?

ऐसे लोगों के लिए अनूप जलोटा द्वारा गाये भजन के शब्द बड़े सटीक हैं–

''मत कर तू अभिमान रे बन्दे, झूठी तेरी शान रे, मत कर तू अभिमान।

तेरे जैसे लाखों आये, लाखों इस माटी में खाये,

रहा न नाम निशान ओ बन्दे, मत कर तू अभिमान।

मत कर तू अभिमान रे बन्दे.....

झूठी तेरी शान रे, मत कर तू अभिमान.... ।''

ऐसे व्यक्तियों की इस सोच और प्रवृत्ति को क्या कहेंगे? जीवन का अर्थ और चाह (desire) का दर्शन (philosophy) थोड़ी देर के लिए भूल जाएँ, तब भी आज के 21वीं सदी के भारत में क्या यह शोभनीय है कि एक तरफ़ तो समाजवाद (socialism) की बात किया जाय, वहीं दूसरी तरफ संवेदनहीन पूंजीवादी शोषक तथा साम्राज्यवादी/सामन्तवादी मानसिकता रखें और वैसा ही आचरण करें।

इसके विपरीत अपने ही देश में अनेक लोग ऐसे हुए हैं जिन्होंने उच्च विचार और सादी रहनी के सिद्धान्त से स्वेच्छा से जीवन व्यतीत किया। गाँधी जी ने केवल शरीर ढकने के लिए कम से कम (minimal) कपड़े क्यों पहनना शुरू किया? उन्हें यह देखकर बहुत हार्दिक चोट लगी कि देश में असंख्य औरतों के पास अपनी लाज ढकने के लिए

पूरे कपड़े तक नहीं हैं, ऐसी गरीबी! उन्होंने निश्चय किया कि मुझे ढेर सारे कपड़े पहनने का नैतिक आधार नहीं है।

वर्तमान भारत के निर्माता, लौह पुरुष सरदार वल्लभ भाई पटेल के पास दो चार गिने धोती कुर्ता और दुपट्टा के सेट थे। उनके बारे में विख्यात था कि एक सेट पहनते थे तो दूसरा अगले दिन के लिए धुल कर तैयार होता था।

बहुत वर्ष पूर्व भारत के राष्ट्रपति डा0 राजेन्द्र प्रसाद गोरखपुर में बाबा गोरखनाथ मंदिर, दर्शन करने आये। लेखक वहाँ डयूटी पर था। जब उन्होंने मंदिर के अन्दर जाने के लिए अपना जूता उतारा तो वह यह देखकर आश्चर्यचकित रह गया कि दोनों मोज़ों से उनके अंगूठे और एड़ी झाँक रहे थे। उसने बुजुर्गवार अतिरिक्त जिलाधिकारी से जो वहाँ थे अपना आश्चर्य प्रकट किया तो उन्होंने कहा कि यदि उनका कोट उतरवा सको तो सम्भावना यही है कि अन्दर कमीज़ भी फटी मिलेगी।

उच्च कोटि के साहित्यकार मुंशी प्रेमचन्द्र ने एक फ़ोटो खिंचवाया। आम तौर से लोग फ़ोटो खिंचवाते समय सजधज कर बैठते हैं। उनकी सजधज का पार्ट था, पैरों में किरमिच के जूते जिसमें से दोनों अंगूठे बाहर झाँक रहे थे। बिल्कुल सामान्य शान्त मुद्रा थी। चेहरे पर उस कारण किसी प्रकार के संकुचन की झलक थी ही नहीं।

इन दृष्टान्तों का महत्व और संदेश की व्याख्या आवश्यक नहीं है। उन्हें तो हमें स्वयं ही समझना और स्वीकारना है। आज भी अपने देश में अनेकों–अनेक लोग स्वेच्छा से (किसी मजबूरी से नहीं), उन आदर्शों और सिद्धान्तों को अपने जीवन में उतार कर उस उच्च परम्परा की थाती को अक्षुण्ण बनाए हुए हैं (perpetuating that legacy)।

इसके विपरीत उस प्रकार के और भी तमाम लोग हैं जिनका वर्णन प्रारम्भ में किया गया है जो बड़प्पन और जीवन की सफलता और सार्थकता का भ्रान्ति–पूर्ण धारणा पर आधारित मापदंड अपनाए हुए हैं। जीवन का अर्थ और उसके लक्ष्य के बारे में ऐसी धारणा के कारण धन, सम्पत्ति, पद, ऐशो आराम की वस्तुओं अर्थात् सांसारिक उपलब्धियों को ही अपने बड़प्पन और सफलता का बैरोमीटर मान रखा है। उसे ही समाज में अपने स्तर (Social status) और प्रतिष्ठा का सूचक समझते और अपने अहं (ego) की पुष्टि करते हैं।

इस प्रकार की मानसिकता का परिणाम होता है कामनाओं की उत्पत्ति। परन्तु शान्त मन से गम्भीरता पूर्वक विचार करें– यह अन्तहीन दौड़ ही है। क्यों?

क्योंकि कामनाओं की कोई ऊपरी सीमा (upper bar) नहीं है कि जहाँ यह सन्तुष्टि हो कि बस इतना, और अधिक नहीं (this much and no more)। एक कामना पूर्ति के बाद नवीन कामनाओं का जन्म होता रहता है। कामना–पूर्ति की भूख निरन्तर बनी रहती है। क्या ऐसा व्यक्ति शान्ति और स्वाधीनता का आनन्द पा सकता है? कदापि नहीं। ऐसा व्यक्ति कामना रहित, सन्तुष्ट जीवन के आनन्द से न तो परिचित होता है और न ही उसका महत्व समझता है।

फिर सारी कामनाएँ पूरी भी तो नहीं होतीं–कामना अपूर्ति का दुःख और अशान्ति! कामना अपूर्ति की दशा में खीझ, हताशा, निराशा (frustation, dejection and despair) होती है और इसका परिणाम विषाद (depression) तक भी हो जाता है।

कभी–कभी कामनाएँ पागलपन की हद तक पहुँच जाती हैं। 2जी स्कैम से कथित रूप से सम्बन्धित बाचा (Sadiq Batcha) ने अपने बेडरूम, बाथरूम आदि अनेक जगहों पर शीशे पर लिख रखा था 'I want to be the richest man in the world' 'मैं संसार का सबसे धनी व्यक्ति बनना चाहता हूँ।' वह रोज़ सुबह उठते ही पहले उसे दोहराता था। कामना तो नहीं पूरी हुई, मृत्यु अवश्य प्राप्त हो गई–कैसे, यह तो वही जानता है जो चला गया।

अतः हमें सोचना पड़ेगा कि हम सांसारिक उपलब्धियों के लिए क्या–क्या मूल्य चुकाते हैं–अपना स्वास्थ्य, अपनी शान्ति, परिवार की खुशी, परिवार (बच्चों सहित) के साथ बिताने वाला आनन्दमय समय, एक सहज सन्तुष्ट जीवन का आनन्द। हर समय तनाव!

धन और पदोन्नति के लिए अनवरत दौड़, कि बस यही जीवन का लक्ष्य है से जब मोहभंग हुआ तब एक कॉरपोरेट अधिकारी (executive) ने अपनी भूल के बारे में एक लेख लिखा जिसमें उसने स्वीकारा कि बच्चे जब सोते रहते थे, तब वह ऑफ़िस चला जाता था और जब लौट कर आता था तब सोते मिलते थे। उनके बचपने का आनन्द ही नही ले पाया। बच्चों को पिता की स्नेहपूर्ण अंतरंगता, साथ बिताने वाले खुशियों के क्षण, जो उनका अधिकार था, से उन्हें वंचित किया। दोस्तों और प्रकृति से भी सम्बन्ध कट गया। उसे पश्चाताप् के साथ जब यह एहसास हुआ कि आखिर यह सब पागलों जैसी दौड़ किसलिए (after all what for this mad pursuit) तब तक उसकी ज़िन्दगी का काफी भाग बीत चुका था, (prime life had gone by)।

अतः समय रहते इस बात को समझना

आवश्यक है कि जीवन का वास्तविक अर्थ क्या है। इन्द्रिय–सुख भोग की दिवानगी तथा धन और पद से अपना मूल्यांकन करके अहं की पुष्टि का कुछ अर्थ ही नहीं है। हमारा वास्तविक स्वरूप ही है सेवा, त्याग और प्रेम और माँग है शान्ति, स्वाधीनता और प्रेम।

सारी विकृत्तियों का श्रोत है देह–भाव का होना। देह से तादात्म्य का परिणाम होता है देहाभिमान और देहाभिमान से ही ममता, कामना, राग–द्वेष आदि की उत्पत्ति होती है।

अतः देह–भाव त्याग कर और जीवन का सही अर्थ और लक्ष्य समझ कर हम कर्तव्य और सेवा–भाव से कार्य करेंगे तो कार्यकुशलता में कोई अन्तर या कमी नहीं आयेगी, बल्कि बेहतर ही होगा। ममता और कामना से रहित होने के कारण ऐसा व्यक्ति बेहतर मानसिकता (better frame of mind) में होता है। उसके विचार और क्रियाओं में किसी प्रकार का लगाव, पक्षपात या पूर्वाग्रह (bias) नहीं होता। ऐसे व्यक्ति को आत्म–सन्तुष्टि भी होती है कि उसने अपना पार्ट पूरी ईमानदारी और निष्ठा से पूरा किया जो उसके वश में है–परिणाम चाहे जो भी हो।

और अन्त में इस विषय के समापन के रूप में यह उल्लेखनीय है कि वास्तव में केवल मानसिकता का अन्तर है, अन्यथा बड़े से बड़ा उद्योगपति, पदाधिकारी, धनी, सब कुछ होते हुए भी भोग–वृत्ति से मुक्त, विरक्त, निर्लिप्त भाव रख सकता है। ऐसा व्यक्ति, जो कुछ उसके पास है, उसे संसार की धरोहर के रूप में समझता है और न्यासिता, ट्रस्टीशीप (trusteeship) के भाव से कार्य करता है। इस तरह के लोग भी बहुत सारे हुए हैं और हैं जो दूसरों के लिए अनुकरणीय मिसाल हैं।

इसके सर्वोत्तम, आदर्श उदाहरण हैं राम–कथा के पात्र, भरत जी जो अयोध्या के राज्य का भोग न करके, उस को श्री राम का ही मान कर चौदह वर्षों तक न्यासिता (trusteeship) के भाव से राज–काज का सम्पादन करते रहे।

■

प्राकृतिक विधान यह है कि दूसरों के साथ हम जो कुछ भी करेंगे, वह कालान्तर में अनेक गुणा होकर अपने साथ होगा।

साधन-सूत्र : 56

गुरु अलौकिक तत्व अथवा शरीर?

रामचरितमानस के विभिन्न विषय–वस्तुओं पर अनेक लेखों की एक पुस्तक देखने और पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। सभी लेख उत्कृष्ट श्रेणी के और विचार तथा विश्वास प्रेरक लगे।

इसी पुस्तक के अंतिम पृष्ठों में यह छपा है कि जीवन से सम्बन्धित किन–किन तीन बातों को नहीं करना चाहिये। उनमें से एक है कि "इन तीन को गुरु नहीं बनाओ–स्त्री, धन और नास्तिक"।

इसे पढ़कर कुछ अटपटा लगा। मानव सेवा संघ के प्रवर्तक ब्रह्मलीन संत स्वामी शरणानन्द जी का कहना था कि "**शरीर में गुरु-बुद्धि** और **गुरु में शरीर-बुद्धि** रखना भारी भूल है क्योंकि गुरु-तत्व अनन्त ज्ञान का भण्डार है। गुरु, हरिहर और सत्य में भेद नहीं है। गुरु-तत्व अनादि अनुत्पन्न तत्व है।"

जब गुरु एक तत्व है तो उसमें स्त्री और पुरुष का कहाँ से भेद आ गया ? भेद तो शरीर में होता है और शरीर गुरु है नहीं। सो यह मार्ग निर्देशन क्यों कि स्त्री को गुरु मत बनाओ ?

गुरु का शाब्दिक अर्थ व्यापक रूप में लिया जाय तो जिनसे हमें सद्ज्ञान मिले वे सब गुरु हैं। सबसे पहले गुरु तो माता–पिता ही होते हैं। आगे जीवन में सभी से कुछ न कुछ अच्छी बातें हम सीखते हैं जिनमें पुरुष भी होते हैं और स्त्रियाँ भी होती हैं।

यदि उस निर्देशन का तात्पर्य दीक्षा देने वाले गुरु से है तब भी यह त्रुटिपूर्ण लगता है क्योंकि अनेकों अनेक महिला संत हुई हैं जिनसे न केवल स्त्रियों ने ही बल्कि पुरुषों ने भी दीक्षा ली है। माँ आनन्दमयी माँ, माता किशोरी जी (गुप्तार घाट–फैजाबाद) आदि परम कोटि की महिला संत हुई हैं। वर्तमान में भी दक्षिण भारत की माँ अमृतानन्दमयी माँ से अनेकों ने बिना लिंग भेद के, दीक्षा लिया है। क्या पांडीचेरी की अरविन्द आश्रम की माँ (Mother) के कोई शिष्य नहीं थे?

वास्तव में गुरु केवल वही नहीं होता है जो कान में मंत्र फूँक कर दीक्षा दे। जिससे हमें गुरु–तत्व का प्रकाश मिला वह गुरु ही तो है। स्वामी शरणानन्द जी पारम्परिक ढंग से दीक्षा नहीं देते थे। जिन–जिन लोगों को उनके गुरु–तत्व रूपी उपदेशों से अपने वास्तविक जीवन की सही राह का परिचय हुआ, उन्होंने उन्हें गुरु माना। उनके शरीर न रहने पर भी उनके द्वारा प्रतिपादित जीवन-दर्शन से असंख्य लोग लाभान्वित हो रहे हैं और होते रहेंगे। यदि शरीर का महत्व होता तो अशरीरी ज्ञान से लोग कैसे उनको अपना गुरु मान सकते थे। और जब अशरीरी है तो उस ज्ञान रूपी गुरु में लिंग भेद कैसा?

जगद्गुरु भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को गीता का ज्ञान दिया और वही ज्ञान आज भी मानव जाति को गुरु की भाँति ज्ञान का प्रकाश प्रदान कर रहा है, और आगे भी करता रहेगा। गीता का ज्ञान गुरु ही तो है। सिख सम्प्रदाय ने गुरुग्रंथ साहिब को ही गुरु मान लिया है। इस दृष्टि से विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि गुरु में लिंग भेद मानना उचित नहीं है।

यदि यह कहा जाये कि स्त्री शब्द का तात्पर्य पत्नी से है, तब भी क्या कोई इस बात को अस्वीकार कर सकता है कि वैवाहिक जीवन में पत्नी पति से और पति पत्नी से जीवन सम्बन्धी अनेक अच्छी बातें सीखते हैं और ऐसा ही वैवाहिक जीवन सफल और आनन्दपूर्ण होता है। यदि इनमें से एक ने भी अपनी बुद्धि पर ताला लगाया और दूसरे की बात सही होने पर भी मात्र दम्भ के कारण स्वीकार न करने की ज़िद पकड़ लिया, वहीं संघर्ष हो जाता है।

यदि कोई पूछे कि तुलसीदास जी का प्रथम गुरु कौन था, तो मानना पड़ेगा कि उनकी पत्नी रत्ना जी ही तो उनकी प्रथम गुरु थीं। बिल्वामंगल (सूरदास) जी के बारे में भी कुछ ऐसी ही किंवदन्ती है। किसी स्त्री के ही शब्दों ने उनके जीवन की दिशा ही बदल दिया।

अतः होना तो यह चाहिये कि जहाँ से भी सद्ज्ञान प्राप्त हो उसे बटोरा जाय, स्त्री पुरुष का भेद न किया जाय, ज्ञान न स्त्री है, न पुरुष।

श्रीमद्भागवत के एकादश सकन्ध के सातवें अध्याय में भगवान श्री कृष्ण द्वारा अपने मित्र उद्धव जी को उपदेश के अंतर्गत महाराज यदु को ब्रह्मवेत्ता दत्तात्रेय जी द्वारा सुनाये गये उपाख्यान का वर्णन है। ब्रह्मवेत्ता दत्तात्रेय जी ने कहा– "राजन्! मैंने अपनी बुद्धि से बहुत से गुरुओं का आश्रय लिया है, उनसे शिक्षा ग्रहण करके मैं इस जगत

में मुक्तभाव से स्वच्छन्द विचरता हूँ। तुम उन गुरुओं के नाम और उनसे ग्रहण की हुई शिक्षा सुनो! मेरे गुरुओं के नाम हैं–पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतंग, भौंरा या मधु–मक्खी, हाथी, शहद निकालने वाला, हरिन, मछली, पिंगला वेश्या, कुरर पक्षी, बालक, कुँआरी कन्या, बाण बनाने वाला, सर्प, मकड़ी और भृंगी कीट। राजन् मैंने इन चौबिस गुरुओं का आश्रय लिया है और इन्हीं के आचरण से इस लोक में अपने लिये शिक्षा ग्रहण की है।''

यदि कोई यह जानना चाहे कि किस प्रकार उन्होंने इनसे कुछ सीखा, तो श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध के सातवें अध्याय के श्लोक संख्या–36 से आगे पढ़े।

स्पष्ट ही इन गुरुओं में दो स्त्रियाँ भी हैं। यह सब लिखने का तात्पर्य यह है कि प्रश्नगत निर्देशक सूत्र से स्त्रियों के प्रति पारम्परिक रुढ़िवादी सोच और उनको हेय दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति की पुष्टि होती है और समाज में एक भ्रामक विचार धारा को बल मिलता है जो वांछनीय नहीं है।

अतः यह विचारणीय बिन्दु है कि– ऐसा वर्जन क्यों कि स्त्रियों को गुरु न बनाया जाय।

■

– गुरु का 'गुर' ही प्रेम–पात्र से मिलाने में समर्थ है, शरीर नहीं। उपासना 'गुर' की होती है, शरीर की नहीं। उसका सद्भाव करना गुरु–भक्ति है। गुरु का 'गुर' ही वास्तव में गुरु का स्वरूप है।

– गुरु की सबसे बड़ी भक्ति यह है कि गुरु मिलना चाहे और शिष्य कहे कि ज़रूरत नहीं है; क्योंकि जिसने गुरु की बात को अपनाया, उसमें गुरु का अवतरण हो जाता है।

– अपने दोषों का ज्ञान जितना अपने को होता है, उतना अन्य को हो ही नहीं सकता। अतः दोष देखने और निवारण करने के लिये साधक को अपने ही ज्ञान को अपना गुरु बना लेना चाहिये।

साधन-सूत्र : 57

ईश्वर और उनके अवतार

अजन्मा, आदि–अन्त रहित, सर्वव्यापी, सर्व--सामर्थ्यवान, अद्वितीय परम–सत्ता, जिसकी अनन्त विभूतियों का वर्णन करना किसी के लिये सम्भव नहीं है, उसी को हम लोग ईश्वर, प्रभु, भगवान आदि अनेक नामों से पुकारते हैं। समस्त सृष्टि उन्हीं में स्थित है, अपनी ही इच्छा मात्र से वही स्वयं इस रूप में प्रकट (manifest) हुए हैं। वह परम चैतन्य हैं, आनन्द स्वरूप हैं और वही एक सत्य हैं। उनके अतिरिक्त कोई और सत्ता है ही नहीं। वही अपनी मौज में अनेक रूप धारण करते हैं। स्थूल, सूक्ष्म, दृश्य और अदृश्य जो कुछ भी है वही हैं।

वह निर्गुण–निराकार हैं और अपने व्यक्त रूप में सगुण–साकार भी हैं। श्रद्धेय मुरारी बापू ने अपने एक प्रवचन में उनके एक और रूप का वर्णन किया : निर्गुण–साकार रूप। जब वह अपने अवतारी रूप में व्यक्त होते हैं तब वह निर्गुण–साकार हो जाते हैं।

इसे समझने के लिये सर्वप्रथम तो उनकी सत्ता को स्वीकार करना होगा कि ईश्वर हैं और वही हैं, अन्य कुछ भी नहीं। ईश्वर–दर्शन, ईश्वर–प्राप्ति और इसी विषय से सम्बन्धित, पहले के कुछ सूत्रों में इस प्रकार की चर्चा हुई है। यह भी चर्चा हुई कि ईश्वर को केवल माना ही जा सकता है, जाना नहीं जा सकता। क्यों? क्योंकि हमारी ज्ञानेन्द्रियां सीमित हैं और वह असीम हैं। 'स्व' द्वारा उनकी विद्यमानता का अनुभव किया जा सकता है।

यह भी चर्चा हुई थी कि विवाद और ज़िद्द को छोड़ कर, वेद–वाणी, संत–वाणी, गुरु–वाणी में सुने हुए प्रभु की सत्ता और नित्य विद्यमानता को उसी प्रकार मान लें जिस प्रकार अनेक बातों को, जिनकी हमें व्यक्तिगत जानकारी नहीं होती है, फिर भी हम उसे सत्य के रूप में मानते हैं।

यह सब कहने सुनने के पश्चात् भी कुछ लोग ऐसे होते हैं जो अपने हठ पर अड़े रहते हैं और कहते हैं कि यह सारा ब्रह्माण्ड, दृश्य जगत सभी कुछ अपने आप बन गया। ऐसे लोग परम चैतन्य सत्ता के अस्तित्व को तथा ठहरी हुई बुद्धि में हम लोगों के चेतन का उनसे जुड़ जाना आदि

को मानने को तैयार ही नहीं हैं। रंग–बिरंगे उत्कृष्ट डिज़ाइन के मोर के सुन्दर पंखों पर दृष्टि जाती है, फूलों में रंग का कलात्मक मिश्रण देखते हैं, पक्षियों के विभिन्न स्वरूप और उनके अपने अपने ढंग के स्वरों को सुनते हैं तो यह भाव क्यों नहीं उपजता कि इसके पीछे किसी की कारीगरी अवश्य होगी ? सारे ग्रह, नक्षत्र, तारे अपनी अपनी मर्यादा में अन्तरिक्ष में भ्रमण करते हैं तो उनका कोई नियन्ता तो होगा !

इसी प्रकार के हठी एक वैज्ञानिक और उसके एक वैज्ञानिक मित्र के इसी विषय को लेकर विवाद की कहानी रीडर्स् डाइजेस्ट में कभी छपी थी। वह हठी अपने मित्र की बात किसी भी प्रकार मानने को तैयार नहीं था कि किसी परमसत्ता (ईश्वर या किसी भी नाम से सम्बोधित करें) द्वारा पूरी सृष्टि की रचना हुई। वह इस बात पर अड़ा था कि यह सब अपने आप बन गया। कुछ समय पश्चात् मित्र वैज्ञानिक ने एक बहुत ही बढ़िया, उत्कृष्ट यंत्र बनाया। उस हठी वैज्ञानिक ने जब उसे देखा तो बहुत प्रभावित हुआ और पूछा कि इसे किसने बनाया। उसके बार बार पूछने पर भी मित्र यही कहता रहा कि यह अपने आप बन गया और दूसरा कहता रहा कि अपने आप कैसे बन सकता है। अन्त में मित्र ने कहा कि भाई, जब यह छोटा सा यंत्र अपने आप नहीं बन सकता तो इतनी बड़ी सृष्टि अपने आप कैसे बन सकती है।

यदि हम अपनी बुद्धि पर ताला न लगायें और शान्त भाव से इस बात को समझें और स्वीकार करें कि एक परम सत्ता है जो आदि–अन्त रहित, सर्वव्यापी और सर्व–समर्थ है और वही इस सृष्टि का निर्माता और पालनकर्ता है और उसके अतिरिक्त कोई और सत्ता है ही नहीं, तो फिर सर्वत्र उसी की विद्यमानता दिखाई पड़ेगी और सब कुछ उन्हीं का रूप मालूम पड़ेगा। जब सभी कुछ उन्हीं का रूप है – अर्थात् वही अव्यक्त व्यक्त हुए हैं तो सब कुछ उनका अवतार ही तो है।

परन्तु प्रचलित मान्यता में अवतार उनके उन्हीं स्वरूपों को कहते हैं जिनमें समय समय पर वे विशेष रूपों में प्रकट हुए हैं। उनके कुछ अवतार तो किसी परिस्थिति विशेष में किसी तत्कालिक उद्देश्य की पूर्ति हेतु हुए हैं जैसे वाराह, नृसिंह, कच्छप, वामन आदि और कुछ अवतार जैसे राम, कृष्ण दीर्घकालिक हुए जिसमें उन्होंने दुष्टों का संहार किया, भक्तों, धर्मात्मा लोगों की रक्षा की और धर्म की पुनर्स्थापना की।

कुछ शंकालू लोग यह प्रश्न् करते हैं कि वह परब्रह्म स्वयं मनुष्य रूप कैसे धारण कर सकता है। सोचने की बात है जब वह अपने ही को अनेक अनेक रूपों में व्यक्त कर सकता है तो वह स्वयं मनुष्य रूप धारण करने में क्यों नहीं समर्थ हो सकता?

वैसे तो सभी मनुष्यों में वे ही हैं, परन्तु उनके अवतारी मनुष्य रूप और सामान्य मनुष्यों में एक अन्तर है। उनकी ही बनाई हुई माया, उनकी चेरी है अतः जब वह मनुष्य रूप अथवा कोई अन्य साकार रूप धारण करते हैं तब वह उन्हें आच्छादित नहीं कर सकती। इसलिये वह अपने शुद्ध वास्तविक स्वरूप में समस्त दिव्यताओं सहित साकार रूप में प्रकट होते हैं। परन्तु सामान्य मनुष्य उनकी उस माया से आच्छादित रहते हैं। मनुष्य को जब अपनी साधना और प्रभु–कृपा से माया के जाल से निकलकर अपने मूल स्वरूप का बोध हो जाता है, तभी अहं ब्रह्मास्मि या शिवोहम् कहने की स्थिति बनती है।

भगवान अवतार क्यों लेते हैं, इस पर स्वामी शरणानन्दजी ने एक अन्य ढंग से प्रकाश डाला है। एक प्रश्न् और उसका उनके द्वारा दिया गया उत्तर नीचे प्रस्तुत हैं–

प्रश्न्–भगवान को अवतार क्यों लेना पड़ा?

उत्तर–भगवान को अवतार लेना पड़े ऐसी बात भगवान में नहीं होती है, क्योंकि भगवान सर्वांश पूर्ण, सर्वशक्तिमान और स्वतंत्र हैं।

भगवदावतार के शास्त्रों में तीन हेतु बतलाये हैं–

(1) साधुओं का परित्राण (2) दुष्टों का विनाश और (3) धर्म की स्थापना।

इनमें दुष्टों का विनाश और धर्म की स्थापना तो भगवान बिना अवतार लिये भी कर सकते हैं। यदि वे दोनों भगवान के अवतार में ख़ास कारण होते, तो इस समय भी भगवान का अवतार होना चाहिये था। क्या धर्म का ह्रास इस समय कम है? और दुष्टों की कमी नहीं है। परन्तु उनकी लीला पर विचार करने पर मालूम होता है कि भगवान का अवतार अपनी रसमयी लीला द्वारा भक्तों को रस प्रदान करने के लिये और स्वयं उनके प्रेम का रस लेने के लिए ही होता है। धर्म की स्थापना और दुष्टों का विनाश तो उसका अनुषांगिक कार्य है। उसमें भी प्रकारान्तर से साधुओं का हित भरा रहता है।''

यह प्रश्न् करना स्वाभाविक है कि कृष्णावतार को हुए तो बहुत बहुत वर्ष बीत गये, प्रेम–रस के आदान–प्रदान के लिए उन्होंने फिर क्यों नहीं अवतार लिया। ऐसा लगता है कि उन्होंने सोचा होगा कि

बार–बार अवतार लेने का झंझट कौन करे, उसी अवतार को नित्य कर दें। स्वामी शरणानन्दजी ने आगे कहा है कि–

"भगवान का अवतार नित्य है। उनका लीला–धाम, उनके माता–पिता, उनके सखा और सखियाँ सब चिन्मय प्रेम–रस से ही बने हुए थे। उनमें कोई भी भौतिक वस्तु नहीं थी। भगवान के प्रेमी भक्तों में भौतिक भाव नहीं रहता।"

"भगवान के प्रेमी भक्तों का आज भी उनकी दिव्य लीला में प्रवेश होता है और उनके प्रेम–रस का आस्वादन करते रहते हैं। यदि भगवान का अवतार नहीं होता तो इस रस की पूर्ति नहीं हो सकती थी।"

स्वामी जी ने आगे एक और बात कही है– "जिनको यह विश्वास नहीं है कि भगवान अवतार लेते हैं, उनसे मेरा कोई आग्रह नहीं है कि वे अवतारवाद को ज़बरदस्ती मानें तथा उनके न मानने का कोई आश्चर्य भी नहीं है, क्योंकि अपनी–अपनी मान्यता के लिए सभी स्वतंत्र हैं।"

परन्तु अन्त में फिर भी निवेदन है कि बिना प्रेम–रस के जीवन नीरस और शुष्क रहता है। और प्रेम उसी से किया जा सकता है जो नित्य हो। नित्य केवल ईश्वर ही हैं। इसलिये एक बार उनके अवतार को मान तो लें, मानने में कोई घाटा नहीं होगा। प्रेम–रस का आदान–प्रदान उनके साकार अवतारी रूपों में ही सहज है। प्रेम–रस किसे नहीं भायेगा, चाहे भक्त हो चाहे भगवान हों।

यह ध्यान देने की बात है कि ईश्वर के साकार रूप में उनसे आत्मीय सम्बन्ध जोड़ना आसानी से बन जाता है। मीरा ने उन्हें पति माना, स्वामी शरणानन्द जी ने उन्हें (कृष्ण को) अपना सखा माना, किसी ने पुत्र माना, तो किसी ने पिता या भाई माना। उनके देवी रूप में लोगों ने उनसे माँ का सम्बन्ध जोड़ा। स्वामी विवेकानन्द का कथन साधन–सूत्र–40 में अंकित है "We say that God is our Father. In the same way we call Him, Mother and so on. These relationships are conceived in order to strengthen Bhakti in us and **they make us feel nearer and dearer to God.**"

अतः अवतारवाद के विवाद में न पड़ कर सरल भाव से उनके किसी अवतारी रूप को स्वीकार करके आत्मीय सम्बन्ध जो भी पसन्द हो, जोड़कर उनके सान्निध्य और अन्तरंगता का अनुभव करें। उसमें कोई घाटा नहीं है, फ़ायदा ही फ़ायदा है। ■

साधन सूत्र : 58

मृत्यु है क्या, मृत्यु का डर क्यों?

नाशवान का नाश ही मृत्यु है। इस संसार में ही क्या, पूरी सृष्टि में जो कुछ भी उत्पन्न होता है, उसका क़भी न कभी, एक न एक दिन नाश होता ही है। यह ऐसा अकाट्य सत्य कहें या नियम कहें, है कि कोई भी उत्पन्न हुई वस्तु, शरीर आदि, इससे बच ही नहीं सकते। हाँ, जो नाशवान नहीं है, नित्य अविनाशी है उसका नाश नहीं होता।

यदि शान्तिपूर्वक विचार करें तो यह हम सभी को अनुभव होगा कि 'मैं' देह नहीं हूँ और देह मेरी नहीं है। इस सत्य की चर्चा पीछे कई सूत्रों में हो चुकी है। देह पंच–तत्वों, भौतिक तत्वों से बना है, संसार में रहता है और संसार में ही पंच–तत्वों में इसका लय हो जाता है। अर्थात् भौतिक तत्वों से बना है इसलिये उसका नाश अवश्य होगा।

'मैं' जो देह से अलग है उसे नित्य, अविनाशी, रसरूप तत्व कहा गया है। अविनाशी क्यों? क्योंकि देवकी बहिन जी के शब्दों में "जिसे हमलोग 'मैं' कहकर सम्बोधित करते हैं उसकी रचना किसी भौतिक तत्व से नहीं हुई है, इसलिये उसमें आदि अन्त का प्रश्न् नहीं है।" इस बात का सामान्य रूप से भी अनुभव होता है कि देह से भिन्न मैं कुछ हूँ और देह से जब असंग हो जायेंगे तब इसका भी अनुभव होगा कि मेरा अस्तित्व रस–रूप है।

परन्तु 'मैं' नित्य, अविनाशी हूँ इस बात का अनुभव उसी को होता होगा जो शरीर और संसार से असंग होकर अपने स्वरूप में स्थित रहता होगा। वेद तो पढ़ा नहीं है, परन्तु गुरु–वाणी में, संत–वाणी में सुना है कि 'मैं' नित्य, अविनाशी तत्व है। अतः हम जैसे लोगों के लिए यह मानने की ही बात है।

ब्रह्मनिष्ठ संत स्वामी शरणानन्द जी से जब एक व्यक्ति ने उनकी जीवनी लिखने के उद्देश्य से उनका परिचय पूछा तो उन्होंने कहा कि "शरीर मृत्यु में और मैं नित्य अमरत्व में वास करता हूँ।"

यह उन परम कोटि के संत का स्वयं का अनुभव था। इस सत्य को उनकी वाणी में सुनकर मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। मानने में कोई नुकसान भी नहीं है। मान लेने से 'मैं' और 'शरीर' का भेद स्पष्ट हो जाता है। यह भेद स्पष्ट हो जाने पर शरीर के नाश जिसे हम लोग मृत्यु कहते हैं, उसके बारे में न तो कोई चिन्ता रहेगी और न ही उसका भय। प्रकृति का अकाट्य, अनिवार्य नियम मानकर हम निर्भय निश्चिन्त रहेंगे।

एक ज्ञान ऐसा है जिसे श्मशान ज्ञान कहते हैं। जब किसी की चिता को जलते हुये देखते हैं तब इसका एहसास होता है कि अरे! शरीर के ही नाते तो मेरा और तेरा का भेद होता है, इस शरीर को ही लेकर तो हम राग–द्वेष में, लोभ, मोह, आसक्ति में लिप्त होते हैं। परन्तु कुछ भी तो साथ नहीं जाता, सब कुछ और सभी यहीं छूट जाते हैं। व्यर्थ ही इस शरीर को लेकर हाय, हाय में लगे रहते हैं। यह ज्ञान हम में स्थायी हो जाये तो जीवन में भले के लिये परिवर्तन आ जाये।

परन्तु घर पहुँचते पहुँचते इसका लोप हो जाता है और फिर वही मेरा तेरा, किसी से राग तो किसी से द्वेष तथा लोभ, मोह, आसक्ति आदि जिसे विकार कहते हैं में पुनः फँस जाते हैं।

राजकुमार सिद्धार्थ (गौतम बुद्ध) ने एक बिमार को, फिर एक वृद्ध को और आगे एक शव–यात्रा को देखा और उन्हें जीवन के अकाट्य सत्य का बोध हो गया। परन्तु उनकी तरह गृह–त्याग और अपने सांसारिक दायित्वों से पलायन आवश्यक नहीं है। जीवन के सत्य को स्वीकार करके, शरीरों और वस्तुओं से असंग तथा अनासक्त होकर अपनी माँग यथाः शान्ति, स्वाधीनता और प्रियता को संसार में ही रहकर संसार की सेवा करके प्राप्त कर सकते हैं। बस अपने को उपयोगी बना लें–संसार के लिये सेवा द्वारा, त्याग द्वारा अपने लिये और प्रेमी होकर प्रभु के लिये। सेवा का वास्तविक अर्थ है सबके प्रति सद्भाव रखना और निकटवर्ती जन–समाज की यथाशक्ति क्रियात्मक रूप से सेवा करना। सबसे निकटवर्ती अपना शरीर होता है, फिर परिवार, उसके बाद समाज। शरीर और परिवार के प्रति ममता छोड़ कर उसकी जो भी सेवा करेंगे वह संसार की ही सेवा होगी। सद्भाव सबके प्रति रखना है। शरीर की सेवा क्या है इसकी साधन–सूत्र–15 में चर्चा हुई है।

परन्तु कारण क्या है कि यह सब जानते और समझते हुए भी हम मृत्यु के

भय और उसको लेकर चिन्ता से ग्रस्त रहते हैं। ऐसा ही एक प्रश्न् और स्वामी शरणानन्द जी का उत्तर नीचे प्रस्तुत है–

प्रश्नः मरने से डर क्यों लगता है?

उत्तरः प्राण-शक्ति के नाश हो जाने एवं वासनाओं के शेष रह जाने का ही नाम मृत्यु है। यदि प्राण-शक्ति के रहते हुए सर्व वासनाओं का नाश हो जाय तो मरने से डर नहीं लग सकता।

स्वामी जी का कथन है कि "मृत्यु में दुःख नहीं है। यह एक बहुत ही शान्तिप्रद प्राकृतिक क्रिया है।"

ध्यान देने की बात है कि मृत्यु का भय केवल अपने ही शरीर के नाश को लेकर नहीं होता बल्कि अपने सम्बन्धियों– कुटुम्बीजनों के सम्बन्ध में भी होता है और उनके शरीर नाश से हम दुःखी होते हैं।

विचार करने पर इस वास्तविकता का परिचय अवश्य हो जायेगा कि जन्म होते ही एक प्रकार से उल्टी गिनती (count down) शुरू हो जाती है। यही बात स्वामी जी के शब्दों में–

"विधि का विधान अमिट है। इसमें किसी का वश नहीं चलता। यद्यपि जन्म से ही मृत्यु आरम्भ हो जाती है, फिर भी उस पर सर्व साधारण की दृष्टि नहीं रहती है। उसका परिणाम यह होता है कि अकस्मात् वियोग हो जाने पर हृदय पीड़ित हो जाता है।"

परम साधिका देवकी बहिन जी ने इस बात को इस प्रकार कहा है–

"यह निश्चित बात है कि जिस शरीर की उत्पत्ति होती है, उसका विनाश अनिवार्य है। इस तथ्य को जानते हुए भी शरीरों को अपना मानना भारी भूल है। जब अपने शरीर से मोह रहता है, तो कुटुम्बीजनों के शरीर से भी मोह रहता है। यही कारण है कि मृत्यु भयावह बन जाती है।"

इस प्रकार के भय से हम कैसे बच सकते है, देवकी बहिन जी के शब्दों में–

"मृत्यु के कारण कुटुम्बीजनों को वियोग का दुःख क्यों होता है? इसलिये कि संयोग काल में सुख लिया गया और सुख लेने की आशा करते रहे। .....संसार में व्यक्तियों से सम्बन्ध मानने का अर्थ ही यह होना चाहिये कि प्रत्येक सम्बन्ध के अनुरूप सेवा की जाय। इसके विपरीत जब माने हुए सम्बन्धियों से आदर, प्यार, सेवा और सहयोग लेने का दृष्टिकोण रहता है, तो सम्बन्धियों की मृत्यु भयंकर दुःख देने वाली हो जाती है।"

प्रश्नगत विषय के क्षेत्र का विस्तार

करते हुए इस विषय से सम्बन्धित एक अन्य पहलू पर विचार करना उपयुक्त होगा। विचार यह करना है कि जिस व्यक्ति का संयोग था, उसके वियोग के उपरान्त दिवंगत के प्रति हम लोगों का क्या भाव होना चाहिये।

इसके बारे में स्वामी शरणानन्द जी का कहना है कि "मृतक प्राणी की सर्वोत्कृष्ट सेवा यही है कि उससे विचार पूर्वक सम्बन्ध विच्छेद कर लिया जाय और जब–जब उसकी याद आवे, तब–तब प्रार्थना की जाय। उसके निमित्त यथाशक्ति अपने विश्वास के अनुसार पुण्य–कर्म आदि भी किया जा सकता है। किन्तु उसको अपना मानना, उसका चिन्तन करना उसके लिये अहितकर ही होगा।"

देवकी बहिन जी ने इसी तथ्य को आगे इस प्रकार समझाया है–

"हर्ष शोक से, भोग रोग से, संयोग वियोग से रहित नहीं है। अतएव धीरज धारणकर, विचार–पूर्वक यथाशक्ति कर्तव्य पालन करने का प्रयत्न करना चाहिये। मोहवश मृतक मनुष्य का स्मरण कर, दुःखी होने से, मृतक को दुःख अधिक होता है। .....सद्भाव से प्रसन्नतापूर्वक मृतक मनुष्य से सम्बन्ध विच्छेद कर दिया जाये"..... तो इससे उसका हर प्रकार से कल्याण होता है।

आगे उन्होंने सलाह दिया है कि सर्वान्तरयामी आनन्दघन भगवान से थोड़े–थोड़े समय बाद प्रार्थना करना चाहिये कि 'वे' मृतक की आत्मा को शान्ति प्रदान करें। यह भी सलाह दिया कि मोह के आवेश के कारण, जब–जब उनकी याद आवे तब–तब हमारे हृदय में यह भावना रहे कि 'अब आपका हमसे कुछ सम्बन्ध नहीं है'।

और अन्त में देवकी बहिन जी ने वियोग में दुःख और संयोग में सुख का भाव का कारण का विश्लेषण करते हुए कहा है कि–

"शरीरों से सम्बन्ध मानने का यह परिणाम होता है कि हम संयोग–जनित सुख अथवा वियोग जनित पीड़ा से आक्रान्त होते हैं। अन्यथा सृष्टि में प्रत्येक क्षण में असंख्य असंख्य शरीरों की उत्पत्ति हो रही है और उसी समय असंख्य असंख्य निष्प्राण शरीरों की अन्त्येष्टि हो रही है। फिर भी हमें तत्सम्बन्धी हर्ष–विषाद नहीं है।"

"ऐसा क्यों? इसलिये कि जिनसे ममता का सम्बन्ध नहीं है, उनके सुख–दुःख से हम आक्रांत नहीं होते। इससे स्पष्ट है कि संयोग–वियोग जनित सुख–दुःख का कारण ममता का दोष ही है। अतः इस

ममता का त्याग अनिवार्य है। जिसको हम अपना मानते हैं और उससे किसी–न–किसी रूप में सुख लेने की इच्छा रखते हैं तो उसकी मृत्यु का दुःख हमे सताता है।''

''इस दृष्टि से संयोग काल में ही सुख–भोग की वासनाओं का अन्त कर देना मानव–मात्र के लिये अनिवार्य है। वासनाओं का अन्त होते ही जीवन और मृत्यु में भेद नही रहता। क्योंकि शरीर से अपना सम्बन्ध–विच्छेद हो जाता है।''

आगे उन्होंने सारांश के रूप में कहा है कि ''शरीर आदि कोई भी वस्तु विश्वास करने योग्य नहीं है और न कोई अपना मानने योग्य है। इस सत्य को स्वीकार करने से सम्बन्ध टूट जाता है। राग–रहित होने पर शरीर का रहना कोई अर्थ नही रखता। अतः हम सभी को राग–रहित होकर मृत्यु के भय से मुक्त हो जाना चाहिये।''

विश्वास करने और अपना मानने योग्य तो वही नित्य–विद्यमान, सर्व–समर्थ, परम कृपालु और सभी के परम हितैषी प्रभु कहें, ईश्वर कहें, ही हैं। परन्तु भ्रम न हो जाये इसलिये यह याद रखना आवश्यक है कि विश्वास नहीं, अपना है की स्वीकृति नहीं, फिर भी शरीरधारियों की निर्लिप्त–निष्काम भाव से यथा–शक्ति सेवा तो करना ही है। राग–रहित, आसक्ति रहित सेवा ही वास्तविक सेवा है।

किसी भी व्यक्ति को अपनी मृत्यु को लेकर भय और चिन्ता का एक और कारण होता है। व्यक्ति सोचता है कि यदि मुझे कुछ हो गया–मैं नही रहा तो मेरे बच्चों का, पत्नी का, परिवार का क्या होगा। उनकी कौन देखरेख करेगा, उन्हें कौन पढ़ाये–लिखायेगा, बेटी की शादी कौन करायेगा आदि। कोई इस सत्य को माने या न माने, पर हर एक की आयु निश्चित रहती है। जब हम उसमें कोई फेर बदल नहीं कर सकते तो शान्त भाव से परिवार के प्रति अपने दायित्वों का निर्वाह करें। चिन्ता करने से तो कुछ होने या मिलने से रहा। ईश्वर के आश्रित रह कर अपने कर्तव्य–कर्म का महत्व है। ईश्वर के आश्रित अर्थात् शरणागत होना इस लिये आवश्यक है कि पालनकर्ता तो वही हैं। हम जो कुछ करते हैं, उसे करने की सामर्थ्य भी तो उन्हीं की दी हुई है। **अपने को पालनकर्ता समझने से ही चिन्ता उपजती है। हम तो निमित्त मात्र हैं।**

अतः जो नहीं करना चाहिये, उसको न करें और जो विवेक–संगत और अपनी सामर्थ्य में है उसे ममता रहित होकर करना श्रेयस्कर होगा। ममता रहित इसलिये कि जिसे हम

अपना समझते हैं उन्हें ईश्वर हम से ज़्यादा अपना समझते हैं–परम हितैषी हैं। उनकी बस मजबूरी यह है कि उन्होंने एक विधान बना दिया कि जो जैसा करेगा वैसा पायेगा। व्यक्ति के कर्मानुसार भाग्य बनेगा और उसी के अनुसार परिस्थितियाँ बनेंगी, अनुकूल भी होंगी और प्रतिकूल भी होंगी।

इस प्रकार देखा जाय तो जो होना है वह तो होगा ही। हमारे भय या चिन्ता करने से कोई फ़र्क आने वाला है नहीं। इसलिये हमें तो भय और चिन्ता से मुक्त होना है। इसका सहज उपाय यही है कि अपने सभी संकल्पों को प्रभु के संकल्प में मिला दें और अपने सभी सम्बन्धियों को उन्हीं के सुपुर्द करके ममता और भय रहित होकर उनको प्रभु के ही बच्चों के रूप में मानकर प्रभु की ही प्रसन्नता के लिये अपने कर्तव्य–कर्म को कर्तव्य-परायणता के भाव से निश्चिन्त हो कर करते रहें।

मानव सेवा संघ के ब्रह्मलीन साधक श्रद्धेय दूगड़ जी (सन्यास लेने के बाद नामकरण हुआ स्वामी रामशरण जी) का गाया हुआ एक भजन है शरणागति का भाव लेकर। उसकी कुछ पंक्तियाँ नीचे प्रस्तुत हैं:–

"जिसने मानव तन सौंपा है वही उपाय करेगा रे

क्यों मैं फिकर करूँ वह खुद ही फिकर करेगा रे

x x x x

सर्वेश्वर को सर्वस सौंपा, मुझ मन मौज करेगा रे

चिन्ता का चारज दे उसको, बन्दा खुला फिरेगा रे

अंत में यही निष्कर्ष बनता है कि **नाशवान का नाश ही मृत्यु है और नाशवान का नाश होना ही है।** अतः हमारे जीवन में मृत्यु को लेकर किसी प्रकार का भय अथवा चिन्ता का औचित्य ही नहीं है। अपना कर्तव्य–कर्म निष्ठापूर्वक पूरी योग्यता लगा कर करते रहें और मस्त रहें।

■

प्राणों के रहते हुए कामनाओं का अन्त हो जाने पर जब मृत्यु होती है, तब उसे 'काल मृत्यु' समझना चाहिये। कामनाओं के रहते हुए प्राणों का अन्त होना 'अकाल मृत्यु' है। वह चाहे जिस प्रकार से हो, चाहे जितनी आयु में हो।

साधन सूत्र : 59

मानव–जीवन और नीरसता! ऐसा क्यों?

मानव–जीवन नित्य, अविनाशी, रसरूप तत्व है। उसका स्वरूप ही है सेवा, त्याग और प्रेम और उसकी माँग है शान्ति, स्वाधीनता और प्रियता। परन्तु ऐसा क्यों होता है कि हमारे जीवन में नीरसता रहती है?

जब हमें अपने वास्तविक स्वरूप की विस्मृति हो जाती है और जीवन–बुद्धि शरीर और संसार में हो जाती है, तब क्या होता है? **हम में बीज रूप से रस की माँग विद्यमान है।** अज्ञानता वश हम सांसारिक भोगों में रस ढूँढ़ते हैं। परन्तु सांसारिक भोग अर्थात् इन्द्रिय–सुख हमें तृप्ति नहीं दे पाते क्योंकि सांसारिक भोगों की समाप्ति नहीं होती, उन भोगों की या नये–नये भोगों की इच्छा बनी रहती है। इस प्रकार जैसे कस्तूरी हिरन कस्तूरी के अपने ही नाभि में विद्यमानता से अनभिज्ञ, उसे इधर–उधर ढूँढ़ता फिरता है, वैसे ही मनुष्य अपने ही में विद्यमान रस को इधर–उधर संसार में ढूँढ़ता है। और संसार उसे रस दे नहीं पाता। यदि सांसारिक भोगों में रस होता तब तो तृप्ति हो जाती। बार–बार उन्हीं भोगों में लिप्त होने की चाह ही नहीं होती।

मानव सेवा संघ द्वारा प्रकाशित पुस्तक जीवन–विवेचन भाग–1 (क) में माँ दिव्यज्योति (देवकी बहिन जी) के प्रवचन संख्या–10 में इस विषय की बड़ी ही स्पष्ट व्याख्या विस्तार से की गई है। उसी से कुछ उद्धरण आगे प्रस्तुत है जिससे इस विडम्बना के कारण पर प्रकाश पड़ता है। परन्तु इससे पहले यह समझना आवश्यक है कि जीवन में नीरसता उत्पन्न कैसे होती है। उन्हीं के शब्दों में "**हममें अगर सुख भोग की रुचि है और उसकी पूर्ति नहीं होती तो अभाव और नीरसता में फंस गये।** यह एक बड़ा भारी मनोवैज्ञानिक तथ्य है।"

मानव जीवन में विश्राम और शान्ति को एक अनिवार्य तत्व बताते हुए कहा है कि "वह बीज रूप में हम लोगों के जीवन में विद्यमान है। अपनी भूल से हम लोग उस विश्राम से वंचित हो गये हैं।"

इसी प्रसंग में उन्होंने बताया कि–

"स्थूल और सूक्ष्म, शरीरी और अशरीरी सब प्रकार की शक्तियों के विकास के लिये विश्राम चाहिये। लौकिक और अलौकिक सब प्रकार के विकास के लिये विश्राम चाहिये।"

नोटः विश्राम क्यों अनिवार्य है–इसे उन्होंने इस प्रकार समझाया है कि "प्रत्येक गति का आरम्भ शांति में से ही होता है और सब प्रकार की गतियों का विलय भी शान्ति में ही होता है।"

आगे इसी क्रम में उन्होंने कहा है कि–

"यदि विश्राम नहीं मिलता है तो इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण है– नीरसता। मनुष्य अपने जीवन में नीरस–नीरस अनुभव करता है। उसके मस्तिष्क में बहुत हलचल रहती है, उसे कहीं अच्छा नहीं लगता।"

तब मनुष्य करता क्या है, आगे देखिये–

"तब जीवन को सरस बनाने के लिये वह बाह्य जगत का सहारा लेता है। अच्छी जगह घूमना, मित्रों से मिलना, होटल में खाना, पिक्चर जाना आदि उपाय करता है। यह मनुष्य की बड़ी भारी भूल है। परिस्थितियों का सहारा लेकर जीवन को सरस बनाने के लिये जितना ही सुख भोगने का प्रयास करो, उतना ही जीवन का रस-स्रोत क्षीण होता चला जाता है। सच्चिदानन्द स्वरूप का अंश होते हुए भी जब वह अपने रस के लिये, अपनी खुशी के लिये, पराश्रय को स्वीकार कर लेता है, तब उसका मूल्य घट जाता है। व्यक्ति भीतर से गरीब होता चला जाता है। ऊपर–ऊपर से अपने को एक बड़प्पन का मिथ्या अभिमान लेकर दूसरों के सामने कुछ विशेष प्रकट करने की चेष्टा करता रहता है। बड़ी दयनीय दशा है।"

इसी बात को देवकी बहिन जी ने और स्पष्ट इस प्रकार किया है–

"रस स्वरूप जो हमारे जीवन का उद्‌गम है, उससे विमुख हो जाओ तो भीतर भीतर नीरसता रहेगी ही। लेकिन बड़ी भारी भूल होती है मनुष्य से कि जब उसके भीतर नीरसता सताती है तो वह सोचता है कि दूसरे के जैसा बढ़िया मकान मेरे पास नहीं है, इसलिये नीरसता है। कोई सोचता है कि जैसी सन्तान मुझे चाहिये थी, उतनी सुयोग्य, आज्ञाकारी सन्तान मेरे पास नहीं है, इसलिये नीरसता है। कोई सोचता है कि शारीरिक स्वास्थ्य अच्छा नहीं है, इसलिये नीरसता है। आदमी भूल जाता है कि उसके भीतर

जो कमी महसूस हो रही है वह तो उस परम प्रेमास्पद, परम हित–चिंतक का निमंत्रण है कि भैया, तू रस कहाँ खोज रहा है? रस तो मेरे पास है। आ मैं तूझे तृप्त करूँ।''

वास्तव में हमसे त्रुटि क्या होती है कि हमारी इस प्रकार की दशा हो जाती है। देवकी बहिन जी के शब्दों में–

''भूल जाता है आदमी कि उसका अपना मूल्य क्या है? वह तो अमर जीवन का अधिकारी है। वह तो प्रेमस्वरूप परमात्मा का लाड़ला दुलारा बालक है। वह तो उस निजानन्द में, योगानन्द में, ब्रह्मानन्द में, प्रेमानन्द में मस्त रहने का अधिकारी है। तो यह सब तो हमारा जन्म–सिद्ध अधिकार है, यह तो हमारा स्वरूप ही है। उस पर दृष्टि नहीं जाती तो हम चेतन हो करके (चेतन होते हुए भी) जड़ का सहारा लेकर आन्तरिक नीरसता को मिटाना चाहते हैं। हमारे परम हितैषी मंगलकारी विधाता की योजना ऐसी है कि वे कहते हैं कि हम तुमको इसमें फंसने ही नहीं देंगे। तो चैन नहीं लेने देते हैं, फंसने नहीं देते हैं।''

अन्त में इस विवेचना के सारांश रूप में देवकी बहिन जी का कथन है कि–

''सचमुच हमलोगों के भीतर जो नीरसता सताती है उसका कोई बाहरी कारण नहीं है। और बाहर के किसी उपादान से आप भीतर की नीरसता, जो ऐसा लगता है कि बनावट में ही भरी पड़ी है, उसको मिटाना पसन्द करेंगे तो कभी भी मिटा नहीं पायेंगे। और बाहरी सहारे, पराश्रय, पराधीनता और परिश्रम से मिलने वाले सुखों के द्वारा मनुष्य अगर अपनी नीरसता को मिटाना पसन्द करता है तो कभी उसको सफलता नहीं मिलती है। उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाती है।''

तो स्वाभाविक प्रश्न् उठता है कि तब हम करें क्या? इसका बहुत ही सहज उपाय उन्होंने बताया कि–

''**जो अपने ही में विद्यमान, अविनाशी की अभिव्यक्ति को अपना खेल बना लेता है, उसमें भी नीरसता नहीं रहती है।** क्यों नहीं रहती है कि उधर असफल होने का प्रश्न् ही नहीं है। और असत्य के संग को छोड़ा नहीं कि सत्य की अभिव्यक्ति हो गई। अपने को कुछ करना नहीं पड़ता। **सारा पुरुषार्थ किस बात में है कि 'है' को स्वीकार करो।** तो 'नहीं' को अस्वीकार किया तो सब असाधन चले गये। असाधन चले गये तो चित्त बिल्कुल शान्त, शुद्ध और सरस हो गया। **'है' को स्वीकार करो तो 'है' की अभिव्यक्ति हो गई।** और **'है' प्रकट हो गया तो रस ही रस है,** आनन्द ही

आनन्द है। नीरसता का कहीं पता ही नहीं है। नीरसता का नाश हो जाता है।''

नोटः– 1. रस का अभाव ही तो नीरसता है। जब जीवन में रस ही रस भर गया तो नीरसता का प्रश्न् ही नहीं।

नोटः– 2. 'नहीं' से तात्पर्य संसार से है जो अनित्य है, परिवर्तनशील है और उसकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। 'है' का तात्पर्य उस नित्य, अविनाशी, प्रेमस्वरूप परमसत्ता से है जिसे हम ईश्वर, भगवान आदि नामों से सम्बोधित करते हैं।

आगे उन्होंने अन्तिम बात के रूप में कहा है कि-

''और अंतिम बात है–प्रेम की अभिव्यक्ति अंतिम बात है। उसमें जो रस की वृद्धि आरम्भ होती है तो कभी रुकती नहीं है। उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाती है। हर अनुभव में वह नया–नया आनन्द देने वाला होता चला जाता है।''

अपना स्वरूप क्या है इस पर सोचने का उन्होंने सुझाव दिया है और फिर भक्त बनने को कहा है और इन दोनों सुझावों को लेकर व्याख्यान किया है। इस चर्चा को यहीं छोड़ते हुए उनके एक अन्य प्रवचन से उद्धरण प्रस्तुत है।

''मानव सेवा संघ के नाम से स्वामी जी महाराज ने जो सत्य हम लोगों के सामने रखा कि भाई! आप बाल–बच्चेदार हैं, घर गृहस्थी वाले हैं, कमाने खाने वाले हैं, कार बार करने वाले हैं, शासन के सूत्र–धार हैं, जन–समाज की सेवा करने वाले हैं–ये सब हम लोगों की मान्यताएँ हैं–इनको अगर साधनरूप नहीं बनाओगे तो इसमें से निकलने की सामर्थ्य कभी नहीं आयेगी। इसमें से निकलने की सामर्थ्य आपको चाहिए। इसलिये आज की जो आपकी मान्यता है, उसी में आप अपने को स्वीकार करिए। साधक की स्वीकृति में सुख–दुःख को फ़िट (fit) करिये। समाज में रहते हुए समाज का, संसार का, परिवार का काम करते हुए आप कह सकते हैं कि मुझे सुख–दुःख छुआ नहीं है? नहीं कह सकते। तो भाई सुख भी अपने को छू रहा है, दुःख भी अपने को छू रहा है। सुख–दुःख का स्पर्श जो हो रहा है इसी दशा को साधन रूप बनाइये। कैसे बनाइयेगा? अभी तो चार बच्चों के दुःख से दुःखी हो रहे थे, अब साधक होने के नाते सब बच्चों को उनकी (ईश्वर) फुलवारी के पुष्प मानेंगे और किसी भी बच्चे का दुःख देखकर हमारे हृदय में करुणा उपजेगी। किसी भी बच्चे का हँसना–खेलना देखकर के, किलकारी मारते बच्चों को देखकर हमारे

भीतर प्रसन्नता होगी। इसमें कहीं पैसा खर्च होने का नहीं है। मंहगाई से कोई तंगी नहीं आनेवाली है।....."

"दुखी मात्र के दुःख से करुणित होना तो अच्छा है ही। लेकिन **सुन्दर बात यह है कि हृदय में जब करुणा का रस आता है तो सुख–भोग की रुचि का नाश हो जाता है।** आप सो करके देखिये कि ममता के घेरे को तोड़ा नहीं और शरीर से पैदा किए लोगों के मोह में अपने को बांध कर रखा, साधन के समय में अकेले में एक घन्टा बैठकर भगवत् चिन्तन करना चाहते हैं तो क्या ममता के घेरे में बंधे हुये व्यक्ति के वश की यह बात है कि वह भीतर से नीरसता को मिटा दे? नहीं मिटा सकेगा। बंद करके, अकेले में बैठ करके, मन की वृत्ति के साथ संघर्ष करना ठीक है, कि दुनियाँ में रह करके हृदय के दायरे को बढ़ाना स्वाभाविक है? बढ़ा सकते हैं न! आज ही से बढ़ाना शुरू कर दें। बहुत जल्दी लाभ हो जायेगा। देर नहीं लगाना। क्या जाने यह मौका कब तक है। कोई कह नहीं सकता।"

स्वामी शरणानन्द जी का एक प्रश्नोत्तर प्रस्तुत करते हुए इस विषय को यहीं समाप्त किया जा रहा है।

प्रश्न्– नीरसता का नाश कैसे हो?

उत्तर–आवश्यक कार्य पूरी सामर्थ्य, योग्यता और ईमानदारी से पूरा करें और अनावश्यक कार्यों का त्याग करें। हर कार्य के आदि और अन्त में अपने आप आने वाली शान्ति को सुरक्षित रखो। शान्ति से नीरसता का नाश होता है। ऐसा करने से **उदारता, शान्ति, स्वाधीनता और प्रियता की अभिव्यक्ति होती है, जो स्वभाव से रस रूप है।**

पूर्व प्रस्तरों में जो व्याख्या प्रस्तुत की गई है उसको पढ़–समझ कर उसमें दिये गये सुझावों को यदि हम विश्वासपूर्वक अपनाएँ तो नीरसता का अभाव होकर जीवन रस से भरपूर अवश्य हो जायेगा। ■

रसमय जीवन ही सत्य और शाश्वत जीवन है। इसकी उपलब्धि की कला ही जीवन की सर्वोत्तम कला है।

साधन-सूत्र : 60

क्या प्रभु की मर्ज़ी के बिना पत्ता भी नहीं हिलता?

अक्सर लोग कहते हुए सुने जाते हैं कि ईश्वर की मर्ज़ी के बिना एक पत्ता तक नहीं हिलता। इसे सुनकर मन में प्रश्न् उठा कि यदि सब कुछ प्रभु की मर्ज़ी से ही होता है तब फिर हमें अपने कर्मों का फल क्यों भोगना पड़ता है। कहा तो यही जाता है न कि जो जैसा करेगा, वैसा ही फल पायेगा। कर्मों से ही भाग्य बनता है और उसी के अनुसार परिस्थिति बनती है, दुःखद या सुखद। परन्तु जब प्रभु की मर्ज़ी का प्रश्न् है तब हमें अपने दुष्कर्मों का फल क्यों भोगना पड़े? क्योंकि फिर दुष्कर्म भी तो उन्हीं की मर्ज़ी से हुआ।

मानव सेवा संघ की परम कोटि की साधिका देवकी बहन जी से इस विषय के बारे में चर्चा किया तो उन्होंने कहा कि ऐसा नहीं है। तो मैंने कहा कि यह समझा जाय कि कुछ करने की हमारी सीमित स्वतन्त्रता (free volition) है और उसके आगे प्रभु की मर्ज़ी का दायरा है। मैंने उदाहरण दिया कि जिस प्रकार किसी घोड़े को 20 फीट लम्बी रस्सी से खूँटे में बाँध दिया जाय तो 20 फीट अर्धव्यास (radius) के क्षेत्र में घुमने में वह स्वतंत्र है, उसके आगे नहीं। तो क्या मनुष्य के साथ भी ऐसा ही है। उन्होंने मात्र इतना ही कहा कि ऐसा भी नहीं है।

कदाचित उन्होंने यह सोचा कि मैं खुद ही मानव सेवा संघ के दर्शन में इसका समाधान खोजूँ, वह ज़्यादा उचित होगा। समाधान मिला, यह कि ईश्वर ने दो काम किये। एक तो सृष्टि की रचना की और उसका एक विधान बना दिया। उसी विधान के अंतर्गत सब कुछ हो रहा है। मनुष्य भी उसी से नियंत्रित (govern) होता है। दूसरा काम उन्होंने यह किया कि मनुष्य की रचना की और उसे विवेक का प्रकाश दिया जिसमें वह सही गलत की पहचान कर सकता है। परन्तु इसके साथ ही उन्होंने मनुष्य को इस बात की पूर्ण स्वतंत्रता भी प्रदान किया कि वह अपने विवेक का आदर करे या न करे। उन्होंने पूरी छूट दे रखा है कि तुम जो चाहो सो करो, परन्तु विधान के अनुसार

उसका वैसा ही फल मिलेगा।

अतः यह कहना विवेक-पूर्ण नहीं है कि उनकी मर्ज़ी के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। हाँ, उनकी मर्ज़ी उन लोगों के लिए काम करने लगती है जिन्होंने उन्हें अपने को पूर्ण रूप से समर्पित कर दिया है, उनकी शरणागति अपना लिया है। तब वह कर्ता न होकर निमित्त मात्र हो जाता है। उस स्थिति में करना होने में बदल जाता है। उनकी ओर से संदेश आते रहते हैं और उसी के अनुसार कर्म होता रहता है।

गीता में भगवान कृष्ण ने अर्जुन से यही तो कहा कि तू मेरी शरण में आ जा और बिना संशय के युद्ध कर।

वास्तव में जो हर प्रकार के राग और कामना से सर्वथा मुक्त होता है, उसका करना, होने में बदल जाता है। और शरणागत वही होता है जो राग–रहित और कामना रहित होता है। यहाँ तक कि जो शरणागत होता है वह प्रभु-प्रेम की चाह से भी मुक्त होकर उन्हीं पर छोड़ देता है कि तुम्हारी मर्ज़ी और गरज़ हो तो अपना प्रेम दे देना, मैंने तो बस तुम्हारी शरणागति पकड़ ली है, तुम जो चाहो सो करो। राग और कामना के रहते हुए कोई शरणागत नहीं हो सकता।

परन्तु हम जब तक कर्ता हैं तब तक विवेक का आदर करना ही पड़ेगा अन्यथा यह बहानेबाज़ी (alibi) नहीं चलेगी कि उनकी मर्ज़ी के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। विवेक का अनादर करेंगे तो उसी के अनुसार विधान के अन्तर्गत उसका फल भोगना ही पड़ेगा।

प्रभु की ओर से मार्ग–दर्शन की कमी नहीं है–हमें बीच बीच में भीतर–बाहर से थोड़ी थोड़ी देर के लिये बिल्कुल शान्त होने का स्वभाव बनाना चाहिये। उसी शान्ति में दिशा निर्देशन मिल जाता है और साथ ही सही करने की सामर्थ्य भी प्राप्त होती है। ■

'मानना' वही सार्थक होता है, जिसमें अटल विश्वास हो और जानना वही सार्थक होता है, जिसका आदर हो।

साधन सूत्र : 61

शरणागति–तत्व : साधन–पथ में शरण, सफलता की कुंजी है

इससे पूर्व साधन–सूत्र–3, शीर्षक 'शरणागत जीवन' में शरणागति की कुछ झल्की मिली थी। साधन–पथ में शरण को सफलता की कुंजी कहा गया है। अतः यह उचित एवं आवश्यक लगा कि इस विषय पर विस्तार से गहन अध्ययन किया जाय।

स्वामी शरणानन्द जी द्वारा इस विषय की 'शरणागति–तत्व' शीर्षक के अन्तर्गत व्याख्या की गई है। शरण की विशेषताओं और गुणों का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है कि–

"शरण सफलता की कुंजी है, निर्बल का बल है, साधक का जीवन है, प्रेमी का अन्तिम प्रयोग है, भक्त का महामंत्र है, आस्तिक का अचूक अस्त्र है, दुःखी की दवा है, पतित की पुकार है। वह निर्बल को बल, साधक को सिद्धि, प्रेमी को प्रेम–पात्र, भक्त को भगवान, आस्तिक को अस्ति, दुःखी को आनन्द, पतित को पवित्रता, योगी को योग, परतंत्र को स्वातंत्रय, बद्ध को मुक्ति, नीरस को सरसता, मर्त्य को अमरता प्रदान करती है।"

उन्होंने एक बहुत ही यर्थाथ की बात इस प्रकार बताया कि–

"प्रत्येक व्यक्ति किसी–न–किसी के शरणापन्न रहता है, अन्तर केवल इतना है कि आस्तिक एक के और नास्तिक अनेक के। आस्तिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है और नास्तिक इच्छाओं की। आवश्यकता एक और इच्छाएँ अनेक होती हैं। शरणागत शरण्य की शरण हो इच्छाओं की निवृत्ति एवं आवश्यकता की पूर्ति कर कृतकृत्य हो जाता है।"

स्वामी जी ने स्पष्ट और बलपूर्वक कहा है कि "शरणागति भाव है कर्म नहीं।"

इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने दर्शाया कि–

"भाव और कर्म में यही भेद है कि भाव वर्तमान ही में फल देता है, कर्म भविष्य में। भावकर्ता स्वतंत्रतापूर्वक भाव कर सकता है। कर्म संगठन से होता है।"

शरणागत होने पर साधक के व्यक्तित्व में क्या परिवर्तन होता है? स्वामी जी के शब्दो में–

"शरणागत होते ही सबसे प्रथम अहंता परिवर्तित होती है। .....शरणागत होने से पूर्व प्राणी की अहंता अनेक भागों में विभक्त रहती है। शरणागत होने पर अनेक भाव एक ही भाव में विलीन हो जाते हैं। जब अनेक भाव एक ही भाव में विलीन हो जाते हैं, तब प्राणी को एक जीवन में दो प्रकार के जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। एक तो उसका वास्तविक जीवन होता है, दूसरा उसका अभिनय। **शरणागत का वास्तविक जीवन केवल शरण्य का प्यार है। शरणागत का अभिनय धर्मानुसार विश्व–सेवा है,** अर्थात् विश्व शरणागत से न्यायपूर्वक जो आशा रखता है, शरणागत विश्व की प्रसन्नार्थ वही अभिनय करता है।"

प्रश्न् होता है कि अभिनय करने में शरणागत उसी में उलझ कर रह तो नहीं जाता? परन्तु स्वामी जी बताते हैं कि–

"यह नियम है कि अभिनय में सद्भाव तथा क्रिया–भेद होने पर भी प्रीति–भेद नहीं होता, एवं अभिनयकर्ता अपने आप को नहीं भूलता तथा उसे अभिनय में जीवन–बुद्धि नहीं होती। अभिनय के अन्त में उस स्वीकृत भाव का अत्यन्त अभाव हो जाता है। बस उसी काल में शरणागत सब ओर से विमुख होकर शरण्य की ओर हो जाता है।"

इस चर्चा में दो शब्द प्रयोग हुए हैं– शरणागत और शरणापन्न। इनमें अन्तर क्या है? स्वामी जी ने कहा है–

"शरणागत में मानव–जीवन स्वभावतः उत्पन्न होता है। जब शरणागत शरणापन्न हो जाता है तब ऋषि–जीवन का अनुभव कर अपने ही में अपने शरण्य को पाता है। शरणागत और शरणापन्न में अन्तर केवल यही है कि शरणागत शरण्य के प्रेम की प्रतीक्षा करता है और शरणापन्न प्रेम का आस्वादन करता है।"

इसे अंग्रेजी में ऐसे समझ सकते हैं कि शरणागत का अर्थ है seeker of refuge और शरणापन्न वह है who has attained refuge.

हमारा शरण्य है कौन? इसका उत्तर नीचे प्रस्तुत स्वामी जी की वाणी में है–

"प्राणी की स्वाभाविक प्रगति अपने केन्द्र के शरणापन्न होने की है। अब विचार यह करना है कि हमारा केन्द्र क्या है? केन्द्र वही हो सकता है जिसकी आवश्यकता हो। आवश्यकता नित्य जीवन, नित्य रस

एवं सब प्रकार से पूर्ण एवं स्वतन्त्र होने की है। अतः हमारा केन्द्र वही हो सकता है जो सब प्रकार से पूर्ण एवं स्वतन्त्र हो। हमें उसी के शरणापन्न होना है।"

ऐसा है कौन? वही नित्य, अविनाशी, आदि–अन्त रहित, अद्वितीय, अनन्त, ऐश्वर्य–माधुर्य–सम्पन्न परम सत्ता जिसे हम ईश्वर, भगवान आदि नामों से सम्बोधित करते हैं।

एक पूर्व प्रस्तर में स्वामी जी के कथन का उल्लेख किया गया है कि "शरणागति भाव है, कर्म नहीं।" इसी को और स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि–

"शरणागति अभ्यास नहीं है, प्रत्युत सद्भाव है। शरणागति–भाव का सद्भाव होने पर प्राणी का समस्त जीवन शरणागतिमय साधन हो जाता है। ..... जो–जो व्यक्ति उससे न्यायानुसार जो–जो आशा करता है, उसके प्रति शरणागत वही अभिनय करता है। अपने लिये वह शरण्य से भिन्न और किसी की आशा नहीं करता अथवा यों कहिये कि शरणागत सबके लिये सब कुछ होते हुए भी अपने लिये शरण्य से भिन्न किसी अन्य की ओर नहीं देखता। जब शरणागत अपने लिये किसी भी व्यक्ति, समाज आदि की अपेक्षा नहीं करता तब अभिनय के अन्त में शरणागत के हृदय में शरण्य के विरह की अग्नि अपने आप प्रज्वलित हो जाती है। अतः **शरणागत सब कुछ करते हुए भी शरण्य से विभक्त नहीं होता।** गहराई से देखिये, कोई भी ऐसा अभ्यास नहीं है जिससे साधक विभक्त न हो। परन्तु शरणागति से परिवर्तित अहंता निरन्तर एक रस रहती है। अन्तर केवल इतना रहता है कि **शरणागत कभी तो शरण्य के नाते विश्व की सेवा करता है,** तथा कभी शरण्य के प्रेम की प्रतीक्षा करता है एवं कभी शरण्य से अभेद होता है।"

इस बात की पहले के साधन–सूत्रों में चर्चा हो चुकी है कि अपने जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति के लिये हमारा पूरा जीवन ही साधनमय होना चाहिये। ऐसा साधन जिसमें श्रम या अभ्यास कहें और पराश्रय अपेक्षित है वह अखण्ड नहीं हो सकता। इसी बात को स्वामी जी ने इस प्रकार भी कहा है–

"वह साधन पूर्ण साधन नहीं हो सकता जिससे साधक विभक्त हो जाता है, क्योंकि पूर्ण साधन तो वही है जो साधक को साध्य से विभक्त न होने दे। अतः इस दृष्टि से **शरणागति–भाव सर्वोत्कृष्ट साधन है।**"

अतः हमें करना यही है कि "अपनी

सारी शक्ति का पवित्रतापूर्वक ईमानदारी से उपयोग कर लक्ष्य से निराश न हों, प्रत्युत अपनी अनन्त ऐश्वर्य–माधुर्य–सम्पन्न नित्य सत्ता के शरणापन्न हो जावें।"

पूरी व्याख्या के सारांश के रूप में स्वामी जी का कथन नीचे प्रस्तुत है–

"मानव जीवन की सार्थकता के लिये शरण्य से शरणापन्न होना परम अनिवार्य है, क्योंकि ऐसा कोई दुःख नहीं है जो शरणागत होने से न मिट जाये अर्थात् स्वभावानुसार विकास तथा नित्य जीवन शरण्य के शरणागत होते ही सुलभ हो जाता है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि **शरण सफलता की कुंजी है।**"

अतः हमें करना क्या है? हमें अपनी वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग कर अपने लिये नित्य जीवन एवं नित्य रस की आवश्यकता का अनुभव करना चाहिये। स्वामी जी के शब्दों में–

"जब प्राणी अपनी सीमित शक्तियों का जो अनन्त से प्राप्त है, सदुपयोग कर लेता है और अपने लक्ष्य से निराश नहीं होता तब ऐसी दशा में शरणागत होने का भाव उत्पन्न होने के लिए विवश हो जाता है।"

आगे शरणागति से सम्बन्धित स्वामी जी के कुछ अमूल्य वचन प्रस्तुत किये जा रहे हैं जो हम लोगों के लिये बहुत ही हितकारी सिद्ध होंगे ('क्रान्तिकारी सन्तवाणी' से) :–

1. जब साधक अपने में भलीभांति असमर्थता का अनुभव कर लेता है, तभी शरणागत होने का अधिकारी होता है।

2. शरणागति दीनता नहीं है, अपितु नित्य सम्बन्ध की स्मृति है।

3. अपने रचयिता के संकल्प में अपने सभी संकल्प विलीन करना वास्तविक शरणागति है।

4. शरणागत की दृष्टि में किसी और का अस्तित्व ही नहीं रहता। वह अनेक रूपों में अपने शरण्य को ही पाता है और प्रत्येक घटना में उन्हीं का दर्शन करता है।

5. पतित से पतित प्राणी भी शरणागत होते ही पवित्र हो जाता है।

6. जो सच्चाई पूर्वक प्रभु के शरणागत हो जाते हैं, उनकी आवश्यक वस्तुएँ बिना माँगे ही मिल जाती हैं, और अनावश्यक माँगने पर भी नहीं मिलतीं। ■

साधन-सूत्र : 62

करने का राग और उसकी निवृत्ति

इससे पूर्व साधन–सूत्र–45 शीर्षक "मानव जीवन का अभिशाप–राग–द्वेष" में यह चर्चा हुई थी कि राग–द्वेष है क्या, यदि यह हमारे जीवन में है तो उसका कुपरिणाम क्या होता है और उसकी निवृत्ति का क्या उपाय है। उसमें व्यक्तियों के प्रति राग, विषय था। करने का भी एक राग होता है। उसके सम्बन्ध में स्वामी शरणानन्द जी का वचन और देवकी बहिन जी द्वारा उसकी व्याख्या प्रस्तुत है–

देवकी बहिन जी ने स्वामी जी की वाणी में बहुत ही आवश्यक तीन वाक्यों की ओर ध्यान आकर्षित कराया है। वाक्य क्या हैं?

"अकिंचन, अचाह हुए बिना शान्ति मिलेगी नहीं। दूसरों के काम आये बिना करने का राग मिटेगा नहीं। और प्रभु को अपना माने बिना स्मृति और प्रियता जागेगी नहीं।"

इन तीनों वाक्यों की देवकी बहिन जी ने विस्तार से व्याख्या किया है। इस साधन–सूत्र में दूसरे वाक्य कि 'दूसरों के काम आये बिना करने का राग मिटेगा नहीं' की व्याख्या आगे वर्णित है–

उन्होंने कहा कि "इसमें भी जीवन का बड़ा भारी रहस्य है। .....वह क्या है? कि कुछ न कुछ करना हम लोगों को पसन्द आता है। इसके भीतर रहस्य क्या है कि शरीरों के सहयोग से किसी न किसी प्रवृत्ति में जब हम लग जाते हैं तो प्रकृत्ति प्रदत्त कार्यक्षमता, जो अपने भीतर संचित है, उसको खर्च करने का मौका मिलता है। उसको खर्च करने में अपने को कुछ अच्छा लगता है, मज़ा आता है। अब **करने का जो हिस्सा है वह अगर मैंने अपने सुख संपादन के लिए किया तो प्रवृत्ति में एक राग बन जाता है।**"

उदाहरण के रूप में उन्होंने आगे कहा है कि "जैसे मुझको जीवन का सत्य आपकी सेवा में निवेदन करने का अवसर मिला। अगर वक्ता होने का सुख मैं लेने लगूँ, मैं जो बोलने के सुख में अपने को

बाँध लूँ, तो मेरा कल्याण नहीं होगा।..... यह कहलाता है प्रवृत्ति का राग, कुछ करने का राग। करना अपने को सुखकर लगता है। **सुख का भोगी करने के राग से मुक्त नहीं होता।** अगर करने का राग भीतर रह जायेगा, तो एक शरीर के नाश होने के बाद पुनः शरीर धारण करने की ज़रूरत बाकी रहेगी, आवागमन चलता रहेगा। प्रकृति का ऐसा विधान है कि राग निवृत्ति की आज जो स्वाधीनता अपने में है, वह घटती चली जायेगी, रहेगी नहीं। आज हम लोग फ्री (Free) हैं इस बात के लिये कि वक्ता कहलाने का सुख के लिए बोलूँ, या प्रभु के दिये प्रकाश से श्रोता–समाज की सेवा के लिये बोलूँ..... अगर साधन बुद्धि से मेरा यह बोलना है, तो बोलने का राग खत्म हो जायेगा। अगर सुख–बुद्धि से मेरा बोलना है तो किसी दिन यह कंठ बन्द हो जायेगा, स्वर-यंत्र भंग हो जायेगा और मेरे भीतर बोलने की वासना शेष रह जायेगी, मुख से मैं मुक्ति–मुक्ति बोलती रही और बन्धन लेकर मर जाऊँगी।..... **करने का राग अपने में रह गया, तो जन्म–मरण का बन्धन खत्म नहीं होगा।**"

आगे उन्होंने स्वामी जी की कही हुई बात बताई है कि "भाई, इस राग से मुक्त हो जाओ। अविनाशी जीवन तो तुम्हारे में ही विद्यमान है। उसको प्रकट होने में देर क्या लगती है? कुछ नहीं। केवल तुम करने के राग से बंधे हो, चुपचाप रहा नहीं जाता है। ऐसा इसलिये होता है कि अपने में करने का राग है। .....**अपने अहं में प्रवृत्ति के द्वारा सुख लेने की वासना जो है वह देखने में नहीं आती।** उसके रहते–रहते अगर आप हाथ पाँव मोड़कर आँख बन्द करके समाधि का आनन्द लेना चाहें तो नहीं ले सकेंगे। कुछ देर शान्त रहने का मज़ा आता है तो कुछ देर काम करने को जी होता है।"

इसी क्रम में देवकी बहिन जी ने आगे वर्णन किया है कि "काम करना अच्छा है। जब तक यह शरीर है, इस धरती पर आश्रय हम ले रहे हैं, तब तक **शरीर के द्वारा कुछ काम होता रहे तो अच्छा है। लेकिन काम का राग अपने में रखना अच्छा नहीं है। अपने सुख के लिये जब तक प्रवृत्ति में लगे रहेंगे तब तक राग मिटेगा नहीं।** और **पर–हित के लिये प्रवृत्ति में लग जाओगे तो राग मिट जायेगा।**"

निष्कर्ष के रूप में उन्होंने कहा है कि "तो अब हमलोगों को क्या करना चाहिये? हम लोगों को आज से, इसी

क्षण से, प्रवृत्ति में अपने सुख के हिस्से को माइनस करके, निकालकर पारिवारिक और सामाजिक हित को प्रधानता देनी चाहिये। अपने सुख की दृष्टि से कुछ मत करो। परहित की दृष्टि से जो कर सकते हो सो करो।''

उन्होंने सजग किया है कि ''चौबीसों घंटों का समय करने के लिये मत रखो। कुछ समय **न करने के जीवन में निवास** करने के लिये रखो।'' इस विषय की चर्चा साधन–सूत्र–32 शीर्षक 'मानव जीवन में निवृत्ति काल का सदुपयोग' में हुई है। राग–निवृत्ति के प्रसंग में थोड़े में इसकी यहाँ भी व्याख्या आवश्यक है।

परन्तु इस चर्चा को आगे बढ़ाने के पहले उन्हीं के शब्दों में एक दृष्टांत जो बहुत ही प्रासंगिक है और हम लोगों की दशा को बड़े स्पष्ट ढंग से बताता है, प्रस्तुत है–

''कुछ वर्ष पूर्व मुझे एक सज्जन मिले थे। समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। 80 वर्ष से कुछ ज्यादा ही उम्र के होंगे। बड़े प्रेम से मिले और मिल करके अपनी बात जो उन्होंने बताई तो कहा कि इतनी उम्र हो गई है, अभी भी मेरा कार्य–क्रम ऐसा चलता है कि चौबीस घंटे में से कम से कम आठ घंटे मैं अध्ययन में लगाता हूँ। वे सज्जन पंडित थे, विद्वान थे और शास्त्रज्ञ थे। उनकी बात सुनकर भीतर भीतर मैंने सोचा यह वृद्ध 80 वर्ष के हो गये अभी भी आठ घंटे अध्ययन करने की आवश्यकता महसूस होती है तो इतने दिनों तक जो सारा अध्ययन इन्होंने किया, वह कब काम आयेगा। मुझे ऐसा लगा कि अध्ययन भी एक व्यसन हो गया। कब तक चलेगा यह?''

स्वामी जी का एक कथन इस क्रम में बहुत प्रासंगिक और ज्ञानप्रद है। वाराणसी में एक शास्त्री जी स्वामी जी से मिले और बोले कि महाराज, मैंने वेद, उपनिषद् आदि सभी दर्शन का अध्ययन किया है और किसी भी विषय पर मुझे बोलने को कह दिया जाय तो मैं घंटों बोल सकता हूँ, परन्तु आत्म-साक्षात्कार नहीं हुआ। स्वामी जी ने कहा कि ''भइया, आपने इतना सारा पढ़ा तो आपकी बुद्धि बलवती हो गई, पर आत्म-साक्षात्कार तो तब होगा जब बुद्धि सम होगी।''

अतः यह तो समझना ही पड़ेगा कि लक्ष्य क्या है, अन्यथा लक्ष्यविहीन रह कर मात्र पाण्डित्य के लिये अध्ययन करते रहेंगे तो वह अपने जीवन की माँग/लक्ष्य की प्राप्ति के लिये निरर्थक ही सिद्ध होगा।

कबीरदास जी का दोहा इस प्रसंग में बड़ा सटीक है–

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पण्डित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़ै सो पण्डित होय।।

अनेक ग्रंथों में स्वाध्याय की बात कही गई है। उसका अर्थ अधिकांशतः लोग सद्ग्रन्थों का नियमित पाठ/अध्ययन मानते हैं और वैसा ही करते हैं। स्वामी शरणानन्द जी द्वारा स्वाध्याय का मन्तव्य इस प्रकार बताया गया है :–

".....सबसे पहले साधक को बिना किसी पक्षपात के अपने जीवन का अध्ययन करना चाहिये। **'स्व' का अध्ययन अर्थात् अपनी वस्तुस्थिति के अध्ययन का नाम ही स्वाध्याय है।**"

एक अन्य अवसर पर स्वामी जी ने कहा – निज ज्ञान का आदर वास्तविक स्वाध्याय है।

नोटः– अध्ययन के सम्बन्ध में विस्तार से विचार के लिए, साधन–सूत्र–72 देखें।

पूर्व प्रसंग "कुछ समय न करने के जीवन में निवास करने के लिये रखो", पर लौटते हुए उनकी व्याख्या पढ़िये–

देवकी बहिन जी ने कहा है कि "अहं में अंकित हुआ प्रवृत्ति का जो राग है, वह कुछ न कुछ करने के संकल्प का रूप धारण करके सूक्ष्म शरीर के माध्यम से मन में उदित होता है। जब उसके वेग को हम रोक नहीं सकते तो क्रिया में लग जाते हैं। अब इसके विपरीत हमको चलना है। करने का यंत्र है। इस यंत्र को चालित करके पर–हित की भावना से प्रभावित होकर सही प्रवृत्ति में कुछ समय लगा दीजिये। लेकिन **प्रत्येक सही प्रवृत्ति के बाद कुछ समय अपनी सहज निवृत्ति के लिये ज़रूर रखिये।**"

"क्या होगा उसमें? उसमें आपको पता चलेगा कि इतने दिन तक जो मैंने धूम–धाम मचाई, जी तोड़ परिश्रम किया और इसमें बड़ा सुख माना, यह सब जो मैंने किया, इसके बदले में विश्राम की योग्यता मुझमें आई कि नहीं? किसी–किसी व्यक्ति की परिस्थिति कुछ ऐसी होती है कि उसको इच्छा से और शक्ति से अधिक काम करने की ज़रूरत पड़ जाती है। वह सोचता है कि मुझको तो इतना काम पड़ रहा है कि विराम ही नहीं मिल रहा है। लेकिन आप समय बचा करके थोड़ा–थोड़ा समय विश्राम के लिये रख कर देखियेगा तो आप को पता चलेगा कि परिस्थितियाँ तो विराम allow करती हैं, विश्राम का अवसर देती हैं पर अपने में योग्यता नहीं है विश्राम में रहने की। इसलिये थोड़ा–थोड़ा समय विश्राम सम्पादन के लिये रखना चाहिये। **काम करने के बाद कुछ देर के लिये शान्त रहकर सहज निवृत्ति का आनन्द लेना चाहिये।** इसमें दार्शनिक सत्य क्या है?"

देवकी बहिन जी ने इस सत्य को

आगे इस प्रकार समझाया है–

"**जो अपने में है और जो नित्य विद्यमान है उसकी अभिव्यक्ति श्रम से नहीं होती–विश्राम से होती है।** .....श्रमकाल में शरीरों से तादात्म्य तोड़ना सम्भव नहीं होता। श्रम केवल स्थूल अंगों से ही नहीं होता, केवल कारक अंगों से नहीं होता। श्रम भीतर–भीतर चिन्तन के स्तर पर भी होता है। आपके सामने कोई कठिन समस्या आ गई, सुलझाने का कोई उपाय नहीं सूझता, सोचते–सोचते आप थक जाते हैं। तो चिन्तन के स्तर पर भी आदमी थकता है। कुछ साधक स्वभाव से ही उपजने वाले चिन्तन को रोकने की चेष्टा करते हैं। तो उपजने वाले चिन्तन को रोकने में भी आदमी थकता है। .....तो **स्थूल कर्म से भी थकता है आदमी, सूक्ष्म चिन्तन की प्रवृत्ति में भी थकता है और (अपने आप होने वाले) चिन्तन को ज़बरदस्ती रोकने में भी थकता है।**"

इसी क्रम में आगे कहा है कि–

"कर्म में जब तक लगे रहोगे स्थूल शरीर का संग आप छोड़ नहीं सकते। चिन्तन में जब तक उलझे रहेंगे, सूक्ष्म शरीर का संग आप छोड़ नहीं सकते। व्यर्थ–चिन्तन को रोकने में जब तक लगे रहोगे तब तक मन का संग आप छोड़ नहीं सकते। .....जब तक स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर, किसी स्तर पर, शरीरों का संग छोड़ नहीं सकेंगे, तब क्या अशरीरी जीवन का अनुभव होगा? जी, नहीं होगा। .....जीवन का दार्शनिक सत्य क्या है? **श्रम किया जाता है विश्राम के लिये और विश्राम में रहा जाता है, अविनाशी जीवन की अभिव्यक्ति के लिये।**"

अतः देवकी बहिन जी के शब्दों में "हमारी सारी ज़िन्दगी की दौड़ धूप जो है वह कहाँ जाकर खत्म होनी चाहिये? अविनाशी जीवन की प्राप्ति में। उसके लिये केन्द्र क्या होगा, किस बिन्दु पर जाकर हम सारी प्रवृत्तियों से मुक्त होंगे? विश्राम के लिये सारा श्रम हमारा किस दृष्टि से होना चाहिये, कि मुझमें विश्राम में रहने की योग्यता आ जाय?"

इसके उत्तर में उन्होंने संत (स्वामी जी) की सलाह से अवगत कराया है। सलाह क्या है कि "सुख–स्वार्थ की दृष्टि से प्रवृत्ति में लगे रहोगे तो राग–निवृत्ति होगी नहीं। भीतर में करने की जो क्षमता है उसको खर्च करना ज़रूरी है, लेकिन

सुख–स्वार्थ की दृष्टि को छोड़कर पर–हित की दृष्टि से प्रवृत्ति करोगे, तो करने का राग मिट जायेगा और **राग रहित जीवन में योग की अभिव्यक्ति होती है।** राग और योग–ये दोनों एक दूसरे के विपरीत हैं। राग रहेगा तो योग का आनन्द नहीं मिलेगा। **राग मिट जायेगा तो सहज भाव से आप योगवित् हो जायेंगे।** जो योगवित् हो जाता है वह तत्ववित् हो जाता है। जो तत्ववित् हो जाता है वह भगवद्-भक्त हो जाता है। उसके बाद कोई प्रयास शेष नहीं रहता।''

इस सारी व्याख्या से स्पष्ट है कि करने के राग की मुक्ति से हम सहज ही अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकेंगे। राग से मुक्ति के लिये बस स्वामी जी की वाणी याद रखकर किसी भी प्रवृत्ति में लगें, कि **दूसरों के काम आए बिना करने का राग मिटेगा नहीं।**

■

बड़े ही आश्चर्य की बात तो यह है कि जिसे मानव जब चाहे तब कर सकता है उसको नहीं करता और वास्तव में जो नहीं करना चाहिए, उसी को कर बैठता है। और जो नहीं कर सकता उसके करने की सोचता रहता है। इसी भूल में जीवन की अनमोल घड़ियाँ बीतती जाती हैं। मानव सेवा संघ की प्रणाली में साधक समाज को यह परामर्श दिया गया कि जो नहीं करना चाहिए वह मत करो और जो नहीं कर सकते उसके करने की मत सोचो। जो कर सकते हो, जो करना चाहिए उसे शीघ्र कर अपने को 'करने' के राग से मुक्त कर लो।

साधन-सूत्र : 63

क्या सुख–भोग ही जीवन है–एक अन्य पहलू

साधन–सूत्र–27, शीर्षक 'क्या सुख–भोग ही जीवन है' में इस विषय की, एक पहलू लेकर चर्चा की गई थी। अब आगे इसके दूसरे पहलू को लेकर विवेचन प्रस्तुत है।

अभी तक इस विषय की चर्चा उस पहलू को लेकर की गई कि यदि सुख के भोगी होंगे तो दुःख का भोगी भी होना ही पड़ेगा। और यदि जीवन में उदारता अपना कर सुखद परिस्थिति का सदुपयोग सेवा में करेंगे तो हमें आनन्द मिलेगा।

अब आगे सुख–भोग के प्रश्न् को लेकर एक दूसरे पहलू से चर्चा प्रस्तुत है। देवकी बहिन जी ने अपने एक प्रवचन में कहा कि–

"सुख–भोग की प्रवृत्ति मनुष्य में शक्तिहीनता लाती है। .....सुख–भोग की प्रवृत्ति सुखद लगती है और उसके परिणाम में जब शक्तिहीनता आती है तब बुरा लगता है। शक्तिहीनता किसी को भी पसन्द नहीं है। .....यदि भोग–प्रवृत्ति की ओर से हम लोगों ने अपने को संयत कर लिया, थोड़ा नियमित कर लिया, तो उस हानि से बच जायेंगे। मन बहलाव के फेर में पड़कर शक्तिहीन नहीं बनेंगे।"

आगे उन्होंने बताया कि यदि हम इससे बचे रहेंगे तो अपना बहुत भला होगा। उनका कथन है कि–

"जब शक्ति बची रहेगी तब उससे बड़ा उपकार होगा। क्या उपकार होगा? कि जब भोग से शक्ति बच जायेगी तो वह कर्तव्य–पालन में लग जायेगी और जब वह शक्ति कर्तव्य–पालन में लग जायेगी तो आप वीतराग होने के अधिकारी बन जायेंगे। सुख के फेर में पड़ा हुआ व्यक्ति कर्तव्यनिष्ठ नहीं होता और कर्तव्यनिष्ठ हुए बिना वीतराग होने की सामर्थ्य नहीं आती और सामर्थ्य नहीं आती तो आगे बढ़ना सम्भव ही नहीं होता।"

नोटः तात्पर्य है कि अपने जीवन के लक्ष्य शान्ति, स्वाधीनता और प्रियता की प्राप्ति की ओर अग्रसर नहीं हो पाते।

इसी क्रम में फिर उन्होंने कहा है कि–

"भोग प्रवृत्ति के द्वारा अपने को

शक्तिहीन नहीं बनाना है। संयमित कर लो, नियमित कर लो, बच जाओगे उससे, तब उसके आगे बढ़ सकोगे। सुखभोग की प्रवृत्ति की थकान तो शरीर के स्थूल स्तर पर होती है, उसको आसानी से मिटाया जा सकता है, **लेकिन सुख–भोग का लालच, जो अति सूक्ष्म है, उसको भी भीतर से निकालिये क्योंकि वह रहेगा तो उसके भार से वृत्तियों को एक केन्द्र पर केन्द्रित करना सम्भव नहीं होगा।** जीवनी शक्ति विविध रूपों में बँट कर वृत्तियों से जुड़ जाती है और धीरे–धीरे शक्तियों का ह्रास होने लग जाता है। तो भीतर से सुख–भोग का लालच भी हटा देना चाहिये, उसकी पसंदगी भी हटा देनी चाहिये।"

इससे कोई भ्रम न उत्पन्न हो जाये इसलिये उन्होंने स्पष्ट किया है कि–

"तो क्या करेंगे? क्या भूख लगने पर खायेंगे नहीं कि नींद आने पर सोयेंगे नहीं? ऐसा नहीं है।"

"उसका अर्थ यह होता है कि **सुख भोग की प्रवृत्ति को तुम अपना जीवन मत मानो।** शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से अगर कोई हितकर और स्वास्थ्यकर वस्तु खाने के लिये दी जाये तो उसको जीवन–बुद्धि से स्वीकार मत करो। ऐसा मत सोचो कि अहा, बड़ा स्वाद आया, अब यही हमको रोज़ मिलना चाहिये, ऐसी स्वादिष्ट वस्तु खाना ही जीवन है। **शरीर की सेवा के लिये जो सहज प्राप्त हो जाये उसकी आहुति शरीर में डालकर उससे तुम निश्चिन्त हो जाओ।** यह उदाहरण मैं आपके सामने इसलिये रख रही हूँ कि ऐसा मत सोचने लगियेगा कि हर सुखद प्रवृत्ति से बंधन में बंधता है आदमी। तो भूख लगने पर भोजन न करेंगे। अच्छी भूख लगी हो, स्वास्थ्य अच्छा हो तो बहुत सादी रोटी भी खाने में बड़ी मीठी लगती है। तो इसका मतलब यह नहीं कि आपका ज्ञान भंग हो गया कि साधना भंग हो गयी। इसका मतलब यह है कि स्वास्थ्य अच्छा है, वस्तु अच्छी है। वस्तु को वस्तु के हवाले कर दो और तुम अपनी सजगता बनाये रखो। दैनिक जीवन में शरीर की सेवा का जो सामान्य व्यवहार है उसमें कोई संदेह रखकर उलझन में नहीं पड़ना चाहिये। लेकिन बहुत अच्छी तरह से इस बात को जानना चाहिये कि जो प्रवृत्ति हमारी चल रही है, **उसमें शरीर की सेवा की दृष्टि कितनी है और सुख की दृष्टि कितनी है।** यदि सुख–बुद्धि उसमें न रख कर सेवा–बुद्धि से काम लिया जायेगा तो बन्धन नहीं बनेगा, राग नहीं बनेगा।"

इसी विषय से सम्बन्धित स्वामी शरणानन्द जी के कुछ महत्त्वपूर्ण वचन आगे प्रस्तुत हैं ('क्रान्तिकारी संतवाणी' से)–

– सुख देने की रुचि सुख–भोग की आसक्ति को खा लेती है।

– जब हम अपने द्वारा अपने लिये परमात्मा की आवश्यकता अनुभव करेंगे, तब सुख–भोग की रुचि का नाश हो जायेगा। सुख–भोग की रुचि का नाश होने से शरीर और संसार का सम्बन्ध टूट जाता है।

– सुख–भोग की रुचि का नाश हुए बिना नित्य–योग की प्राप्ति सम्भव नहीं है। **किसी अभ्यास विशेष से अल्पकाल के लिये शान्त हो जाना एक अवस्था है, नित्य–योग नहीं।**

– प्राप्त–सुख के सद्व्यय से ही मानव समाज के ऋण से मुक्त होता है। अप्राप्त–सुख की कामना के त्याग से साधक विश्राम पाता है। इस दृष्टि से **प्राप्त–सुख के सद्व्यय में परहित और उसकी कामना के नाश में अपना हित है।**

– वस्तुओं और व्यक्तियों के विश्वास और सम्बन्ध को अल्प–से–अल्प काल के लिये भी यदि तोड़कर देखा जाय तो उस जीवन में कितना रस है– इसकी तुलना उस सुख से नहीं की जा सकती, जो अनन्त काल से वस्तुओं और व्यक्तियों के सम्बन्ध से मिलता रहा है।

– ऐसा कोई भोगी नहीं है, जो इन तीन विकारों से बचा हो– पराधीनता से, जड़ता से और शक्तिहीनता से।

– जो सुख–भोग चाहता है, उसी (सुख–भोग) को महत्व देता है, वह चरित्र की रक्षा नहीं कर सकता।

इस विषय की समस्त चर्चा का सारांश यह हुआ कि जीवन में सुखद परिस्थितियाँ तो आयेंगी, परन्तु यदि हम सुख के भोगी न बनें, सुख के दास न बने, उसकी आसक्ति न हो तो एक तरफ तो जीवन में दुःखद परिस्थितियों के आने पर दुःख के भोगी नहीं बनेंगे, उसे एक परिस्थिति मात्र स्वीकार करेंगे और उसके प्रभाव को अपनायेंगे। वहीं दूसरी तरफ वे हमारे साधन–पथ पर अग्रसर होने में बाधक नहीं होंगी।

एक बात ध्यान देने की है कि हमारी इन्द्रियों के स्वभाव के अनुसार उनकी प्रतीति का हमें बोध तो होगा ही जैसे जिह्वा स्वादिष्ट भोजन को स्वादिष्ट बतायेगी ही–बस हमें उसका गुलाम नहीं बनना है। ■

साधन-सूत्र : 64

जीवनोपयोगी संत–वचन (भाग–3)

साधन–सूत्र–50 और 51 शीर्षक "जीवनोपयोगी संत–वचन" में जीवन सम्बन्धी संत–वचनों का उल्लेख किया गया था। उसी क्रम में कुछ और संत–वचन जो बहुत ही उपयोगी हैं और मानव–जीवन के प्रश्नों का सहज समाधान करते है, यहाँ संकलन के रूप में प्रस्तुत किये जा रहे हैं:–

1. मानव सेवा संघ के दर्शन में इस बात पर बार, बार बल दिया गया है कि जीवन के लक्ष्य : योग, बोध और प्रेम (प्रभु-प्रेम) की प्राप्ति के लिये श्रम और पराश्रय अपेक्षित नहीं है। क्रिया पर आधारित साधना अखण्ड नहीं होगी, जबकि हमारा पूरा जीवन ही साधनमय होना आवश्यक है।

(क) स्वामी शरणानन्द जी के शब्दों में–

"ईश्वर की प्राप्ति क्रिया–सिद्ध नहीं है, अपितु जीवन के सत्य को स्वीकार करने से होती है।"

जीवन का सत्य क्या है, इसकी चर्चा साधन–सूत्र–34 शीर्षक 'मानव सेवा संघ दर्शन में साधना का अर्थ और साधना प्रणाली' में हुई है। उसके संलग्नक 'ख' के प्रथम पृष्ठ पर देवकी बहिन जी द्वारा इसे बड़े ही सुन्दर ढंग से समझाया गया है।

(ख) ईश्वर प्राप्ति के विषय पर स्वामी जी का एक और विवेचन बहुत ही भ्रम निवारक है–

"ईश्वर को प्राप्त करने में व्याकुलता चाहिये। साधक जितना अधिक प्रभु के लिये व्याकुल होगा, उतना ही शीघ्र उसे भगवान मिलेंगे। भोगों की प्राप्ति में व्याकुलता की जरुरत नहीं होती, भोग कर्म करने से मिलते हैं।"

"चिन्तन करना मनुष्य का स्वभाव है। संसार और सांसारिक भोगों के लिये चिन्तन आवश्यक नहीं है। उनके लिये कर्म की आवश्यकता है। .....**ईश्वर कर्म से नहीं मिलते, वे विश्वास, चिन्तन और प्रेम से मिलते हैं।**"

"कर्म के लिये अनुकूल परिस्थिति, धन, अन्य व्यक्तियों की सहायता आदि

की आवश्यकता होती है। किन्तु चिन्तन, विश्वास और प्रेम के लिये किसी बाह्य वस्तु की आवश्यकता नहीं होती। प्रभु ने विश्वास, प्रेम और चिन्तन शक्ति मनुष्य–मात्र को दिये हैं। इनमें मनुष्य सर्वथा स्वतंत्र है। अतः यह बात हुई कि भगवान को प्राप्त करने में कोई भी मनुष्य परतंत्र नहीं है, परन्तु भोगों की प्राप्ति में सर्वथा परतंत्र है।''

(ग) ''ईश्वर–प्राप्ति के लिये वन में जाने की आवश्यकता नहीं है। जो घर में आराम से रहकर भजन नहीं कर सकता, वह वन में कष्ट सह कर कैसे कर सकेगा?''

कोई यह कह सकता है कि मुझे घर में आराम नहीं है, बल्कि प्रतिकूलता है, ऐसे में क्या करें? नीचे प्रस्तुत प्रश्नोत्तर इस पर प्रकाश डालता है–

प्रश्न्– स्वामी जी, यदि घर की प्रतिकूलता के कारण साधन न कर सके, तो क्या साधक को घर छोड़ देना चाहिये?

उत्तर–सच्चा मानव सेवा संघी कभी धर नहीं छोड़ता, बल्कि **ममता और अपना अधिकार छोड़ता है।**

एक अन्य साधक का–

प्रश्न्– महाराज जी, क्या मैं घर बार छोड़ कर आश्रम में रह सकता हूँ?

उत्तर–मानव सेवा संघ किसी का घर बर्बाद करके आश्रम को आबाद नहीं करना चाहता। परन्तु यदि आपका परिवार आप पर निर्भर न हो और आप घर में सुख–दुःख का सदुपयोग न कर सकें, तो यहाँ आ जायँ।

2. उदारता का अर्थ है दुःखियों को देखकर करुणित होना और सुखियों को देखकर प्रसन्न होना। इसी पृष्ठभूमि में किसी ने स्वामी जी से प्रश्न् किया। प्रश्न् और उत्तर नीचे प्रस्तुत हैः–

प्रश्न्– दुःखी होना–करुणित होना एक बात है क्या?

उत्तर– दुःख में जड़ता आती है, करुणा में चेतना आती है, संसार से सम्बन्ध टूटता है। जो बात सम्भव नहीं है उसी में दुःख होता है।

3. ममता क्या है और यह कैसे छूटे इसकी व्याख्या साधन–सूत्र–30 शीर्षक 'जीवन में अशान्ति क्यों' में प्रस्तुत की गई है। एक ऐसे ही प्रश्न् कि 'ममता क्या है' का स्वामी जी का उत्तर एक अन्य प्रकार से प्रकाश डालता है जो यहाँ उल्लिखित है–

''ममता सुख लेने का उपाय भर है। जिससे जितना अधिक सुख लोगे उससे ममता तोड़ना उतना ही कठिन होगा।''

"**अपना मानना ही ममता है।** अपना न मान लेने का निर्णय कर लेने पर कुछ करना शेष नहीं रहता। .....जो वस्तु प्रभु की हो जाती है उसकी व्यवस्था आप से आप हो जाती है। यह निर्णय करें कि कोई वस्तु अपनी नहीं है, या यह कि प्रभु अपने हैं–काम हो जायेगा। दोनों में से एक अवश्य हो–यही पुरुषार्थ है। सत्संग पुरुषार्थ की परावधि है।"

"**प्राप्त में ममता नहीं, प्राप्त का दुरूपयोग नहीं** और **अप्राप्त की कामना नहीं।** बस कर्तव्य–परायणता, असंगता और स्थिरता आ जायेगी। **विचार की दृष्टि से वस्तु मेरी नहीं, कर्म की दृष्टि से वस्तु का दुरूपयोग नहीं** और **भाव की दृष्टि से सब कुछ प्रभु का है।** कोई दान दो या मत दो, यह तुम्हारी इच्छा है, लेकिन बेईमानी मत करो। धोखे से किसी का पैसा मत छीनो। आज यह स्थिति है कि नाम भगवान का ले रहे हैं, परन्तु भगवान को अपना नहीं मानते हैं, पैसे को अपना मानते हैं। आपका शरीर, पैसा, मकान भगवान को नहीं चाहिये, अपनापन चाहिये। **मेरा कोई और नहीं है, मैं किसी और का नहीं हूँ–यह आपका भगवान से सम्बन्ध होना चाहिये। वस्तु संसार की है, संसार के लिये है। यह आपका और संसार का सम्बन्ध होना चाहिये।** आपने अपनी भूल से सम्बन्ध बिगाड़ दिया।"

4. हमें मुक्ति भी चाहिये और भक्ति भी चाहिये। मुक्ति अर्थात् किसी भी प्रकार के बन्धन का अभाव। ममता और कामना ही बन्धन है। निर्मम, अर्थात् ममतारहित होना और कामना रहित अर्थात् अचाह होते ही सारे बन्धन छूट गये और हम मुक्त हो गये। भक्ति ईश्वर को ही और केवल ईश्वर को ही अपना मानने से प्राप्त होती है। स्वामी शरणानन्द जी का इसी विषय से सम्बन्धित एक प्रश्न् का उत्तर नीचे प्रस्तुत है–

प्रश्नः मानव सेवा संघ के दर्शन में बताया जाता है कि संसार को नापसन्द करने से मुक्ति और भक्ति मिल जाती है, इसको कैसे जीवन में उतारा जाय?

उत्तरः संसार को नापसन्द करने का अर्थ है, उसे अपनी रुचि–पूर्ति का साधन न बनाकर उसकी सेवा की जाये। परमात्मा को पसन्द करने का अर्थ है, उसको अपना मानें और बदले में कुछ न चाहें। यदि भोजन करें तो खिलाने वाले की प्रसन्नता के लिये, सुनें तो बोलने वाले की खुशी के लिये, बोलें तो सुनने वाले की खुशी के लिये और करें तो दूसरों को राहत पहुँचाने के लिये–ऐसा करने से मुक्ति और भक्ति

मिल सकती है। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। जो हार नहीं मानता वह विजयी अवश्य होता है।.....

5. मनुष्य की रचना तीन शक्तियों के साथ हुई है। व्यक्ति के व्यक्तित्व में ही विद्यमान है–क्रिया–शक्ति, विचार–शक्ति और भाव–शक्ति। साधन–सूत्र–34 शीर्षक 'मानव सेवा संघ दर्शन में साधना का अर्थ और साधना–प्रणाली' में इसकी चर्चा हुई है और इसके संलग्नक 'ख' में इसको विस्तार से समझाया गया है। क्रिया–शक्ति से सम्बन्धित कर्तव्य–विज्ञान बना, विचार–शक्ति से अध्यात्म–विज्ञान बना और भाव–शक्ति से आस्तिक–विज्ञान बना। नीचे एक प्रश्नोत्तर में स्वामी जी द्वारा इसे थोड़े में सुस्पष्ट ढंग से समझाया गया है–

प्रश्न् –कर्तव्य–विज्ञान, अध्यात्म–विज्ञान एवं आस्तिक–विज्ञान का क्या अर्थ है?

उत्तर– वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य द्वारा संसार की सेवा करना कर्तव्य–विज्ञान है। सेवा के फल और अहं को छोड़ना अध्यात्म– विज्ञान है और प्रभु की प्रसन्नता के लिये बिना किसी शर्त के सब प्रकार से उन्हीं का होकर उनको प्यार करना आस्तिक–विज्ञान है। बोलचाल की भाषा में–जगत हमारी आवश्यकता अनुभव करे यह कर्तव्य–विज्ञान। हमें जगत की आवश्यकता न रहे यह अध्यात्म–विज्ञान और हम परमात्मा को अच्छे लगें, आस्तिक–विज्ञान है।

6. 'मैं हूँ क्या?' की व्याख्या साधन–सूत्र–36 में प्रस्तुत की गई है। उसी क्रम में ऐसे ही एक प्रश्न् कि 'मैं' क्या हूँ का स्वामी जी के शब्दों में, उत्तर का नीचे उल्लेख किया जा रहा है। उन्होंने कहा है कि–

"मानव सेवा संघ के अनुसार 'मैं' साधक के अर्थ में आता है। साधक उसको कहते हैं जिसका कोई साध्य हो और जिस पर कोई दायित्व हो। साध्य उसे कहते हैं जो सदैव हो, सबका हो और सर्वत्र हो। उसकी प्राप्ति के लिये सत्संग करना आवश्यक है। **सत्संग का अर्थ है–विवेक–विरोधी कर्म, विवेक–विरोधी सम्बन्ध व विवेक–विरोधी विश्वास का त्याग।** सत्संग करने में मानव स्वाधीन है।"

किसी साधक ने ऐसा ही एक प्रश्न् किया कि " 'मैं' का स्वरूप क्या है" जिसका उत्तर स्वामी जी की वाणी में प्रस्तुत है–

"**उदारता, स्वाधीनता और प्रेम ही 'मैं' का स्वरूप है।** उदारता से मानव जगत के लिये और प्रेम से प्रभु के लिये उपयोगी होता है। उसे अपने लिये न जगत से कुछ चाहिये, न प्रभु से। अतः चाह रहित होकर मानव अपने लिये उपयोगी होता है।"

7. साधन-सूत्र-28 में 'ध्यान' के बारे में स्वामी जी की व्याख्या दी गई है। एक साधक ने उनसे पूछा कि ध्यान में स्वाभाविकता क्यों नहीं आती? उनका बहुत सहज और स्पष्ट उत्तर नीचे पढ़िये-

"क्योंकि हम ध्यान करते हैं, इसलिये ध्यान में स्वाभाविकता नहीं आती। यदि सत्संग किया जाय तो ध्यान स्वाभाविक हो जायेगा। भगवान को आस्था, श्रद्धा और विश्वास के आधार पर अपना मानो। अपने को अपना अवश्य ही प्यारा लगेगा। उसकी याद भुलाने से भी नहीं भुलाई जा सकेगी। ज्ञानपूर्वक अनुभव करो कि अपने पास अपना करके कुछ नहीं है। तभी अपनी प्रियता की अभिव्यक्ति होगी और ध्यान अपने आप लग जायेगा।"

8. साधन-सूत्र-33 शीर्षक 'सेवा का अर्थ और स्वरूप' में स्वामी जी के शब्दों में "सेवा का अर्थ है अपना सुख बाँटना।" प्रश्न् होता है कि बाँटने का अर्थ क्या है? **सेवा का मूल है उदारता और उदारता का मूल है करुणा और प्रसन्नता।** करुणा तो तब ही होगी जब हम किसी दुःखी को देखें। सुखी को देखकर करुणित होने का प्रश्न् ही नहीं होता, उसे तो देखकर प्रसन्नता होनी चाहिये। प्रसन्नता तभी होगी जब हम उदार होंगे अन्यथा, सुखी-समर्थ को देखकर ईर्ष्या होगी।

अतः बाँटना सेवा की श्रेणी में तभी आयेगा जब हम अपना सुख (धन बल, शरीर बल, बुद्धि बल का सुख) दीन दुःखियों में, निर्बल, निर्धन में अर्थात् जो ज़रूरत मन्द हैं (needy) में बाँटेंगे। यदि हम अपना सुख समर्थ और सुखियों में बाँटते हैं तो उसे जो भी संज्ञा दिया जाय, सेवा की संज्ञा नहीं होगी।

एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा। किसी को 5-6 लाख रुपये एरियर के रूप में मिले। उसकी उसको ज़रूरत नहीं है, अतः वह उसे औरों में बाँट देता है। पूछा कि भाई, किसको बाँटा? अरे, सभी बेटे, बेटियों, नाती, पोतों को बाँट दिया (जो स्वयं समर्थ एवं सम्पन्न हैं)। सोचने की बात है कि यदि इस समय नहीं बाँटा होता तो न रहने पर उत्तराधिकारी के रूप में उन्हें मिलता ही। तो यह सुख का बाँटना सेवा तो नहीं हुई। इसलिये यदि सेवा करना है तो पाने वालों का दायरा बढ़ाना पड़ेगा जिसमें वाकई ज़रूरतमंद शामिल हों अन्यथा यह सुख का बँटवारा या भेंट (gift) हुआ, बाँटना नहीं हुआ जो सेवा के अर्थ में लिया जाता है।

इसी क्रम में सेवा-त्याग का एक अनुपम उदाहरण प्रस्तुत है जो बहुत ही मार्मिक है।

रवीन्द्र नाथ टैगोर के लिखे सत्य कथानक का नायक काबुलीवाला जब लम्बी जेल–सज़ा काट कर मिनी से मिलने पहुँचा तो उसे अनुमान ही नहीं था कि वह इतनी बड़ी हो गई होगी। उसके विवाह की तैयारी चल रही थी। घर वालों के विरोध के बावजूद टैगोर ने मिनी को बुलाया, मिनी उसे पहचान नहीं पाई। तब काबुलीवाला को अपनी बेटी की याद आ गई जिसको काबुल में बचपने की मिनी के बराबर का ही छोड़ कर आया था। उसने अपने जेब से एक मुड़ा हुआ कागज़ निकाल कर खोला जिस पर उसकी छोटी बेटी के हथेली का निशान (palm-print) था। उसके लिये वही अपनी बेटी का फ़ोटो था। वह तो भाव विह्वल हो ही गया, टैगोर इतने करुणित हो गये कि उन्होंने शादी के लिये मिलीटरी बैंड को कैन्सिल और रोशनी में भी कटौती कर के उसे किराये के लिये रुपये दिये जिससे कि वह तुरन्त अपनी बेटी से मिलने काबुल वापस जा सके।

9. इसी क्रम में एक बहुत ही ज्ञानप्रद एवं रोचक प्रसंग प्रस्तुत है।

जो सेवा करता है उसमें अपने को 'सेवक' की स्वीकृति होनी चाहिये अर्थात् मैं सेवक हूँ। सेवक कौन और स्वामी कौन इसे आगे पढ़िये:–

श्रीमद्भागवत महापुराण के सप्तम स्कन्ध के दसवें अध्याय में प्रह्लाद जी ने, नृसिंह भगवान द्वारा वर माँगने के लिए कहे जाने पर जो उत्तर दिया है वह बहुत ही मार्मिक और सुन्दर है। उसमें अन्य बातों के अतिरिक्त कहा है कि–

"आपसे जो सेवक अपनी कामनाएँ पूर्ण करना चाहता है, वह सेवक नहीं; वह तो लेन–देन करने वाला निरा बनिया है। जो स्वामी से अपनी कामनाओं की पूर्ति चाहता है, वह सेवक नहीं; और जो सेवक से सेवा कराने के लिये, उसका स्वामी बनने के लिये, उसकी कामनाएँ पूर्ण करता है, वह स्वामी नहीं। मैं आपका निष्काम सेवक हूँ और आप मेरे निरपेक्ष स्वामी हैं।"

10. सेवा का हमारे जीवन में महत्व क्या है, इसके बारे में स्वामी जी का साधन–त्रिवेणी पुस्तक में छपा कथन बहुत स्पष्ट और सुन्दर है। उन्होंने कहा है कि–

"सेवा का अन्त त्याग में होता है और त्याग की पूर्णता बोध और प्रेम में होती है। इसलिये सुख की घड़ियाँ सेवा करने के लिये हैं और दुःख की घड़ियाँ दुःख के प्रभाव से सुख के प्रलोभन का नाश करने के लिये हैं। सुख की नाशक नहीं हैं, सुख के प्रलोभन की नाशक हैं। सुख का प्रलोभन कब रहता है? जब हम

सुख भोगते हैं। सेवा करने वाले में सुख का प्रलोभन नहीं रहता है। और सुख का प्रलोभन नाश होने के बाद दुःख का स्वतः नाश हो जाता है।''

नोटः परिस्थिति तो वही रहेगी, पर उसमें दुःख का भाव नहीं रहेगा।

11. साधन–सूत्र–29 शीर्षक 'दुःख है क्या' में स्वामी शरणानन्द जी का कथन है कि ''कर्मों के फल के रूप में तो परिस्थिति प्राप्त होती है। उसमें सुख और दुःख तो मनुष्य के भावानुसार होते हैं।''

कोई प्रश्न् कर सकता है कि मान लिया कि दुःख–सुख मनुष्य के भावानुसार ही होते हैं तो भी किसी प्रतिकूल परिस्थिति में दुःख भले न हो, पर सुख का भाव कैसे हो सकता है? उदाहरण के लिये किसी के निकट सम्बन्धी का वियोग हो जाता है तो उसमें सुख का भाव कैसे आ सकता है?

यह तो है कि ऐसा कोई भी व्यक्ति जो वियोग को सृष्टि का एक अकाट्य, अनिवार्य विधान समझता है, तथा प्रत्येक अपने आप होने वाली घटना को कर्मानुसार पूर्वनियत मानता है वह सम–भाव से रहेगा; न दुःख मानेगा और न सुख ही। पर मूल प्रश्न् तो फिर भी अनुत्तरित रह जाता है। आगे विचार करें कि एक ऐसी भी परिस्थिति हो सकती है जिसके घटित होने पर व्यक्ति चैन/राहत (relief) अनुभव करता है। उदाहरण के लिये कोई कैन्सर से गम्भीर रूप से पीड़ित है, भयंकर दर्द झेल रहा है और बस मृत्यु का इन्तज़ार है; वह बचने वाला नहीं है। उसकी मृत्यु हो जाने पर मोह और आसक्ति के कारण वियोग–जनित तत्कालिक दुःख का अनुभव होता है पर शीघ्र ही यह सोच कर कि बेचारा बड़े कष्ट में था और बचना था नहीं, तो मृत्यु से उसे इस भयंकर कष्ट से छुटकारा ही मिल गया, शीघ्र ही परिस्थिति को स्वीकार कर लेते हैं। रोगी के कष्ट से जो पीड़ा हो रही थी, उसका अभाव हो जाता है। यदि सुख शब्द खटकता है तो सुख न कह कर दुःख–पीड़ा का अभाव कह सकते हैं। वास्तव में न दुःख का, न सुख का भाव रहता है, बल्कि सम–भाव रहता है।

12. पहले के साधन–सूत्रों में इस प्रकार की चर्चा हो चुकी है कि लक्ष्य की प्राप्ति के लिये हमारा पूरा जीवन ही साधनमय होना आवश्यक है। थोड़े समय साधन और शेष असाधन तो इससे सफलता नहीं मिलेगी। इसी प्रसंग में स्वामी शरणानन्द जी के वचन नीचे प्रस्तुत हैं:–

''मानव सेवा संघ का कहना यह है कि साधन सभी सिद्धिदायक है पर जब वे असाधन रहित हों तब। वे तभी सिद्धिदायक

हो सकते हैं। हम आज असाधन बनाये रखकर बड़े–बड़े साधन करते हैं।''

आगे उन्होंने एक ईमानदार कर्तव्यनिष्ठ व्यापारी का दृष्टांत दिया है जिन्होंने ब्रिटिश राज्य के समय, बिक्री से अधिक कोटा का बचा हुआ माल का अपनी दुकान पर तो ब्लैक नहीं होने दिया, पर उसे अन्यत्र ब्लैक में बिकवाया। परन्तु जो भी धन आया.....

''यह सब का सब पूरा रुपया उन्होंने दान में दे दिया–स्कूल आदि खुलवा दिये। .....गम्भीरता से सोचिये–अर्थ ने चरित्र पर विजय प्राप्त कर ली .....हम आज यह सोच नहीं पाते कि चरित्र का महत्व क्या है और वस्तु का महत्व क्या है। वस्तुओं के लिये आज हम अपने चरित्र की ओर नहीं देखते, पद के लिये अपने चरित्र की ओर नहीं देखते, कामनापूर्ति के लिये हम अपने चरित्र की ओर नहीं देखते।....''

.....''इसलिये मेरा नम्र निवेदन है कि आप साधन तो बड़े–बड़े करते हैं, जप–तप करने में भी कोई कसर नहीं रखते और ये सभी साधन सिद्धिदायक भी हैं इसमें मुझे लेशमात्र भी संदेह नहीं है। परन्तु उस साधन के साथ–साथ असाधन क्यों है जीवन में? इस पर भी तो विचार करिये मेरे भाई! इसीलिये साधकों के जीवन में आज असफलता दिखाई देती है। अतः मेरा निवेदन है कि अल्प से अल्प साधन करें किन्तु असाधन रहित होकर करें।''

13. साधन–सूत्र–32 शीर्षक ''मानव जीवन में निवृत्ति काल का सदुपयोग'' में सही प्रवृत्ति और उसके अन्त में स्वाभाविक आने वाली निवृत्ति की चर्चा की गयी है।

साधन–सूत्र–62 शीर्षक ''करने का राग और उसकी निवृत्ति'' में चर्चा हुई है कि करने का राग क्या है, उससे छुटकारा पाना क्यों आवश्यक है और कैसे पाया जा सकता है।

विशेष रूप से यह समझना आवश्यक है कि सहज निवृत्ति क्या है। अतः इन दोनों विषयों की चर्चा के क्रम में **करने के राग**, **सही प्रवृत्ति** और **सहज निवृत्ति** की देवकी बहिनजी द्वारा बहुत सुन्दर ढंग से जो व्याख्या की गयी है वह आगे प्रस्तुत है।

देवकी बहिनजी के शब्दों में–

''स्वामीजी महाराज ने क्या पढ़ाया कि जीवन में करने का राग है, तो राग के कारण अहम् में स्फूर्ति उत्पन्न होती है फिर अहंकृति आरम्भ हो जाती है, फिर संकल्पों के नये–नये रूप बन जाते हैं, फिर ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ सक्रिय हो जाती हैं। .....साधक-जन क्या करते हैं, अशुद्ध

संकल्प को और सुख–भोग–जनित संकल्पों का त्याग कर देते हैं।"

"नहीं, नहीं मैं साधक हूँ, इन संकल्पों का स्थान नहीं है मेरे जीवन में, तो वे संकल्प वहीं खत्म हो जाते हैं। और शुभ संकल्प जिनमें कि परिवार और समाज की सेवा बनती हो, ऐसी प्रवृत्ति में हाथ डालते हैं और हाथ डालने में भी उनको इस बात का पूरा ज्ञान रहता है कि यह कर्म करना है केवल करने के राग को मिटाने के लिये, इसके बदले में अपने को कुछ नहीं चाहिये। न मैटेरियल रिवार्ड चाहिये न वरबल रिवार्ड चाहिये।...."

अत : अनावश्यक कार्य को करना ही नहीं है और जो आवश्यक कार्य है जिसमें शुद्ध संकल्प निहित है उसमें पूरी कर्तव्यनिष्ठा से रत होना ही सही प्रवृत्ति हुई।

सही प्रवृत्ति के सम्बन्ध में देवकी बहिनजी ने कहा है–

"सही प्रवृत्ति का अर्थ होता है कि उसके बदले में अपने को किसी प्रकार का कुछ नहीं चाहिये। ऐसा ज्ञान लेकर के जब प्रवृत्ति में हाथ डालता है आदमी तो काम ख़त्म होने के बाद भीतर से बाहर से सब तरफ से शान्ति आ जाती है। सहज निवृत्ति का अर्थ क्या होता है?..... एक तो अभ्यास–जन्य निवृत्ति है और एक है ज्ञान पूर्वक हितकारी कार्य किया और उसके बदले में कुछ भी लेना पसन्द नहीं किया।"

"तो कार्य के अन्त में सब प्रकार की क्रिया–शक्ति जो है वह उस अविनाशी शान्ति में अपने आप डूब जाती है, तो संसार की गतिशीलता आरम्भ होती है वह अखण्ड शान्ति में से आरम्भ होती है और जब उसका काम खत्म होता है तो वह जाकर के उसी शान्ति में विलीन हो जाती है। तो एक तो अपने पर ज़ोर डाल करके गति को रोकना और एक सहज भाव से सब गति जाकर के उस शान्ति में विलीन हो जाए। **सहज भाव से जब गति विलीन हो जाती है, शान्ति में जाकर के डूब जाती है इसको सहज निवृत्ति कहते हैं।"**

सहज निवृत्ति की शान्ति को पुनः अनावश्यक प्रवृत्ति में रत होकर भंग नहीं करना है। इसको इस प्रकार भी कहा गया है कि सहज निवृत्ति का सदुपयोग शान्ति संपादन में करना चाहिये और उस शान्ति में रमण नहीं करेंगे तो योग की प्राप्ति होगी और उसी से फिर बोध और प्रेम।

■

साधन-सूत्र : 65

'मैं' और शरीर का सम्बन्ध है क्या?

इस सत्य की चर्चा साधन–सूत्रों की इस शृंखला में अनेक बार हो चुकी है कि "देह 'मैं' नहीं हूँ और देह मेरी नहीं है।" इस सत्य की व्याख्या साधन–सूत्र–30 शीर्षक "जीवन में अशान्ति क्यों" में विस्तृत रूप से की गई है। यह भी कहा गया है कि इस सत्य के विपरीत मान्यता कि मैं शरीर हूँ और शरीर मेरा है के फलस्वरूप हममें देहाभिमान उत्पन्न होता है। उसका परिणाम होता है ममता और कामना का जन्म। इससे होता क्या है? सुख–भोग की रुचि, राग–द्वेष की उत्पत्ति और एक प्रकार से, इसी मान्यता कि मैं शरीर हूँ, से जीवन में सारी विकृत्तियों/विकारों का आरम्भ होता है।

साधन–सूत्र–39 शीर्षक "मानव जीवन में वर्तमान की निर्दोषता" में स्वामी शरणानन्द जी की वाणी है कि "मैं शरीर हूँ यह मानना और संसार को चाहना, यही सब दोषों का मूल है।"

ऐसी ही बात साधन–सूत्र–45 शीर्षक "मानव जीवन का अभिशाप राग–द्वेष" में भी कही गई है कि "देह 'मैं' हूँ अथवा देह 'मेरी' है, ऐसी मान्यता ही राग उत्पन्न कर देती है।" उसी साधन सूत्र में स्वामी जी ने एक प्रश्नोत्तर में कहा है कि सारी बुराइयाँ राग–द्वेष से होती है।

इन चर्चाओं से स्वाभाविक प्रश्न् उठा कि यदि 'मैं' शरीर नहीं हूँ तो फिर 'मैं' हूँ क्या? इसी शीर्षक के साधन–सूत्र–36 में, 'मैं' के स्वरूप की व्याख्या दी गई है।

अब एक दूसरा स्वाभाविक प्रश्न् उठता है कि शरीर मेरा नहीं है' तो आखिर 'मैं' और शरीर का सम्बन्ध क्या है और उसका प्रयोजन क्या है?

जैसा मैंने संत–वाणी में सुना और समझा, ईश्वर ने मनुष्य की रचना की प्रेम के आदान–प्रदान के लिये। वह तो पूर्ण हैं, उन्हें कुछ नहीं चाहिये। प्रेम के आदान–प्रदान के लिये कोई प्रेमी चाहिये। इसलिये उन्होंने मनुष्य की रचना की। उसे शरीर दिया, विवेक का प्रकाश दिया पर साथ में इस बात की स्वाधीनता भी दिया कि वह विवेक का आदर करे या अनादर।

उन्होंने चाहा होता तो ऐसा मनुष्य बनाया होता कि वह बाध्यता के रूप में उनसे प्रेम करता, परन्तु प्रेम रस का आनन्द तब होता है जबकि मनुष्य स्वेच्छा से उन्हें प्रेम करे।

तो मनुष्य शरीर मिला तो इसलिये, परन्तु मनुष्य संसार को ही सत्य और उसी में सुख–रूपता मानकर, इन्द्रिय–सुख भोग को ही जीवन मानकर अपने में अनेकों विकार उत्पन्न कर लिये और शरीर में ही जीवन–बुद्धि बना कर शरीर के ही नाते किसी से राग किसी से द्वेष रख कर अपने लक्ष्य से, शरीर धारण करने के पीछे उद्‌देश्य से भटक गया।

हमें शरीर मिला साधन–सामग्री के रूप में, इसके माध्यम से संसार की निष्काम भाव से सेवा करके राग-निवृत्ति के लिये। संसार को प्रभु का ही और उन्हीं का स्वरूप समझ कर सबके प्रति सद्‌भाव और यथाशक्ति क्रियात्मक सेवा के लिये। परन्तु शरीर को सुख–भोग का माध्यम बना लिया।

तो हुआ क्या? जब तक शरीर रहा, तब तक दुःख-सुख भोगते रहे, पराधीन बने रहे, अशान्ति बनी रही और अतृप्त कामनाओं को लेकर शरीर छूट गया। मुक्ति मिली नहीं–लख चौरासी योनियों में जन्म–मरण के क्रम में पड़ गये।

स्वामी शरणानन्द जी कहते थे कि मनुष्य के अतिरिक्त किसी अन्य योनि में कर्म करने की स्वाधीनता नहीं है। इसलिये दुबारा मनुष्य जन्म हमारे कर्मों का फल नहीं हो सकता। वह तो प्रभु की जब कृपा होगी तब फिर से मनुष्य योनि प्राप्त होगी। अब दुबारा चान्स मिला है तो उसका हम सदुपयोग करें अपने लक्ष्य : शान्ति, स्वाधीनता, प्रियता दूसरे शब्दों में योग–बोध–प्रेम (प्रभु प्रेम) की प्राप्ति में अथवा पुनः वासनाओं में लिप्त होकर इस अवसर (chance) को भी गवाँ दे, इसके लिये मनुष्य को पूर्ण स्वतंत्रता है।

अतः हमारा और शरीर का सम्बन्ध तो मात्र क्रिया–शक्ति का सेवा में सदुपयोग हेतु बना और आवश्यक प्रवृत्ति के पश्चात् शरीर और संसार से असंग होकर निवृत्ति काल का सदुपयोग शान्ति सम्पादन में करके योग, बोध, प्रेम के पथ पर अग्रसित होना। ऐसी दशा में शरीर और संसार का भान ही नहीं रहता। उस काल में 'मैं' और शरीर का कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता। जब शरीर, और संसार के बारे में कोई स्फुरण हुआ तो फिर शरीर से सम्बन्ध जुड़ गया।

यही बात परम कोटि की साधिका देवकी बहिन जी के शब्दों में। वह इस

साधना के साथ–साथ अध्यापन रूपी सेवा की साधना भी बहुत काल तक विमेन्स डिग्री कॉलेज राँची में मनोविज्ञान की प्रोफेसर के रूप में करती रहीं। सेवा निवृत्त होने के पश्चात् उन्होंने अपना सारा समय और जीवन मानव सेवा संघ को अर्पित कर दिया। उनके एक प्रवचन का कुछ अंश यहाँ उद्धरित किया जा रहा है जो स्वतः स्पष्ट है–

"तो भौतिक जीवन की विकसित दशा क्या है? दुःखी मात्र के दुःख से करुणित होना और सुखी मात्र से प्रसन्न होना। अध्यात्मिक जीवन में प्रवेश पाने का उपाय क्या है कि भाई, जो भी कुछ यहाँ हम करेंगे उसके बदले में संसार से किसी प्रकार की आशा नहीं रखेंगे। इससे तब क्या होगा, कि **करने के समय काम करेंगे और काम खत्म होगा तो शरीर और संसार से बिल्कुल सम्बन्ध टूट जायेगा।** आप एक्सपेरिमेंट (experiment) करके देख लीजियेगा, प्रयोग करके देख लीजियेगा। अगर किसी प्रकार का लगाव संसार के साथ रखो तो उसका चिन्तन कभी नहीं टूटता है। और **अगर संसार से कुछ न चाहो तो सम्बन्ध रहता ही नहीं।** एकदम खत्म हो जाता है।"

"स्नायुमण्डल के अध्ययन में बड़ा बढ़िया उदाहरण हमको मिला था। एक–एक यूनिट जो होता है मनुष्य के स्नायु का, वह बिल्कुल एक दूसरे से अलग होता है। उसमें जुटा हुआ कनेक्शन नहीं होता है। एक सुई यहाँ चुभ गई और सूचना एकदम जाकर पीड़ा केन्द्र में पहुँच गई और पीड़ा आपको मालूम हुई और झट से आपने हाथ हटा लिया। पूरे सरकिट ने काम कर दिया संवेदना (sensation) ले जाने वाले स्नायु ने (pain sensation centre) पीड़ा–केन्द्र तक पहुँचा दिया और कर्मेन्द्रियों को चलाने वाले स्नायु ने फट से उंगली को वहाँ से हटा दिया। स्नायुकोष (newrons) की जितनी इकाइयाँ हैं सब एक दूसरे से अलग–अलग पड़ी रहती हैं। कोई (structural relation) रचनात्मक सम्बन्ध उसमें नहीं होता है। रचना की दृष्टि से उनमें सम्बन्ध नहीं होता है। सब अलग–अलग एक–एक यूनिट पड़ा रहता है। जब कोई संवेदना उनको यहाँ से वहाँ ले जाना होता है तब क्रियात्मक सम्बन्ध (functional relation) बन जाता है। यह रचनात्मक सम्बन्ध नहीं है। तो क्रियात्मक सम्बन्ध बन जाता है। जब स्वामी जी महाराज के पास आकर 'मैं' और 'मेरे शरीर' का सम्बन्ध मेरी समझ में आया तो मैंने कहा कि ये कोरा क्रियात्मक सम्बन्ध

(functional relation) है। Structural अर्थात् संघटनात्मक सम्बन्ध नहीं है।"

आगे उन्होंने मूल तत्व के रूप में कहा है कि " **'मैं' बना है अलौकिक तत्व से, शरीर और संसार बना है भौतिक तत्व से। दोनों में रचनात्मक सम्बन्ध त्रिकाल में भी हो नहीं सकता।** तो क्या होता है कि जब संसार को पसन्द करो तो झट से क्रियात्मक सम्बन्ध जुड़ जाता है और संसार से काम लेना खत्म करो तो झट से सम्बन्ध टूट जाता है। इतना स्वाभाविक है इतना स्वाभाविक है कि आपको किसी प्रकार का परिश्रम और अभ्यास बिल्कुल ही अपेक्षित नहीं है।"

उन्होंने एक प्रकार से खेद के रूप में आगे कहा कि "पता नहीं साधना करने वाले, साधना सीखने वाले, सिखाने वाले, लिखने वाले, सुनाने वाले किस–किस तरह का अभ्यास इतना फैला कर रख देते हैं। अरे भाई, **जिन शरीरों से तुमको अपना लगाव तोड़ना है, उन शरीरों के आधार पर अभ्यास करते रहोगे तो वह अभ्यास–जन्य साधना तुमको अशरीरी जीवन में पहुँचायेगी कैसे?**"

"महाराज जी ने कहा कि अध्यात्मिक विकास के लिये इस सत्य को स्वीकार करो कि–समग्र दृश्य जगत से तुम्हें अपने लिये कुछ नहीं मिलेगा। तुम हो अलौकिक और जगत है भौतिक। इसमें से जो मिलेगा वह शरीरों के काम आयेगा, तुम्हारे काम नहीं आ सकता है। इसलिये संसार का दिया हुआ जो सामान तुम्हारे पास है वह संसार की सेवा में सधन्यवाद अर्पण कर दो और उसके बाद अकेले हो जाओ। जिसको दृश्य जगत से मतलब नहीं रहता है उसका दृश्य जगत से सम्बन्ध टूट जाता है।"

अतः निष्कर्ष यह निकला कि 'मैं' और 'शरीर' का संघटनात्मक (structural) सम्बन्ध नहीं है मात्र क्रियात्मक सम्बन्ध (functional relation) है। ■

जिस प्रकार लिखते समय लेखनी को ग्रहण कर लिया और लिखना समाप्त होते ही उसे यथास्थान रख दिया जाता है, उसी प्रकार कार्य करते समय शरीर को ग्रहण कर लिया करो और कार्य का अन्त होते ही जहाँ–का–तहाँ, ज्यों–का–त्यों सुरक्षित रख दिया करो। ऐसा करने से प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में सहज योग स्वतः हो जायेगा, जो आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करने में समर्थ है।

साधन-सूत्र : 66

साधक के जीवन में शरीर का महत्व एवं उपयोगिता

जिसने अपने को साधक स्वीकार किया है उसके जीवन का लक्ष्य होता है शान्ति, स्वाधीनता और प्रियता जिसका परिणाम होता है योग, बोध, प्रेम (प्रभु प्रेम) की प्राप्ति। पहले के अनेक साधन–सूत्रों में यह चर्चा हुई है कि इनकी प्राप्ति के लिये क्रिया या श्रम अपेक्षित नहीं है अपितु सत्संग के द्वारा साधन–निर्माण होता है। सत्संग का अर्थ है जीवन के सत्य को स्वीकार करना और असत् अर्थात् अपनी जानी हुई बुराई का त्याग। न तो सत्य की स्वीकृति में कोई क्रिया या श्रम का कोई सम्बन्ध है और न ही असत् के त्याग में।

अतः विचार किया जाय तो ऐसा मालूम होता है कि शरीर की आवश्यकता पर की सेवा में और इन्द्रिय–सुख–भोग में होती है। परन्तु साधक यदि इन्द्रिय–सुख–भोग में फँस गया तो पराधीनता में आबद्ध हो जायेगा जो उसके जीवन के लक्ष्य के सर्वथा विपरीत है। उसकी माँग तो है स्वाधीनता।

यद्यपि जीवन की माँग अथवा लक्ष्य की प्राप्ति के लिये जैसा प्रथम प्रस्तर में कहा गया है, क्रिया या श्रम का कोई रोल (role) नहीं है, फिर भी शरीर का महत्व है। क्यों? इस लिये कि साधन–निर्माण मनुष्य योनि में ही सम्भव है। अन्य योनियों में यह सम्भव नहीं है। अतः यदि शरीर रहते रहते अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर लिया, तब तो शरीर छूटने के बाद पता नहीं किन किन योनियों में भटकना पड़े। और शरीर कब छूट जाये इसका ठिकाना नहीं। इस लिये शरीर के रहते जल्दी से जल्दी जीवन के सत्य को स्वीकार करके और अपनी जानी हुई बुराइयों का त्याग करके अर्थात् सत्संग के द्वारा जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर लें, इसी में बुद्धिमत्ता है। स्वामी शरणानन्द जी का बहुत बड़ा आश्वासन था कि यदि प्रभु–प्रेम की तीव्र लालसा, उत्कण्ठा है तो प्रभु मिलेंगे पहले और शरीर छूटेगा बाद में। यदि तीव्र लालसा है तो ऐसा हो ही नहीं सकता कि शरीर छूट जाय और उनका मिलन न हो। ऐसा

नहीं है कि लक्ष्य की प्राप्ति के बाद हम निकम्मे हो जायेंगे। कर्तव्य–परायणता और सेवा की दृष्टि से निर्लिप्त, अनासक्त एवं निष्काम भाव से लोक व्यवहार बहुत सुन्दर ढंग से चलता रहता है।

इस प्रकार साधक के जीवन में शरीर का महत्व है अपने जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति के लिये और उपयोगिता है सेवा के लिये। कोई प्रश्न् कर सकता है कि जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति और सेवा के लिये क्या शरीर की दशा–स्वस्थ अथवा अस्वस्थ–का कोई प्रभाव और अन्तर है? ऐसा ही प्रश्न् एक साधक ने स्वामी शरणानन्द जी से किया जिसका उत्तर इसका समाधान करता है।

प्रश्न्– स्वामी जी, साधन करने में स्वस्थ शरीर की भी ज़रूरत है क्या?

उत्तर–साधन में वास्तव में तो स्वस्थ शरीर की ज़रूरत नहीं है। कारण, शरीर का स्वस्थ अथवा रोगी होना, यह तो एक परिस्थिति है और परिस्थिति चाहे कैसी भी हो, साधन–सामग्री से भिन्न कुछ है ही नहीं। शरीर चाहे स्वस्थ रहे अथवा रोगी, साधक इसे महत्व न दे फिर भी यदि शरीर स्वस्थ रहे तो अच्छी बात है। परन्तु यदि हम चाहें कि हमारा शरीर हमेशा ही स्वस्थ बना रहे तो यह अपने हाथ की बात नहीं। वह तो अपने स्वभावानुसार स्वस्थ भी रह सकता है और रोगी भी हो सकता है। साधन का निर्माण तो स्वतः होता है अतः स्वतः निर्मित होने वाले साधन में किसी परिस्थिति विशेष का महत्व नहीं है। उसमें तो प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना है।

नोटः प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग क्या है, इसकी चर्चा पिछले साधन–सूत्रों में हो चुकी है। अनुकूल परिस्थिति है तो सेवा करें, प्रतिकूल है तो त्याग अपनाएँ। यही बात शरीर के स्वस्थ अथवा रोगी होने पर भी लागू होती है।

किन्हीं साधकों ने स्वामी जी से शरीर–रोग के विषय को लेकर कई प्रश्न् किये। उनमें से कुछ नीचे उल्लेख किये जा रहे हैं–

(क) प्रश्न्– रोग का निदान या दवा क्या है?

उत्तर–शरीर के रोग से निवृत्त होना ही साधक का लक्ष्य होना चाहिये। शारीरिक स्वास्थ्य का यथाशक्ति ध्यान रखकर शरीर की सेवा करनी चाहिये–ऐसा करने से शरीर के रोग का अन्त हो जाता है। **शरीर सेवा सामग्री है।** साधक की प्रार्थना होना चाहिये–हे प्रभु! **यह शरीर विश्व के काम आ जाय, अहम् अभिमान शून्य हो जाय एवं हृदय प्रेम से भर जाय।**

नोटः– शरीर को सेवा-सामग्री कहा गया है। शरीर जब स्वस्थ रहेगा तभी तो उसके द्वारा संसार की क्रियात्मक सेवा कर सकेंगे।

(ख) प्रश्न्–शारीरिक रोग आने से दुःख क्यों लगता है?

उत्तर–संयोग में वियोग को नहीं देखने से, अथवा मिला हुआ बना रहे ऐसा समझने से।

(ग) प्रश्न्– रोगी को दुःख न सताये, इसके लिये क्या करना चाहिए?

उत्तर– रोग प्राकृतिक तप है ऐसा मानकर उसे हर्षपूर्वक सहन कर लेना चाहिए।

(घ) प्रश्न्– जब मौत से नहीं डरते तो बीमारी से क्यों डर लगता है?

उत्तर–रोग शारीरिक बल का आश्रय तोड़ने के लिये आता है। उससे साधकों को डरना नहीं चाहिये। अपितु उसका सदुपयोग करना चाहिये।

(ङ) प्रश्न्– रोग का सदुपयोग क्या है?

उत्तर–दुःख का प्रभाव होना चाहिये। रोग देह की वास्तविकता का अनुभव करा देता है। व्यक्ति को देह से असंग करने में सहायता करता है।

(च) प्रश्न्– शारीरिक कष्टों को कैसे भूला जाय?

उत्तर–भूला न जाय, सहा जाय; चिंता, विलाप से रहित होकर, यह तप है। इससे शक्ति बढ़ती है। भूलने से तो जड़ता आवेगी। शरीर से तितिक्षा होनी चाहिये। तितिक्षा का अर्थ है हर्षपूर्वक कष्ट को सहन करना।

निष्कर्ष हुआ कि साधक के जीवन में शरीर का महत्व मात्र साध्य की प्राप्ति और पर की सेवा है और यही उसकी उपयोगिता है।

■

शरीर की यथावत् देखभाल तथा उसका सदुपयोग करती रहो। उससे ममता तो है ही नहीं, पर उसकी सेवा अवश्य करनी है।... शरीर सेवा–निधि है। उसकी रक्षा करना पूजा है, पर उसकी ममता भूल है।

साधन-सूत्र : 67

त्याग है क्या? त्याग किसका करना?

मानव सेवा संघ के दर्शन में मानव अर्थात् साधक का स्वरूप बताया गया है–सेवा, **त्याग** और प्रेम। इसके प्रथम प्रार्थना में "दुःखी प्राणियों के हृदय में **त्याग** का बल" की बात कही गई है। इसी दर्शन पर आधारित, साधन–सूत्रों की इस शृंखला में कई प्रसंगों में 'त्याग' शब्द आया है। 'त्याग' के अर्थ और स्वरूप को ठीक–ठीक समझना आवश्यक है अन्यथा भ्रमवश हम समझेंगे की हमने त्याग कर दिया अथवा अपने को 'त्यागी' मानेंगे और वास्तविक रूप में त्याग न होने पर हमारा अध्यात्मिक विकास, साधन–पथ पर प्रगति जो हमें अभीष्ट है, वह नहीं हो सकेगा।

इस दर्शन पर आधारित इस विषय की व्याख्या प्रस्तुत करने के पूर्व दो उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं। त्याग का शाब्दिक अर्थ है 'छोड़ना' इस दृष्टि से उदाहरण देखा जाय।

वाल्मीकि रामायण में श्री राम द्वारा अपनी पत्नी सीता जी के परित्याग का प्रसंग है। उन्होंने लोक–मर्यादा और राज–धर्म के निर्वहन के लिये सीता जी को वन में छोड़वा दिया। परन्तु विचार से, अन्तर्मन से, प्रेम–भाव की दृष्टि से उन्होंने उनका परित्याग नहीं किया क्योंकि वह निर्विकल्प रूप से जानते और मानते थे, दृढ़ विश्वास था कि सीता निश्चित रूप से सती साध्वी हैं। किसी शंका या सन्देह का प्रश्न् ही नहीं था। अर्थ यह निकला कि उन्होंने स्थूल रूप से तो उनका त्याग कर दिया परन्तु वास्तविक रूप में त्याग नहीं किया।

रामचरितमानस में बालकाण्ड में शंकर भगवान की अर्धांगिनी सती जी द्वारा भगवान राम की परीक्षा का प्रसंग है। सीता जी के अपहरण के पश्चात् श्रीराम को वन में व्याकुल और अधीर हो कर रुदन करते हुए सीता को ढूँढ़ते देखकर उन्हें भ्रम हुआ कि ये कैसे ब्रह्म हैं कि सामान्य मनुष्य की भाँति पत्नी विछोह से व्याकुल और अधीर होकर रुदन कर रहे हैं। श्रीराम की परीक्षा लेने चलीं तो, लेकिन सीता का रूप धारण करके उनके सम्मुख गईं। तब सर्वज्ञ भगवान

राम ने उन्हें प्रणाम करके पूछा कि वृषकेतु शिव जी कहाँ हैं? आप यहाँ वन में अकेली क्यों फिर रहीं हैं? उन्होंने शंकर जी को यह नहीं बताया कि मैंने सीता का रूप धारण किया था। पर वह अपनी दिव्य दृष्टि से सब कुछ जान गये। मर्यादा की रक्षा हेतु शंकर जी ने, यद्यपि सती का स्थूल रूप से साथ नहीं छोड़ा, त्याग नहीं किया, फिर भी विचार से तथा पत्नी के रूप में सम्बन्ध का अन्तर्मन से, त्याग कर दिया।

साधक के दृष्टिकोण से साधन की सफलता के लिये दो पहलू हैं। इनकी चर्चा आगे की जायेगी पर इन उदाहरणों को देखा जाय तो त्याग शब्द का एक अर्थ शाब्दिक हुआ–स्थूल रूप से छोड़ना और दूसरा हुआ कि सूक्ष्म–सम्बन्ध का समाप्त होना।

अतः 'त्याग' शब्द का साधक और साधन के प्रकरण में जब प्रयोग होता है तब उसका अर्थ मानव सेवा संघ दर्शन में बताया गया है– "**अपना न मानना ही त्याग है**" इसलिये यदि आंतरिक रूप से किसी वस्तु आदि से सम्बन्ध विच्छेद नहीं किया तो केवल शाब्दिक अर्थ में छोड़ देने से साधना सफल नहीं होगी।

आगे स्वामी शरणानन्द जी के वचन 'क्रान्तिकारी सन्तवाणी' पुस्तक से उद्धरित हैं जिनसे इस विषय को समझना सहज होगा–

1. "अनेक प्रिय वस्तुएँ स्वरूप से छूट चुकी हैं, किन्तु उनकी सुन्दरता और चाह बाकी है। इसलिये वस्तुओं के त्याग का फल कुछ नहीं मिलता। वास्तव में तो **चाह का त्याग ही त्याग है।**"

2. किसी भी वस्तु को अपना मत समझो। बस, यही त्याग है। किसी वस्तु तथा व्यक्ति से अलग होने मात्र से त्याग नहीं हो जाता। **अपना न मानने से त्याग होता है।**

3. शरीर आदि किसी भी वस्तु को अपना न मानना और किसी से भी किसी प्रकार भी सुख की आशा न करना, अर्थात् चाह–रहित होना अथवा यों कहो कि 'अहम्' **और 'मम' का अन्त करना ही त्याग का वास्तविक स्वरूप है।**

4. त्याग का अर्थ है किसी वस्तु को अपना मत मानो। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से सम्बन्ध मत रखो। कर्म, चिन्तन एवं स्थिति किसी भी अवस्था में जीवन–बुद्धि मत रखो। किसी का आश्रय मत लो। किसी से सुख की आशा मत करो।

5. त्याग क्रिया नहीं है, बल्कि असंगता है।

6. त्याग क्या है? मैं शरीर और संसार

से अलग हूँ। इसका फल क्या है? अचाह होना, निर्मम होना और निष्काम होना।

7. विवेकपूर्वक ममता, कामना तथा तादात्म्य का त्याग ही वास्तविक, जाने हुए असत् का त्याग है।

8. प्रिय से प्रिय वस्तु तथा व्यक्ति का त्याग गहरी नींद के लिए भला किसने नहीं किया?

9. शरीर और संसार छोड़ने का प्रश्न् नहीं है, प्रश्न् है कि शरीर और संसार से हमारा सम्बन्ध न रहे।

10. सम्बन्ध विच्छेद से किसी वस्तु व्यक्ति आदि की क्षति नहीं होती और न प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा में ही बाधा होती है।

11. त्याग हो जाने पर त्याग का भास नहीं रहता; क्योंकि त्याग की स्मृति अथवा उसका अस्तित्व तभी तक प्रतीत होता है, जब तक त्याग होता नहीं।

यह सत्य कई साधन–सूत्रों में आ चुका है कि मानव जीवन का चरम लक्ष्य है प्रभु–प्रेम की प्राप्ति। इस प्रकरण में त्याग की महिमा बताते हुए स्वामी शरणानन्द जी ने कहा है कि–

"त्याग और प्रेम के बिना जीवन की सार्थकता सिद्ध नहीं हो सकती।"

फिर बताया कि "त्याग की भूमि है ममता का अन्त और प्रेम की भूमि है अभिन्नता।"

इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने इस प्रकार समझाया है कि–

"सभी को अपना मानने का वही फल होता है जो किसी को भी अपना न मानने से होता है। इस दृष्टि से जिसे सभी को अपना मानना रुचिकर हो वह सभी को अपना मानकर अभिन्नता प्राप्त कर सकता है और जिसे किसी को अपना न मानना रुचिकर हो वह सभी से असंग होकर अभिन्नता प्राप्त कर सकता है। भाव यह है कि शरीर, प्राण, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि से असंग होने पर निरभिमानता स्वतः आ जाती है और उसके आते ही भेद तथा भिन्नता मिट जाती है। इस दृष्टि से ममता रहित होने में अभिन्नता हेतु है और अभिन्नता आ जाने पर ममता रहित भी हुआ जा सकता है अर्थात् त्याग से प्रेम और प्रेम से त्याग की पुष्टि होती है।"

आगे उन्होंने स्वयं ही प्रश्न् किया है कि "अब यदि कोई यह कहे कि त्याग और प्रेम से जीवन की सार्थकता कैसे सिद्ध होती है?"

इसका समाधान उन्होंने इस प्रकार किया है–"तो कहना होगा कि **त्याग के बिना चिर–शान्ति नहीं मिलती** और **प्रेम के बिना अगाध अनन्त रस की उपलब्धि नहीं हो सकती।** चिर–शान्ति के बिना

जीवन तथा सामर्थ्य की उपलब्धि नहीं होती और अगाध अनन्त रस के बिना खिन्नता एवं नीरसता का अन्त नहीं हो सकता। खिन्नता तथा नीरसता का अन्त हुए बिना काम का अन्त नहीं होता और काम का अन्त हुए बिना जड़ता, परतंत्रता, शक्तिहीनता आदि दोषों का अन्त नहीं हो सकता अथवा यों कहो कि काम का अन्त हुए बिना अभाव का अभाव नहीं हो सकता। **अभाव के अभाव में ही उस जीवन की सार्थकता है, जो त्याग और प्रेम से ही सम्भव है।**"

अन्त में उन्होंने कहा है कि–

"त्याग दृश्य से विमुख करने में और प्रेम अनन्त से अभिन्न करने में समर्थ है। इस दृष्टि से त्याग और प्रेम में ही जीवन की सार्थकता है, जो सभी साधकों को सर्वदा सुलभ है।"

ज्ञान का अनादर के परिणाम की चर्चा करते हुए स्वामी जी ने कहा कि–

"ज्ञान के अनादर का फल है मोह और ममता। जब ज्ञान का आदर शुरू करेंगे तो निर्मोहता आ जायेगी, निर्ममता आ जायेगी, निष्कामता आ जायेगी। **निर्ममता आने पर भी आप परिवार का, समाज का कार्य कर सकेंगे। निष्काम होने पर भी आप काम कर सकेंगे।** मोह और ममता पहले थोड़े ही होती है, वह तो ज्ञान के अनादर के बाद होती है। भूल का परिणाम है मोह और ममता। मोह–ममता स्वाभाविक थोड़े ही है। परिवार की सेवा करो ममता का क्या अर्थ। **परिवार के अधिकार की रक्षा करो और परिवार के ऊपर से अपना अधिकार हटा लो। यही त्याग हो गया।**"

इस विषय की ऊपर जो चर्चा की गई है, उससे 'त्याग' का अर्थ और किसका त्याग करना है, यह समझना सहज हो जायेगा। फिर भी कोई भ्रम न रह जाये इसलिये कुछ स्पष्टीकरण प्रस्तुत है–

जैसे सुख है तो सुख का त्याग नहीं करना है, सुख का सदुपयोग सेवा में होता है–त्याग सुख की दासता और सुख–भोग की प्रवृत्ति/आसक्ति का करना है। धन आदि वस्तुओं का त्याग नहीं करना है, उनको गंगा में नहीं फेंकना है। उनका सदुपयोग पर की सेवा में करना है–त्याग तो उनके लोभ और ममता का करना है। इसी प्रकार व्यक्तियों के प्रति ममता और आसक्ति अथवा द्वेष और दुर्भावना का त्याग करना है। उनके प्रति तो राग–द्वेष रहित होकर सद्भाव रखना है और यथाशक्ति उनकी क्रियात्मक रूप से सेवा करना है। ■

साधन-सूत्र : 68

व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण

ब्रह्मलीन संत स्वामी शरणानन्द जी द्वारा प्रणीत "मानव सेवा संघ का उद्देश्य है व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उपाय बताया गया है: **कर्तव्य–परायणता अर्थात् धर्मपरायणता से सुन्दर समाज का निर्माण, तथा त्याग से मुक्ति एवं प्रेम से भक्ति, के द्वारा अपना कल्याण।** संघ की विचारधारा में मानव जीवन में आध्यात्मिक विकास और समाज की सेवा को परस्पर विरोधी नहीं माना गया है, दोनों एक ही जीवन के अनिवार्य पहलू हैं। फलस्वरूप जो मुक्त और भक्त होकर अपना कल्याण नहीं कर सकता, उसके द्वारा समाज की सेवा नहीं हो सकती और जो निर्मम, निष्काम होकर समाज की सेवा नहीं कर सकता, वह राग रहित नहीं हो सकता। राग रहित हुए बिना योग–बोध–प्रेम के रूप में जीवन के लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः सुन्दर समाज के निर्माण में सहयोग देना साधना का अनिवार्य अंग है।"

इसके बाद यह बिन्दु आता है कि समाज है क्या और उसकी आवश्यकता क्यों है। इसके सम्बन्ध में कहा गया है कि–

"समाज क्या है? अनेक प्रकार की भिन्नता में एकता स्थापित करने का जो परिणाम है वही समाज है। मानव सामाजिक प्राणी है। व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये समाज की माँग होती है, कारण कि कोई भी व्यक्ति अपनी सारी आवश्यकताएँ अपने द्वारा पूरी नहीं कर सकता। इसके साथ–साथ यदि वह स्वयं दूसरों की आवश्यकतापूर्ति में सहयोग नहीं देता, तब भी समाज का निर्माण नहीं होता। **समाज का निर्माण एक दूसरे की आवश्यकतापूर्ति में सहयोग देने के लिये है।** इस दृष्टि से समाज मानव–जीवन का एक अनिवार्य अंग है और सुन्दर समाज के निर्माण का प्रश्न मानव–जीवन की एक महत्वपूर्ण समस्या है।"

सुन्दर समाज कहते किसे हैं? इसका उत्तर निम्नलिखित व्याख्या से मिलता है–

"सामाजिक विषमता और संघर्ष को मिटाकर सुन्दर समाज के निर्माण का अर्थ यह लिया गया है कि **जिस समाज में**

प्रत्येक व्यक्ति कर्तव्यनिष्ठ हो जाता है वह समाज सुन्दर हो जाता है, अर्थात् उस समाज में सबके अधिकार सुरक्षित हो जाते हैं। महाराज जी ने यह विचार प्रकट किया है कि **जिस समाज में किसी के अधिकारों का अपहरण नहीं होता प्रत्युत सबके अधिकार सुरक्षित रहते हैं वही सुन्दर समाज है।**''

जब सुन्दर समाज का मूल है प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्यनिष्ठ होना, तो यह भाव व्यक्तियों में कैसे जागृत हो–इसका उपाय इस प्रकार बताया गया है–

''ऐसी कर्तव्य–निष्ठा के लिये अन्तःप्रेरणा के रूप में भौतिक दर्शन के सत्य को लिया गया। जगत् के नाते कोई ग़ैर नहीं है। एक धरती पर सबका आवास है, एक आकाश के नीचे सबका अवकाश तथा एक सूर्य के द्वारा सबको प्रकाश मिलता है, वायु के द्वारा सबको श्वास मिलती है और जल से सबकी प्यास बुझती है। अतः सबके साथ सद्भाव रखना और निकटवर्ती को सहयोग देना, मानव का निज कर्तव्य है। जैसे सुन्दर पुष्पों से वाटिका की शोभा होती है, वैसे ही कर्तव्यनिष्ठ व्यक्तियों द्वारा सुन्दर समाज का निर्माण होता है।''

इस दार्शनिक सत्य के साथ यह भी ध्यान देने की बात है कि मानव होने के नाते हर व्यक्ति का स्वरूप ही है, सेवा, त्याग और प्रेम। सेवा के द्वारा ही व्यक्ति दूसरों के लिये उपयोगी होता है। अतः–

''व्यक्ति के कल्याण और सुन्दर समाज के निर्माण के लिये इस सत्य को स्वीकार करना अनिवार्य बताया गया कि प्राप्त योग्यता, सामर्थ्य और वस्तु अपनी नहीं है, अपने लिये नहीं है। ऐसा जानकर समाज का प्रत्येक व्यक्ति जब प्राप्त बल को निर्बलों की धरोहर मानने लगता है और निर्मम, निष्काम होकर निर्बलों की सेवा में लग जाता है, तब समाज में सबल एवं निर्बल की एकता स्थापित होती है। उसी पर सामाजिक एकता (social integrity) टिक सकती है।''

यह प्रश्न् स्वाभाविक है कि ऊपर वर्णित भाव मनुष्य में आये कैसे? इसका समाधान नीचे प्रस्तुत है–

''अधिकारों की माँग के लिये संगठित शक्ति का उपयोग हिंसात्मक प्रवृत्तियों में करना मानवता नहीं है। कर्तव्य–निष्ठा मानवता है जिसमें अधिकार देना सहज स्वाभाविक है। **ऐसी कर्तव्यनिष्ठा ऊपरी दबाव, शासन अथवा कानून से नहीं आ सकती।** इसके लिये मानव सेवा संघ ने सामाजिक व्यक्तियों को सत्संग करने का परामर्श दिया जिसके प्रकाश में व्यक्ति स्वेच्छा से कर्तव्यनिष्ठ अर्थात् धर्म–परायण

हो सकता है। कर्तव्य अधिकारों की जननी है। कर्तव्यनिष्ठ व्यक्तियों के अधिकार स्वतः सुरक्षित हो जाते हैं और **जिसमें सबके अधिकार सुरक्षित हो जायें, वही सुन्दर समाज है।"**

सत्संग क्या है : जीवन के सत्य को स्वीकार करना और असत् अर्थात् अपनी जानी हुई बुराई का त्याग। और "निज विवेक का आदर करना सत्संग है।"

समाज और देश की आज की दशा देखा जाय तो दो ही बातें दिखाई देती हैं। जो सक्षम और समर्थ हैं वे भयंकर रूप से निजी स्वार्थ में लिप्त हैं, समाज और देश के हित की कोई न रुचि है और न ही चिन्ता। दूसरी तरफ जिनमें सुन्दर समाज की कल्पना है और उसके लिये कुछ करने की रुचि और उत्साह है, वे यह भूल जाते हैं कि जब तक मनुष्य सुन्दर नहीं बनेगा तो सुन्दर समाज कैसे बनेगा। परिणाम होता है कि मनुष्य को सुन्दर बनाने, उसे सही इन्सान बनाने की दिशा में न तो कोई योजना है और न ही कोई प्रयास। **ऊपर ऊपर से कानून और राष्ट्र के बल पर कुछ करने से सुन्दर समाज कभी भी नहीं बन सकता। समाज के ही बल पर देश सुन्दर समृद्धिशाली और शक्तिशाली बनता है।**

यदि मनुष्य सुन्दर नहीं बनेगा तो समाज में उच्छृंखलता, हिंसा, अन्याय आदि, सभी बुराइयाँ होंगी और ऐसे ही लोग घुन, दीमक, जोंक और मोटे चूहों की भाँति देश को भीतर भीतर खोखला करके शक्तिहीन बना देंगे।

माँ दिव्यज्योति (देवकी बहिन) जी के एक प्रवचन का कुछ अंश यहाँ उद्धरित है जो इस विषय के लिय बहुत ही प्रासंगिक है–

".....और दिल में किसी के प्रति कोई दुर्भावना पैदा ही न हो, तो फिर कोई किसी के प्रति बुराई नहीं कर सकेगा। और बुराई का अन्त हो गया, तो केवल भलाई ही भलाई रह जायेगी। कितना सुन्दर समाज बन जायेगा। कितनी शान्ति हो जायेगी। **भीतर से अगर किसी के प्रति बुराई की भावना नहीं उठ रही है तो चित्त में कितनी शुद्धि और शान्ति आ जायेगी।** तो अपने भीतर भी शान्ति आ गई, अपने बाहर भी शान्ति आ गई। ऐसा एक सुन्दर समाज का निर्माण करने के लिये और मनुष्य की आन्तरिक और बाहरी शान्ति को सुरक्षित रखने के लिए किसी विशेष प्रणाली की गवर्नमेंट काम नहीं कर सकती, कि किसी खास प्रकार की शासन–प्रणाली बनायेंगे तो ऐसा हो जायेगा। यह सम्भव नहीं हुआ। विदेशी शासन को हटाने में जिन लोगों ने सारी ज़िन्दगी तप किया और कष्ट सहन किया,

वे लोग रो–रोकर दुःखी होकर यह कहते हुए प्राण त्याग कर दुनियाँ से चले गये कि क्या बतायें! हम नहीं जानते थे कि राजनैतिक स्वाधीनता के बाद भी देशवासियों का दुःख नहीं मिटेगा। जय प्रकाश जी के मुख से मैंने सुना था। एक बार राँची में बोल रहे थे। बहुत दुःखी होकर कह रहे थे–क्या यह वही स्वाधीनता है जिसके लिए हमने अपना रक्त बहाया?''

इसी क्रम में देवकी बहिन जी ने आगे कहा है कि–

''तो शासन प्रणाली बदलने से, समाज के गठन को बदल डालने से सुन्दर समाज नहीं बनेगा। क्यों? क्योंकि **मनुष्य सुन्दर नहीं हुआ तो समाज सुन्दर कैसे बनेगा?**''

''सत्संग का एक प्रोग्राम ऐसा है कि जिससे एक–एक व्यक्ति, एक–एक भाई, एक–एक बहिन अपने को सुन्दर बना ले तो सारा समाज सुन्दर हो सकता है।''

कोई कह सकता है कि यह सब बातें सही और अच्छी तो हैं परन्तु कल्पना–लोक की हैं (utopian हैं)। व्यवहार में लाना कठिन है। इसका अर्थ तो फिर यह हुआ कि हम हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें और समाज और देश गर्त में जाये तो जाये। यह सोच ठीक नहीं होगी। जब गर्त में जायेगा तो क्या हम उससे प्रभावित हुए बिना रह जायेंगे।

हम अपने को सुन्दर बनाएँगे तो परिवार सुन्दर बनेगा, परिवार सुन्दर बनेगा तो समाज सुन्दर बनेगा और समाज सुन्दर बनेगा तो देश सुन्दर बनेगा।

25 जुलाई, 2011 के अंग्रेजी 'इण्डिया टुडे' में कई भारतीयों का परिचय दिया गया है जो अनेकों वर्ष विदेश में रहने के बाद भारत लौटकर शिक्षा, चिकित्सा आदि विभिन्न क्षेत्रों में समाज के सुविधा तथा अवसर विहीन (under privileged) वर्गों में उनके उत्थान के लिये सेवा भाव से कार्य कर रहे हैं। हमें तो ऐसे लोगों के जीवन–वृत्त से प्रेरणा लेनी चाहिये और जो हम कर सकते हैं वह करें। यह न सोचें की हमारे अकेले से क्या होगा। सुन्दर पुष्प की भाँति आस–पास के वातावरण को सुगन्धित तो करेंगे ही।

स्वामी शरणानन्द जी ने कहा है: **''अपने को सुन्दर बनाओ सुन्दर समाज का निर्माण स्वतः होगा।''**

इस सिद्धान्त के जीवन्त तथा ज्वलन्त उदाहरण हैं अण्णा हज़ारे जी और उनकी कर्मभूमि रालेगण सिद्धि।

प्राकृत भारती अकादमी जयपुर तथा करनाल मानव सेवा संघ के सहयोग से प्रकाशित पुस्तक 'तरुतले (भाग–3)' में ''रालेगण सिद्धि जहाँ पर जीवन्त हो उठे

हैं अण्णा के आदर्श'' शीर्षक के अन्तर्गत दिल नवाज़ पाशा का उस ग्राम में बिताये पाँच दिनों का अनुभव छपा है। उसी का कुछ उद्धरण यहाँ प्रस्तुत है।

''एक विचार ने व्यक्ति को बदला, व्यक्ति ने व्यवस्था को, व्यवस्था ने वातावरण को और एक छोटा सा गाँव आदर्श गाँव बन गया।.... वर्ष 1975 में जब अण्णा अपने साथ स्वामी विवेकानन्द के विचार, गाँव और देश के लिये कुछ करने का जज़्बा और सेना से रिटायरमेंट के बाद मिला पैसा लेकर यहाँ पहुँचे तो यह गाँव सूख रहा था। इसकी पहाड़ियों में शराब की भट्टियाँ पनप रही थीं और ज़िन्दगी घुट–घुटकर दम तोड़ रही थी।''

''अन्ना ने अपनी जमापूँजी से गाँव में संत यादव बाबा का मन्दिर बनवाया और घर से सन्यास लेकर मंदिर में ही रहना शुरू कर दिया। गाँव को बदलने की ज़िद्द पर अड़े अण्णा को लोगों ने शुरू में पागल कहा। लेकिन अण्णा के इसी पागलपन ने रालेगण सिद्धि को अब ऐसा आदर्श गाँव बना दिया है कि यदि देश के अन्य गाँव खुद को ऐसा कर पायें तो पूरा भारत स्वर्ग हो जायेगा। अब हरियाली लहलहाते हुए और खुशहाली मुस्कराते हुए दिखाई देती है।''

''मैने जानने की कोशिश की कि अण्णा ने आख़िर यह चमत्कार कैसे कर दिया।.....यह समझ आया कि **नैतिक शिक्षा के जो सबक लोग पढ़कर भूल जाते हैं, अण्णा ने उन्हें अपने व्यक्तित्व में उतार लिया है।** ग्रामीण विकास के जो नारे सरकार दिवारों पर लिखवा कर, अपनी ज़िम्मेदारी पूरी मान लेती है, अण्णा ने उन नारों को लोगों के सामूहिक प्रयास से सार्थक कर दिया।''

''अण्णा का व्यक्तित्व रालेगण सिद्धि के लोगों में भी झलकता है। सेवा यहाँ ज़िम्मेदारी है, राष्ट्र–प्रेम यहाँ की संस्कृति है, मेहनत आदत है, आदर–सत्कार परम्परा है और प्रेम यहाँ के लोगों का स्वभाव है।''

इस दृष्टान्त से हम लोग प्रेरणा लें कि स्वामी जी द्वारा दिये गये प्रेरक सलाह 'अपने को सुन्दर बनाओ, सुन्दर समाज का निर्माण स्वतः होगा', कल्पना लोक की बात (utopion) नहीं है। बस सुन्दर समाज की लालसा और उसे साकार करने के प्रति दृढ़ संकल्प हो तो कल्पना, कल्पना न रह कर साकार हो जायेगी।

■

सबल और निर्बल की एकता ही समाज का सुन्दर चित्र है।

साधन-सूत्र : 69

जीवन में साधन के साथ साथ असाधन भी–ऐसी साधना निरर्थक

हम किसी भी मज़हब के मानने वाले हों, यह सर्वमान्य होगा कि मानव होने के नाते अपनी माँग की पूर्ति हेतु, जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति हेतु अथवा साधन–पथ की मंजिल पहुँचने के लिये उस मज़हब में बताए हुए साधन, पूजा–पद्धति/आराधना को अपनाते हुए हम चलते हैं तो यदि उसके साथ–साथ जीवन में असाधन भी है तो हमें सफलता नहीं मिलेगी।

मानव सेवा संघ के दर्शन में किसी मज़हब की बात नहीं की गई है, मात्र सत्य की चर्चा की गई है। किसी भी मज़हब का आग्रह या विरोध नहीं किया गया है। स्वामी शरणानन्द जी का कहना था कि जो जिस मज़हब को मानने वाला है, उस मज़हब द्वारा बताये गये साधना पद्धति से उसे साधन में सफलता अवश्य मिलेगी, बस शर्त यह है कि साधन के साथ असाधन भी जीवन में रहेगा तो साधना फलित नहीं होगी।

स्वामी जी ने एक प्रसंग में कहा है–

"असाधन के साथ–साथ किया हुआ साधन कालान्तर में भले ही फलदायक हो, किन्तु वर्तमान में सिद्धिदायक नहीं है।"

साधना तो ऐसी होनी चाहिये जो वर्तमान में ही फलदायक हो। कालान्तर की कौन जानता है, शरीर पता नहीं कब छूट जाय। इसलिये भविष्य की आशा रख कर कोई साधन क्यों किया जाय। मानव सेवा संघ दर्शन में इसीलिये साधक के लिये दो ही पुरुषार्थ बताए गये हैं–जीवन के सत्य को स्वीकार करना और असत् अर्थात् अपनी जानी हुई बुराई का त्याग। सत्य की स्वीकृति और असत् का त्याग किसी श्रम अथवा पराश्रय पर आधारित नहीं है, बल्कि वर्तमान में ही 'स्व' द्वारा स्वीकृति से ही होता है जिसमें समय लगने का प्रश्न् ही नहीं है।

साधन क्या है इसकी चर्चा विस्तार से साधन–सूत्र–34 शीर्षक 'मानव सेवा संघ दर्शन में साधना का अर्थ और साधना–प्रणाली' में की गई है। असाधन के साथ साथ साधन के सम्बन्ध में पिछले कई साधन–सूत्रों में थोड़ी चर्चा हुई है, विशेष रूप से

साधन–सूत्र–64 शीर्षक 'जीवनोपयोगी संत–वचन (भाग–3)' के बिन्दु–12 में। यहाँ थोड़े विस्तार से प्रस्तुत है।

स्वामी शरणानन्द जी ने विभिन्न अवसरों पर असाधन क्या है और जीवन में उसे बनाए रखने का क्या कुपरिणाम होता है उसको समझाया है। 'क्रान्तिकारी सन्तवाणी' पुस्तक से कुछ, नीचे प्रस्तुत हैं–

1. असाधन और कुछ नहीं है, विवेक–विरोधी 'कर्म' ही असाधन है, विवेक–विरोधी 'विश्वास' ही असाधन है और विवेक–विरोधी 'सम्बन्ध' ही असाधन है।

2. जो हो चुका है उसका चिन्तन करना और उसके अर्थ को न अपनाना असाधन ही है।

3. सुख के प्रलोभन का ही दूसरा नाम असाधन है।

4. अपने सुख–दुःख का कारण किसी और को मानना असाधन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

5. सुख–दुःख का भोग असाधन है और सदुपयोग साधन है।

6. जो प्रवृत्ति अपने लिये प्रसन्नता देने वाली न हो और दूसरों के लिये हितकर न हो, वह असाधन है।

7. यदि साधन है तो प्रत्येक प्रवृत्ति साधन है; नही तो भैया, जब तक किसी प्रवृत्ति विशेष का नाम साधन है और किसी प्रवृत्ति विशेष का नाम असाधन है तब तक सब असाधन है।

आगे उनके कुछ और कथन–

1. **असाधन के रहते हुए बलपूर्वक किया हुआ साधन मिथ्या अभिमान ही उत्पन्न करता है,** जो सभी दोषों का मूल है।

2. बलपूर्वक किया हुआ साधन असाधन को दबा देता है, उसे मिटा नहीं पाता। इतना ही नहीं, साधक साधन करने का मिथ्या अभिमान और कर बैठता है, जो बड़ा भयंकर असाधन है।

असाधन की उत्पत्ति के बारे में उन्होंने कहा है–

1. **समस्त असाधनों की उत्पत्ति का मूल जाने हुए असत् का संग है।**

2. असावधानी की भूमि में ही असाधन की उत्पत्ति होती है। जो जानते हैं, उसको न मानना और जो कर सकते हैं उसको न करना ही असावधानी है।

3. साधन का अभिमान ही असाधन का मूल है और असाधन के ज्ञान में ही असाधन का नाश है।

इसलिये उन्होंने सलाह दिया है कि–

1. **साधक का पुरुषार्थ असाधन के त्याग में है।** विवेक–विरोधी स्वीकृति, कर्म, सम्बन्ध और चिन्तन असाधन हैं।

2. असत् के संग से असाधन की उत्पत्ति और सत् के संग से साधन की अभिव्यक्ति स्वतः होती है।

और अन्त में प्रथम दो प्रस्तरों में कही गई बात का सार स्वामी जी के शब्दों में–

"असाधन का त्याग सभी मत, सम्प्रदाय, विचारधारा के साधकों के लिये समान है।"

इस सारी चर्चा का मन्तव्य एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगाः–

बहुत वर्षों पूर्व, सुबह टहलने जा रहा था। देखा कि सड़क घेर कर तीन तरफ़ से बड़ा शामियाना लगा है और बिजली के खम्भे पर चढ़ कर एक आदमी कटिया लगा रहा है। सामने की तरफ़ गया, अन्दर पहाड़ आदि का रूप दिया जा रहा था। जो प्रबन्धकर्त्ता (organiser) थे, उन्होंने प्रेम से कहा कि शाम को आइयेगा, देवी–जागरण है। मेरे पूछने पर कि यह कैसा देवी–जागरण कि साथ में बिजली की चोरी भी की जा रही है, बोले अरे! यह सब चलता है। सोचने की बात है कि यह कैसी पूजा–आराधना कि एक तरफ देवी की प्रसन्नता और कृपा हेतु भोंपू लगाकर रात भर गायन करेंगे, मुहल्ले भर को जगाये रखेंगे और साथ ही बिजली की चोरी भी करेंगे। ऐसे असाधन–युक्त साधना से देवी प्रसन्न होती हैं कि नहीं यह मैं नहीं कह सकता, पर इतना अवश्य है कि इस से अपना विकास बिल्कुल नहीं होगा। जिस साधना से हमारा विकास न हो, वह फिर साधना–पूजा तो हुई नहीं, अपने आप को धोखा देने के लिये मात्र तमाशा ही तो है।

अतः यदि हमें साधन–पथ में अपना विकास अभीष्ट है तो बड़ी इमानदारी से इसके बारे में विचार करना पड़ेगा कि असाधन रहते हुए कोई भी साधन व्यर्थ है, फलीभूत नहीं होगा। इसलिये असाधन सर्वथा त्याज्य है।

■

आजकल साधन करते समय हम लोग इस बात को भूल जाते हैं कि हम मानव हैं और करते क्या हैं? कि साधन सीखने को ही साधन मानते हैं, साधन सिखाने को साधन मानते हैं, पर असाधन का त्याग करके साधन की अभिव्यक्ति नहीं होने देते।

साधन-सूत्र : 70

योग और ध्यान का अर्थ एवं स्वरूप

सबसे पहले योग के सम्बन्ध में विचार करें। साधन–सूत्र–28 शीर्षक 'साधन–रूपी पारम्परिक प्रवृत्तियों का मानव सेवा संघ दर्शन में अर्थ' में योग से सम्बन्धित स्वामी शरणानन्द जी के प्रश्नोत्तरों का उल्लेख है। योग का शाब्दिक अर्थ है जुड़ना। स्वामीजी के शब्दों में "**जगत से सम्बन्ध टूटकर उस अनन्त के साथ अहं का जुड़ जाने का नाम ही योग है।**"

आजकल के प्रचलन में 'योग', योगा (yoga) बन गया और विभिन्न आसनों और पी.टी. जैसे व्यायाम (exercises) के करने और प्राणायाम को 'योगा' का नाम दिया जा रहा है। सोचने की बात है कि किसी क्रिया से हम परम-सत्ता, परम चेतन से कैसे जुड़ सकते हैं।

स्वामीजी ने तीनों ही प्रकार की मान्यताओं के लिये योग का सहज उपाय बताया है–

– "ईश्वरवादी है तो विश्राम और हरिआश्रय अपनाए।

– अध्यात्मवादी है तो 'स्व' का आश्रय ले और निर्मम तथा निष्काम होकर राग–रहित हो जाय। राग–रहित होते ही सबको योग मिल जायेगा।

– जो भौतिकवादी है और केवल जगत की ही सत्ता को मानता है तो वह कर्तव्य में तो विश्वास कर सकता है। अपने अधिकार का त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा से भी राग–निवृत्ति होती है। राग की निवृत्ति होते ही योग की प्राप्ति स्वतः होती है।"

यह निर्विवाद है कि जब तक हमारे जीवन में भोग की रुचि और ममता कामना रहेगी, हम राग–रहित हो ही नहीं सकते। अतः यदि कोई अपनी ओर से भोगेच्छा और बुराइयों का त्याग का सोचे ही नहीं; सेवा, त्याग और प्रेम को ही अपना जीवन स्वीकार करे ही नहीं और यह सोचे कि योगिक व्यायाम (yogic exercises) और

प्राणायाम से हमारे जीवन का लक्ष्य योग–बोध–प्रेम की प्राप्ति अपने आप हो जायेगी, तो यह भ्रान्ति ही है। इन प्रचलित क्रियाओं से शरीर और मस्तिष्क तो अवश्य स्वस्थ होंगे, इतना लाभ तो होगा ही, परन्तु यदि कोई यह सोचता है कि इसी से हमें अपने वास्तविक जीवन (नित्य, अविनाशी, रसरूप) की प्राप्ति हो जायेगी तो यह असम्भव है।

पहले के तीन साधन–सूत्रों यथा संख्या–32 शीर्षक 'मानव जीवन में निवृत्ति काल का सदुपयोग', संख्या–35 शीर्षक 'सत्संग का अर्थ और स्वरूप' तथा संख्या–37 शीर्षक 'व्यर्थ–चिन्तन क्या है और उससे कैसे छुटकारा मिले' में योग की प्राप्ति के उपाय की विस्तार से चर्चा हुई है। सारांश यह है कि अपने नित्य जीवन में आवश्यक कार्य को पूरी कर्तव्यनिष्ठा के भाव से करने के उपरान्त अर्थात् आवश्यक प्रवृत्ति के पश्चात् सहज निवृत्ति प्राप्त होती है। उस निवृत्ति काल में हम भीतर बाहर से शान्त हो जायें और उस विश्राम काल का सदुपयोग शान्ति सम्पादन में करें तो उसी शान्ति में (यदि हम उसी में रमण न करने लगे) योग की प्राप्ति होगी।

योग के सम्बन्ध में स्वामी शरणानन्द जी के कुछ अन्य वचन उद्धरित हैं–

– योग कब होता है? कि जब आपका शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता है।

– योग की अभिव्यक्ति के लिये किसी प्रकार की प्रवृत्ति अपेक्षित नहीं है, अपितु मूक सत्संग ही अपेक्षित है।

– योग अपने लिये और कर्तव्य 'पर' के लिये निर्मित्त है। योग की प्राप्ति के लिये किसी कर्म सामग्री की अपेक्षा नहीं है, केवल करने की राग–निवृत्ति मात्र से ही योग के साम्राज्य में प्रवेश होता है अर्थात् **योग–प्राप्ति में श्रम अपेक्षित नहीं है।**

– **भोग की रुचि रहते हुए योग की उपलब्धि सम्भव नहीं है।**

यह सब प्रस्तुत करने का तात्पर्य है कि 'योगा' के रूप में जो हम करते हैं, उनकी उपयोगिता अपनी जगह है और उन्हें करने से लाभ ही होगा, परन्तु उन्हें ही 'योग' अर्थात् सत्य से जुड़ना मानने का भ्रम मिटाकर योग के वास्तविक अर्थ और स्वरूप को समझना होगा। साधक के लिये वास्तविक योग की प्राप्ति इसलिए अनिवार्य है कि उसी में 'बोध' और फिर प्रेम की अभिव्यक्ति होगी, जो हमारा परम लक्ष्य

है, माँग है। प्रभु–प्रेम में ही अनन्त अगाध रस है। रस की माँग हमारे में बीज रूप में विद्यमान है और हम भ्रमवश उसे अन्यत्र खोजते फिरते हैं इन्द्रिय–सुख आदि में।

योग के बारे में स्वामी विवेकानन्द ने बहुत विस्तार से विवेचन किया है। उनके आठ खण्डों वाले सम्पूर्ण साहित्य (complete works) के प्रथम खण्ड में 'राजयोग' अध्याय के अन्तर्गत व्याख्या है जिससे यह समझ में आता है कि उनकी परिभाषा जो 'पतंजली योग–शास्त्र' पर आधारित है के अनुसार योग आठ सीढ़ियों का क्रम है और उन सबको मिलाकर उसे 'योग' की संज्ञा दी गई है। अन्तिम अथवा आठवाँ–चरण है 'समाधि'। वहां पहुँचने के लिये, और जो चरण हैं वे तैयारी के रूप में हैं। यदि तैयारी नहीं हुई तो सीधे समाधि पर पहुँचना सम्भव नहीं है।

- पहला चरण–**यम**– अहिंसा, सच्चाई, चोरी नहीं करना, संयम आदि।
- दूसरा चरण–**नियम** – शौच, सन्तोष, सादगी, स्वाध्याय, ईश्वर की शरणागति।
- तीसरा चरण–**आसन**– बैठने का वह तरीका जो सहज हो और आगे के चरणों के लिये लम्बे समय तक उस ढंग (posture) से बैठा जा सके।
- चौथा चरण–**प्राणायाम**– प्राण पर नियंत्रण–श्वास की प्रक्रिया द्वारा।
- पाँचवां चरण–**प्रत्याहार**– इन्द्रियों का उनके विषयों से विच्छेद (नियंत्रित करना)।
- छठवाँ चरण–**धारणा**– मन को एक बिन्दु पर केन्द्रित करना।
- सातवाँ चरण–**ध्यान**– मन का उस बिन्दु पर लम्बे समय तक ठहर जाना।
- आठवाँ चरण–**समाधि**– परम चेतनता (superconsciousness)।

निष्कर्ष यह है कि 'योग' के अन्तिम चरण पर आसीन होने के लिये तैयारी आवश्यक है। इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द ने जो व्याख्या किया है उसके अनुसार योग मात्र योगिक व्यायाम और प्राणायाम ही नहीं है जो आजकल 'योगा' के नाम से प्रचलित है। दूसरे इस व्याख्या के अनुसार 'ध्यान' योग का ही एक अंग है। ध्यान का जो अर्थ बताया है, मन के एक बिन्दु पर ठहर जाना, तो उस अवस्था में कोई हलचल नहीं, कोई चिन्तन नहीं– अचिन्त (thought lessness) वाली स्थिति होगी। पहले पाँच चरण वाली तैयारी हो जायेगी तो मन को एक बिन्दु पर केन्द्रित करने और वहीं ठहर जाने के लिये न मन से जूझना पड़ेगा और

न विचारों से। मन का केन्द्रित होना और ठहरना सहज हो जायेगा।

विडम्बना तो यही है कि आम तौर से 'ध्यान' जो कराया जाता है meditation के नाम से उसकी वास्तव में क्या कोई तैयारी कराई जाती है? राजकीय सेवकों के प्रशिक्षण संस्थानों में 'योगा' और 'ध्यान' (meditation) पर प्रशिक्षण के अंग के रूप में बहुत बल दिया जाता है। ऐसी ही एक चर्चा में इस विषय के एक जानकार अधिकारी ने कहा कि 'ध्यान' के लिये कई चरणों में तैयारी की जाती है, तब 'ध्यान' होता है। प्रशिक्षण–संस्थान में केवल पल्थी मार कर बैठने और आँख मूँदकर मौन रहने से ध्यान थोड़े ही हो जायेगा।

मानव सेवा संघ के दर्शन में ध्यान क्या है के बारे में विचार करने पर ज्ञात होता है कि वह 'ध्यान' जिसकी इस प्रसंग में चर्चा हो रही है, करने की चीज़ नहीं है, बल्कि वह अपने आप होने वाली चीज़ है।

फिर भी आजकल अनेक विधियों से ध्यान कराया जाता है। इसे अपनाने के पहले यह तो विचार करना आवश्यक है कि **ध्यान किसका करना है, किस लिये करना है और क्या उसकी तैयारी कर लिया है।** अर्थात् हमारा लक्ष्य क्या है। क्या ध्यान का एक बिन्दु पर टिक जाना अथवा शून्य (void) की अनुभूति ही लक्ष्य है? उस शून्य की दशा में कुछ और की प्राप्ति हुई या नहीं? तीन दशक से अधिक पुरानी बात है, किसी राजकीय कार्य से एक इन्कम टैक्स कमिश्नर जो काफी वरिष्ठ थे (उस ज़माने में चीफ कमिश्नर के पद नहीं होते थे), मिलने जाना हुआ। उन्होंने प्रातः नौ बजे का समय दिया था। परन्तु वह देर से आये और बताये कि वह रोज़ दीपक जला कर पूजा और ध्यान करते हैं। ध्यान करते करते जब वह एक सेकेण्ड के लिये भी टिक जाता है तो सारी थकान मिट जाती है, बहुत अच्छा लगता है। उसी में आज देर हो गई।

यदि इसका विश्लेषण करें तो यही अर्थ निकलता है कि ध्यान करने जब बैठते हैं तब विचारों के प्रवाह से और मन की चंचलता से जूझते रहते हैं। और जब जूझते जूझते (struggle) थोड़ी देर के लिये मन का भागने और विचारों के प्रवाह का लोप हो गया तो ध्यान टिक गया उसी केन्द्र बिन्दु पर जिस पर ध्यान टिकाने का प्रयास कर रहे होते हैं। इसका अर्थ तो यही हुआ कि 'विश्राम' की स्थिति पाने के लिये श्रम करते रहे और यदि ध्यान नहीं टिका तो श्रमित दशा ही हाथ लगी।

इसी लिये तैयारी की बात आती है।

मन तो हमारी पसंदगी का पुंज है। जो हमें पसन्द है वहीं मन हमें ले जाता है। अपनी पसन्दगी तो बदलें नहीं और मन को कोसते हुए ध्यान करते समय उससे जूझते रहें। ममता, कामना का त्याग करें नहीं, जीवन में राग–द्वेष बनाये रखें, व्यर्थ–चिन्तन से छुटकारा पाने का सोचें ही नहीं, तब ध्यान करते समय विचारों का प्रवाह तो बना ही रहेगा।

अतः यदि हम ध्यान से कुछ प्राप्त करना चाहते हैं और ध्यान हमारे लिये सहज हो जाये, तो इसके लिये हमें अपनी पसन्दगी बदलनी पड़ेगी। अब पसन्दगी क्या हो जिससे ध्यान में मन बाधा न बने तब ढूँढते–ढूँढते हम यही पायेंगे कि नित्य, सर्वत्र–विद्यमान, प्रेम–स्वरूप परमात्मा ही ऐसा है जिसे हम पसन्द कर लें तो मन उन्हीं में रम जायेगा और यदि हमने उनके प्रेम की प्राप्ति को ही अपना लक्ष्य बना लिया तो ध्यान सहज हो जायेगा।

ईश्वर की पसन्दगी का अर्थ तभी सिद्ध होता है जब किसी और की ममता, कामना नहीं, किसी के प्रति राग–द्वेष नहीं और व्यर्थ–चिन्तन नहीं। अर्थात् अपनी ओर से कोई चिन्तन नहीं और भुक्त–अभुक्त के अंकित प्रभाव के कारण अपने आप उठने वाले चिन्तन को असहयोग द्वारा मिटा दिया है। तब भीतर–बाहर से शान्त होकर बैठने पर न मन भागेगा और न कोई विचार होगा।

इसी क्रम में स्वामी शरणानन्द जी के ध्यान सम्बन्धी कथन प्रस्तुत हैं–

मूल रूप से तो उन्होंने यही कहा है कि "ध्यान किया नहीं जाता है, ध्यान अपने आप होता है–

(i) जिसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं,

(ii) और उसको अपना मानते हैं।"

इसी बात को उन्होंने आगे इस प्रकार कहा है–

"ध्यान किसका होगा? जिसकी आवश्यकता आप अनुभव करोगे; जिसकी स्मृति जगेगी, उसका ध्यान होगा। स्मृति उसकी जगेगी जिसको आप अपना मानोगे। तो एकदम से ध्यान कैसे कर लोगे? पहले तो यह देखो कि जिसका आप ध्यान करना चाहते हैं वह आपका अपना है या नहीं, वह अभी है या नहीं।"

उनकी कुछ और युक्तियों का आगे उल्लेख किया जा रहा है–

– "ध्यान किसी और का नहीं करना है। किसी का ध्यान नहीं करोगे तो परमात्मा का ध्यान हो जायेगा। और किसी का ध्यान करोगे तो वह फिर किसी और

का ही ध्यान मात्र रह जायेगा।''

– ''जगत की स्मृति को सत्ता देकर आप प्रभु का ध्यान करना चाहते हैं जो सर्वथा असम्भव है। दया करें अपने पर और ध्यान का प्रयत्न छोड़ दें, तब ध्यान अपने आप ही हो जायेगा। इसका अर्थ उल्टा मत लगा लेना। ध्यान करना छोड़े उसका, जिसकी ममता है।''

उन्हीं की कही हुई एक और ज़ोरदार बात– ''मरे हुए बुजुर्गों की याद, गए हुए धन की याद और मंदिर के बाहर उतारे हुए जूते की याद तुम्हें अपने आप आती है और भगवान की याद तुम्हें करनी पड़े। याद उसकी आती है जिसे हम अपना मान लेते हैं।''

किसी साधक के प्रश्न् के उत्तर में स्वामीजी ने कहा कि ''ध्यान से मन इस लिये ऊबता है कि तुम 'ध्यान' करते हो, होता नहीं 'ध्यान'।''

उन्होंने इसी प्रसंग में सचेत किया है कि–

''कोई कोई साधक सार्थक चिन्तन और निर्विकल्प स्थिति को ही जीवन का लक्ष्य मान बैठते हैं। यद्यपि 'निर्विकल्प स्थिति' बड़े महत्व की वस्तु है, परन्तु उसमें रमण करना, 'निर्विकल्प बोध' में बाधक है।''

इस सारी चर्चा का सार हुआ कि ईश्वर की आवश्यकता अनुभव करें और उन्हें अपना मानें तो उनका ध्यान स्वतः होगा।

■

चित्त पर जब विषयों का प्रभाव होता है तब प्राणी की प्रत्येक प्रवृत्ति दोष–पूर्ण होती है। चित्त के शुद्ध हो जाने पर उसकी प्रवृत्ति स्वाभाविक तथा पवित्र होती हैं। स्वाभाविक और शुद्ध प्रवृत्ति होने पर अन्तःकरण अपने कारण में विलीन हो जाता है। फिर इन्द्रियों की क्रिया निर्जीव मशीन की भाँति होती रहती है। अन्तःकरण के शुद्ध होने पर सत्य की जिज्ञासा जागृत होती है और फिर सत्य की कृपा से सत्य का स्वतः अनुभव हो जाता है। अतः सत्य का अनुभव करने के लिये और जीवन की पूर्णता के लिये अन्तःकरण की शुद्धता आवश्यक है।

साधन-सूत्र : 71

सत्संग मानव का स्वधर्म है

मानव अर्थात् साधक के साधन–पथ के पथिक के रूप में उसके समक्ष उठने वाले जीवन सम्बन्धी अनेक प्रश्नों का मानव सेवा संघ के दर्शन के प्रकाश में समाधान के रूप में साधन–सूत्रों का यह संकलन प्रस्तुत हुआ। इन्हें पढ़ने पर यह अवश्य अनुभव होगा कि अपने वास्तविक नित्य, अविनाशी, रसरूप जीवन जो अपने में ही विद्यमान है, की अभिव्यक्ति (प्राकट्य) हेतु, मानव के रूप में अपनी माँगः शान्ति, स्वाधीनता और प्रियता अथवा अपने लक्ष्यः योग–बोध–प्रेम की प्राप्ति हेतु इस दर्शन में ऐसी कोई भी साधना नहीं बताई गई है जिसमें श्रम और पराश्रय अपेक्षित हो। मात्र सत्संग का परामर्श दिया गया और सत्संग का अर्थ बताया–जीवन के सत्य को स्वीकार करना और असत् अर्थात् अपनी जानी हुई बुराई का त्याग। साधक के लिये बस यही दो पुरुषार्थ बताये गये हैं।

इसी प्रसंग में परमपूज्या दिव्यज्योति देवकी बहिन जी का ऊपर लिखे शीर्षक का एक प्रवचन पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ जिसे मानव सेवा संघ के दर्शन और इन साधन–सूत्र संकलनों में हुई समस्त चर्चा का सार (essance) के रूप में पाकर इसे अपने इष्ट–मित्रों के साथ share करने (अर्थात् वे भी इसे पढ़कर लाभान्वित हों) का लोभ (keenness) का संवरण (check) नहीं कर सका। अतः आगे वही अक्षरशः प्रस्तुत है–

"सत्संग–प्रेमी माताओं, बहिनों और भाइयों!

हम लोग साधक हैं, साधक के लिए सत्संग स्वधर्म है। सत्संग का अर्थ है जीवन के सत्य को स्वीकार करना। सत्य क्या है? बुराई रहित होना सत्य है, अचाह होना सत्य है, जीवन–मुक्ति की अभिव्यक्ति सत्य है, भगवद्भक्ति की अभिव्यक्ति सत्य है। **सत्य को स्वीकार करना हमारा स्वधर्म है।** बुराई रहित जीवन सबसे पहली बात है, कि जिससे हम दुःख–निवृत्ति, चिरशान्ति के लिए आगे बढ़ सकें। किसी भी प्रकार की साधना जो हम आरम्भ करते हैं, उसमें सफलता मिलने में देर

इसलिए लगती है कि असाधनों का नाश पहिले नहीं हुआ। तो पहिले असाधनों को मिटावें, तो साधन स्वाभाविक बन जाय। **असाधन मिटाने में अपना पुरुषार्थ है और साधन की अभिव्यक्ति स्वाभाविक बात है।** तो ज़ोर इस बात पर लगाना है हम लोगों को, कि किसी प्रकार का असाधन जीवन में न रहे।

हम में कौन सा असाधन दिख रहा है, इस बात पर मैं विचार करती हूँ तो मुझे ऐसा लगता है कि **जो नहीं करना चाहिए वह करते रहो तो असाधन उपजता ही रहता है। जो विवेक–विरोधी सम्बन्ध हैं उनको बनाये रखो तो असाधन बनते ही रहते हैं। जो विवेक–विरोधी विश्वास है उसे जीवन में स्थान देते ही रहो तो असाधन उत्पन्न होते ही रहते हैं** और इन कारणों से भीतरी अशान्ति बनी रहती है। असाधनों के नाश में सत्संग का प्रकाश लेकर हम भाई–बहिनों को बहुत ही तत्परता के साथ लग जाना चाहिए। **अगर अप्राप्त वस्तु, परिस्थिति की आवश्यकता हम अनुभव करेंगे तो व्यर्थ–चिन्तन से मुक्त नहीं हो सकते।** व्यर्थ–चिन्तन की उपस्थिति क्या है? **व्यर्थ चिन्तन होता है–यह असाधन है।** व्यर्थ–चिन्तन नहीं उठना चाहिए। लेकिन कुछ समय के लिए चुपचाप होकर, शान्त होकर देखिए कि किस प्रकार का चिन्तन मुझको हो रहा है या अचिन्त जीवन आपको मिल गया है। अगर अचिन्त जीवन मिल गया है तो उससे आगे अविनाशी जीवन की अभिव्यक्ति के लिए और कुछ भी साधन करना नहीं पड़ेगा। अविनाशी जीवन में, अशरीरी जीवन में, प्रवेश पाने के लिए शरीरों से असंग होना, शरीरों से तादात्म्य तोड़ना आवश्यक बात है। **किसी शुभ संकल्प के कारण भी अप्राप्त वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति के चिन्तन में लगे रहो तो अचिन्त नहीं हो सकते, अचिन्त हुए बिना विश्राम नहीं मिल सकता, विश्राम के बिना अलौकिक शक्तियों की वृद्धि नहीं होती और उनके बिना शरीरों से तादात्म्य तोड़ना सम्भव नहीं होता।**

इसलिए बहुत आवश्यक बात है कि जिनके जीवन का सही लक्ष्य बन गया, उनको हर एक उपाय इस बात के लिए करना चाहिए कि शान्ति–काल में संसार का चिन्तन हम लोगों को उलझा न दे। अब इस चिन्तन से बचने के उपाय क्या हैं? पहली बात तो यह है कि जिन व्यक्तियों का वर्तमान सरस रहता है उनमें भी व्यर्थ–चिन्तन कम उपजते हैं। इस तरह से जो भाई–बहिन अलौकिक अविनाशी जीवन की आवश्यकता अनुभव करते हैं उनको

वर्तमान के सदुपयोग पर विशेष ध्यान देना चाहिए। अप्राप्त के चिन्तन में नहीं लगना चाहिए।

होता क्या है? एक बड़ा भारी जीवन–दर्शन स्वामी जी महाराज ने हम लोगों को दर्शाया, जो कि मैं आप भाई–बहिनों की सेवा में निवेदन कर रही हूँ। उन्होंने यह कहा कि **परिस्थिति विशेष का मनुष्य के जीवन में महत्त्व नहीं है। परिस्थिति के सदुपयोग का महत्त्व है।** परिस्थितियों में प्रतिकूलता आ जाए तो उसके कारण अपने में दीनता अनुभव करना और परिस्थितियों में अनुकूलता आ जाए तो उसके कारण अभिमान करना–ये मनुष्य के लक्षण नहीं हैं।

आप परिस्थितियों के आधार पर साधक नहीं हो सकते, इस बात को सचमुच आप अपने द्वारा स्वीकार कर लेंगे तो बड़ा संकट आपका कट जायेगा। भीतर में अगर **मनुष्यता का यह लक्षण आप में आ गया कि सुखी मात्र को देखकर प्रसन्न होना और दुःखी मात्र के दुःख में अपने को मिलाना, और उनके दुःख में करुणित होना। तो इससे व्यक्ति का विकास जितना होगा उतना किसी अन्य से नहीं।** साधक होने का अर्थ मैं यह मानती हूँ कि जिस दिन से आपने सत्संग की मण्डली में प्रवेश किया था उस दिन से मनुष्यता के लक्षण आप में प्रकट होते चले जावें। शान्ति आपकी बढ़ती चली जाय। दीनता और अभिमान का दोष मिटता चला जाय। प्रभु से साक्षात्कार कब होगा? हम उनको प्रेम–रस प्रदान करने के लायक कब बनेंगे? यह तो आगे की बात है, लेकिन आज सत्संग में बैठकर मैंने सुना कि **मनुष्य के जीवन का मूल्यांकन (valuation) परिस्थिति के आधार पर नहीं हो सकता है, उसके भीतर की जो मानव सुलभ विशेषताएँ हैं उनके आधार पर हो सकता है।**

वह हमारे जीवन का अनुभव हो जाय उसके लिए व्यवहार के जगत् में रहते हुए, परिवार में रहते हुए, अगर छोटी–छोटी बातों मे अपनी क्षुद्रता, अपना दोष, अपनी त्रुटि, अपने भीतर का राग–द्वेष, अगर हम नहीं मिटाते हैं तो सत्संग का प्रारम्भिक प्रभाव भी नहीं होगा तो जो प्रभाव पराकाष्ठा पर पहुँचने का होना चाहिए वह कैसे होगा! **सत्य की अभिव्यक्ति के लिए कोई वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, अवस्था अपेक्षित नहीं है।** हमारी जो वर्तमान परिस्थिति हैं उसी का सदुपयोग करके अपने को परिस्थितियों की दासता से मुक्त करें। संसार की परिस्थितियों को हम बदल डालें, यह तो हमारे हाथ में है ही नहीं।

वर्तमान में जो कुछ आपके पास है, उसी के सदुपयोग से वही अविनाशी जीवन मिल सकता है जो किसी भी विशेष सामर्थ्यशाली को मिला होगा। इसको आप स्वीकार करते हैं कि नहीं? जी? करते हैं। अब दूसरी बात ले लीजिए, जो हम लोगों के लिए बहुत उपयुक्त मालूम होती है। महाराज जी ने सबके लिए विश्राम और हरि–आश्रय दो विशेष साधन बताए। तो विश्राम के उपाय तो हो गए कि भाई, जो कुछ अपने पास है बस उसी से जो बन सके वह कर डालो परन्तु अविनाशी जीवन पर दृष्टि रखकर, तो क्या होगा कि काम करने की घड़ी जब खतम हो जायेगी तो थोड़ी देर शान्त रहना आएगा। **वर्तमान जीवन जिसका सरस होता है उसमें व्यर्थ चिन्तन नहीं उठता है।** वर्तमान को सरस रखने का तरीका क्या है? सुख के आधार पर तो रख नहीं सकते। लेकिन प्रभु–प्राप्ति के आधार पर वर्तमान को सरस रख सकते हैं। मेरी मृत्यु नहीं होगी, केवल स्थूल शरीर का नाश होगा और मैं तो अमर आत्मा सच्चिदानन्द हूँ अर्थात् मैं अविनाशी परमात्मा का अविनाशी अंश हूँ इसलिए मेरा नाश नहीं होगा।

अब जिन बुराइयों की उत्पत्ति हो गई है उनका नाश कर दो तो हम सदा ही आनन्दमय अस्तित्व में रह सकेंगे।

जिस दिन से आपने सत्संग को पसन्द किया, सत्य को पसन्द किया, प्रभु की कृपा–शक्ति की आवश्यकता अनुभव की, समर्पणयोग का साधक अपने को बनाया, उसी दिन से उनकी कृपा–शक्ति की सहायता से सब शक्तियाँ बढ़ती चली जाती हैं और साधन का जो पथ है वह अपने लिए सरल तथा सुलभ होता जाता है। अगर इस सत्य में आप विश्वास करेंगे, मेरे लिए यह सम्भव है, तो आपका वर्तमान सरस हो जायेगा, भूतकाल चाहे कैसा भी रहा हो। कोई चिन्ता की बात नहीं। **वर्तमान की सरसता और भगवत् शरणागति, ये दोनों बातें ऐसी हैं, जो व्यक्ति को व्यर्थ–चिन्तन से छुट्टी दिलाती हैं, उसको विश्राम मिलता है,** प्रगति होती है, अपने लिए साधना सहज बनती है।

सत्य को हम स्वीकार करेंगे तो वह हमारा सुधार करेगा। जिस अनन्त परमात्मा की शरणागति हमने ग्रहण की है उनकी कृपाशक्ति मेरे मैल को धोकर साफ कर देगी। यह आशा भीतर से दृढ़ हो जाये तो वर्तमान सरस हो जायेगा। व्यर्थ–चिन्तन के लिए कोई विकार नये पैदा होंगे नहीं। नई भूल हम करेंगे नहीं और पुरानी भूलों के परिणाम से डरेंगे नहीं। डरने से आदमी

का भीतर से मन ही दुर्बल हो जाता है। जहाँ किसी साधक को हर्ष में, आनन्द में, देखते हैं तो अच्छा लगने लगता है कि देखो ये लोग कितने प्रसन्न हैं, कितने खुश हैं, फिर सोचने लगते हैं कि भाई इनके संस्कार बड़े अच्छे थे, मेरे तो संस्कार बड़े खराब हैं इससे दुर्बल हृदय जो जीव है, थोड़ा ढीला हो जाता है। तो ऐसा क्यों करो भाई! जब क्षमा–सिन्धु सब प्रकार की भूलों को क्षमा करने के लिए तैयार हैं, जब सत्य का विधान हम लोगों को हर प्रकार का कन्सेशन देने के लिए तैयार है तो दिल को छोटा क्यों करो, उदास क्यों बनो। अपने को छोटा क्यों मानो। पुरानी की हुई भूलों के कारण वर्तमान में हृदय को दबाओ क्यों? ऐसा मत करो। हो गया सो हो गया। मालूम होता है कि दृश्य के साथ मेरा संयोग नहीं रह सकेगा, लेकिन उस विवेक का मैंने अनादर किया, दृश्य का सहारा अब तक पकड़े थे, उसे पकड़े रहो, तो विकारों की उत्पत्ति होती रही। आज उस दृश्य का सहारा छोड़ दिया तो मामला खतम हो गया। अगर छोड़ने में असमर्थता लग रही है तो उस सर्वसमर्थ की शरणागति ले ली, शरीरों से असंग होने की सामर्थ्य नहीं लग रही है तो भाई, रोगी और निरोग, स्वस्थ और दुर्बल और आसक्ति में बँधा हुआ जैसा भी शरीर है वैसा ही लेकर कहो, हे कृपालु! अब मैं यह सब गन्दा–गन्दा, टूटा–फूटा रोग युक्त, विकारयुक्त शरीर लेकर आपकी शरण आया हूँ। जैसे ही उस सामर्थ्यवान को समर्पित करो, उनके हवाले करके छोड़ दो तो उनकी कृपाशक्ति उसे सुधार देगी, सँभाल देगी।

सत्संग का प्रकाश मेरे जीवन का केन्द्र–बिन्दु बन जाना चाहिये। बोलेंगे तो उसी प्रकाश में, साँस लेंगे तो उसी प्रकाश में, भोजन करेंगे तो उसी प्रकाश में, धन कमायेंगे तो उसी प्रकाश में और खर्च करेंगे तो उसी प्रकाश में। तब तो भाई काम बन सकता है। जीवन का सत्य स्वीकार करना एक अनिवार्य तत्व है और उसके लिए विशेष तैयारी नहीं करना चाहिए। इन सब बातों को ध्यान में रखकर श्रम और विश्राम करो। महाराजजी ने कई जगह पर ऐसे लिखा है कि **सही प्रवृत्ति और सहज निवृत्ति, ये दोनों अमरपुरी तक पहुँचने की यात्रा के लिए दाएँ–बाएँ पैर के समान हैं।** बायाँ पैर टिकता है, धरती पर तो दायाँ पैर उठ कर आगे जाता है, आगे जाकर यह दायाँ पैर टिकता है तो पीछे से बायाँ कदम उठाकर हम आगे रखते हैं। तो बिल्कुल दाएँ–बाएँ पैर

के समान है–सही प्रवृत्ति और सहज निवृत्ति।

यह प्रणाली शैव के लिए है कि वैष्णव के लिए, सनातनी हिन्दू के लिए कि आर्यसमाजी के लिए, सिख, जैन, बौद्ध, पारसी, ईसाई के लिए है, यह सब भेद–भाव की चर्चा मानव सेवा संघ करता ही नहीं है। हम पूछते ही नहीं हैं कि आप किस सम्प्रदाय में विश्वास करते हैं कि किस मज़हब के अनुयायी हैं। ऐसा पूछने से हमें कोई मतलब नहीं है। वह तो आपकी बनावट है, अपनी पुरानी परम्परा है जिसमें आप दीक्षित हैं। माता–पिता ने जो सिखाया, सो सब ज्यों का त्यों, जैसे के तैसे श्रद्धापूर्वक, प्रेमपूर्वक करते रहो। मानव सेवा संघ उस Detail में नहीं आता। मानव सेवा संघ जीवन का विज्ञान आपके सामने रखता है कि अगर सही प्रवृत्ति को नहीं निभाओगे तो करने का राग नहीं मिटेगा। सही प्रवृत्ति के बाद, सहज निवृत्ति जीवन में आनी चाहिए। उस निवृत्ति की शान्ति में निवास नहीं करोगे तो प्रवृत्ति की पराधीनता को तोड़ने की शक्ति नहीं आयेगी। **सही प्रवृत्ति के बाद सहज निवृत्ति में निवास नहीं करोगे तो शरीरों से अतीत अशरीरी जीवन जो तुम्हारे में ही विद्यमान हैं, उसके प्राकट्य का अनुभव तुमको नहीं होगा।**"

यदि हमने इसे पढ़ और समझ कर अपने जीवन में उतार लिया तो अपने वास्तविक नित्य अविनाशी रसरूप जीवन की अभिव्यक्ति के लिये; मानव के नाते अपनी माँग–शान्ति, स्वाधीनता और प्रियता अथवा अपने लक्ष्य, योग–बोध–प्रेम की प्राप्ति के लिये और कुछ पढ़ने/समझने की आवश्यकता शेष नहीं रहेगी। ■

असत् का त्याग और सत् का संग एक ही तत्व के दो रूप हैं। अन्तर केवल इतना है कि असत् का त्याग पुरुषार्थ है और सत् का संग स्वतः सिद्ध है। असत् के त्याग के अतिरिक्त सत्संग के लिये कोई अन्य प्रयास अपेक्षित नहीं है। केवल असत् के त्याग मात्र से ही सत्संग हो जाता है।

साधन-सूत्र : 72

साधन की दृष्टि से अध्ययन का अर्थ एवं तात्पर्य

साधन सूत्र–62 शीर्षक 'करने का राग और उसकी निवृत्ति' में अध्ययन के सम्बन्ध में कुछ चर्चा हुई है। उसमें एक ऐसे 80 वर्षीय व्यक्ति का उल्लेख है जो इतनी आयु हो जाने पर भी नित्य कम से कम 8 घंटा अध्ययन में लगाते हैं। दूसरा एक शास्त्री जी की वेदना का उल्लेख है कि वेद शास्त्र आदि सभी दर्शन पढ़ने के बाद भी 'आत्म–साक्षात्कार' नहीं हुआ।

उसी साधन–सूत्र में यह भी उल्लेख है कि अनेक लोग धार्मिक ग्रन्थों का नित्य नियम से साधना/स्वाध्याय के रूप में अध्ययन, बल्कि पाठ करते हैं। पर स्वामी शरणानन्द जी का कथन है कि 'स्व' का अध्ययन अर्थात अपनी वस्तुस्थिति के अध्ययन का नाम ही स्वाध्याय है।

स्वाभाविक प्रश्न् है कि हम फिर क्या अपने धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन न करें। क्या अध्ययन निरर्थक है? अतः इस विषय पर अलग से विस्तार से चर्चा आवश्यक प्रतीत हुई।

सर्वप्रथम विचार करना है कि अध्ययन का वास्तविक उद्देश्य क्या है? पढ़ना क्या केवल पढ़ने के लिये कोई अर्थ रखता है? क्या हमें चलता–फिरता इन्साइक्लोपीडिया या पेन–ड्राइव (pen-drive) बनना है? इससे प्राप्ति क्या होगी? कदाचित् अहं ही पुष्ट होगा कि मैं बड़ा ज्ञानी हूँ।

अध्ययन का तीन अभिप्राय मालूम होता है–पहला व्यक्ति के व्यवसाय (profession) से सम्बन्धित जैसे डॉक्टर, टीचर, वकील आदि जिससे कि उनकी व्यावसायिक जानकारी (professional knowledge) अपटूडेट रहे। दूसरा बुद्धि–विलास के लिये, पढ़ने के आनन्द के लिये जैसे कोई कहानी, उपन्यास आदि। इसी से मिलता जुलता, समाज में रहते हुये अपनी जानकारी (awareness) के लिये कि समाज में, देश में, अन्य देशों में क्या हो रहा है के लिये अख़बार, पत्रिकायें आदि पढ़ते हैं। तीसरा साधन–दृष्टि से कुछ जानने के लिए सद्ग्रन्थों का अध्ययन। कुछ लोग इसे साधन के रूप में

और पढ़ने का आनन्द की मिलीजुली दृष्टि से नियमित पाठ के रूप में पढ़ते हैं।

पहली श्रेणी तो कर्तव्य का ही रूप है। विद्यार्थी जीवन में अध्ययन कर्तव्य है। व्यावसायिक लोगों (professionals) के लिये भी कार्यकुशलता की दृष्टि से सम्बन्धित जानकारी अपटूडेट रखना कर्तव्य ही है।

दूसरी श्रेणी में बुद्धि–विलास या पढ़ने के आनन्द के लिये और सामाजिक प्राणी होते हुये जानकारी के लिये पढ़ना उतने तक ही सीमित रहे जितना आवश्यक है–यह व्यसन या लत न बन जाय और हमारे बहुमूल्य समय का आवश्यकता से अधिक भाग इसी में खर्च हो जाये।

अब तीसरे उद्देश्य, साधन–दृष्टि से कुछ जानने के लिये सद्ग्रन्थों आदि के अध्ययन के बारे में विचार करें। उस उद्देश्य का अर्थ तो यही हुआ न कि सत्य से अभिन्न होने के लिये उपयुक्त राह की खोज। परन्तु कैसे?यह सर्वविदित है कि मानव के वास्तविक जीवन की माँग अथवा लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अनेक दार्शनिकों, संत महापुरुषों ने सत्य का अपने–अपने ढंग के अनुभव पर आधारित मार्ग दिखाया है। उनमें से जो हमारे व्यक्तित्व के अनुसार और विवेकसम्मत हो, उसे हम अपनाते हैं। अब विचार यह करना है कि उसके बाद भी इस प्रकार का अध्ययन क्या आवश्यक है कि सम्बन्धित विषय के बारे में महर्षि रमण ने क्या कहा, अरविन्द घोष ने, स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने, स्वामी विवेकानन्द ने, ओशो ने या प्रो0 जे कृष्णमूर्ति ने क्या कहा। ऐसा तो नहीं है कि जो दर्शन हमने अपनाया है, उसमें आस्था की कमी है और राह ढूँढ़ने के लिये भटक ही रहे हैं। सोचने की बात है कि यदि मुझे मेरे जीवन की विवेक–संगत राह मिल गई है तो मुझे तो उस राह पर गतिशील होना है न कि अन्य राहों में झाँकूं।

यदि हमें स्पष्टता (clarity) के साथ मानव सेवा संघ का दर्शन या अन्य कोई दर्शन अपने लिये उपयुक्त समझ में आ गया तो अन्य दर्शनों के अध्ययन की वाकई कोई आवश्यकता है? मेरे जैसे सामान्य व्यक्ति के लिये पूरी सम्भावना है कि दिमाग उलझ (confuse) जायेगा।

कोई प्रश्न् कर सकता है कि क्या फिर हम अपने सद्ग्रन्थों को न पढ़ें, क्या उनका पढ़ना निरर्थक है? जो बात ऊपर लिखी गई है, उसका तात्पर्य यह नहीं है। एक पढ़ना होता है मात्र क्रिया के रूप में पाठ इसी को साधन मानकर। यदि भाव नहीं है तो फिर इससे प्राप्ति क्या होगी?

एक और पढ़ना होता है कुछ जानने के लिये, जीवन की राह पाने के लिये। जानकर मानने के लिये और मानकर वैसा

ही करने के लिये, जीवन में उतारने के लिये। जानना वही काम का है जो विवेक सम्मत हो। इस बिन्दु की ऊपर चर्चा हो चुकी है, मात्र इतना कहना है कि मैं नित्य गीता का पाठ करूँ, उस पाठ में साधन–बुद्धि लेकर परन्तु गीता का ज्ञान अपने जीवन में न उतारूँ, तो इस पाठ की सार्थकता क्या कुछ होगी?

फिर एक पढ़ना होता है भाव के साथ ग्रन्थ को पढ़ना जिसमें रस और आनन्द की प्राप्ति होती है, हृदय में कोमलता आती है। भाव में इतने डूब जाते हैं कि अश्रुपात होने लगता है, पढ़कर गद्‌गद हो जाते हैं। उदाहरणार्थ श्रीरामचरितमानस में वन गमन का प्रसंग, चित्रकूट में भगवान राम और भरत जी का मिलन, सुन्दर–काण्ड में अशोक वाटिका का प्रसंग, लंका विजय के पश्चात् श्रीराम का भरत जी की याद करके अयोध्या तत्काल पहुँचने की उतावली आदि सभी प्रसंग। ऐसे अध्ययन (पाठ) के साथ परहित का भाव जोड़ दिया जाय, तो आनन्द की अनुभूति का अतिरिक्त लाभ।

अब इस विषय का विवेचन देवकी बहिन जी के एक प्रवचन से उद्धरित है–

"सन्तवाणी में अभी तक लोगों ने सुना कि हम जो जानते हैं, उसका मानना ज़रूरी है। उसके अनुसार अपने को बनाना ज़रूरी है। जानकारी खूब हो जाती है, सत्य की चर्चा सुनने के आधार पर, सद्‌ग्रन्थों के आधार पर। जानकारी बढ़ जाती है, परन्तु उसका अनुसरण हम नहीं करते तो जीवन की समस्यायें सुलझती नहीं है।"

"ऐसा एक रहस्य है मनुष्य के जीवन का कि विवेक के प्रकाश में उसे मार्ग दिखाई देता है, परन्तु उसके साथ अगर उसकी ज़िन्दगी की शक्ति लगी हुई नहीं है, जीवनी–शक्ति कहें–life-force कहें, जिस शब्द से अपने को समझ में आवे, वैसे समझें, कि उसके साथ अगर गति नहीं है तो मार्ग दिखाई देने पर भी व्यक्ति के जीवन की समस्या सुलझती नहीं है। जीवन के पारखी संत ने हृदय और मस्तिष्क की एकता की चर्चा की थी। मस्तिष्क में विचार के आधार पर कोई अच्छी बात समझ में आ गई, तो उसके अनुसार अपने को बदल डालने के लिये हृदय के भाव की पवित्रता भी चाहिये। यह बहुत ज़रूरी बात है।"

आगे उनके द्वारा इसकी व्याख्या–

"आप ख़ुद सोच–विचार कर देखिये कि कितनी अच्छी बातों को हम लोग जानते हैं। अपने परिवेश में सुनने को मिली हैं। संत–महापुरुषों के पास बैठने पर मालूम होती हैं। सद्‌ग्रन्थों के पढ़ने से मालूम होती हैं। बहुत सी अच्छी बातों को हम जानते हैं और जानते हुए भी उसके अनुसार करते नहीं हैं। कुछ लोगों का ऐसा भाव

बन जाता है कि बढ़िया–बढ़िया सद्ग्रन्थों को पढ़ते ही रहेंगे, पढ़ते ही रहेंगे, जितना मिलेगा उतना सब पढ़ेंगे। ठीक है, पढ़ने से जानकारी बढ़ती है, अच्छी बात है, लेकिन सद्ग्रन्थों में जो अच्छी बातें लिखी हुई हैं, उन अच्छी बातों का प्रभाव ग्रन्थ के पन्नों पर ही रहेगा कि मनुष्य के व्यक्तित्व पर होगा। जी? व्यक्तित्व पर होगा। जो ज़िन्दादिल हैं, जो सजग व्यक्ति हैं, जिसके भीतर अविनाशी बीज रूप से विद्यमान हैं, (वास्तव में अविनाशी बीज रूप से सभी के भीतर विद्यमान हैं) जो अपनी वर्तमान दशा को बदलने के लिये तत्पर है, उस पर अच्छी बातों का प्रभाव होता है। इसलिये मनुष्य के जीवन में अपने विकास के लिये बड़ी आवश्यक बात है कि अच्छी बातें जो हम जानते हैं, उनको मानकर उसके अनुसार चलना आरम्भ करें, तो आप देखेंगे कि **बहुत सी अच्छी बातों को जानना उतना आवश्यक नहीं है जितनी आवश्यकता है, थोड़ी सी अच्छी बात जानकर उसका अनुसरण करने की।''**

अतः यदि यह दर्शन समझ में आ गया है तो इसे अपने जीवन में उतारना है और सहज प्रवृत्ति का सदुपयोग शान्ति सम्पादन में करना है अपने लक्ष्य की प्राप्ति की दिशा में प्रगति हेतु। यह न करके इस दर्शन की सभी पुस्तकों को पढ़ते ही रहना क्या आवश्यक है? हाँ, दोनों साथ–साथ चलें तब तो जैसे जैसे शान्ति सम्पादन होने लगेगा, उसकी अवधि स्वमेव ही अपेक्षाकृत्त बढ़ती जायेगी।

एक बात और, शरीर को हम जैसा आहार देते हैं, हमारे शरीर का स्वास्थ्य वैसा ही बनता है। उसी प्रकार हम अपने मस्तिष्क को जिस प्रकार का पठन सामग्री रूपी आहार देंगे वैसी ही हमारी मानसिकता बनेगी। उदाहरण के रूप में वर्तमान में अश्लील कथायें (porn) भी साहित्य के नाम पर बहुतायत में हैं। ऐसे आहार से हमारे मस्तिष्क की क्या दशा होगी स्वयं सोचनें की बात है। श्रीमद्भागवत में कृष्ण भगवान ने एक स्थान पर कहा है कि 'जिन विषयों से हमारा परिचय नहीं होता है, उसकी ओर हमारा मन नहीं जाता। अतः विषयों से परिचय न हो, वही अच्छा है।' यदि हमने अपने को साधक स्वीकार किया है तो इस पर अवश्य विचार करना होगा। ■

यह नियम है कि प्रमाद (भूल) अपने ही ज्ञान से मिटता है, किसी दूसरे के ज्ञान से नहीं।

साधन-सूत्र : 73

जप : अर्थ, स्वरूप एवं महिमा

मानव सेवा संघ के दर्शन के प्रकाश में साधन–सूत्रों के संकलन की श्रृंखला में साधन–सूत्र–28 में जप के सम्बन्ध में थोड़ी चर्चा हो चुकी है। पर इस महत्वपूर्ण विषय पर थोड़े विस्तार में विचार करना श्रेयस्कर होगा। नाम या किसी मंत्र का जप, माला पर गिन–गिन कर करने का आम प्रचलन है। कुछ लोग झोली में पंजा डाल कर एक उंगली बाहर रखकर उसी के अन्दर लगातार माला फेरते रहते हैं। साथ में व्यवहार, बातचीत और काम भी करते रहते हैं।

प्रश्न् उठता है कि इस प्रकार के जप का लक्ष्य क्या है। यदि ईश्वर–प्राप्ति उद्देश्य है, तो विचार करना पड़ेगा कि ईश्वर की प्राप्ति, ईश्वर–प्रेम के ही रूप में होती है और ईश्वर–प्रेम की प्राप्ति उन्हें अपना मानने और उनसे आत्मीयता का सम्बन्ध जोड़ने से होती है। अन्य सम्बन्ध, अन्य विश्वास के त्याग और इच्छाओं का मात्र उनके प्रेम की आवश्यकता में बदल जाने से और उसके प्रति तीव्र उत्कण्ठा जागृत होने से होती है। अतः यह सोचने की बात है कि यदि जप मात्र भाव–शून्य मशीनवत क्रिया है तो उससे इस लक्ष्य की प्राप्ति कैसे हो सकती है।

'नाम–जप' या 'मंत्र–जप' सांसारिक उपलब्धियों या किसी संकट के निवारण हेतु भी स्वयं किया जाता है या पंडित/पुरोहित से करवाया जाता है। कुछ लोगों द्वारा अलौकिक शक्तियों की प्राप्ति हेतु भी अनुष्ठान के रूप में मंत्र–जप किया जाता है। इस साधन–सूत्र में ऐसे जप या अनुष्ठान की चर्चा न करके, सारी चर्चा मात्र प्रभु–प्रेम की प्राप्ति के विषय पर केन्द्रित है।

यदि नाम या मंत्र जप भावशून्य है तो वह मात्र क्रिया ही तो रह गया। उससे प्रभु–प्रेम की प्राप्ति होती है या नहीं, वे ही बता सकते हैं जो ऐसा करते हैं। ऐसा तो नहीं है कि इससे मात्र आत्मसंतुष्टी हो या अहं पुष्ट हो कि मैं नित्य इतनी माला का जप करता हूँ। परन्तु हमें तो अपने अहं को अभिमान–शून्य बनाना है। यह भी विचार

करना आवश्यक है कि नाम–जप की क्रिया ही हमारा लक्ष्य और उसी में साधन–बुद्धि तो नहीं हो जाती। इन प्रश्नों पर आगे के प्रस्तरों में उल्लिखित दृष्टान्तों से प्रकाश पड़ेगा।

एक प्रसंग कभी पढ़ने को मिला था जिसमें यह वर्णन था कि महान संत बुल्लेशाह की कुटिया एक ऐसे राह के किनारे थी, जिस राह से गाँव की ग्वालिनें कस्बे में दूध–दही बेचने जाती थीं। उनमें एक नवयुवती भी थी। कस्बे के प्रमुख का बेटा उसी कुटिया के पास आकर उससे नित्य दूध लेकर पीता था। एक दिन उसने निश्चय किया कि जब तक वह दूध के पैसों का हिसाब नहीं बतायेगी, वह दूध नहीं पीयेगा। वह उसी स्थान पर इन्तज़ार कर रहा था। काफ़ी देर बाद वह एक गिलास में दूध लेकर दौड़ी हुई आई और बतलाई कि आज घर में पूजा है। उसी में दूध खर्च हो जाने के कारण बेचने जाना नहीं हुआ। तुम्हारे लिये अलग से निकाल कर रख लिया था, वही लेकर आई हूँ। लड़के ने कहा कि जब तक दूध के पैसों का हिसाब नहीं बताओगी, तब तक मैं दूध नहीं पीऊँगा। लड़की ने कुछ इस प्रकार कहा–अपन बिच की हिसाब होंदा? अर्थात् क्या अपनों के बीच भी हिसाब होता है।

बुल्लेशाह कुटिया में बहुत सारा कंकड़ रखे थे और उन्हीं से गिन–गिन कर जप करते थे। उन्होंने इन दोनों की बात सुन लिया। एक दम से भाव आया कि एक ये प्रेमी हैं और एक मैं हूँ जो गिन–गिन कर जप का हिसाब लगाता हूँ। उन्होंने तत्काल कंकड़ों को फेंक दिया और ऐसे ही अपनी साधना में जुट गये।

इसी प्रकार का भाव स्वामी शरणानन्द जी का था। वह कहते थे कि क्या उधार ले रखा है जो गिन–गिन कर लौटा रहे हो।

गीता प्रेस गोरखपुर के किसी समय दो मुख्य स्तम्भ थे–सेठ जयदयाल गोयन्दका जी और हनुमान प्रसाद पोद्दार जी। इन लोगों ने गीता, रामायण, रामचरितमानस, श्रीमद्भागवत महापुराण आदि प्राचीन ग्रंथों को बहुत सस्ते मूल्य की पुस्तकों के रूप में समाज को देकर समाज की महान सेवा की। दोनों ही सन्त पुरुष थे। जब स्वामी शरणानन्द जी ऋषिकेश प्रवास पर होते थे तब ऐसे अनेक संत महापुरुषों से मिलन होता था। ऐसे ही एक अवसर पर गोयन्दका जी ने स्वामी जी से कहा कि हमारा आपका मत चौदह आने मिलता है– केवल दो आने का फ़र्क यह है कि आप नाम–जप और ध्यान

की बात नहीं करते।

स्वामी जी ने तुरन्त कहा कि "मैं इसका विरोध करता हूँ क्या?" बोले नहीं। फिर स्वामी जी ने गोयन्दका जी से पूछा, 'अच्छा यह बताओ–कोई पतिव्रता स्त्री अपने पति का नाम लेती है क्या?सेठजी बोले 'नहीं'। फिर पूछा "लेकिन वह अपने पति को भूलती है क्या?" स्वामी जी ने फिर आगे उनसे कहा कि "मेरे तो कान पक गये, यह सुन–सुनकर कि–मुझे 25 वर्ष हो गये नाम लेते हुए, लेकिन परमात्मा में मन टिकता नहीं है। इसलिए मेरा यह कहना है कि **अभ्यास का नाम भजन नहीं है, प्रियता ही सच्चा भजन है।**" सोचने की बात है कि भाव–शून्य तथा नाम में प्रेम–शून्य जप, मात्र अभ्यास ही तो हुआ।

ऐसा ही एक और दृष्टांत प्रासंगिक है जो एक सज्जन की नाम–जप के बारे में अपने अनुभव की स्वीकारोक्ति है जो इसकी उपयोगिता पर प्रश्न् चिन्ह प्रस्तुत करता है। एक समय जब स्वामी जी ऋषिकेश में थे, तो गीता–भवन–स्वर्गाश्रम के ट्रस्टी महोदय उनके पास आये और उनसे एकान्त में बात करने की इच्छा प्रकट किया। स्वामी जी ने साथ बैठे हुए लोगों से बाहर जाने को कहा। तत्पश्चात् ट्रस्टी महोदय ने कहा "महाराज पिछले पन्द्रह वर्षों से मेरा यह नियम है कि मैं प्रतिदिन एक लाख नाम का जप करता हूँ, उसके पश्चात् ही अन्न जल ग्रहण करता हूँ। लेकिन आजतक मेरा मन भगवान में नहीं लग पाया।"

अतः यह विचार करने की बात है कि मात्र क्रिया के रूप में नाम जप करने से वास्तविक प्राप्ति क्या कुछ होती भी है।

साधन–सूत्र–47 शीर्षक 'प्रभु–प्रेम की प्राप्ति का सहज उपाय' में स्वामी शरणानन्दजी का एक प्रश्नोत्तर उद्धरित है जिसका एक अंश यहाँ जप के प्रकरण में प्रस्तुत है:–

"जब तक हम संसार की ममता, आसक्ति और कामनाओं का त्याग नहीं करेंगे तब तक संसार हमारी छाती पर चढ़ा ही रहेगा। हम चाहेंगे चिन्तन करना भगवान का, होगा संसार का। **हाथ में माला व मुख से नाम लेते रहने पर भी मन संसार में भटकता रहेगा।** यही तो संसार का छाती पर चढ़ा रहना है।"

एक अन्य अवसर पर किसी साधक ने स्वामी जी से प्रश्न किया कि नाम–जप के बारे में आपके क्या विचार हैं तो स्वामी जी ने कहा कि "नाम–जप का तो मैं विरोध नहीं करता किन्तु साथ–साथ नाम की महिमा भी स्वीकार करने के लिये कहता हूँ।" साधक भाई ने पूछा कि नाम

की महिमा कैसे स्वीकार करें तो स्वामी जी महाराज ने बताया कि "मेरे प्यारे का नाम है, इसलिये प्यारा लगना चाहिये। मैंने तो यह समझा है कि नाम में प्रेम हो और नाम महिमा में विश्वास हो।" (साधन–सूत्र –28 में इसका वर्णन है)

विचार करने की बात है कि नाम और नामी में कोई भेद नहीं होता। नाम तो किसी व्यक्ति या वस्तु के परिचय के रूप में होता है। जब कोई नाम हम लेते हैं तब मात्र अक्षर, बुद्धि–दृष्टि में नहीं आते, बल्कि नामी ही आता है।

अतः जब नामी में प्रेम होगा तब नाम का भी प्यारा लगना स्वाभाविक है। और तब नाम का जिह्वा पर आते ही प्रेम–भाव उमड़ कर साधक को सराबोर कर देगा। श्रीमद्भागवत में जहाँ श्रीकृष्ण की बाल्य–काल की लीलाओं का वर्णन है, उसमें उनकी सखियों में श्रीराधा का नाम कहीं नहीं आया है। केवल सखियों में एक मुख्य सखी का संकेत है। श्री राधारानी की एक अनन्य–भक्त और प्रेमी से जिज्ञासावश पूछा तो यह ज्ञात हुआ कि वेद–व्यास जी जब श्रीमद्भागवत की रचना कर रहे थे, तब 'राधा' शब्द की कौन कहे, मात्र 'रा' कहते ही उनकी भाव–समाधि लग जाती थी। इसलिये वह, 'राधा' नाम उस ग्रन्थ में लिख ही नहीं सके। स्वामी शरणानन्द जी कहते थे कि ज्ञानियों के गुरु शंकरजी हैं, सेवकों (भक्तों) के गुरु हनुमन्त लाल जी हैं और **प्रेमियों की गुरु श्रीराधा जी हैं।**

इस दिव्य प्रेम में अगाध अनन्त रस है, प्रेमी उसी रस में डूब जाता है, उसका वर्णन क्या और कैसे करे। प्रेमी अपने को प्रेमास्पद पर न्योछावर कर देता है और उसकी ओर से केवल देना ही देना होता है, कुछ पाने का भाव ही नहीं होता है। इसका कुछ अनुमान एक कथा से हो सकता है।

श्रीकृष्ण ग्यारह वर्ष की आयु में जब ब्रज से मथुरा गये तो उसके बाद कभी भी ब्रज वापस नहीं आये। उनके जाने के पश्चात् गोपियाँ उनके विरह–प्रेम में डूबी रहती थीं। श्री कृष्ण जब द्वारिका में रह रहे थे तब रुक्मिणी जी आदि रानियों को जिज्ञासा हुई कि आखिर गोपियों में ऐसा क्या विशेष है कि ये हमेशा उनकी ही रट लगाये रहते हैं। तब श्रीकृष्ण ने एक नाटक किया कि उनके सिर में भयंकर पीड़ा हो रही है। जब वैद्य को बुलाने की बात हुई तब उन्होंने कहा कि उससे कुछ नहीं होगा, यदि मेरा कोई प्रेमी अपनी चरण–रज मेरे माथे पर लगा दे तो मेरी पीड़ा दूर हो

जायेगी। रुक्मिणी जी ने सोचा कि मैं प्रेमी तो हूँ पर ये मेरे पति–परमेश्वर हैं, इनके माथे पर अपना चरण रज लगाने से तो बड़ा अनर्थ हो जायेगा। उसी समय नारद जी आये और श्रीकृष्ण को पीड़ा से परेशान देख कर कारण पूछा। कारण और उपचार की जानकारी होने पर उन्होंने सोचा कि प्रेमी तो मैं हूँ पर यह तो ब्रह्म हैं, इनके माथे पर अपना चरण रज लगाने से तो बड़ा अनिष्ट हो जायेगा।

फिर वह ब्रज में पहुँचे। गोपियों को जब मालूम हुआ कि वह द्वारिका से आ रहे हैं तो वे उतावली होकर पूछने लगीं कि हमारे कान्हा ठीक तो हैं, प्रसन्न और स्वस्थ तो हैं। नारद जी ने जब उनके सिर की पीड़ा की बात बताई तो उन्होंने पूछा कि क्या वहाँ कोई वैद्य नहीं है। तब नारद जी ने कहा कि वैद्य तो है पर उनकी पीड़ा का उपचार है कि उनका कोई प्रेमी उनके माथे पर अपनी चरण–रज लगा दे तो पीड़ा दूर हो जायेगी। यह सुनते ही वे एकदम उद्विग्न, अधीर होकर कहने लगीं कि बाबा जितनी चाहो उतनी चरण–रज जल्दी लेकर जाओ जिससे प्यारे की पीड़ा दूर हो जाय। नारद जी ने कहा कि अरी बावरियो, जानती नहीं हो कि वह ब्रह्म हैं, उनके माथे पर अपनी चरण रज लगाओगी तो तुम्हें नरक भोगना पड़ेगा। इस पर गोपियों ने कहा कि विलम्ब न करो, चरण–रज लेकर तुरन्त जाओ, हम सौ–सौ बार नरक की यातनाएँ सहन कर लेंगी, पर अपने प्यारे की पीड़ा हमसे सहन नहीं होगी। नारद जी ने वापस द्वारिका पहुँच कर सारा वृतान्त सुनाया, तब रुक्मिणी आदि को गोपी–प्रेम का स्वरूप और महत्व समझ में आया–निःस्वार्थ, विशुद्ध, अलौकिक!

संत–वाणी में ऐसा सुना है कि प्रेमी और प्रेमास्पद में प्रेम का आदान–प्रदान होता रहता है और उसकी पराकाष्ठा में प्रेमी प्रेमास्पद हो जाता है और प्रेमास्पद प्रेमी हो जाता है। कोई भेद भिन्नता नहीं रहती। यह हम लोगों का अनुभव है कि जब हम किसी गहन विचार में डूब जाते हैं, तब शरीर–संसार का कोई भान ही नहीं रहता, उस समय सूक्ष्म रूप से वह विचार ही हमारा स्वरूप हो जाता है और सूक्ष्म शरीर से हम वहीं होते हैं जिसका विचार कर रहे होते हैं। एक कथा है कि कुरूक्षेत्र में एक महापर्व के अवसर पर द्वारिका से श्री कृष्ण, उनकी रानियाँ और अन्य लोग आये और इधर ब्रज से राधा सहित गोप–गोपियाँ भी आईं। राधा जी कृष्ण की रानियों रुक्मिणी आदि से सहज

भाव से मिलीं। कोई ऐसा भाव या आचरण था ही नहीं कि कृष्ण की मैं कोई विशेष हूँ। कथा सुनकर प्रश्न् हुआ कि कृष्ण और राधा कैसे मिले?तो ज्ञात हुआ कि वे एक दूसरे की ओर बढ़े तो पर जब वे एक दूसरे से थोड़ी दूर रह गये तो उनमें दिव्य अलौकिक प्रेम ऐसा उमड़ा कि दोनों जहाँ के तहाँ मूर्तिवत खड़े रह गये। दोनों ही प्रेम समाधि में डूब गये। संत–वाणी में सुना है कि इस प्रेम–भाव की पराकाष्ठा में कृष्ण का सूक्ष्म रूप राधा और राधा का सूक्ष्म रूप कृष्ण में रूपान्तरित हो जाता है।

इस सारी चर्चा का सारांश यह हुआ कि नाम–जप की सार्थकता तभी है जब नामी में तो प्रेम हो ही, नाम में भी प्रेम और नाम की महिमा में विश्वास हो। यह विचार करने की बात है कि यदि नाम में भी प्रेम है तो क्या नाम जपने की आवश्यकता होगी। ऐसे ही नित्य स्मृति बनी रहेगी। नाम महिमा का एक सुन्दर–भावपूर्ण पद प्रस्तुत है–

राम से बड़ा राम का नाम।....

सुमिरिये नाम, रूप बिन देखे, कौड़ी लगे ना दाम।

नाम से यूँ ही खिंचे आयेंगे आखिर एक दिन राम।

वो दिल भव में डूब जायेंगे जिनमें नहीं है नाम।

वो पत्थर भी तैरे थे जिन पर लिखा था श्रीराम।

जिस सागर को बिना सेतु के लाँघ सके ना राम।

फाँद गये हनुमान उसी को लेकर राम का नाम।

अंत में निकला ये परिणाम, क्या परिणाम।

राम से बड़ा राम का नाम–राम से बड़ा राम का नाम।।

■

एक सारगर्भित संत–वचन :

"प्रेम और ज्ञान का नित्य योग है। ज्ञान में से प्रेम को निकाला गया तो शून्यवाद बन गया। प्रेम में से ज्ञान को निकाला गया तो कामुकता आ गई।"

साधन-सूत्र : 74

मानव सेवा संघ दर्शन में भक्त और भक्ति

साधन सूत्र–40 शीर्षक 'भक्ति–अर्थ एवं स्वरूप तथा भक्त के लक्षण' में इस विषय की विस्तार से चर्चा हुई है जिसमें श्रीरामचरितमानस, श्रीमद्भागवत तथा स्वामी विवेकानन्द के साहित्य से उद्धरण प्रस्तुत करते हुए इसकी व्याख्या हुई है। उसी साधन–सूत्र में मानव सेवा संघ दर्शन के प्रतिपादक स्वामी शरणानन्द जी के भक्ति के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर भी शामिल हैं।

वास्तव में देखा जाय तो ईश्वर–प्रेम और ईश्वर–भक्ति एक ही बात है, कोई अन्तर नहीं है। जो ईश्वर–भक्त है वही ईश्वर–प्रेमी है और जो ईश्वर–प्रेमी है वही ईश्वर–भक्त है। ईश्वर–प्रेम की प्राप्ति तो मात्र उन्हें अपना मानने से, उनसे आत्मीय सम्बन्ध जोड़ने से, और सभी इच्छाओं, कामनाओं को त्याग कर केवल उनके प्रेम की आवश्यकता अनुभव करने से और सबसे महत्वपूर्ण बात कि केवल वही अपने हैं और कोई नहीं, की स्वीकृति से होती है। इसमें कहीं भी श्रम या पराश्रय अपेक्षित नहीं है। इतना सहज होने पर भी ऐसा क्यों होता है कि हम भक्ति की प्राप्ति से वंचित रह जाते हैं।

विचार किया जाय तो इसके तीन कारण प्रतीत होते हैं। पहला तो यह कि हमारे जीवन में भक्ति की माँग, भक्ति पाने की लालसा ही नहीं है। संसार को ही सत्य और सुखरूप मान कर और अपने को केवल शरीर ही समझ कर शरीर भाव से, संसार की प्राप्ति में ही लिप्त रहते हैं। कभी अनुकूल परिस्थिति का सुख और कभी प्रतिकूल परिस्थिति का दुःख, कामना–पूर्ति का सुख और कामना अपूर्ति का दुःख झेलते रहते हैं। ऐसे लोगों को न तो जानकारी होती है और न जानने की जिज्ञासा कि परिस्थितियों से अतीत भी कोई जीवन है जो नित्य, अविनाशी, रसरूप है।

दूसरा कारण यह है कि भक्ति क्या है इसी के बारे में भ्रम है। अपने जीवन में असाधन रखते हुए विधियात्मक पूजा, कर्मकाण्ड आदि को ही भक्ति समझते हैं और इस प्रकार एक गलत धारणा अपने बारे में बनाये रखते हैं (false notion) कि मैं तो नित्य खूब भक्ति करता हूँ। जो भी

साधन अपनाते हैं उसमें भाव के बजाय क्रिया की ही प्रधानता रहती है। इससे वास्तविक प्राप्ति क्या होती है वैसे लोग ही जानें।

तीसरे वे लोग जो एक प्रकार से अपने में अयोग्यता आरोपित कर लेते हैं–अरे मेरे ऐसे कर्म, ऐसे पुण्य या ऐसे भाग्य कहाँ जो मुझे भक्ति मिल सके। या कहेंगे कि भक्ति तो एक जन्म में थोड़े ही मिल जाती है, उसके लिये तो अनेक जन्मों में साधना करनी पड़ती है। सोचने की बात है कि क्या किसी ने रोका है इसी जन्म में कम से कम शुरूआत करने से। ऐसा भी कहते हैं कि कोई अच्छा गुरु मिले तो काम बने। गुरु तो अपने अन्दर ही विद्यमान है, तीव्र लालसा तो जगाएँ। तात्पर्य यह हुआ कि कुछ तो अज्ञान–वश अपने को अयोग्य मान कर निराश रहते हैं, और कुछ ऐसे होते हैं, जो करना चाहिये उसे करेंगे नहीं और न करने के लिये बहानेबाज़ी ढूंढ़ते रहेंगे।

परन्तु जो भी, जैसा भी कारण हो, नुकसान तो अपना ही है। दुर्लभ मनुष्य जन्म पा कर हम सृष्टि की सबसे मूल्यवान वस्तु को पाने से वंचित रह जायँ। प्रभु–प्रेम–भक्ति से अधिक मूल्यवान कोई वस्तु इस सृष्टि में है ही नहीं।

स्वामी जी का कथन है कि सत्य की प्राप्ति में समय नहीं लगता, विलम्ब नहीं होता। इसमें कहीं भी श्रम या पराश्रय का रोल तो है ही नहीं जिस कारण समय लगे। मात्र तीव्र लालसा, उत्कण्ठा और प्रभु–प्रेम–भक्ति के लिये व्याकुलता अपेक्षित है।

अतः हमारे जीवन में निराशा का कोई औचित्य ही नहीं है। अनायास ही परम कोटि के संत, स्वामी शरणानन्द जी का एक व्याख्यान सामने आ गया। पढ़ा और यह साधन–सूत्र बनने लगा। इसे हम सभी पढ़ें और सभी प्रकार की निराशा, हीनभाव, भ्रान्तियों को तिलांजलि देकर पूरे उत्साह और आत्मविश्वास के साथ साधन–पथ पर अग्रसित हों के भाव से आगे उसी व्याख्यान का कुछ अंश उद्धरित है।

"**मानव जीवन की पूर्णता रस की अभिव्यक्ति में है और रस का स्रोत एकमात्र अगाध प्रियता में है।** अगाध प्रियता किसी अभ्यास से प्राप्त नहीं होती, एकमात्र आत्मीयता से, अपनेपन से प्राप्त होती है।"

"जो साधक सुने हुए प्रभु को, बिना जाने प्रभु को अर्थात् इन्द्रिय–दृष्टि से, बुद्धि–दृष्टि से नहीं देखा है, **केवल अविचल आस्था, श्रद्धा से अपना मान लिया है। उसमें जो आत्मीयता स्वीकार कर ली है कि वह मेरा है, मेरे लिए है, इसका नाम भक्ति है।** यह भक्ति पाँच बातों से प्राप्त होती है।"

"सबसे पहिली बात यह है कि साधक को यह मानना चाहिए कि मैं **उस प्रभु की जाति का हूँ।** मुझमें और उनमें कोई जातीय भेद नहीं है। दूसरी बात, **उनसे मेरा नित्य सम्बन्ध है।** पहिले भी था, अब भी है, आगे भी रहेगा। तीसरी बात, **वे अपने हैं।** चौथी बात, **उनसे कुछ नहीं चाहिए।** और पाँचवी बात यह कि **अपने पास जो कुछ है वह उन्हीं का दिया हुआ है,** अपना नहीं है। इन पाँच बातों से प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहिन भक्त हो जाते हैं। भक्त होने से स्वतः अपने आप भक्ति का प्रादुर्भाव होता है।"

"आप कहेंगे—कैसे? जब आपने यह स्वीकार कर लिया कि प्रभु मेरे अपने हैं, सदैव हैं और रहेंगे भी, और जो कुछ है वह उनका है। सब कुछ उनका है और वे मेरे हैं।"

"यदि आपने इन बातों को स्वीकार कर लिया और अपने द्वारा स्वीकार कर लिया तो अपने द्वारा की हुई स्वीकृति का नाश नहीं होता। और किसी की स्वीकृति को कोई मिटा भी नहीं सकता। यह मंगलमय विधान है।"

"यदि आपने यह स्वीकार कर लिया कि प्रभु मेरे हैं और यह जो कुछ है—जो कुछ माने इन्द्रिय—दृष्टि से जिसे देखते हैं, बुद्धि—दृष्टि से जिसके बारे में सोचते हैं—शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, मन, प्राण आदि। यानी जिसको आप 'यह' कहकर पुकारते हैं, जिसकी आपको प्रतीति होती है—**यह सब उनका है मेरा नहीं है, किन्तु वे मेरे हैं।** यह है अपनी आस्था, श्रद्धा और विश्वास। इस स्वीकृति से दो बातें आपको प्राप्त हो जायेंगी। **मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिये—इससे तो आपको निर्विकारता और परम शान्ति मिलेगी और प्रभु मेरे हैं—इससे आपके हृदय में प्रियता उदय होगी।"**

"आप सोचते होंगे कि क्या भक्ति इतनी सुगम है? देखिये, ममता रहित हुए बिना, कामना रहित हुए बिना क्या आत्मीयता में सजीवता आती है? कभी नहीं आती है। हाँ एक बात है। **भक्ति आपको मिल सकती है, आप भक्त हो सकते हैं। इसमें आप पराधीन नहीं हैं और इसमें आपको परिश्रम भी नहीं करना पड़ेगा।"**

"किसी अप्राप्त वस्तु की अपेक्षा नहीं होगी। किसी योग्यता—विशेष का सम्पादन नहीं करना पड़ेगा। अपने ही द्वारा अर्थात् आप स्वाधीनतापूर्वक भक्त हो सकते हैं। **भक्त होने से पहले आपको मुक्त होना पड़ेगा।** क्यों? **जब तक किसी और को अपना मानते रहेंगे, तब तक प्रभु को**

अपना कैसे मान पायेंगे? जब तक कुछ चाहते रहेंगे, तब तक आत्मीयता सजीव कैसे होगी? तो जिसको लोग निर्विकारता कहते हैं, जिसको लोग मुक्ति कहते हैं, वह भक्ति का सहयोगी साधन है।"

"इस युक्ति से शान्ति और स्वाधीनता के पश्चात् मानव भक्त होता है। जो अशान्त है, जो पराधीन है, जिसे कुछ चाहिए, जिसके पास उसका अपना करके कुछ है वह भक्त नहीं हो सकता।"

"आपका भूतकाल कैसा बीता है, आपकी परिस्थिति कैसी है, आपकी योग्यता कितनी है, आप क्या कर सकते हैं—इन सब बातों से भक्ति का कोई ऐसा सम्बन्ध नहीं है कि यदि आपके पास सामर्थ्य नहीं है, तो आप भक्त नहीं हो सकते। आपमें अमुक प्रकार की योग्यता नहीं है तो आप भक्त नहीं हो सकते। ऐसी बात नहीं है।"

"आप चाहे जिस परिस्थिति में हों और भूतकाल आपका चाहे जैसा बीता हो, किन्तु वर्तमान में यदि आप स्वीकार कर लें कि 'प्रभु मेरे हैं, सब कुछ प्रभु का है'—बस, भक्त हो गए। अर्थात् स्वीकृति मात्र से आप भक्त हो गए। स्वीकृति मात्र से आप भक्त हो जायेंगे। क्यों? जब आपके पास अपना करके कुछ नहीं रहा, तब आप अपने आप निर्विकार हो ही जायेंगे, निष्काम हो ही जायेंगे, स्वाधीन हो ही जायेंगे। और जब आपने यह स्वीकार कर लिया कि प्रभु अपने हैं तो अपने होने से वे प्यारे लगेंगे।"

"भक्त होने का अर्थ यह नहीं है कि भक्त को भगवान् से कुछ लेना है। जिसे भगवान् से कुछ लेना है वह तो भक्त है ही नहीं। जैसे कोई आपसे कहे कि हम आपके बड़े भक्त हैं, आप हमें अपनी मोटर दे दीजिये। तो आप क्या सोचेंगे, कि ये मेरे भक्त हैं या मोटर के? **भक्त उसे नहीं कहते जिसे कुछ चाहिये। जिसे कुछ भी चाहिये, वह भक्त नहीं है।"**

स्वामी जी का उपयुर्क्त उत्साहवर्द्धक व्याख्या पढ़ और समझ लेने पर हमारे जीवन में किसी प्रकार की निराशा या हीन भाव का औचित्य ही नहीं है। मात्र 'स्व' द्वारा स्वीकृतियाँ ही तो हैं, बाकी सब अपने आप हो जायेगा—भक्त भी हो जायेंगे और भक्ति भी मिल जायेगी। श्रम और पराश्रय का इसमें जब कोई रोल है ही नहीं, तो सभी लोग समान रूप से इसको प्राप्त करने के लिये सक्षम और समर्थ हैं।

परन्तु हमें इस प्रकरण में सचेत और सजग रहने की आवश्यकता है कि हम भक्ति का सही अर्थ और सही स्वरूप ही अपनाएँ अन्यथा इधर उधर से पढ़ सुन कर (बताने वाले भी तो अनेक प्रकार के हैं)

त्रुटिपूर्ण अर्थ और स्वरूप, उसे ही सही मानकर स्वीकार कर लिया तो उससे प्रभु भक्ति और प्रेम की प्राप्ति तो होगी नहीं, भ्रम में ही रहेंगे और अपने अहित की भी सम्भावना होगी। अतः अर्थ और स्वरूप वही स्वीकार करें जो हमारे विवेकसम्मत हो। विवेक की बड़ी महिमा है। आगे रघुकुल तिलक जी और स्वामी शरणानन्द जी के मध्य प्रश्न् और उत्तर प्रस्तुत है–

श्री रघुकुल तिलक जी ने एक बार मेरठ में अपने घर पर हुए प्रवचन के अवसर पर स्वामी शरणानन्द जी से पूछा : स्वामी जी! विवेक और वेद में यदि विरोध उत्पन्न हो तो किसको प्रधानता दें।

स्वामी जी बोले : विरोध कैसे उत्पन्न होगा? वेद का आधार भी तो विवेक ही है, तो विरोध कैसे उत्पन्न होगा?

रघुकुल तिलक जी ने फिर आग्रह किया और कोई उदाहरण भी दिए और कहा कि मान लीजिये ऐसा हो कि मेरा विवेक एक ओर चलने को कहता हो और वेद अथवा श्रुति–शास्त्र दूसरी ओर चलने को कहता हो, तो किस ओर चला जाय?

स्वामी जी बोले : भाई! ऐसा है कि विवेक ही प्रधान है, क्योंकि शास्त्र को, वेद को और श्रुति को हमारे विवेक ही ने स्वीकार किया है, अतः प्रधानता तो विवेक की ही है।

नोट : विचार करें तो हम पायेंगे कि हमारे प्राचीन धार्मिक ग्रंथों में कुछ बातें तो मौलिक सत्य (basic truth) हैं जो हर युग में हर काल में प्रासंगिक (relevant), व्यवहारिक तथा ग्रहणीय (acceptable) हैं और कुछ ऐसी बातें हैं जो उस युग/काल में तो मान्य रही हों परन्तु आज के युग में विवेकशील (rational) नहीं हैं और इसलिये मान्य, व्यवहारिक और ग्रहणीय नहीं हैं– (Not being rational are not relevant, acceptable and applicable in the present age)। उन्हें हमारा विवेक स्वीकार नहीं करता है। यदि हम अपने विवेक के प्रकाश में उन बातों का विश्लेषण करें और विवेकसम्मत जो हो वही करें तो हम अंधविश्वास और उसके कुपरिणामों से बचे रहेंगे।

अतः हमारे लिए वांछनीय तो यही है कि सृष्टि की सबसे मूल्यवान वस्तु को सहज ही प्राप्त करके प्रभु–प्रेम–भक्ति से इसी जन्म में सराबोर होकर जीवन को सफल बना लें और प्रभु के प्रेमी–भक्त होकर उन्हें प्रेम प्रदान कर उनके लिये भी हम उपयोगी हो जायँ।

■

साधन-सूत्र : 75

मनुष्य जन्म का अर्थ

मनुष्य–जन्म का पाना न तो accident (संयोग) है और न ही इसके पाने की कोई गारन्टी है। प्रभु कृपा से मनुष्य शरीर मिला तो यह हमारी पसन्द (choice) है कि मनुष्य–जन्म का सही अर्थ समझ कर अपने जीवन को शान्ति, स्वाधीनता और प्रेम से भर कर स्वयं उस रस का आनन्द पाकर और उस परमात्मा को भी प्रेम रस प्रदान करके अपने जीवन को धन्य कर लें। अथवा शरीर–भाव से ही भोग–विलास में लिप्त रहकर सुख–दुःख झेलते हुए संसार में ही उलझ कर इस सुअवसर को गँवा दें और वास्तविक ठोस प्राप्ति कुछ भी नहीं हो।

साधन–सूत्र–4 शीर्षक 'मनुष्य जीवन का गौरव' में यह चर्चा हुई थी कि जब हम अपना मूल्यांकन सांसारिक उपलब्धियों और उपभोगों के आधार पर करने लगते हैं तब छोटे बड़े का भाव बनता है अन्यथा कोई भी समाज का छोटा या बड़ा सदस्य नहीं है, मनुष्य–जन्म का स्वयं एक गौरव है।

इसी प्रकार साधन–सूत्र–22 शीर्षक 'मनुष्य जन्म की सार्थकता' में यह चर्चा हुई है कि सांसारिक उपलब्धियों का मापदण्ड न अपना कर अपनी उपयोगिता को ही जीवन की सार्थकता का मापदण्ड स्वीकार करें तो यह सभी के लिए समान रूप से सम्भव है। बस, सेवा द्वारा संसार के लिये, त्याग(अचाह) द्वारा अपने लिये और प्रेम द्वारा प्रभु के लिये उपयोगी हो जायें।

दिव्य ज्योति देवकी बहिन जी का एक प्रवचन पढ़ने को मिला जो इस विषय की बहुत ही सुन्दर और मार्मिक संघटित (composite) प्रस्तुति है। इसका शीर्षक है 'मनुष्य होने का अर्थ'। भाव आया कि इसका लाभ और लोग भी पायें, अतः आगे वही अक्षरशः प्रस्तुत है।

"सत्संग प्रेमी माताओं, बहिनों और भाइयों!

सृष्टिकर्ता ने असंख्य–असंख्य प्राणियों के बीच में एक वर्ग मनुष्य का भी

रखा। हम लोग मनुष्य बनकर इस धरती पर हैं। तो हमारे मनुष्य होने का एक विशेष अर्थ है। वह अर्थ यह है कि मनुष्य होकर कभी भी अपना ध्यान इस बात में नहीं जाना चाहिए कि भोजन का इन्तज़ाम हो गया, तो सन्तुष्ट हो जाएँ, सर्दी–गर्मी में सुख से रहने के लिए मकान मिल गया, तो सन्तुष्ट हो जाएँ, रोग बीमारी में दवा और सेवा का इन्तज़ाम हो गया, तो सन्तुष्ट हो जाएँ। और मर जाने के बाद अन्त्येष्टि के लिए पुत्र–पौत्र हो गये, तो सन्तुष्ट हो जाएँ।

इसके भीतर अपने को कभी भी सीमित नहीं करना चाहिए। क्यों? इतने के लिए आप मनुष्य नहीं बनाए गये। आपको विशेष योग्यताएँ दी गईं, आपको विशेष सामर्थ्य दी गई, आपको विशेष अवसर दिया गया, आपके जीवन के साथ एक विशेष विधान बनाया गया।

वह विधान क्या है कि आप जब चाहें तब बुराई का त्याग करके अपने को निर्दोष बना सकते हैं? जब चाहें तब की हुई भलाई के अभिमान का त्याग करके मृत्यु पर विजय पा सकते हैं। की हुई भलाई के फल और अभिमान का त्याग करने से व्यक्ति संसार और शरीर से ऊपर उठने का अधिकारी हो जाता है। **शरीर और संसार से ऊपर उठने का अर्थ क्या है कि व्यक्ति इनकी आवश्यकता से मुक्त हो जाता है।** है तो ठीक है, नहीं तो ठीक। उनके बन्धन में नहीं रहता है।

मथुरा में एक वैद्य जी रहते हैं। वे गुजराती सज्जन हैं, पंडित जी कहलाते हैं, अच्छे साधक भी हैं। मैंने वृन्दावन से उनको समाचार भेजा कि जब आ सकते हों तब यहाँ आएँ। लोगों ने बताया कि वे तो पकड़ लिये गये और जेल चले गए। यह सुनकर दुःख तो हुआ ज़रूर। उनकी स्त्री ने कहा कि भाई, हम लोग क्या करें। कोई नहीं जानता है कि उनको कहाँ रखा गया है और कितने दिनों के लिए जेल में रखा जाएगा। वहाँ से फिर समाचार आया कि पंडित जी दो दिन के बाद घर आ गए, आनन्द में हैं।

पंडित जी यह कह रहे थे कि हमको ले जाया गया, बन्द किया गया। उन्होंने कहा कि भीतर से मुझको बिलकुल ही निश्चिन्तता आ गई कि अब न कोई रोगी देखना है, न कोई फ़ोन सुनना है, न किसी से बातचीत करनी है। सब अपने आप छूट ही गया। निश्चिन्त होकर बैठ गए। कुछ देर जप किया, कुछ देर पाठ किया, और कुछ देर अपने प्यारे की याद में समाधिष्ठ हो गए। दिन भर ऐसे ही

बीता। दूसरे दिन भी ऐसा ही क्रम रहा। अधिकारियों ने सोचा कि यह आदमी तो बिलकुल साधु मालूम होता है, एकदम शान्त रहता है, इसको दीन दुनिया की कोई परवाह नहीं है। ऐसे सज्जन पुरूष को जेल में रखकर क्या होगा? इसको निकाल दो। तो निकाल दिया गया, छुट्टी दे दी गई।

यह उदाहरण मुझे इस बात के लिए याद आ गया कि आप सोचकर देखिए कि मनुष्य होकर अगर हमने पशुओं की भाँति शरीर के साथ रहते हुए केवल अच्छी तरह संसार में निर्वाह हो जाए, इसी पर अगर दृष्टि रखी, तो संसार के पार जाने के लिए कौन होगा, मुक्त होने के लिए कौन होगा, साकार रूप लेकर व्यक्त जगत में रहना और निराकार की विभूतियों का प्रकाशन जगत में कौन करेगा? यह मानव–जीवन की विशेषता है।

प्रभु की महिमा आप गाते हैं। वे महामहिम महिमावान हैं और उनकी महिमा को जीवन में धारण करने वाले आप हैं। प्रभु महामहिम हैं, उनकी महिमा अपरम्पार है। इस बात को नदी और पहाड़ नहीं जानते। इस बात को गाय–बैल, कुत्ते–बिल्ली नहीं पहचान सकते। तो इस सारी सृष्टि में अपनी महिमा को पहचानने लायक, उन्होंने आपको बनाया है। फिर आप निराश होकर, उदास होकर, आँखों में गरीबी लेकर जगत की ओर क्यों देखते हैं? आप कहाँ तक पहुँच सकते हैं, इस बात को आपने कभी ध्यान ही नहीं दिया?

आपको मुक्ति और भक्ति से भरपूर होने का एक चांस मिल रहा है। आप कह रहे हैं कि ज़रूरी काम रह गये हैं। तो उस ज़रूरी काम से यह काम कुछ घटिया है क्या? अपनी दशा देखो। मुझे बड़ा आश्चर्य होता है कि बिना ज़रूरी काम को ज़रूरी बताकर सत्संग जैसे ज़रूरी प्रोग्राम को टाल रहे हैं। फिर कहेंगे कि सन्तवाणी को सुना, लेकिन जीवन में उतरा नहीं। तो कौन से जादू–मन्तर से उतर जाएगा?सोचो तो।

समाज कह रहा है कि तुम आराम करो, तुम्हारी ज़रूरत अब हमको नहीं है। सरकार ने दिया हुआ पद वापिस ले लिया कि इस पर युवा श्रेणी के लोग बैठेंगे। आप जाइए। बाल–बच्चे सयाने हो गये, कारोबार अपने हाथ में ले लिया। बाबूजी! बैठकर राम–राम जपिए। ज़रूरत नहीं है आपकी। अब हम लोगों को अपने ढंग से करने दीजिए। आपके दिन बीत गये। तब भी ज़बरदस्ती उसी पे हाथ डालेंगे ही, उसी में घुसकर रहेंगे ही। कोई नहीं

बताएगा, तब भी पूछेंगे ही। कोई नहीं बुलाएगा, तब भी जाएँगे ही। यह दुर्दशा नहीं है तो क्या है?

इसलिए मैं साधक भाई–बहिनों को याद दिलाती हूँ कि भाई, अपने जीवन के महत्व को स्वीकार करो। क्या महत्व है? समाज में जब दुःखी दिखाई देते हैं, तो दुःखियों को देखकर करुणा का रस हृदय में बढ़े और प्राप्त सुख दुःखियों को बाँट दिया जाए। ऐसी साधना हम सब लोग कर सकते हैं। **मनुष्य बने हैं, तो संसार के सम्बन्ध को निर्वाह इतनी अच्छी तरह से साधन रूप से किया जाए कि मुझको शरीर और संसार की आवश्यकता न रहे। यही तो यहाँ रहने की विशेषता है।**

जन्म लेना और मर जाना यह तो सभी शरीरधारियों के लिए प्राकृतिक सामान्य क्रम है। बन जाना, बिगड़ जाना, मिट जाना, यह तो सृष्टि का स्वरूप ही है। तो इसमें अपनी क्या विशेषता रही?अगर आप सत्संगी हैं, जीवन के सत्य को स्वीकार करना पसन्द करते हैं। यदि बिना देखे, बिना जाने उस अविनाशी के अविनाशी प्रेम के रस को पसन्द करते हैं, तो उसके लिए क्या पुरुषार्थ वर्तमान में हो सकता है? इस पर भी दृष्टि डालिए। इस पर अगर आप ध्यान देंगे, तो अनुभवी सन्तजनों के वचन आपके काम आयेंगे।

देखिए, सुख छोड़ने का फल होता है कि चित्त शुद्ध हो जाता है, हृदय कोमल हो जाता है, नरम हो जाता है, सरस हो जाता है। तो संसार में रहते हुए चित्त–शुद्धि की तैयारी हो गई कि नहीं? भगवत–भक्त अनुरागी सन्त के सम्पर्क से चित्त में शुद्धि आ जाती है।

संसार में रहते हुए, व्यक्तिगत सुखों को छोड़ना हम पसन्द नहीं करेंगे, जहाँ से मिले वहाँ से सुख लेते ही रहना पसन्द करेंगे, तो चित्त कैसे शुद्ध होगा, हृदय कोमल कैसे होगा, रस की वृद्धि कैसे होगी?भीतर में कठोरता भरी रहेगी, सुख की वासना भरी रहेगी, तो सन्त की वाणी का, ग्रन्थ, वेद–पुरान, गीता–रामायण के वाक्यों का वह प्रभाव नहीं होता, जो आप अपने जीवन में देखना चाहते हैं। ऐसा करते रहने से काम नहीं बनेगा। फिर कहते हैं कि ग्रन्थों का अध्ययन भी कर लिया, सन्तों की वाणी को भी सुन लिया, भक्तों के चरित्रों को भी सुन लिया, भगवान् की महिमा को भी सुन लिया। परन्तु जीवन बदला नहीं। तो ऐसा कहने से काम नहीं चलेगा। **जहाँ पर अपना कदम अटका हुआ है, वहीं से इलाज शुरू कर देने**

से काम चलेगा।

आप अपने को सामने रखकर सोचना आरम्भ कीजिए। प्रातःकाल सोकर जगते ही अपने को सामने रखकर सोचिए और अपने से पूछिए कि इतने दिनों तक प्रवृत्ति में रहकर अपने पास कौन सी ऐसी सम्पत्ति संग्रहीत की कि जो मरने पर तुमको शान्ति दे सके, जो तुम्हारा साथ दे सके, जिसको तुम अपने संग ले जा सको?ऐसी कोई सामग्री मिली है क्या? नहीं मिली। ऐसी कोई चीज़ इस जगत में है नहीं, जो आपको आन्तरिक सन्तुष्टि दे सके, और मरने की घड़ी में मृत्यु के भय से मुक्त कर सके और मरने के बाद आपका साथ दे सके। यह बात अपने द्वारा आप स्वीकार करें।

मैंने वैज्ञानिक विश्लेषण में पढ़ा था और स्वामी जी महाराज के मुख से भी सुना था कि जो तत्व बीज में विद्यमान नहीं है, वह बाद में फल–फूल के रूप में नहीं आ सकता। **कोई भी पौधा बढ़ने के बाद अलग–अलग प्रकार का फूल और फल तभी देता है, जब वे सारे तत्व बीज में विद्यमान हैं।** बीज में जो विद्यमान होता है विकसित होने पर वही प्रगट होता है। आप भी देखिए कि **आपके भीतर मानवता बीज रूप में विद्यमान है, उदारता बीज रूप में विद्यमान है। निर्मम और निष्काम होने की सामर्थ्य मौलिक रूप में विद्यमान है। शान्ति मौलिक रूप में विद्यमान है। अविनाशी जीवन और अनन्त प्रेम–रस, यह सब बीज रूप में आपके व्यक्तित्व में विद्यमान है।**

जो पहले ही से विद्यमान है, वह बनने–बिगड़ने और मिटने वाला नहीं है। **इन तत्वों की विद्यमानता पर अगर हमारी दृष्टि गई होती, तो हम शरीरिक सुख के लिए अकरणीय कोई कर्म नहीं करते।** मौलिक तत्वों पर दृष्टि रखना हम सब भाई–बहिनों के लिए आवश्यक है। निश्चय मानो कि शान्ति मिल सकती है। ऐसी कोई बात नहीं है कि नहीं मिलेगी। असम्भव नहीं है। अशान्त होकर जीना, यह तो बहुत ही दुःखदायी है। परम शान्ति जो मानव मात्र के जीवन में मौलिक रूप में विद्यमान है, उससे निराश होना बड़ा भारी भूल है। **इसलिए मैं आपको मनुष्य के जीवन की महिमा बारम्बार याद दिलाती हूँ।**

जिन साधकों का जीवन साधना में लग गया, जिन्होंने अपने ही पुरुषार्थ के आधार पर मृत्यु के भय से अपने को मुक्त कर लिया, जिन्होंने आस्था, श्रद्धा, विश्वास

के आधार पर अविनाशी परमात्मा के प्रेम का रस पा लिया, उन लोगों ने कितनी बढ़िया–बढ़िया बातें हम लोगों को सुनाईं?राजकुमार सिद्धार्थ वीर पुरुष ने क्या कहा? "मैं त्रिविधि दुःख निवृत्ति हेतु, बाँधू अपना पुरुषार्थ सेतु। तब हो मेरा सिद्धार्थ नाम।। हे क्षण भंगुर भव राम–राम।।"

यह मैं स्वामी जी महाराज को सुना देती और मैं कहती कि महाराज! मैं कहाँ से लाऊँ वह पुरुषार्थ? तो उस पर सन्त की सलाह मिली। उसी के आधार पर मैं आप भाई–बहिनों को पूरी तरह आश्वासन देती हूँ कि छोटा–से–छोटा पुरुषार्थ जो आपसे करते बने, आप अवश्य कीजिए। अविनाशी जीवन की माँग में कोई कमी नहीं है, परमात्मा के प्रेमी होने की अभिलाषा में कोई कमी नहीं है। यह अभिलाषा पूरी हो सकती है। उस जीवन के लिए भीतर से उत्साह बढ़ता रहे, ललक बनी रहे, लगन बनी रहे। आप लगन लगाए रखिए पूरी, उत्साह रखिए पूरा। **जो शक्ति आपके पास है, वही आप लगाइए, बाकी जो चाहिए, वे सर्व–सामर्थ्यवान स्वयं अपनी ओर से पूरी करके आपके जीवन को भरपूर कर देंगे। यह बड़ा भारी मंगलकारी विधान है।**

मुझे जब यह मालूम हुआ, तो इतनी निश्चिन्तता आ गई, इतना आनन्द आ गया कि मैंने कहा कि अब ठीक है। सृष्टिकर्ता हो करके आपकी सृष्टि में मुझको जब दुःख दिखाई देता था, तो मैं बहुत डरती रहती थी और कहती कि तुमसे क्या रहा नहीं जाता है संसार बनाए बिना? चुपचाप आराम करो न अपने परम धाम में। क्यों बना देते हो सृष्टि को? आदमी यहाँ दुःख–सुख के उथल–पुथल में पड़ा रहता है, परेशान रहता है। मेरे दुःखी होने से उन्होंने मुझे अत्यन्त कोमल और मंगलकारी विधान का परिचय दिया।

मुझे अब मालूम हुआ कि मनुष्य का जीवन कितना बढ़िया है और कितना बढ़िया हो सकता है। सारी ज़िम्मेदारी उन्होंने मेरे दुर्बल कन्धों पर नहीं डाली, बहुत सा हिस्सा उन्होंने अपने हाथ में रखा। **वे इतना ही कहते हैं कि मेरे बच्चे! जितनी दूर तुम साधना में चल सकते हो, चलो। बाकी तो जहाँ तुम हो वहाँ आकर मैं उठा ही लूँगा। वे ऐसा करते भी हैं।** जब से उनके इस विधान का पता चला, तब से उनकी सारी आलोचनाओं को मैंने छोड़ दिया। भगवान् से मेरी लड़ाई खतम हो गई। अब कुछ नहीं कहती हूँ। अब वे मुझको बहुत अच्छे लगते हैं, बहुत

प्रिय लगते हैं। और मैं बहुत आनन्दित हूँ।

अब मैं कहती हूँ कि तुमने भला किया जो सृष्टि बनाई। उससे भी अच्छा किया कि उस सृष्टि में मुझको बनाया और उससे भी बड़ा उपकार किया कि मेरे सामने दुःख बनकर आए दर्शन देने के लिए। जगत के साथ मुझको चैन से रहने ही नहीं दिया। सबसे बड़ा उपकार तुमने मेरे साथ किया। बहुत आनन्द है, क्योंकि मिथ्या को मेरी आँखों से हटाकर तुमने सत्य को प्रगट किया और आनन्द तथा प्रेम की झलक दिखाई, जिसके लिए हम लोगों को यह जीवन मिला है। अब मैं खूब आनन्दित हूँ।

इस शरीरधारी मनुष्य के माध्यम से अपने अशरीरी अलौकिक अविनाशी अनन्त आनन्द और प्रेम–रस को बरसाकर इस जगत की शोभा बढ़ाते रहो, यहाँ का ताप शान्त करते रहो। भक्त की जब जै–जैकार हो संसार में, तो अपने भक्त की जै–जैकार सुनकर तुम आनन्दित होते रहो। किसी ने जगत्पति कह दिया, किसी ने महामहिम कह दिया, किसी ने अनन्त सौन्दर्यवान कह दिया, किसी ने अनन्त सामर्थ्यवान कह दिया। इसमें कोई विशेषता नहीं है।

लेकिन किसी ने मेरा लाला कह दिया, किसी ने मेरा सखा कह दिया, किसी ने मेरा मित्र कह दिया। इस पर वे भी रीझते हैं। जो मनुष्य चिन्ता में घुट–घुटकर जीता है और डर–डरकर मरता है, वही मनुष्य अनन्त परमात्मा को रस प्रदान करने के योग्य बनता है। यह उनकी महिमा से ही बनता है, उनकी कृपालुता से बनता है, उनके दिए हुए रस से बनता है। बहुत बढ़िया बात है। अब आप भी आनन्दित रहना, उदास रह करके दुनिया में मत फिरना।''

यही मनुष्य–जन्म का गौरव है, मनुष्य जीवन की सार्थकता है और मनुष्य–जन्म का वास्तविक अर्थ है। यदि हमने मनुष्य–जन्म की महिमा, उसका महत्व समझ लिया और स्वीकार कर लिया तो फिर आगे सब कुछ बहुत सहज और स्वाभाविक है।

■

मानव–जीवन के विकास की चरम सीमा योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति में है और भोग, मोह, आसक्ति की निवृत्ति में है।

साधन-सूत्र : 76

मानव सेवा संघ के दर्शन में मानवाधिकार

व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण–दोनों को ही लक्ष्य बनाकर मानवाधिकार की व्याख्या मानव सेवा संघ के दर्शन में की गई है। अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्य–पक्ष पर ही बल दिया गया है क्योंकि किसी का कर्तव्य ही किसी दूसरे का अधिकार होता है।

इसकी चर्चा बाद में होगी। पहले वर्तमान में व्याप्त स्थिति पर एक नज़र डालें। आजकल बुद्धिजीवियों (intelligentia) में मानवाधिकार के पक्षधर के रूप में, ज़ोरदार बहस करना, बड़े–बड़े सेमीनार में भाषण देने का चलन तो है परन्तु यह भी तो विचार करने की बात है कि मानवाधिकार की रक्षा मात्र कमीशन की स्थापना और नये–नये कानून बनाने से ही नहीं होगी जब तक कि समाज के सोच में परिवर्तन और जागृति नहीं आयेगी।

किसी का अधिकार ही किसी दूसरे का कर्तव्य होता है। परन्तु आज के समाज में लोग अपना कर्तव्य तो भूल गये और मात्र अधिकार ही अधिकार रह गया। **अपने अधिकार की तो सोचते रहें, कर्तव्य का ध्यान ही न रहे** (जो किसी दूसरे का अधिकार है) **तो उस दूसरे के अधिकार का हनन ही तो होगा।** ऐसी मानसिकता के कुपरिणाम का एक उदाहरण है सड़कों पर ट्रैफिक की अस्त–व्यस्त (chaotic) दशा। और उसमें भी ट्रैफिक जाम उसका सबसे खराब(worst) रूप है। बंद रेल फाटक पर या किसी चौराहे पर ट्रैफिक रुकी है। आप लाइन में कार खड़ी किये हुए हैं और आप का अधिकार है कि ट्रैफिक खुलने पर आप पहले निकलें परन्तु बाद में आने वाले आपकी लाइन के दोनों तरफ अतिरिक्त लाइनें बनाते जाते हैं ताकि वह पहले निकल जायें। एक अवसर पर पूरी सड़क की चौड़ाई घेर कर छः लाइनें बन गई थीं। परिणाम के वर्णन की आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार की मानसिकता का दुष्परिणाम समाज के हर क्षेत्र में विकराल रूप धारण किये हुए है। इसके पीछे भाव

यही तो है कि "पहले मैं"। इसका अर्थ हुआ कि दूसरे के अधिकार और अपने कर्तव्य पर दृष्टि ही नहीं है। लखनऊ में कभी 'पहले आप' की तहज़ीब थी। लोग मज़ाक करते हैं कि पहले आप पहले आप में दो मौलाना की ट्रेन छूट गई। परन्तु यह मज़ाक का विषय नहीं है। उसका गहराई से अर्थ और भाव समझना चाहिए। **यह उस तहज़ीब का प्रतीक था जिसमें दूसरों के अधिकार का आदर और उसकी रक्षा का ध्यान रहता था।**

परन्तु दुर्भाग्य यह हुआ कि भारत के संविधान में मौलिक अधिकारों पर ही बल दिया गया, मौलिक कर्तव्य भी कुछ होता है इस पर ध्यान ही नहीं गया। बाद में जब यह एहसास हुआ कि केवल अधिकारों की ही बात करने और उस पर बल देने से लोग अपने कर्तव्य पक्ष को भूलते जा रहे हैं, तब प्रधानमंत्री पं0 जवाहर लाल नेहरू ने बड़े स्पष्ट शब्दों में इस ओर ध्यान दिलाया जिसका अर्थ था कि अधिकार की बहुत बात हो चुकी, कर्तव्य के बारे में भी हमें सोचना है। कालांतर में संविधान में संशोधन करके मौलिक कर्तव्य को शामिल किया गया। परन्तु जो सबसे महत्वपूर्ण बिन्दु था, वह उसमें आया ही नहीं। मौलिक कर्तव्यों की सूची में सबसे पहला कर्तव्य होना चाहिये था 'to respect and safegaurd the rights of others' अर्थात "दूसरों के अधिकार का आदर करना और उसकी रक्षा करना"।

यदि देश के नागरिकों में यह भाव नहीं है और यह सोचते ही नहीं कि मेरा जो अधिकार है वैसा ही अधिकार दूसरे का भी तो है, तब इस भाव के अभाव (absence) में अपने अधिकार का प्रयोग के रूप में वह जो भी करता है वह दूसरे के अधिकार का हनन ही तो करता है।

मानवाधिकार का हनन केवल भारतीय दंड संहिता (Indian Penal Code) या ऐसे ही अन्य कानून के अन्तर्गत अपराध तक ही नहीं सीमित है। जो जिस अधिकार वाले पद/कुर्सी (authority में) पर हैं, चाहे बड़ा या छोटा, कानून द्वारा प्रदत्त अधिकार का दुरूपयोग करके दूसरों के अधिकार का हनन ही तो करते हैं। कैसे?जायज़ चीज़ होना या पाना मेरा अधिकार है, परन्तु उसके लिये मुझे सुविधा शुल्क (speed money) देना पड़ा तो मेरे अधिकार का हनन ही तो है। यह केवल राजकीय क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है। व्यवसाइयों या अन्य पेशेवर लोगों से माफ़िया एवं अराजक तत्वों द्वारा हफ़्ता या सुरक्षा–शुल्क वसूलना एक आम बात है।

शान्ति से अपनी आजिविका–अर्जन के अधिकार का यह क्या हनन नहीं है?

अस्पताल में किसी विवाद को लेकर डाक्टर काम बन्द कर देते हैं, मरीज़ों को रोक देते हैं। उत्तर प्रदेश मानवाधिकार आयोग का निर्देश पुष्ट करता है कि यह आचरण मरीज़ों के मौलिक अधिकार का हनन है। कैसे?उद्धरण प्रस्तुत है–

"Human Rights, as defined in section 2(d) of the Protection of Human Rights Act 1993, included the rights relating to life guaranteed in Article 21 of the Constitution and it is well settled that implicit in the fundamental rights to life is the rights to medical aid. And the aforesaid rights of all the patients admitted in the Trauma Centre appears to have been violated by the callous and heartless action of residents in making them vacate the wards and locking the main gate of the emergency complex."

यह विस्तार से इसलिये चित्रित किया जा रहा है कि समस्या की व्यापकता और गम्भीरता का सही एहसास हो सके और मानवाधिकार के हनन के विरूद्ध जो भी कदम उठाये जायें वे आंशिक (partial) हो कर न रह जायें।

इसलिये वर्तमान स्थिति में यदि कोई सुधार लाना है तो मानवाधिकार का व्यापक अर्थ और उसके हनन के वास्तविक विस्तार (extent) को समझना होगा।

यह भी ध्यान देने की बात है कि केवल कानूनी कारवाई से इसे नहीं रोका जा सकता। देश में ऐसी हालत है कि अधिकांशतः किसी का भी अधिकार सुरक्षित नहीं है, उसका कारण क्या है?सर्व–प्रथम तो यही है कि भोगवाद की प्रधानता और धन का महत्व जीवन में विकराल रूप से पैठ कर गया है। मानवीय मूल्यों एवं नैतिकता में जो भयंकर गिरावट आई है उसका कारण क्या है? इसे कोई समाज–शास्त्री बेहतर बता सकता है, परन्तु अपनी साधारण बुद्धि और अनुभव से यही लगता है कि समाज और उसके अनेक अंगों में permissiveness (अनुचित ढंग से छूट देना) सीमा को इस हद तक पार गई है कि मर्यादित भोग का स्थान उच्छृंखल भोग ने ले लिया है। आज समाज की दशा यह है कि मानवीय गुणों–नैतिकता बिगाड़ने वाले माध्यम ही माध्यम हैं, परन्तु इस गिरावट को रोकने और सच्चरित्रता–नैतिकता को पुनर्स्थापित करने के लिये कोई भी कार्यक्रम–प्रोग्राम है क्या?अपवाद छोड़कर घर में माता–पिता,

स्कूल में शिक्षक (teacher) और समाज में समाज के कर्णधार क्या औरों के लिये आदर्श (role model) हैं जिससे लोगों को विशेषतया नई पीढ़ी को सद्मार्ग पर चलने की प्रेरणा (inspiration) मिल सके। स्कूलों तक में भी नैतिकता और सदाचार (सही आचरण और गलत आचरण का भेद) की शिक्षा (moral and ethical teaching) कठिन है क्योंकि धर्मनिरपेक्षता (secularism) का हउवा खड़ा कर रखा है।

ऐसे प्रदूषित वातावरण से उत्पन्न होने वाली दोषपूर्ण मानसिकता के कारण अन्य बुराइयों के अतिरिक्त स्वार्थ–भाव एवं भोगवाद का जन्म होता है। जब स्वार्थ–भाव उत्पन्न हो जाता है तब मनुष्य में दूसरों के प्रति यह भाव ही नहीं जागृत होता है कि यह भी मेरे ही जैसा मनुष्य है, एक इन्सान है। महात्मा गाँधी कहते थे 'यह मत भूलो कि जो व्यक्ति अपने सिर पर तुम्हारा मैला ढोता है, वह भी तुम्हारी ही तरह एक इन्सान है।'

हर इन्सान को अपने जैसा इन्सान की भावना के अभाव का कुपरिणाम होता है, दूसरे के अधिकार का हनन। इसलिये सामाजिक कार्यकर्ताओं, (social activists), समाज–मूलक विचारकों (social thinkers) को यह समझना पड़ेगा कि मात्र कानून और कानून द्वारा स्थापित संस्थाओं द्वारा इस पूरे प्रदूषित सामाजिक वातावरण, माहौल को नहीं बदला जा सकता। इसके लिये एक जन–अभियान चलाना होगा जिसका लक्ष्य होगा: इन्सान को इन्सान बनाना। जब तक मौलिक परिवर्तन नहीं आयेगा तब तक मात्र छिट–पुट सतही कार्यक्रमों से वांछित फल नहीं प्राप्त होगा। इसी के साथ ऐसे लोगों पर भी रोक (check) लगाना होगा, जो आधुनिकता और स्वातन्त्रय के नाम पर हर प्रकार के मानवीय गुणों के विपरीत प्रविित्तयों को बढ़ावा (permissiveness) दे रहे हैं। पाश्चात्य जीवन की ऊपरी बातों को तो नकल कर रहे हैं परन्तु उनके मानवीय गुणों–स्वअनुशासन (self-discipline) एक दूसरे के प्रति संवेदना तथा सहयोग (compassion and cooperation) को क्यों नहीं अपने जीवन में उतारते? इस सच्चाई को नकारा नहीं जा सकता कि समाज से एक दूसरे के प्रति संवेदना और सौहार्द का तेज़ी से लोप हो रहा है।

हमें इतिहास से सीख और प्रेरणा लेना चाहिये। जिस काल में देश में सती–प्रथा प्रचलित थी तब राजा राम मोहन रॉय ने इसका अमानुषिक रूप स्वयं देखा था। उनके भाई की मृत्यु के पश्चात्, भाई

की पत्नी को उस बेचारी के विरोध और चीख–पुकार के बावजूद ज़बरदस्ती पति की चिता पर ज़िंदा जला दिया गया। उन्होंने इसके विरूद्ध कानून तो बनवाया ही इस कुप्रथा के विरूद्ध सामाजिक चेतना जगाने और जन–जागृति का अभियान भी चलाया। इसी प्रकार क्या विधवा होना ऐसा अभिशाप था कि उसे समाज में रहने का अधिकार ही नहीं था– सिर के बाल मुड़ा कर काशी में बाबा विश्वनाथ के मंदिर की गलियों में या वृन्दावन में भिक्षा मांगने के लिये आजीवन निष्कासित कर दिया जाता था। उन्होंने 'विधवा–पुनर्विवाह' के समर्थन में भी जन–चेतना जगाने का अथक प्रयास किया।

ऊपर जिस जन–अभियान को चलाने की बात कही गई है उस अभियान का लक्ष्य तो यही होगा कि मानवाधिकार का हनन न हो और सबके अधिकार सुरक्षित हों। ब्रह्मनिष्ठ, क्रान्तदर्शी, प्रज्ञा–चक्षु संत स्वामी शरणामन्द जी द्वारा प्रदत्त मानव सेवा संघ के दर्शन के अनुसार मानव का स्वरूप ही होता है, सेवा–त्याग–प्रेम और इस संघ का लक्ष्य (mission) है सोई हुई मानवता को जगाना। इस दर्शन में इस विषय की बहुत सुन्दर, सारगर्भित तथा स्पष्ट विवेचना है जो सब के द्वारा सहज ही ग्रहण की जा सकती है। इसमें कर्तव्य ओर कर्तव्य–परायणता पर ही बल दिया गया है और कहा गया है कि हमारे जीवन का जो लक्ष्य है– शांति, स्वाधीनता और प्रियता वह बिना कर्तव्य–परायणता के प्राप्त नहीं हो सकता। सारा ज़ोर अपने अधिकार के त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा पर दिया गया है। स्वामी जी का उद्घोष है कि **कर्तव्य–परायण व्यक्ति के अधिकार स्वतः सुरक्षित हो जाते हैं।**

'अधिकार' शब्द का प्रयोग इस दर्शन में तीन प्रकरणों में किया गया है। पहला प्रकरण व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन (लौकिक) से सम्बन्धित है। व्यक्तियों से ही परिवार और परिवारों से ही समाज बनता है।

मानव सेवा संघ के जीवनोपयोगी ग्यारह नियमों में पाँचवा नियम है–

"दूसरों के कर्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल न मानना"

इसका तात्पर्य यह है कि हमें अपना कर्तव्य पूरा करना है, दूसरों का मेरे प्रति क्या कर्तव्य है, उसको केवल अपना अधिकार न मानने की ही बात नहीं है,

वास्तव में उस पर हमारी दृष्टि ही नहीं जानी चाहिये। जहाँ पर यह भाव रहता है वहाँ आपस में कटुता या संघर्ष नहीं होता। जैसे पति–पत्नी हैं– यदि दोनों अपने–अपने कर्तव्य पर ही दृष्टि रखते हैं और पूरा करते हैं, वहाँ सौहार्द और शान्ति रहती है। पर यदि कोई पति या पत्नी अपने अधिकार भाव से दूसरे से अपेक्षा करने लगते हैं कि वह पति का पत्नी के प्रति कर्तव्य या पत्नी का पति के प्रति कर्तव्य को पूरा करे तो अपेक्षा पूरी न होने पर संघर्ष का वातावरण बनता है और दाम्पत्य जीवन में सरसता का अभाव हो जाता है। यह बात सभी सम्बन्धों पर लागू होती है।

दूसरा प्रकरण आध्यात्म से सम्बन्धित है। हम लोगों के जीवन में यदि किसी के प्रति राग होता है तो किसी अन्य के प्रति द्वेष भी होता है। राग और द्वेष हमारे वास्तविक जीवन की माँग (शांति, स्वाधीनता और प्रियता दूसरे शब्दों में योग बोध प्रेम) की पूर्ति में बाधक हैं। राग और योग एक दूसरे के विपरीत बताये गये हैं। जब तक राग रहेगा तब तक योग की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये राग का मिटाना आवश्यक कहा गया है। जब राग नहीं रहेगा तब किसी के प्रति द्वेष भी नहीं रहेगा। राग निवृत्ति का सहज उपाय बताया गया है–

'दूसरों के अधिकार की रक्षा करने से विद्यमान राग की निवृत्ति होती है और अपने अधिकार का त्याग करने से नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती।'

उसी रागरहित जीवन में योग और फिर बोध और प्रेम की प्राप्ति होती है जो जीवन का चरम लक्ष्य है।

तीसरा प्रकरण है समाज से सम्बन्धित। सुन्दर समाज जिसकी हम लोगों की, समाज सुधारकों की कल्पना और लालसा है, उसका अर्थ और स्वरूप क्या है?स्वामी जी के शब्दों में, **"सुन्दर समाज का अर्थ है ऐसा समाज का निर्माण जिसमें सभी के अधिकार सुरक्षित हों, किसी के अधिकार का अपहरण न होता हो।"**

उन्होंने मानव सेवा संघ का उद्देश्य ही बताया था–

"मानव का अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण"

इस उद्देश्य की पूर्ति कैसे हो? स्वामी जी ने बताया कि–

"इस उद्देश्य की पूर्ति दूसरों के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार के त्याग से होती है। दूसरों के अधिकार की

रक्षा करने से, सुन्दर समाज का निर्माण और विद्यमान राग की निवृत्ति होती है और अपने अधिकार के त्याग से नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती।"

इस विषय की विस्तार से चर्चा साधन–सूत्र–68 शीर्षक "व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण" में हुई है। संक्षेप में, उसका एक अंश उद्धरित है– दिव्यज्योति देवकी बहिन जी के शब्दों में–

"सामाजिक विषमता और संघर्ष मिटाकर सुन्दर समाज के निर्माण का अर्थ यह लिया गया है कि **जिस समाज में प्रत्येक व्यक्ति कर्तव्य–निष्ठ हो जाता है वह समाज सुन्दर हो जाता है, अर्थात उस समाज में सबके अधिकार सुरक्षित हो जाते हैं।"**

सोचने की बात है कि व्यक्तियों से ही समाज बनता है और यदि व्यक्ति ही सुन्दर नहीं बना तो समाज कैसे सुन्दर होगा। स्वामी शरणानन्द जी का उद्‌बोधन था **"अपने को सुन्दर बनाओ, सुन्दर समाज का निर्माण स्वतः होगा।"**

इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु हमें जीवन–क्रान्ति लाना होगा। स्वामी जी ने आन्दोलन और क्रान्ति शब्दों का अलग–अलग अर्थ लिया है। उनके अनुसार बलपूर्वक बुराई रोकने का संगठित प्रयास आन्दोलन कहलाता है, **स्वयं बुराई न करने का निर्णय क्रान्ति कहलाती है।**

आगे उन्होंने बताया है कि "क्रान्ति से स्थायी विकास होता है। क्रान्ति आन्दोलन नहीं है, अपितु अपने द्वारा अपना सुधार है। 'पर' के द्वारा कभी भी किसी का सर्वांश में सुधार नहीं होता। आंशिक सुधार, सुधार का भ्रम है, सुधार नहीं।"

इस साधन–सूत्र के विषय–वस्तु के प्रकरण में स्वामी जी का ऐसा ही एक कथन है जो इस बात को स्पष्ट करता है कि हमें वांछित अभियान आन्दोलन के रूप में नहीं बल्कि क्रान्ति के रूप में चलाना है। कथन है–

"आन्दोलन है बलपूर्वक अपनी बात दूसरे से मनवाना और क्रान्ति है खुद को बदल कर दूसरों पर प्रभाव होने देना।..... ....आप चाहते हैं कि दूसरे बदल जायें और आप बदलें ही नहीं। यह नहीं होगा।"

अतः मानवाधिकार की सुरक्षा के लिये समाज में जीवन– क्रान्ति लाना होगा, उसकी एक लहर पैदा करना होगा (generate a wave of change for the better in our life)। यह लहर पैदा करना उन्हीं के लिये सम्भव होगा जिन्होंने जीवन– क्रान्ति द्वारा अपने को सुन्दर बना लिया है।

यह चर्चा समाप्त करने के पूर्व

साधक की दृष्टि से, मानव सेवा संघ की पुस्तक 'Sadhana-Spotlights by a Saint' से नीचे उद्धरण प्रस्तुत है जो इस प्रसंग में बहुत अर्थपूर्ण है–

The rights of one consist in the duties of another and the duties of one make for the rights of another. The sadhaka should realize that he is free only in the fulfillment of his duties to others, not in the achievement of his rights from others. The latter is only a shadow of attachment to untruth(असत्); and when a sadhak renounces attachment to this untruth, he is blessed by becoming just an instrument of the Divine for service. Attachment to rights prevents the sadhak from being freed from the shackles of desire and anger. The emphasis on rights makes him look to others for their fulfillment and when this desire is thwarted anger is aroused."

This excerpt amply describes in short the protection of Human Rights as envisioned in the philosophy delivered to mankind by the great saint Swami Sharananand ji.

इस बात का एहसास है कि लोग इसे अव्यवहारिक और 'कल्पना लोक' की बात कहेंगे। सोचने की बात है कि भारतीय दंड संहिता और अनेक कानून विद्यमान है, परन्तु क्या उनसे हत्या, लूट, बलात्कार आदि की घटनाएँ बन्द हो गईं? बिल्कुल नहीं, बल्कि बढ़ती ही जा रही हैं। जिस गति से और जिस जघन्यता और अमानुषिक रूप से प्रतिदिन बलात्कार की घटनाएँ हो रही हैं वह यही मानसिकता तो दर्शाता है कि नारी मात्र भोग–सामग्री है–बिल्कुल संवेदनशून्यता और विचारशून्यता। यह नारी के मानवाधिकार का हनन ही तो है।

इसीलिये समाज में एक वैचारिक क्रान्ति, एक लहर का लाया जाना अति आवश्यक है। जब तक यह परिवर्तन नहीं आयेगा, सोई हुई मानवता को जगाया नहीं जायेगा तब तक कानून के बल पर और विभिन्न मंचों से ज़ोरदार विरोध भाषण से कुछ नहीं होने का। अतः सभी जागरूक समाज सेवियों, सामाजिक चिन्तक आदि को यह सोचना पड़ेगा कि कैसे जन–जागृति उत्पन्न किया जाय, वांछित सामाजिक क्रान्ति कैसे लाया जाय जिससे कि इन्सान सही इन्सान बन सके और सब का भला हो। **व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण हो।**

■

साधन-सूत्र : 77

मानव सेवा संघ के दर्शन से कुछ महत्वपूर्ण जीवनोपयोगी उद्धरण

1. ईश्वर की प्राप्ति ईश्वर–प्रेम के रूप में ही होती है। उनका तो स्वरूप ही प्रेम है, इसीलिए कहा गया है God is Love and Love is God अर्थात् ईश्वर प्रेम है और प्रेम ही ईश्वर है। इसकी प्राप्ति उनसे आत्मीय सम्बन्ध जोड़ने से, उन्हें अपना मानने से होती है। अपना मानने से वे प्यारे लगेंगे। प्यारे लगेंगे तो उनकी नित्य स्मृति जगेगी। स्मृति के बारे में दिव्य–ज्योति देवकी बहिन जी के एक प्रवचन का उद्धरणः–

"स्मृति शब्द का प्रयोग स्वामी जी महाराज ने केवल परमात्मा की स्मृति के लिए ही किया है। बाहरी बातों के लिये नहीं। क्योंकि इस शब्द का बड़ा भारी अर्थ उन्होंने बताया कि देखो अगर संसार की कोई वस्तु तुम्हें चाहिये और उसकी याद आई, वह वस्तु तुमसे बहुत दूर है और उसको पाने के लिये काल अपेक्षित है। परिस्थिति बनेगी तब मिलेगी। इसलिए अगर वस्तु की याद आती है, तो मनुष्य को भीतर से अभाव सताता है, बेबसी सताती है, पराधीनता आ जाती है। लेकिन जो तुम्हारे में ही विद्यमान है और तुमसे भी आगे तुम्हें अपनाने के लिये लालायित है उसकी स्मृति जब आती है तो वह नित्य विद्यमान परमात्मा तत्काल ही अपनी विभूतियों से, अपने सान्निध्य से तुमको भर देता है। देर नहीं लगती है परमात्मा से मिलन के लिये, जन्म–जन्मान्तर के अभाव को मिटाने के लिये अखंड स्मृति और प्रियता अनिवार्य तत्व है।"

स्मृति कैसे जगती है और जब जगती है तब क्या होता है– उसी प्रवचन से एक और उद्धरण–

"अखण्ड स्मृति और प्रियता जागृत कैसे होती है? उनको अपना मानने से और उनके समर्पित होने से। जिन्होंने उन्हें अपना मान लिया उनमें स्मृति जागृत हो गयी। जिन्होंने अपने को उनके समर्पित कर दिया उनमें उनका आश्रय आ गया, उनमें उनकी सामर्थ्य आ गई। उनको उनकी उपस्थिति का अनुभव हो गया। उनको उनके प्रेम की मधुरता का स्वाद मिल गया और वह बढ़ते–बढ़ते इतना बढ़ जाता है कि अगर मैं

प्रभु विश्वासी हूँ, मुझे प्रभु का प्रेम चाहिये, तो प्रभु–प्रेम की प्यास के रूप में जो अहं है, जिसमें से सब कामनाएँ निकल चुकी हैं, वह सम्पूर्ण अहं ही प्रभु–प्रेम की प्यास और प्रभु की स्मृति बन जाती है। उसमें बड़ा आनन्द आ जाता है। उसकी सीमा समाप्त हो जाती है। विश्राम मिल जाता है। यही ईश्वर–विश्वास के साधक की उपलब्धि है, सर्वोच्च उपलब्धि है, यही उसकी सिद्धि है।"

".....यह बात सच्ची है कि अगर मैं ईश्वर विश्वासी हूँ तो मेरे अहं में सिवाय प्रभु–प्रेम की प्यास के, और कोई कामना और कोई ममता नहीं रहनी चाहिये।....."

2. आजकल समाज में बड़े ज़ोरदार ढंग से अपने को प्रगतिवादी (progressive) और आधुनिक विचार वाला का दम्भ भरते हुए freedom (स्वतंत्रता) के पक्षधर होकर उसकी वकालत की जाती है। और ऐसा वैसा freedom (स्वतंत्रता) नहीं– unbridled freedom (निरंकुश स्वतंत्रता)। कला के नाम पर कुछ भी किसी भी प्रकार की चित्रकारी (दूसरों की मान्यताओं और भावनाओं के प्रति संवेदनशून्यता) करने की छूट। इसे अपना freedom of and right to expression कहते हैं। शोभनीय अशोभनीय कुछ भी बोलें– वह उनका freedom of speech (बोलने का जिस प्रकार भी चाहें अपनी बात कहने की स्वतंत्रता) है। नग्न–अर्धनग्न (ऐसे ही कपड़े पहन कर) शरीर का प्रदर्शन उनका freedom to dress as one likes (अपनी पसन्द से जिस प्रकार से भी चाहें वस्त्र धारण करने की स्वतंत्रता) है।

ऐसी निरंकुश स्वतंत्रता– unbridled freedom का परिणाम समाज में रोज़ ही दिखाई दे रहा है। वर्षों पूर्व एक विदेशी महिला राँची विमेन्स डिग्री कॉलेज में आई थीं। अपने देश के महाविद्यालयों में, विश्वविद्यालय में छात्राओं को उपलब्ध हर प्रकार की सुविधाओं का बड़े उत्साह से वर्णन कर रही थीं। देवकी बहिन जी ने उनसे पूछा–

"हमने पूछा कि लड़कियों के बौद्धिक और शारीरिक विकास की इतनी सुविधाएँ हैं, इतनी स्वाधीनता है और इतने सामान हैं, तो इन सारी सुविधाओं को लेकर के जीवन के विकास के रास्ते में आपके विद्यार्थी जाते हैं? किस तरह से वे लोग जीवन को ऊँचा उठाते हैं?जैसे ही उन्होंने यह प्रश्न् सुना, वे एमदम गम्भीर हो गईं और कहने लगीं– freedom, freedom, they are mad with freedom, they do not know what to do with freedom. स्वतंत्रता, स्वतंत्रता! वे लोग स्वतंत्रता से पागल हैं, वे नहीं जानती हैं कि इस स्वतंत्रता को लेकर क्या करें।"

देवकी बहिन जी ने आगे कहा है कि **"मनुष्य के व्यक्तित्व पर से सत्य का अनुशासन हट गया, धर्म का अनुशासन हट गया, समाज की मर्यादा का कोई बन्धन नहीं रहा, तो यह फ्रीडम नहीं है, स्वतंत्रता नहीं है।** जब किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं होता है तो इसका परिणाम क्या होता है कि मस्तिष्क इतना गतिशील हो जाता है, इसमें इतनी थकान आ जाती है, इतनी दुर्बलता आ जाती है, इतनी असमर्थता आ जाती है कि व्यक्ति को पता ही नहीं चलता है कि वह कहाँ से कहाँ पहुँच गया है। क्या उसकी दशा हो गयी है। अपने को सम्भालने में बिल्कुल असमर्थता आ जाती है।"

यह सब कुछ ऐसा ही होता है और सब जानते भी हैं, परन्तु सामाजिक मान्यताओं के, प्रकृति के विपरीत सोच और कर्म को स्वतंत्रता (freedom) के नशेड़ी इसे freedom of choice और freedom of indulgence (पसन्दगी और भोग का स्वातंत्रय) कहते हैं। मनुष्य जीवन पाकर अमर्यादित स्वतंत्रता (freedom without limits and bounds) के विषय पर बुद्धिजीवियों, सामाजिक कार्यकर्ताओं (social activists) समाज चिन्तकों (social thinkers) को गहन विचार करने की नितान्त आवश्यकता है। उच्छृंखल समाज क्या किसी के हित में है? परन्तु आज की समस्या तो यही है कि उच्छृंखल की परिभाषा पर ही मतभेद हो जायेगा और बहस छिड़ जायेगी। समलैंगिक सम्बन्ध के विरूद्ध कानून को विक्टोरियन युग (Victorian era) की नैतिकता (morality) कहकर आज के युग में उसे असंगत एवं अप्रयुक्त (irrelevent and obsolete) बताया जाता है। तो क्या इस युग में नैतिकता की आवश्यकता नहीं है? यह सोच समाज को कहाँ ले जायेगा–कोई मर्यादा ही न रहे?

3. पिछले कई साधन सूत्रों में यह बात आ चुकी है कि विश्राम की स्थिति में जब हम भीतर बाहर से निश्चेष्ट होकर शान्ति सम्पादन करते हैं अर्थात् बिल्कुल शान्त रहते हैं तो **उस शान्ति में विचार का उदय होता है और आवश्यक सामर्थ्य की प्राप्ति होती है।** साधन–सूत्र–54, शीर्षक 'मानव जीवन की विडम्बना' में कहा गया है कि सामर्थ्य का तात्पर्य है कि 'जो हमें करना चाहिये उसको करने की और जो नहीं करना चाहिये उसे न करने की (छोड़ने की) सामर्थ्य। विडम्बना तो यही न है कि जो हमें करना चाहिये उसे तो पूरा करते नहीं और जो नहीं करना चाहिये उसी में उलझे रहते हैं, उसे छोड़ते ही नहीं। सामर्थ्य है क्या

इसके बारे में हम लोगों के जीवन में बहुत बड़ा भ्रम है। इसके निवारण हेतु स्वामी शरणानन्द जी का कथन इस प्रकार है–

"आप विचार कीजिये, सामर्थ्य शब्द का अर्थ क्या है?बहुत से लोग समझते होंगे कि भाई धन का इकट्ठा करना सामर्थ्य का सम्पादन है। किस लिये?जिसमें धन की वासना हो अथवा जिसमें लोभ हो, वह कहेगा कि हाँ ठीक है। धन का सम्पादन कर लिया, हम बड़े सामर्थ्यवान हो गये। यह सामर्थ्य की पहचान नहीं है, यह सामर्थ्य का अर्थ नहीं है। ऐसे ही कोई कहेगा कि भाई, बहुत सा बल इकट्ठा कर लो, तो हम सब सामर्थ्यवान हो जायेंगे। यह बात भी नहीं है। क्यों नहीं है?कि आप विचार करें। बल के द्वारा कोई भी व्यक्ति समान बल पर विजयी नहीं हो सकता तो क्या फिर अधिक बल पर विजयी हो सकता है?यह तो बात ही नहीं है।"

"सामर्थ्य उसे कहते हैं, जो विजय प्राप्त करने में समर्थ हो, जिससे हम विजयी हो सकें। तो बल का नाम भी सामर्थ्य नहीं है, धन का नाम भी सामर्थ्य नहीं है, बहुसंख्या का नाम भी सामर्थ्य नहीं है। तो **सामर्थ्य किसका नाम है? कि जिसके आ जाने पर उसकी उत्पत्ति ही न हो, जिसे नहीं करना है, और वह स्वतः हो जाये, जो करना है।** एक तो यह पहचान है सामर्थ्य की। दूसरी पहचान यह है कि भाई, **जिसमें चित्त को लगना चाहिये उसमें सदा के लिये लग जाये और जिससे हटना चाहिये, उससे सदा के लिये हट जाय। यह सामर्थ्य की पहचान है।** यह सामर्थ्य किसी वस्तु विशेष में नहीं है। यह सामर्थ्य किसी परिस्थिति विशेष में नहीं है। यह सामर्थ्य किसी अवस्था विशेष में नहीं है।"

इसे समझाते हुए स्वामी जी ने आगे कहा है कि–

"इससे यह सिद्ध होता है कि हमें वह सामर्थ्य प्राप्त करना है, जिसके प्राप्त करने पर अकर्तव्य की उत्पत्ति न हो और कर्तव्य–परायणता स्वतः आ जाये। जिसमें चित्त को लगना चाहिये, उसमें सदा के लिये लग जाये, जिससे हटना चाहिये, उससे सदा के लिये हट जाये। यह सामर्थ्य जिसमें है, वही समर्थ है। इस प्रकार की सामर्थ्य की माँग भी हम सबकी है।"

यह सब स्वामी जी ने मानव सेवा संघ की प्रथम प्रार्थना की व्याख्या करते हुये बताया है। प्रार्थना में है न कि 'मेरे नाथ, आप अपनी सुधामयी, **सर्वसमर्थ,** पतिपावनी अहैतुकी की कृपा से....।' उसी को लेकर कहा है कि उसके **सर्व–समर्थ** होने से 'सामर्थ्य' की हमारी माँग पूरी हो जायेगी।

4. मानव सेवा संघ के दर्शन के अनुसार जीवन की माँग शान्ति, स्वाधीनता, प्रियता की पूर्ति अथवा लक्ष्य योग–बोध–प्रेम की प्राप्ति हेतु हम से दो ही पुरुषार्थ अपेक्षित है–जीवन के सत्य को स्वीकार करना और असत् का त्याग अर्थात् अपनी जानी हुई बुराई का त्याग। पर ऐसा क्यों होता है कि हम बुराई को बुराई जानकर भी छोड़ते नहीं है। इसका सबसे पहला कारण तो यह है कि इसके प्रति दृढ़ता (sincerity) नहीं है। दूसरा कारण यह समझ में आता है कि अपने में हीन भाव लेकर सोचना कि मुझ जैसे दुर्बल विकार–वासना युक्त व्यक्ति के लिये बुराई छोड़ना कैसे हो सकता? या यह कहेंगे कि लोभ, मोह, काम, क्रोध आदि, प्रकृति के दोष है, इनका नाश नहीं होगा। तीसरा कारण यह है कि बुराई न छूटने की अपने में तीव्र वेदना नहीं है।

दिव्यज्योति देवकी बहिन जी के एक प्रवचन के कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं जिनसे इन बिन्दुओं पर समुचित प्रकाश पड़ता है और उनका समाधान मिलता है। प्रवचन की मूल केन्द्रीय–सूक्ति है कि "**हमारे आपके अहंरूपी अणु में भी इतनी सामर्थ्य है कि जिस समय जिस जगह पर हम विकार पर विजय पाना चाहें, पा सकते हैं। जिस बुराई का नाश करना चाहें, कर सकते हैं।** इसमें अनन्त परमात्मा का प्रभु का मंगलकारी विधान बड़ा सहायक होता है।"

विकारों को प्रकृति का दोष की बहाने बाज़ी (alibi) के सम्बन्ध में, उन्होंने स्पष्ट कहा है कि–

"यह सोचना कि लोभ, मोह, काम क्रोध आदि प्रकृति के दोष हैं, इनका नाश नहीं होगा, यह भूल है। **सच्चाई, अच्छाई और भलाई जो है वह अविनाशी परमात्मा में से प्रकट हुई है, इसलिये ये गुण अविनाशी हैं और अपने विवेक के अनादर से जो भूल हम करते हैं, वह भूल नाशवान है।**..... तुम अपनी की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत ले लो तो सभी भूलें निर्मूल हो जायेंगी। यह है मानव सेवा संघ के बुराई रहित होने का साधन।"

और ऐसा सबके लिये सम्भव है क्योंकि इसमें श्रम और पराश्रय है ही नहीं। उन्होंने एक बात के लिये सचेत किया है कि "बुराई छोड़ने के बाद भी, हम लोग अपने को भीतर–भीतर बुरा समझते रहते हैं और बड़े गौरव से स्वीकार करते रहते हैं कि मैं क्या बताऊँ मुझमें तो बड़ी दुर्बलताएँ हैं। तो वर्तमान में कोई बुराई आप कर नहीं रहे हैं तो भूतकाल की बुराई को आप स्वीकृति द्वारा क्यों सजीव बना रहे हैं? यह

भूल छोड़ दीजिये तो बुराई रहित हो सकते हैं और आप के अहं रूपी अणु में इतनी सामर्थ्य है, इतनी सामर्थ्य है कि एक बार आपने अपने को निर्दोष स्वीकार कर लिया, तो फिर उस दोष की उत्पत्ति आपके जीवन में नहीं होगी।"

इसका उन्होंने बड़ा सटीक उदाहरण दिया है। तुलसीदास जी किस प्रकार अपनी पत्नी के पीछे–पीछे, आसक्ति के कारण अपने ससुराल पहुँच गये, यह सभी को ज्ञात है और यह भी जानते हैं कि उनकी पत्नी रत्ना जी ने क्या झिड़की दी थी 'इस हाड़–माँस–चाम के शरीर में आपको इतनी आसक्ति है–इतनी प्रीति आप परमात्मा में करते तो आपका उद्धार हो जाता'। इसी प्रसंग को सुनाते हुए देवकी बहिन जी ने अपने प्रवचन में कहा कि–

"अब देखिये, इतनी गहरी आसक्ति थी जिस पर उनको एक बार ठेस लगी और उन्होंने सोच लिया कि अच्छी बात, तुमने जो कहा है सो ही करके रहूँगा, **तो सारी आसक्ति उस महापुरुष ने एक झटके में तोड़ दी, कि नहीं तोड़ दी?** तुलसीदास जी के मुख से कभी यह रोना गाना नहीं सुना कि क्या बताएँ स्त्री की ओर से मन हटाना चाहता हूँ पर हटता नहीं।"

देवकी बहिन जी ने यह भी आश्वासन दिया है कि हमारी व्यक्तिगत परिस्थितियों का, बुराई के त्याग के हमारे व्रत का कोई सम्बन्ध नहीं है, कोई व्यवधान नहीं होता। प्रवचन का प्रासंगिक उद्धरण नीचे अंकित है–

"शरीर दुर्बल हो सकता है, आप बे पढ़े–लिखे हो सकते हैं। आप धनहीन हो सकते हैं। आपके कुटुम्बियों ने विरोध करके आप को त्याग दिया हो, ऐसा हो सकता है, लेकिन शरीर के दुर्बल होने से, धन के कम होने से, साथियों को छोड़ देने से, **आपके अहंरूपी अणु की शक्ति नहीं घटती है"**

ऐसी असहाय परिस्थिति में भी "यदि आप बुराई का त्याग करना चाहते हैं तो कर सकते हैं, क्योंकि शरीर का बल घटता है, बढ़ता है, **परन्तु अहं–रूपी अणु में जो अविनाशी तत्व विद्यमान है, उसके आधार पर उसकी शक्ति नहीं घटती है।"**

सार के रूप में देवकी बहिन जी के प्रवचन से स्वामी जी का उद्‌बोधन प्रस्तुत है–

"दो बातें महाराज जी ने कही हैं। पहली यह है कि जीवन का बड़ा भारी पुरुषार्थ है बुराई रहित होना और उस बुराई रहित होने में दो बातें basic truth अर्थात् मौलिक सत्य हैं कि आपके अहं–रूपी अणु में, अपार शक्ति भरी पड़ी है। आप

तय कर लेंगे कि इस बुराई को जीवन में नहीं रखना है तो वह नहीं रह सकती है। और दूसरी यह कि फिर भी किसी समय आपको दुर्बलता मालूम होती हो और आप बुराई रहित होने के लिये आप व्याकुल हो जायें, तो आपका परम हितैषी जो सामर्थ्यवान है वह आपकी बुराई को उसी समय मिटा देगा, फिर आपको कोई प्रयास नहीं करना पड़ेगा।....."

5. इस साधन–सूत्र को समाप्त करने के पहले तरुतले (भाग–3) में छपे मानव सेवा संघ के दो संत–प्रेमी साधकों के संस्मरण से कुछ बहुत ही अर्थपूर्ण तथा ज्ञानप्रद उद्धरण प्रस्तुत हैं।

प्रथम साधक :

(i) "8 मार्च, 1974 को मेरी वर्षगाँठ थी। मैं प्रसन्न होकर श्री महाराज जी (संत स्वामी शरणानन्द जी) के पास गई। पिताजी–पिताजी आज मेरा बर्थ डे है। स्वामी जी ने पूछा–तुम पैदा हुई थी क्या? मैं तो सोच रही थी कि आशीर्वाद देंगे, पेड़े खिलायेंगे। पर यहाँ तो बड़ा असमंजस! फिर बोले–**देखो, तुम न पैदा हुई, न मरोगी। जो उत्पन्न हुआ है उसकी अवधि तो घट रही है।** खुशियाँ मना रही हो, कि सावधान हो रही हो कि इतने दिन बीत गये, साधन नहीं बना? अब एक भी पल बिना साधन न जाय, प्रभु की स्मृति के बिना न जाय।"

(ii) "भोजन करने दोपहर में रसोई में जा रही थी। पूछा–कहाँ जा रही हो? मैंने कहा रोटी खाने। पुनः पूछा–तुम खाओगी? समझ में नहीं आया क्या उत्तर दूँ। पुनः ज़ोर देकर पूछा कि क्या तुम खाओगी? ख़्याल आ गया। नहीं पिताजी शरीर को खिलाउँगी। श्री महाराज जी ने कहा–देखो बेटी, अन्तर्यामी परमात्मा घट–घट में बैठा है, **सो स्वयं खाना नहीं है, बल्कि प्राण भगवान को आहूति देना है।** सोना नहीं है, उनकी याद में डूबना है।....."

(iii) "जब कभी हम लोग कहते कि पिताजी! सब आपकी कृपा से हुआ है। तो डाँटकर कहते कि करने वाला है परमात्मा और नाम लेती हो मेरा। पिताजी! अपने भगवान से हमारे लिये कह दीजिये, ये करा दीजिये। तो कहते देखो! मैं तुम्हारे और भगवान के बीच का दलाल नहीं हूँ। मैंने अपना विश्वास किसी को नहीं दिलाया। **तुम्हारा और तुम्हारे प्रेमास्पद का सीधा सम्बन्ध है।**"

द्वितीय साधक :

(iv) "मेरी तो सारी शंका का समाधान उनके (स्वामी जी) पास बैठने मात्र से हो जाया करता था। प्रश्नों का उत्तर मिल

जाता था। मुझे कभी कुछ पूछना नहीं पड़ा। पूज्य स्वामी जी (मेरे बाबा) सामने हों या दूर हों, इस बीच कोई शंका उठी या किसी ने मन में भ्रम दिया, तो सबका निवारण हो जाता था।"

साधक के परिवार के एक घनिष्ठ शिक्षक ने कहा–"सधवा स्त्री को माँ का भक्त होना चाहिये, भगवान का नहीं। भगवान परीक्षा लेते हैं, सब चीज़ छीन लेते हैं। जैसे धन, जन, मान, प्रतिष्ठा इत्यादि छीनकर देखते हैं कि भक्त हमसे भक्ति करता है या 'चीज़ों' से। मैं पूज्य स्वामी जी के विचारों के अनुसार बोली कि मेरे स्वामी जी (बाबा) ऐसा नहीं कहते। सन्त वाणी में–जो जिस परिस्थिति में रहता है, उसी परिस्थिति में प्रभु मिलते हैं।"

"कुछ महीनों के बाद पूज्य स्वामी जी का आगमन पटना हुआ। प्रवचन के प्रथम बैठक में ही पूज्य स्वामी जी ने कहा कि–प्रभु सर्वज्ञ हैं, सर्वत्र हैं। वह सब जानता है। उससे कुछ छिपा नहीं है। वह सबके अन्तरतम में है, सब जगह है। वह क्या परीक्षा लेगा? परीक्षा तो शिक्षक लेते हैं अपने शिष्यों की जो नहीं जानते हैं कि शिष्य ने कितनी जानकारी हासिल की है। जो कोई भी प्रभु के लिये ऐसी बातें करता है, वह भ्रम फैलाता है। प्रभु एक है, रूप अनेक हैं।"

6. और अब स्वामी जी ही का एक बहुत मर्म–स्पर्शी उद्‌बोधन :

"आप लोग अपने दिल को टटोलें कि जिनके पास संग्रह है, क्या उन्हें सचमुच दुःखियों का दर्शन नहीं होता? दिन रात होता है महाराज! अपनी अयोग्य संतान के लिये रखे रहते हैं, योग्य अधिकारी (पात्र) को नहीं देते हैं। यह क्या है? उदारता नाश हो गई। उदारता का तो अर्थ यह है कि जब दुःखी पर दृष्टि पड़े, तो आपका हृदय करुणित हो जाए। **करुणा का अर्थ यह है कि आप अपना सुख बाँटने के लिये विवश हो जाएँ**, और जब सुखी पर दृष्टि पड़े तो चित्त प्रसन्न हो जाये। प्रसन्नता का अर्थ यह है कि काम का नाश हो जाये।

जिसके जीवन में पर–पीड़ा होती है, उसके जीवन में करुणा की धारा अविरल बहती है। **करुणा के रस से भोग की रुचि का नाश स्वतः हो जाता है।**"

7. जिस प्रकार प्रकाश की न्यूनता ही अंधकार है, उसी प्रकार "ज्ञान की न्यूनता 'अज्ञान', प्रेम की न्यूनता 'द्वेष', त्याग की न्यूनता 'राग' और उदारता की न्यूनता 'लोभ' है।" ■

साधन-सूत्र : 78

प्रभु–विश्वास और अहं का अभिमान!!

पहले के साधन–सूत्रों में यह चर्चा हो चुकी है कि एक परम–सत्ता है जिसे हम लोग ईश्वर, भगवान आदि नामों से सम्बोधित करते हैं। चूँकि वह हमारे ज्ञानेन्द्रियों से परे असीम अनन्त हैं, उन्हें माना ही जा सकता है और उनकी ही कृपा से 'स्व' द्वारा उनका अनुभव भी होता है। हमारे जीवन में एक ऐसे सम्बल की आवश्यकता है जो नित्य हो, सर्व–समर्थ हो, सर्वत्र हो, सभी का हो और अतिशय दयालु हो। किसी विदेशी दार्शनिक ने कहा था कि 'Even if there were no God, one would have had to be invented' अर्थात् यदि ईश्वर न भी होते तो एक ईश्वर का आविष्कार करना पड़ता। क्यों, क्योंकि हमें ऐसी एक सत्ता के सम्बल की आवश्यकता है।

जब उनकी सत्ता, उनकी विद्यमानता में आस्था होती है, तब उनकी महिमा, उनके ऐश्वर्य को देख समझकर श्रद्धा उपजती है और फिर विश्वास बनता है। परन्तु यह कैसा प्रभु–विश्वास कि यह जानते और मानते हुए भी कि केवल प्रभु ही प्रभु हैं, उनके अतिरिक्त कोई और नहीं कुछ और नहीं, फिर भी अपने अहं को बनाये रखते हैं, उसको पोषित करते हैं। इसी कारण अपने को प्रभु–विश्वासी कहने और इसकी स्वीकृति के बावजूद हम जीवन के अपने लक्ष्य, योग, बोध प्रेम, की प्राप्ति में पिछड़ जाते हैं। इसी पृष्ठभूमि में आगे मानव सेवा संघ के दर्शन पर आधारित विश्लेषण प्रस्तुत है।

ईश्वर–विश्वास के प्रकरण में यह कई बार चर्चा हो चुकी है कि अन्य सम्बन्ध का एक सम्बन्ध में, अन्य विश्वास का एक विश्वास में और सभी इच्छाओं का एक आवश्यकता (प्रभु–प्रेम) में लय होना आवश्यक है और तभी ईश्वर–विश्वास की सार्थकता है। परन्तु होता क्या है कि हम अपने को ईश्वर–विश्वासी कहते और मानते हैं पर करते कुछ और हैं। देवकी बहिन जी के एक प्रवचन से उद्धरण नीचे प्रस्तुत है–

"हमसे गलती क्या हुई? हमसे गलती यह हुई कि हमने ईश्वर की सत्ता को तो माना और उनको अपने जीवन का

आधार बनाना भी पसन्द किया लेकिन जहाँ–जहाँ हमें ज़रूरत पड़ी, वहाँ–वहाँ तो हमने ईश्वर की सत्ता को अपने जीवन का आधार माना और जहाँ–जहाँ उन्हीं का दिया हुआ बल हमारे काम आया तो वहाँ–वहाँ अपने अहं का पोषण करते रहे। यह भूल हो गई।"

"दुनिया में काम करने चले। अगर बुद्धि काम कर गई तो वाह! मेरी बुद्धि बहुत अच्छी है। देखो, मैंने यह काम निकाल लिया। अगर शरीर का बल काम आ गया तो देह का अभिमान थोड़ा पुष्ट हो गया। बड़ा बलवान है शरीर मेरा। काम मैंने कर लिया तो बुद्धि काम आ गई, तो मेरा बल काम आ गया, तो चालाकी चतुराई काम आ गई, तो मेरे नाते रिश्ते, कुटुम्बी काम आ गये, तो यह सब मेरा। यह बड़ी भारी भूल हमसे होती है कि जहाँ हम असमर्थता अनुभव करते हैं वहाँ कहते हैं हे प्रभु, मैं सब तरह से तुम्हारी शरण में हूँ। और जब वह काम अपना निकल गया तो भीतर से ऐसी प्रतिक्रिया होती है–मैंने अनुभव करके देखा है।..... मैं साधन सम्बन्धी बात कहती हूँ कि जहाँ–जहाँ पर मन और चित्त की विकृति से मैं स्वयं बहुत दुःखी होती तो स्वामी जी महाराज की सलाह लेती कि क्या करूँ।"

"महाराज जी कहते..... तो लाली, गाय के तुरन्त जन्मे हुए बच्चे की तरह ही कितनी भी असमर्थ और गंदी क्यों न हो, तुम अपनी सारी गंदगी सहित उस जगतजननी, उस जगतपिता की शरण में अपने को छोड़ दो। तुम छोड़ दो अपने को। तुम चित्त की विकृतिओं से संघर्ष मत करो। तुम तो प्रभु की शरण में अपने को डालकर छोड़ दो। तो वे करुणा–सागर वे जगत–जननी करुणामयी माँ तुम्हें अपनी कृपा से अपनी अहैतुकी कृपा से साफ़ सुथरी बना देंगी। अपनी भक्ति के लायक बना देंगे। अपने प्रेम का पात्र बना लेंगी। तुम चिन्ता मत करो।"

देवकी बहिन जी ने इसका कैसे पालन किया, आगे उद्धरण से ज्ञात होगा–

".....मैं उनसे (प्रभु से) कहती..... इस दुनियाँ में आ करके सुख के लालच में पड़कर के सुख–भोग की तृष्णाओं से प्रेरित होकर के मन को, चित्त को सबको मैंने गंदा कर लिया है। अब हे कृपालु! हे करुणासागर! मैं बहुत सच्चाई के साथ कोशिश कर के हार गई हूँ, अब मेरे द्वारा इस जीवन की अशुद्धि का नाश नहीं हो रहा है। आपके परम मित्र मेरे सद्गुरु ने मुझको सलाह दी है कि आप से प्रार्थना करूँ, अपने को छोड़ दूँ। अब हे कृपालु,

आप अपनी कृपा से सम्भालें।"

यदि सजग नहीं हैं तो क्या होता है उन्हीं के शब्दों में–

"..... जब जब मेरे दिल का भार उतर जाता, जब जब वर्तमान क्षण की अशुद्धियों के हट जाने से बड़ा आराम मिलता भीतर से तो मैं अपनी नादानी आपको क्या बताऊँ आपको, चित्त की शान्ति, मन की शान्ति, भार का हल्कापन और शुद्धि का आराम जब मुझे मिल जाता तो मैं उस कृपालु को भूल जाती और यह बात मेरे सामने आ जाती कि मैं बहुत बढ़िया साधक हूँ। मुझको शान्ति मिल गई।"

"एक बार नहीं, अनेक बार ऐसा हुआ और बिल्कुल सही–सही चित्र आपके सामने रखकर निवेदन कर रही हूँ कि–**जब जब साधक के भीतर अपनी साधना के फल का आभास आ जाता है वह सत्य से दूर हो जाता है।** यह आभास आ गया कि मैं बहुत बढ़िया साधक हूँ।..... अपने बल का अभिमान आ गया। अपने अच्छेपन का एक आभास आ गया। ..... यह बिल्कुल सच्ची बात है कि इस लिमिटेड पर्सनैल्टी (Limited personality) सीमित अहं भाव का पोषण हो तो मुझको इस सत्य से विछिन्न करके रखता है।....."

इसे देवकी बहिन जी ने आगे इस प्रकार समझाया है कि–

"आनन्द स्वरूप में रहने वाला मनुष्य, आनन्द स्वरूप की धातु से रचा गया मनुष्य और रोनी रोनी सूरत बना के ग़मगीन चेहरा लेके दुनियाँ में घूमता है– मैं बड़ा दुःखी हूँ। मैं बड़ा दुःखी हूँ। अरे, आनन्द स्वरूप में तुम वास करते हो। आनन्द स्वरूप तुम्हारे भीतर बाहर भरपूर है। आनन्द स्वरूप की धातु से बनाये गये हो और कहते हो कि मैं बड़ा दुःखी हूँ। तो ऐसा हम लोगों को क्यों लगता है? ऐसा इसलिये लगता है कि उस सीमित व्यक्तित्व के अहं को हम मिटने नहीं देना चाहते। पहले हीरा मोती से श्रृंगार करते थे, अब 'शान्ति' से श्रृंगार करने लग गये। पहले अच्छे अच्छे कपड़े गहने पहिन कर दूसरों की अपेक्षा अपने को कुछ विशेष समझते थे, अब साधना के फल का श्रृंगार हो गया। हम बड़े शान्त रहते हैं। हमारा चिन्तन बड़ा शुद्ध हो गया। हमारा मन बड़ा शान्त हो गया। तो हम सत्य के निकट पहुँचे या दूर हो गये? दूर हो गये।"

इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वामी जी का कथन सुनाया है कि–

"अपनी दुर्बलताओं से व्यक्ति, सर्वसमर्थ की महिमा का आधार लेने वाला व्यक्ति, दुर्बल से दुर्बल, पतित से पतित साधक आगे निकल जाता है और गुणों का

अभिमान रखने वाला बड़ा से बड़ा पंडित पीछे रह जाता है।"

देवकी बहिन जी ने यह कहते हुए कि "मुझमें ही विद्यमान वह अनन्त जीवन, अनन्त आनन्द का सागर लहरा रहा है, अनन्त प्रेम का रस लहरा है–यही उसका स्वरूप है" प्रश्न् किया कि "उसकी विद्यमानता का अपने को पता क्यों नहीं चलता?"

इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि–

"..... लेकिन मूल भूल क्या है? तो मूल भूल के रूप में यह अहं का अभिमान है। यह मैं हूँ, यह मेरी बुद्धि, यह मेरा बल, यह मेरा जप, यह मेरा तप। तो इस के अभिमान से हम उस सत्य से दूर हो जाते हैं। **इस सीमित अहं के अभिमान का घेरा हम लोगों को सत्य से बिछुड़ा देता है। यह सीमित अहं न रहे, यह गल जाय तो हमारे और उसके बीच कोई अन्तर ही नहीं रहता है।"**

मानव सेवा संघ के ग्यारह जीवनोपयोगी नियमों में नवाँ नियम है "शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी तथा अहं को अभिमान शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।" यह बात गाँठ बांध लेना चाहिये कि यदि अहं अभिमान शून्य नहीं हुआ तो सारी साधना निरर्थक हो जायेगी। अहं का अभिमान रखते हुए सत्य से अभिन्नता हो ही नहीं सकती। उपाय बहुत सहज है, बस प्रश्न् यह है कि हम अपने अहं को पुष्ट करना चाहते हैं, उसे सजाना चाहते हैं– मेरा यह, मेरा वह, अथवा सत्य से अभिन्न होना चाहते हैं, प्रभु–प्रेम से सराबोर होना चाहते हैं।

यदि सत्य से अभिन्न होना चाहते हैं, प्रभु–प्रेम की प्राप्ति चाहते हैं **तब मात्र इतना ही तो स्वीकार करना है कि मैं कुछ नहीं हूँ, मेरा कुछ नहीं है, सब कुछ प्रभु का है। सब कुछ प्रभु का ही दिया है।** चाहे बुद्धि–बल हो, शरीर–बल हो, धन–बल हो, सब कुछ उन्हीं की देन है। अपना करके कुछ भी नहीं है। यह कोरा सिद्धान्त नहीं है, यह यर्थाथता है, वास्तविकता है। अपने स्वामित्व की मुहर लगाने के बजाय प्रभु के नाम की मुहर लगा दें, अहं पोषित नहीं होगा।

साधन–पथ में अपनी असमर्थता की पीड़ा, वेदना से भी अहं का अभिमान गलता है। अहं गल गया तो काम बन गया। इस विषय के साथ–साथ प्रभु–विश्वास की भी चर्चा हो जाय, इसलिये देवकी बहिन जी के एक प्रवचन का थोड़ा लम्बा उद्धरण आगे प्रस्तुत है–

"बिहार प्रान्त में भागलपुर एक नगर है। वहाँ सत्संग का कार्यक्रम चल रहा था।

मैं महाराज जी के साथ थी। तीन साल हुए थे मुझे सन्त की शरण में आये हुए, विचार के लिये, सत्संग के लिये। और स्वास्थ्य प्रारम्भ से ऐसा ही डगमग रहता रहा है, अच्छा नहीं रहता। उस समय तबियत कुछ ज़्यादा खराब हो गयी थी। मैं चुपचाप बिस्तर में लेटी हुई थी, भीतर भीतर से परेशान थी। स्वामी जी महाराज आए। बिस्तर के पास एक कुर्सी रखवा कर उस पर बैठ गये और बैठकर मुझसे पूछने लगे कि देवकी जी, मरने से डरती हो क्या? सोचा कि भई, अब हम क्या बताएँ इनको! तो मैंने कहा–महाराज जी, अभी तो हमको पता नहीं चलता है। अभी तो लगता है कि मैं नहीं डरती हूँ। तो क्यों परेशान हो? तो मैंने कहा कि स्वामी जी बहुत दिन तक बेचैन रहने के बाद मुझे संत का सम्पर्क मिला है और सत्संग मैंने आरम्भ किया है तो मुझको चिन्ता है कि जल्दी से शरीर नाश हो गया तो मेरी साधना अधूरी रह जायेगी। तो क्या करुँगी मैं। ऐसा मैंने कहा। इतने ज़ोर का उनके भीतर उत्साह हुआ कि एकदम कहने लगे कि 'ईश्वरवाद को तुम ऐसी थोथी चीज़ समझती हो। अरे देवकी जी! अगर ईश्वरवाद ऐसा थोथा तत्व होता तो मानव समाज से कब का उठ गया होता। तुमने सोचा ही क्या है? भगवान को तुमने क्या समझा है? ऐसा नहीं होता है, लाली। मैं सच्ची बात कहता हूँ तुमसे कि **अधीर साधक की प्रार्थना के वाक्य पूरे होते हैं पीछे और समर्थ प्रभु उसकी बाँह पकड़ते हैं पहिले।'** दोनों बातें बहुत अच्छी थीं।"

"मैं भीतर भीतर बहुत परेशान थी। वह परेशानी ईश्वर–विश्वासी साधक के लिए बड़ी शुभ होती है। अधीर हो जाओ। **भीतर से व्यक्ति जब अधीर होता है, घबड़ाता है भीतर से सत्य की प्राप्ति के लिये, परमात्मा की प्राप्ति के लिये, तो उसका अहं अणु जो है वह गल करके कोमल हो जाता है।"**

"जो बढ़िया ध्यान लगा सकता है, जो बढ़िया जप–तप कर सकता है उसका अहं जो है वह साधना के बल पर थोड़ा और मोटा हो जाता है कि मैं बहुत अच्छी तरह ध्यान कर सकता हूँ, मेरा तो कई–कई घंटे ध्यान लगता है। **साधना के बल पर अहं को गलाकर आप अपने प्यारे से मिलने के लिये चले थे लेकिन साधना के बल का सहारा लेकर अपने और उसके बीच की दीवार थोड़ी और मोटी बना ली।** लेकिन ईश्वर–विश्वासी साधक जो प्रभु की महिमा में विश्वास करता है, प्रभु की कृपालुता में विश्वास करता है, वह

नित्य, निरन्तर मुझ में ही विद्यमान है, सदैव मेरे साथ है–इस बात में जो विश्वास करता है, और 'वह' मुझको अपनाने के लिये, मुझसे अधिक तत्पर है, प्रभु के इस स्वभाव में जो विश्वास करता है उसके भीतर जब अपनी त्रुटि दिखायी देती है तो वह अधीर हो जाता है एकदम। क्या करें! इतने दिन हो गये। मैंने बहुत कुछ किया और अभी तक हमारे और उनके बीच की दूरी समाप्त नहीं हुई। जब वह ऐसा अधीर हो जाता है तब उसके भीतर से सच्ची प्रार्थना उपजती है और तब वह कहता है कि 'हे प्रभु मैं तुम्हारी शरण हूँ, मैं तुम्हारा शरणागत हूँ। और हे प्यारे, अपने को मैं अपने से सुधार नहीं सका। मेरे प्यारे! मेरे कृपालु! अब अपनी कृपा से मुझको अपने प्रेम का पात्र बना लेना, अपनी कृपा से मुझको सम्भाल लेना।' ऐसा वह अधीर होकर कहता है।"

इस सारी चर्चा का सार स्वामी जी के शब्दों में–

"प्रभु का शरणागत साधक अपनी असमर्थता की वेदना से पीड़ित होकर सर्व–समर्थ की कृपा की आवश्यकता अनुभव करता है तो **असमर्थता की वेदना से उसके अहं का अभिमान गल जाता है** और अहं शून्य होते ही उसको अपने प्यारे की प्रीति का अनुभव हो जाता है अर्थात् वह साधक प्रभु के प्रेम से अभिन्न होकर उनके अनन्त आनन्द में शामिल हो जाता है।"

अन्त में समापन के रूप में देवकी बहिन जी के वचन :

"तो ईश्वर विश्वास की दृष्टि से मेरे ध्यान में आया की यदि मेरे भीतर उस अनन्त तत्व की आवश्यकता जागृत हुई है तो मैं उसकी ओर आकर्षित होऊँगी। लेकिन उसकी ओर का आकर्षण इतना विशाल है, कि मेरी सम्पूर्ण अहंभाव की सीमा को वह अपने में समाहित कर लेने में समर्थ है। जो मधुर आकर्षण का एकदम लहराता सागर है उसकी ओर से जब खिंचाव पैदा होता है और उसका जो मिठास होता है उसको साधक कभी resist नहीं कर सकता। रोक ही नहीं सकता। वह बहुत प्रबल होता है। इस आधार पर हम भाई–बहिनों को यह सलाह दी गई कि भाई! तुम इस बात में अविकल्प विश्वास करो कि तुमको जिस जीवन की माँग है, वह जीवन है अवश्य। तो परमात्मा की चर्चा हम लोग कर रहे हैं, परमात्मा है अवश्य। जो लोग इस बात को मान लेते हैं कि परमात्मा है अवश्य तो उनका सहज आकर्षण परमात्मा की ओर बढ़ जाता है।"

■

साधन-सूत्र : 79

निःसंकल्पता का आनन्द

विचार हेतु सबसे पहले निवेदन है कि 'संकल्प' का शाब्दिक अर्थ क्या है। ऐसा समझ में आता है कि एक होती है चाह/कामना जिसमें व्यक्ति का अपने मन के अनुरूप कुछ पाने या करने का मन होता है, परन्तु उसी में दृढ़ता आ जाय कि नहीं, ऐसा होना ही है, मुझे यह पाना ही है आदि, तब वह संकल्प का रूप धारण कर लेता है। इच्छा/कामना तो हुई wish या desire परन्तु संकल्प हो गया determination/ resolve.

मानव सेवा संघ के दर्शन में "संकल्प कहते हैं किसको? कि जो आपको शरीर और संसार से जुटा दे, उसको संकल्प कहते हैं। अप्राप्त वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति की आवश्यकता में संकल्पों की उत्पत्ति होती है।"

वैसे तो कामना या चाह का भी त्याग की बात कही गई है। 'साधन–सूत्र'–49 शीर्षक 'क्या चाह और कामना के अभाव में, निष्क्रियता आ जायेगी' में इसकी विस्तार से चर्चा हुई है। अचाह, कामना–रहित होकर हम बड़े अच्छे से अपना कर्तव्य–कर्म कर सकते हैं। उसी प्रकार 'संकल्प' का हमारे जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। यदि कोई शुद्ध संकल्प उठा तो भी, स्वामी शरणानन्द जी की सलाह के अनुसार उसे जगत के नाते जगत के संकल्प में अथवा प्रभु के नाते प्रभु के संकल्प में मिलाकर छोड़ दिया जाय। इससे हमें निश्चिन्तता प्राप्त होगी और जहाँ तक उस संकल्प का प्रश्न् है– जहाँ केवल हमारी शक्ति कार्य करती उसके बजाय समष्टि अथवा ईश्वर की शक्ति कार्य करने लगती है। और यदि संकल्प शुद्ध एवं आवश्यक है तो वह बखूबी पूरा भी हो जाता है।

परन्तु हमें अपना कर्तव्य–कर्म करना ही है निःसंकल्प रह कर। उदाहरण के रूप में एक सच्ची घटना। एक सज्जन का बेटा इन्जीनियरिंग पढ़ने गया। पहले वर्ष में ही फ़ेल हो गया। कोशिश पैरवी करके एक चान्स दिलवाया। दुबारा फिर फ़ेल हो गया। तब स्वामी शरणानन्द जी के समक्ष उन्होंने इस समस्या को रखा। स्वामी जी ने दो काम करने को कहा। पहला, उसके ऊपर से

अपनी ममतारूपी पत्थर का बोझ हटा लो। दूसरे अपना संकल्प कि उसे इन्जीनियर बनना है, प्रभु के संकल्प में मिलाकर निश्चिन्त हो जाओ। लड़के ने जब दुबारा चान्स दिलवाने के लिये कहा तो पिता ने कहा कि अब मेरे वश की बात नहीं है। तब वह लड़का स्वयं ही सम्बन्धित वाइस–चान्सलर से मिला और पता नहीं क्या चमत्कार हुआ कि उन्होंने विशेष केस के रूप में उसे एक चान्स और दिलवा दिया। वही लड़का एक योग्य, वरिष्ठ इन्जीनियर के रूप में कार्यरत हुआ।

स्वामी जी का वचन है "शरणागत के आवश्यक कार्य प्रभु स्वयं पूरा करते हैं।" अपने महाप्रयाण के पूर्व उन्होंने एक परिस्थिति विशेष में एक साधक से यह वाक्य बोला था और फिर आगे कहा था कि "कन्या का विवाह एक आवश्यक कार्य है, इसलिये तू क्यों चिन्ता करता है।"

हमसे त्रुटि यह होती है कि हम अपने को ईश्वर–विश्वासी कहते हैं, प्रभु के शरणागत भी कहते हैं; परन्तु साथ में अपना कोई न कोई संकल्प बना लेंगे, कोई संकल्प पाल लेंगे जैसे बेटी का विवाह ऐसे परिवार में, ऐसे व्यक्तित्व वाले लड़के से ही हो, आदि। बहुत पुरानी बात है एक सज्जन एक संत के पास आये। उनके कुशलक्षेम पूछने पर कहा कि माता जी, बेटी के विवाह के लिये मैंने एक ऐसा ऐसा सुयोग्य लड़का देख रखा है, अब आप ऐसा आशीर्वाद दीजिये कि उसी से शादी हो जाय।

उनके जाने के बाद चर्चा आई कि यह कैसा ईश्वर विश्वास कि चयन हमारा किया हुआ और प्रभु को निर्देश कि अब तुम ऐसा कर ही दो। अर्थात् मैं तुमसे ज़्यादा ज्ञानी और दूरदर्शी हूँ, मैं जैसा कह रहा हूँ वैसा ही बस कर दो। क्या यह विचार और विश्वास का अन्तर्विरोध (self contradiction) नहीं है?

यदि सचमुच ईश्वर–विश्वासी हैं, उनके शरणागत हैं तब तो भाव यह होना चाहिये कि मैं वर ढूँढने का धर्म–कर्म निर्वाह कर रहा हूँ, तू जहाँ ठीक समझना वहाँ करवा देना। अंग्रेज़ी में इसे कहते हैं– THY WILL BE DONE. अपना किया हुआ गलत हो सकता है परन्तु उनके द्वारा हुए का गलत होने का प्रश्न् ही नहीं है। यह केवल मान्यता ही नहीं है, अनेक लोगों का अनुभव है।

इस प्रस्तावना के बाद दिव्य ज्योति देवकी बहिन जी का एक प्रवचन शीर्षक 'निःसंकल्पता की साधना' आगे अक्षरशः प्रस्तुत है–

सत्संग प्रेमी माताओं, बहिनों और भाइयों!

"संकल्प किसको कहते हैं? कि जो आपको शान्ति से भटका दे, जो आपको बाह्य जगत में प्रवृत्त करा दे, जो पूर्ति में सुख का भास पैदा करे और अपूर्ति में दुःख, क्रोध और क्षोभ पैदा करे। संकल्प की निवृत्ति जीवन की माँग होती है। वह नया संकल्प नहीं होता।

अभी शरीर का भास खतम नहीं हुआ है लेकिन हम लोग शान्ति की माँग अनुभव करते हैं, अविनाशी जीवन की माँग अनुभव करते हैं, परमात्मा के प्रेम की अभिलाषा लेकर इस दुनियाँ में हम लोगों ने सत्संग पसन्द किया है। देह का भास मिटा तो नहीं है।

शरीर के साथ मिलकर सत्य की चर्चा करने के लिए हम बैठे हैं शरीर की सहायता लेकर। मैं बोल रही हूँ और हमारे भाई बहिन आप सभी शरीर की सहायता लेकर सुन रहे हैं। शरीर के बिना तो बोलना–सुनना सम्भव नहीं है। इसलिए शरीर के सहयोग से यह काम सम्पादित हो रहा है।

फिर भी हमारे जीवन में चिर–शान्ति की माँग है। जन्म–मरण की बाध्यता मिट जाय, परम स्वाधीनता और परम प्रेमास्पद के प्रेम से हम अभिन्न हो जाएँ, ऐसी हमारी माँग है। इस माँग की जागृति में शरीर का भास रहते हुए भी निःसंकल्पता की साधना साधकजन करते हैं।

दक्षिण वाले स्वामी रामदास जी के जीवन में इस तरह की बात साधना के प्रारम्भ में ही आई थी। अब उन्होंने निश्चय किया कि राम के होकर रहना है, तो घर से निकल कर कहीं बैठ गए। किसी ने कहा, वहाँ चलोगे? 'अच्छा राम जी'। अब उतर जाओ–अच्छा राम जी। अब यह भोजन ले लो, 'अच्छा राम जी'।

रेलवे लाइन के किनारे एक बुढ़िया बैठी उन्हें देखती रहती थी। चोट लग गई है, बिवाई फट गई है, कहीं मैल जम गया है, कहीं खून लग गया है, शरीर बिना स्नान के गंदा हो रहा है। वह बुढ़िया माँ उन्हें पकड़ कर ले आती और कहती, बैठ चल नहा। यहाँ बैठ। वे कहते, अच्छा राम जी। जो उसके पास होता, खिला देती।

वे हँसकर कहते, 'अच्छा माँ, अपने मन की भी कर ले'। वे बैठे रहते, खा लेते। माँ भेज देती, तो चले जाते अच्छा राम जी, अच्छा, अच्छा राम जी कहते हुए।

एक बार वे थर्ड क्लास में ट्रेन में बैठे थे। एक कांसटेबिल आया। उसको सोने का मन हुआ। उसने कहा, ए बाबा! बर्थ से उतर जा, नीचे बैठ। मैं सोऊँगा। अच्छा राम जी। वे नीचे बैठ गए। वह लेटने लगा।

उसके सिर पर तुर्रीदार पगड़ी थी। उसने बाबा से कहा, इसको रखे रहना। हम थोड़ा सोते हैं। अच्छा राम जी। वे बैठे रहे। वह सोता रहा।

महाराज जी कहते कि स्वामी रामदास जी से कई बार उनकी भेंट–मुलाकात हुई है। और खूब प्यार है स्वामी रामदास जी और महाराज जी में। उन्हीं स्वामी रामदास जी और उनके पाँच साधकों का सारे संसार में भ्रमण करने के लिए हवाई जहाज़ का इन्तज़ाम सरकार ने किया।

स्वामी जी महाराज ने हम लोगों को एक मंत्र बता दिया। प्रारम्भ कहाँ से करोगे? संकल्प जो अपने सुख सम्पादन का हो, उसको छोड़ते जाओ। संकल्प छोड़ना तो अपने बस में है। पैदा तो हुआ इसलिए कि हमको अभी शरीर का भास है। लेकिन उस को छोड़ना अपने वश की बात है। तो छोड़ दो।

अगर सर्वहितकारी संकल्प हो तो उसको पूरा करने में पूरी ताकत लगा दो। हो जाय तो ठीक, न हो जाय तो ठीक। अगर समर्पण भाव के साधक हों, तो जैसी परिस्थिति जुटती जाए, प्रभु के मंगलमय विधान को मानकर उसमें समय और शक्ति लगा दो। पूरा हो जाए तो ठीक, बिगड़ जाए तो ठीक।

ईसा मसीह और उनकी माँ कहते, प्रभु! तेरी इच्छा पूर्ण हो। ईश्वर विश्वासी साधकों को सलाह दी महाराज जी ने कि **अगर कोई सर्वहितकारी संकल्प उठे तो प्रभु के संकल्प में मिला के उसको छोड़ देना कि अगर, यह भगवत् संकल्प के अनुरूप है, तो पूरा हो जाए।** तुम्हारी सामर्थ्य अल्प हो सकती है।

जब भगवत् संकल्प में उसको मिलाओगे, **तो प्रभु के संकल्प से बहुत से सामर्थ्यवान आकर तुम्हारे साथ जुट जायेंगे** और वह काम पूरा हो जाएगा। (अनेक लोगों का अनुभव है–ऐसा हुआ है और होता है) हो गया तो प्रभु की शक्ति से हो गया, और नहीं हुआ तो साधक यही समझेगा कि यह संकल्प पूरा होना ज़रूरी नहीं था, इसलिए नहीं हुआ।

दोनों ही दशाओं में उसे न अभिमान आयेगा, न क्षोभ आयेगा। अगर पूरा हो गया, तो यह संकल्प मेरे मालिक के संकल्प के अनुरूप था। **भगवत् शक्ति से यह पूरा हुआ तो साधक को यह अभिमान नहीं आयेगा कि मैंने बड़ा भारी काम किया।**

अगर नहीं पूरा हुआ, तो उसको कोई क्षोभ नहीं होगा। वह मानेगा कि इसका पूरा होना ज़रूरी नहीं था, इसलिए पूरा नहीं हुआ, नहीं तो यह ज़रूर पूरा हो जाता। ऐसे

क्रमिक ढंग से साधना के रूप में आगे बढ़ते–बढ़ते निःसंकल्पता की स्थिति आ जाती है और **निःसंकल्पता जो है, वह अविनाशी जीवन में प्रवेश पाने का एक संधि स्थल है।** इधर का सब छूटा और उधर का आरम्भ हो गया।

संकल्प सहित मैं हूँ तो मेरे सामने संसार है, सामान है, व्यक्ति है, परिस्थिति है, अनुकूलता है, प्रतिकूलता है, समर्थक हैं, विरोधी हैं, दुःख है और सुख है। यह कब है? जब मैं अपने संकल्प के साथ हूँ तब है। जब साधना की बात शुरू हो गई, सत्संग का प्रकाश लेकर चलना आरम्भ हो गया, तो अपने लिए कुछ नहीं करना है, अपना कोई संकल्प ही नहीं है।

शरीर है, समाज है, और राग निवृत्ति का साधन बाकी है, तो सामूहिक हित की दृष्टि से कोई बात भीतर उठ रही है कि अगर ऐसा हो तो सबका हित हो। ऐसे संकल्प में जो सामर्थ्य होगी, जो समय होगा वह लगा देंगे। पूरी शक्ति से, ईमानदारी से कर देंगे। उसका फल जो बनना है, सो बनेगा। **लेकिन कर्ता करने के राग से फ्री होकर निःसंकल्पता की शान्ति में निवास करेगा।** इसलिए महाराज जी ने प्रारम्भिक साधकों के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को समान महत्व दिया।

जब व्यक्ति राग रहित हो जायेगा, तो शरीर रहेगा और संकल्प नहीं रहेगा। शरीर से प्रवृत्ति होगी और शरीरधारी उसमें प्रवृत्ति के प्रभाव से आक्रान्त नहीं होगा। शान्ति और गाढ़ी हो जाती है। सही काम करने के बाद मूक–सत्संग में आते ही, निवृत्ति में आते ही शरीर और संसार का सम्बन्ध टूट जाता है, तादात्म्य छूट जाता है, **अविनाशी जीवन के बोध का आनन्द रह जाता है। उस देहातीत जीवन के आनन्द की मस्ती में रहते हैं।**

आनन्दमयी माताजी खुद ही अपने मुख से अपने देहातीत जीवन का आनन्द सुना रहीं थीं। तो कह रही थीं कि नौ बरसों तक अपने को पता नहीं चला कि कहाँ शरीर है, कहाँ संसार। देहातीत जीवन के आनन्द में, संकल्प–विकल्प, निर्विकल्प सबके पार पहुँच गईं। बताएँ कि भूख का भी पता न चले, नींद का भी पता न चले। वे एकदम इतने सहज भाव से बिल्कुल सरल बालक की तरह वर्णन कर रही थीं कि किसी को खाते हुए जब यह शरीर देखता, किसी को भोजन करते देखकर, बँगला भाषा में बोलतीं "की भालो लाग्चै?"

कभी–कभी कहतीं कि यह शरीर ऐसे ही उठकर के चला जाता भोजन के पास। कुत्ता खा रहा है, पत्तल चाट रहा है।

कोई बच्चा खा रहा है, कोई व्यक्ति खा रहा है। तो देखकर ऐसा लगता कि कितना सुन्दर लग रहा है! शरीरधारी पुरूष से उनका विवाह भी हुआ था। आनन्दमयी माताजी उनको भोलानाथ कहती थीं। बँगला भाषा में ही साधु लोगों को सुना रहीं थीं कि कभी मैं इधर, कभी उधर जाती, तो भोलानाथ मुझको पकड़कर सँभालते रहते।

उन नौ बरसों के बीच में महिलाओं ने जिस तरह उनके शरीर को सँभाला, आखिरी समय तक वही क्रिया चलती रही। कोई नहला देती, कोई कपड़े पहना देती, कोई बाल बना देती, कोई खिला देती, कोई जल पिला देती। यह अन्त समय तक चलता। अपने से ग्रास उठा के मुख में उन्होंने डाला ही नहीं।

मैं इस बात की सत्यता में पूरा विश्वास करती हूँ कि साधक यदि स्वस्वरूप में स्थित होना चाहे अथवा परम प्रेमास्पद प्रभु के हर प्रकार से आश्रित होकर उनके प्रेम से अभिन्न होना चाहे, तो **उसके लिए अनिवार्य फैक्टर है कि वह निःसकल्पता को धारण करे।**

शरीर के रहते–रहते समाज का काम करते–करते, इस सत्य को स्वीकार करना पड़ेगा। उस निज स्वरूप पर जिसकी दृष्टि लग जायेगी, अथवा वह परम प्रेमास्पद प्रभु जिसको पसन्द आ जायेगा उसका अपना व्यक्तिगत संकल्प पहले खतम हो जायेगा। फिर सेवा करते–करते मन की शुद्धि हो जायेगी।

मैं अपने लिए तीन वाक्यों का प्रयोग करती हूँ। पहली बात है, संत कृपा। क्योंकि पहली बार मुझे स्वामी जी महाराज की कृपा का ही दर्शन हुआ। तो पहली बात है, संत कृपा और दूसरी बात है भगवत् कृपा और तीसरी बात है, जीवन का मंगलमय विधान।

जीवन का बड़ा मंगलकारी विधान है, जो सबके साथ काम करता है। उसके आधार पर मैंने ऐसा अनुभव किया कि शरीर से सम्बन्ध रखते हुए और जगत से सम्बन्ध रखते हुए भी अशुभ संकल्पों का त्याग संभव है। ऐसी बुराई नहीं करेंगे, ऐसी गलती नहीं करेंगे, किसी को नुकसान नहीं पहुँचायेंगे, किसी का बुरा नहीं सोचेंगे। यह अशुभ संकल्पों का त्याग है। अशुभ संकल्पों का त्याग करते हुए और सर्वहितकारी भाव से, सेवा भाव से शुभ संकल्पों को पूरा करते हुए व्यक्ति साधना में आगे बढ़ता है।

स्वामी जी महाराज कहते हैं कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, सर्व समर्थ प्रभु अपने हैं–यह सत्य है। इसको स्वीकार करो। हम लोगों को संत की वाणी

में पूरा पक्का विश्वास है कि महाराज जी जो कह रहे हैं, वह बिल्कुल ठीक है।

सत्य जिनके जीवन में अभिव्यक्त हो गया, ऐसे अनुभवी संत के पास बैठो, तो पता नहीं कब कैसे अपने भीतर, अपनी असमर्थता की ग्लानि में अहं का अभिमान गल जाता है। **जीवन का जो सत्य है वह अपने को प्रभावित कर देता है और हम वास्तविक जीवन का आनन्द ले लेते हैं।** ऐसा अनेकों साधकों के मुख से मैंने सुना है और स्वयं भी अनेक बार ऐसा पाया है।

इस आधार पर मैं निवेदन कर रही हूँ कि जीवन क्या है, जीवन का सत्य क्या है, उसका आनन्द कैसा है, इसकी झलक अगर अपने को मिल गई तो वही एक सम्बल होता है। साधक अपनी साधना से डगमगाता नहीं। यह बड़ी ज़ोरदार चीज़ है।"

श्री रघुकुल तिलक जी जो राजस्थान के राज्यपाल भी रहे उद्‌भट विद्वान एवं जिज्ञासु–वृत्ति के साधक थे। स्वामी शरणानन्द जी के प्रति उनकी निष्ठा एवं श्रद्धा गहन थी। एक अवसर पर उन्होंने अपने वक्तव्य में अन्य बातों के अतिरिक्त निःसंकल्पता के आनन्द का अपना स्वयं का अनुभव इस प्रकार वर्णन किया :

"तीसरी बात जिसका संकेत स्वामी जी के प्रवचन में भी हुआ और देवकी बहन ने भी कहा कि संकल्प–पूर्ति का लोभ छोड़ दो। इसको भी मैंने करके देखा– यह मैं आपको कह सकता हूँ। अपना संकल्प नहीं रखा, और मैंने देखा कि इससे मुझे जीवन में बड़ी शान्ति मिली। एक तो संकल्प–अपूर्ति से जो दुःख होता है उससे मुक्त हो गया और अपने संकल्प से जीवन चलता भी कहाँ है? जीवन तो प्रकृति के विधान से चलता है। संकल्प करके हम दुःखी होते हैं। संकल्प यदि पूर्ण नहीं होता है तो हम दुःखी होते हैं, पूर्ति होती है तो क्षणिक सा सुख होता है। संकल्प–पूर्ति का लोभ हम छोड़ दें और प्रभु के ऊपर छोड़ दें। जैसा होता है उसे स्वीकार कर लें। स्वामी जी कहते थे कि करने में सावधान और होने में प्रसन्न रहना है।"

ऐसी निःसंकल्पता की साधना का परिणाम क्या हुआ–नित्य आनन्द की प्राप्ति। इसीलिये इस साधन–सूत्र का शीर्षक रखा गया है 'निःसंकल्पता का आनन्द'।

■

निःसंकल्पता आ जाने पर 'है' (सत्) में प्रतिष्ठा और 'नहीं' (असत्) से सम्बन्ध–विच्छेद स्वतः हो जाता है।

साधन-सूत्र : 80

मानव जीवन के सबसे ऊँचे विकास के लिये सर्व–मान्य सार्वभौम सत्य

एक सत्संग समारोह के अवसर पर देवकी बहिन जी ने पिछले दिनों हुए सारे विवेचन के समापन के रूप में, अपने प्रवचन में एक प्रकार से पूरे कोर्स को दुहराया (course revise किया) है। उसी तरह अब तक के साधन–सूत्रों में प्रस्तुत संत–वचन की पुनरावृत्ति (revision) के रूप में, उनके उसी प्रवचन के कुछ अंश प्रस्तुत है:–

"मानव जीवन के सबसे ऊँचे विकास के लिये जो सर्व–मान्य और सार्वभौम सत्य है, वह संत–वाणी में हम लोगों ने अभी सुना। कह रहे हैं कि सेवा, त्याग और प्रेम के बिना किसी भी प्रकार से सर्व दुःखों की निवृत्ति, परम–शान्ति, जीवन–मुक्ति और भगवत्–भक्ति सम्भव नहीं है।"

उन्होंने भौतिक, आध्यात्मिक और आस्तिक तीनों ही दृष्टियों से व्याख्या किया है, सबसे पहले भौतिक दृष्टि से–

"भौतिक दर्शन के आधार पर हम लोगों ने इस बात को जाना है कि जब तक शरीरों में कुछ भी करने का बल है, तब तक उस बल का सदुपयोग आवश्यक है, इस लिये कि करने का राग मिट सके।.... .....अब क्या करें, कैसे करें? उसके सम्बन्ध में बताया गया कि जो भी शारीरिक बल, सामर्थ्य, मानसिक योग्यता, बुद्धि तुम्हारे पास है उसका दुरुपयोग कभी मत करना अर्थात् उस बल को लेकर कभी किसी को क्षति मत पहुँचाना। बुराई करेंगे नहीं, तो बुराई छोड़ देने के बाद समाज में रहकर शारीरिक बल से हम जो कुछ हम करेंगे वह भला ही होगा। शरीर और संसार की जातीय एकता मान करके एक शरीर पर अपनी ममता रख लेना, अपनी आसक्ति रख लेना, उसके माध्यम से व्यक्तिगत सुख भोगने की सोचना, यह असाधन है, भूल है। और मिले हुए बल को अपना न मानना, समाज का मानना, जगत का मानना, परिवार का मानना और उनके लिये हितकारी कार्य में उस बल का सदुपयोग कर देना और प्रीतिपूर्वक, उदारतापूर्वक, समाज जो कुछ दे दे, उस पर शरीर का निर्वाह कर लेना, यह साधन की बात है।"

अध्यात्म दृष्टि से देवकी बहिन जी द्वारा किये गये रिवीज़न की चर्चा के पूर्व, स्वामी शरणानन्द जी का एक प्रश्नोत्तर जो बहुत प्रासंगिक है, प्रस्तुत है :

किसी साधक ने प्रश्न् किया "भगवान का कार्य कितनी देर करें?"

उत्तरः चौबीस घंटे।

प्रश्नः चौबीस घंटे?

उत्तरः हाँ, चौबीस घंटे। तेइस घण्टे, उनसठ मिनट उनसठ सेकेण्ड भगवान का काम किया और एक सेकेण्ड अपना काम किया तो कुछ नहीं हुआ। चौबीस घन्टे ही काम करना है।

प्रश्नः चौबीस घंटे भगवान का काम करें तो खाएँ क्या?

उत्तरः मत खाओ, भूखे मर जाओ। अपना काम करते–करते, खाते–खाते नहीं मरोगे क्या?फिर यदि भगवान का काम करते–करते भूखे मर जाओगे तो अधिक घाटा तो नहीं लगेगा।

आगे उन्होंने कहा कि–

"मैं आपको लोभ तो नहीं देना चाहता किन्तु सत्य कहता हूँ कि जबसे मैंने भगवान की शरण ग्रहण की है तब से किसी दिन भूखा नहीं रहना पड़ा। ऐसा कभी नहीं हुआ कि शरीर को भोजन की आवश्यकता है और भोजन न मिला हो।"

तात्पर्य तो यह हुआ कि हमें प्रत्येक कार्य प्रभु के नाते प्रभु का ही कार्य मान कर करना चाहिये। खेती कर रहे हैं तो प्रभु का कार्य; कोई व्यवसाय कर रहे हैं तो प्रभु का कार्य; कोई नौकरी पेशा है तो वह भी प्रभु का कार्य, अध्यापन कर रहे हैं तो वह भी उन्हीं का कार्य है। इस भाव से काम करने से कार्य–कुशलता में कोई अन्तर नहीं आयेगा, बल्कि बेहतर ही होगा। इसके दो लाभ होंगे–एक तो यह भाव जब रहेगा तब हमें प्रभु की स्मृति बनी रहेगी और उनके प्रेम का आनन्द पाते रहेंगे। दूसरे जब प्रभु का कार्य समझ कर करेंगे तो अपनी नियत खराब नहीं होगी–सब कुछ ईमानदारी से अपनी पूरी योग्यता लगा कर करते रहेंगे।

मुख्य विषय पर लौटते हुए, देवकी बहिन जी के प्रवचन का आध्यात्मिक दृष्टि से सम्बन्धित अंश उद्धरित है–

"अध्यात्म दृष्टि से, जीवन के दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रतिदिन प्रातःकाल प्रवृत्ति के क्षेत्र में प्रवेश करने के पहले जीवन के सत्य को पाठ के रूप में हर भाई–बहिन को दुहरा लेना चाहिये। कौन सी बात दुहरा लेनी चाहिये कि मुझमें जो 'मैं'पन है, जिस 'मैं' को हम 'मैं' कहते हैं और अनुभव करते हैं; उसकी रचना

अलौकिक तत्व से हुई है, वह जब तक अलौकिक से अभिन्न नहीं हो जाता, तब तक उसे शान्ति नहीं मिलती है, सन्तुष्टि नहीं मिलती है, निश्चिन्तता नहीं आती है, स्वाधीनता नहीं मिलती है, दुःखों का नाश नहीं होता है।.....''

देवकी बहिन जी ने अब इस दृष्टि से आगे देखने को कहा है कि–

''अपने लोगों को किस तरह से भौतिक दृष्टि से, दार्शनिक दृष्टि और आस्तिकता की दृष्टि तीनों को जीवन में संग लेकर चलना है।..... तो मैंने अपने को सामने रखकर देखा और अनुभवी संत के पास बैठकर विचार किया तो उन्होंने कहा कि सब तरफ़ से अपने को इन्तज़ाम शुरू करना चाहिये। कर्म के क्षेत्र में भी पक्के हो जाओ एकदम, कि भलाई तो छोटी–मोटी जो बन पड़ेगी वह करेंगे, पर बुराई किसी के साथ नहीं करेंगे। तो आपका कर्म का जो क्षेत्र है वह साधनमय हो गया। और ज्ञान की दृष्टि से, दार्शनिक दृष्टि से अपना नाश तो हम स्वीकार ही नहीं करेंगे।''

दार्शनिक दृष्टिकोण को लेकर उन्होंने 'मैं' और 'मृत्यु' की विवेचना करते हुए कहा है कि–

''इस 'मैं' पन का नाश कभी नहीं होगा। मृत्यु जो होती है, जिसको हमलोग मृत्यु कहते हैं, वह तो नाशवान का नाश है। अविनाशी का नाश नहीं होता। तो हमारे साथ मनुष्य के व्यक्तित्व में जो भौतिक तत्वों के बने हुए शरीर हैं, जिनकी उत्पत्ति हुई है उन्हीं का नाश होता है, आपका नाश नहीं होगा।..... जिस 'मैं' पन को लेकर हम जीवन–यापन कर रहे हैं, वह 'मैं' अलौकिक तत्वों से बना है, इसलिये उसका नाश नहीं होता। अब प्रश्न् कितना रह गया, हम लोगों के सामने कि भाई यह जो मृत्यु का भय सताता है, उससे मुक्त कैसे हो जायें? दुःख से कैसे छूटें?''

इसके लिए देवकी बहिन जी ने इस प्रकार सलाह दिया कि–''तो प्रतिदिन प्रातःकाल आँख खुले तो पहला प्रोग्राम अपना यह रखिये कि हम अकेले–अकेले बैठकर सत्संग करेंगे, तब उसके बाद संसार की प्रवृत्ति में शामिल होंगे।.....जैसे ही आँख खुली और अपने में सजगता आई कि सबेरा हो गया, तो नींद का और आलस्य का प्रमाद छोड़कर सजग होना है। सजगता आते ही बिना स्नान किये, बिना किसी प्रवृत्ति में शामिल हुए, जो आवश्यक क्रिया हो वह पूरा कर लीजिये और बिस्तर में ही जहाँ हैं वहीं पर बैठे–बैठे थोड़ी देर के लिए शान्त रहकर अपने सम्बन्ध में विचार कर लीजिये। ..... क्या विचार कर लेंगे–मैं तो

अविनाशी तत्व से बना हुआ हूँ, और नाशवान शरीरों की आसक्ति में पड़कर दुःख का, मृत्यु के भय का भार ढो रहा हूँ। तो मेरा पहला पुरुषार्थ क्या है?पहला पुरुषार्थ यह है कि अविनाशी स्वरूप का होते हुए, नाशवान से अपना सम्बन्ध नहीं मानना चाहिये..... मुझे नाशवान के साथ अपना सम्बन्ध नहीं रखना है। नाशवान की आशा नहीं करनी है। नाशवान की आवश्यकता अनुभव नहीं करना है। नाशवान का सहारा नहीं लेना है।.... सच्ची बात है, अविनाशी का नाशवान के साथ सम्बन्ध मानने से ही सब प्रकार के दुःखों की उत्पत्ति हो गई, सीमा लग गई कि जन्म–मरण के बीच की अवधि में बंध गये, सुख–दुःख के द्वन्द्वमें झूलते फिरे। ... . इस दार्शनिक सत्य के आधार पर अपनी भूत–काल की भूलों का त्याग हम नहीं करेंगे, तो कोई विधि–विधान हमारे काम नहीं आयेगा।''

भौतिकवाद, अध्यात्मवाद और आस्तिकता तीनों को ही लेकर परामर्श दिया है कि अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु हमें क्या करना है–

''सबसे पहिले आपको यह तय कर लेना है कि अब जब मैं संसार में प्रवेश करुँगा, मैं समाज का, परिवार का काम करुँगा तो बुरा किसी का नहीं करुँगा, यथासम्भव भलाई करुँगा। दार्शनिक सत्य को सामने रखकर तय कर लिया आपने कि जो कुछ भी करना है, करने के राग की निवृत्ति के लिये, अपने प्यारे की पूजा के लिये। न मुझे शरीर से कुछ चाहिये, न मुझे संसार से कुछ चाहिये।''

''.....उसके बाद क्या है, कि यदि आप **अध्यात्मवादी है, ज्ञान–पंथ के साधक हैं** तो मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिये, मुझे कुछ नहीं करना है, ऐसा याद रख बिल्कुल शान्त हो जाइये। न कोई कर्म कीजिये न कोई चिन्तन कीजिये। तो सब कर्मों से, सब चिन्तन से असंग होकर बिल्कुल निश्चिन्त होकर जहाँ के तहाँ बैठे रहिये। **शरीर और संसार की असंगता में अविनाशी का अविनाशी योग होता है।** इस सत्य का आप प्रत्यक्ष अनुभव कीजिये। **यह कहलाता है स्वाश्रय।** स्वयं अपने आप पर आश्रित होकर निज–स्वरूप की अनुभूति में उस सत्य को पाना, उससे अभिन्न होना।''

''यदि आप **ईश्वर विश्वासी हैं, विश्वास पंथ के साधक हैं,** तो उसी समय, उतनी ही देर में, एक बार याद कीजिये। क्या याद कीजिये? कि मुझमें जो 'मैं' पन है, उसका जो आधार है, जिसको भक्त भगवान कहते हैं उसी भगवान का

सहारा लेकर, उसी के आश्रित होकर, उसी का सम्बन्धी होकर, उसी की प्रसन्नता के लिये मुझे स्वयं अपने को समर्पित करना है।..... तो उसकी उपस्थिति में विश्वास करके अपने को उसकी शरण में डालकर के थोड़ी देर के लिये अपने को बिल्कुल छोड़ दीजिये। न कर्म करना है, न चिन्तन करना है, न नाम लेना है, न जप करना है, न कुछ सोचना है, न ध्यान करना है।"

आगे उन्होंने कहा है कि यदि तुम्हारी कोई विध्यात्मक साधना है तो उसके लिये अलग समय रखना। ऊपर दी हुई सलाह के आगे उन्होंने कहा है कि–

"सब सामान से छुट्टी लेकर, सब साथियों से छुट्टी लेकर, सबसे अलग होकर और जन्म–जन्मांतर की हुई भूतकाल की भूलों –जो हो गई थीं, उनको न दुहराने का व्रत लेकर बिल्कुल ही निश्चिन्त निर्भय होकर निरीह बालक की तरह करुणामयी परम कृपालु, जगत जननी की गोद में अपने को डाल दो थोड़ी देर के लिये, कि अब इस समय मुझे कुछ नहीं करना है और परम कृपालु की कृपामयी गोद में थोड़ी देर के लिये विश्राम ले लो। **यह समर्पण योग कहलाता है।**"

फिर इसके बाद क्या होगा? उन्होंने बताया कि–

"उस विश्राम काल में थोड़ी ही देर में आप अहं–शून्य हो जायेंगे। क्यों हो जायेंगे?क्योंकि कुछ करना नहीं है, कुछ सोचना नहीं है। अपनी ज़िम्मेदारी अपने पर नहीं है, किसी सामर्थ्यवान के जिम्मे अपने को लगा दिया है। वह बड़ा कृपालु है, बड़ा महामहिम है..... उस परम दयालु, क्षमा–सिन्धु, परम कृपालु, अनन्त ऐश्वर्यवान, अनन्त सामर्थ्यवान, अनन्त माधुर्यवान ऐसा जो मेरा अपना है, उस अपने की शरण में स्वयं को डालकर थोड़ी देर के लिये निश्चिन्तता की श्वास लो। हे परम कृपालु! मैं तुम्हारी शरण में हूँ, ऐसा अपने को एक बार याद दिलाओ। उनके लिये बार–बार कहने की ज़रूरत नहीं है। वह तो जानते ही हैं। उनको मालूम ही है। बिना बोले ही वह समझ जाते हैं।"

तब होता क्या है? उन्हीं के शब्दों में:

"अनन्त परमात्मा का जो आश्रय लेता है, **हरि आश्रय जिसके जीवन में आता है, उसके बाद फिर उसके जीवन में तन का आश्रय, धन का आश्रय, जगत का आश्रय नहीं आता है।**"

■

साधन-सूत्र : 81

करुणा–सिन्धु प्रभु का स्वभाव ही है करुणा

(एक साधक के जीवन–वृत्त के माध्यम से)

मानव सेवा संघ की सर्वहितकारी प्रार्थना का अंश है–

"हे समर्थ, हे करुणासागर, विनती यह स्वीकार करो"

साधक के लिये उस अनन्त महिमावान की महिमा के प्रति, ये दोनों सम्बोधन आश्वस्त करने वाले हैं। यदि कोई समर्थ हो परन्तु उसमें करुणा न हो या किसी में करुणा तो हो परन्तु सामर्थ्य न हो तो साधक का काम कैसे बनेगा? परन्तु प्रभु तो करुणा के सागर भी हैं और समर्थ भी।

साधन–सूत्र–42 शीर्षक "अहैतुकी कृपा करने वाले अतिशय दयालु प्रभु", में उन्हें अतिशय दयालु एवं दया करने में आलस्य न करने वाला कहा गया है। विचार किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि उनके अतिशय दयालु स्वभाव का उत्प्रेरक उनकी 'करुणा' ही है।

अतः महामहिम की 'करुणा' (जो उनका स्वरूप ही है) के रस का आस्वादन करने की दृष्टि से इस साधन–सूत्र का विचार बना।

अनेक साधन–सूत्रों में यह सत्य आया है कि उदारता में रस है– उदारता क्या है? उदारता का अर्थ है दुःखियों को देखकर करुणित होना और सुखियों को देखकर प्रसन्न होना। करुणा में रस है और प्रसन्नता में भी रस है। प्रभु की करुणा की चर्चा में भी रस है और स्वयं करुणा से द्रवित होने में भी रस है।

इस विषय की चर्चा का मूल आधार परमकोटि की साधिका माँ दिव्यज्योति (देवकी बहिन जी) का जीवन–वृत्त है। मानव सेवा संघ की पुस्तक 'मंगलमय विधान' में 'परिचय' (preface) में अपनी व्यथा और आक्रोश का वर्णन (आगे उद्धरित है) करने के उपरान्त उन्हीं प्रभु के लिये उनके उद्‌गार–

"पर धन्य है सृष्टि का करुणामय विधायक और धन्य है उसका मंगलमय विधान। मुझमें विद्रोह उठता रहा और

उसमें प्यार उमड़ता रहा, जिसका मिठास मैं आज अनुभव कर रही हूँ .....।"

उनका जन्म बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में उत्तरी बिहार प्रान्त में हुआ था। जीवन है क्या इसके प्रति उनकी जिज्ञासा बचपन से ही रही। उन्हीं ने कभी सुनाया था कि जब माँ चूड़ियाँ पहनवाती थीं तो मेरे मन में भाव आता कि क्या इसी में जीवन है। विधि का विधान– बहुत छोटी अवस्था में उनके पति का देहान्त हो गया। उनके लेखों से पता चलता है कि वह बहुत दृढ़ निश्चय वाली थीं और परिस्थितियों के कारण ईश्वर के प्रति तार्किक, विद्रोही दृष्टिकोण था। ईश्वर से सवाल करती थीं और जवाब माँगती थीं। उसका एक नमूना नीचे प्रस्तुत है (ऊपर इंगित)–

"एक समय था जब सृष्टि का विधान मुझे अपनी ज़रूरत के सर्वथा विपरीत प्रतीत होता था। घटना–चक्र का आशातीत गति से घूमते रहना, अनुकूलता का प्रतिकूलता में बदल जाना, प्रिय संयोग के सुख का दुस्सह वियोग के दुःख में बदल जाना... और अपना वह विवश चित्र – ठगी ठगी सी हत्बुद्धि हो देखते का देखते रह जाना– बड़ा ही क्रूर प्रतीत होता था। कोमल हृदय की कोमल भावनायें नियति के कठोर थपेड़ों से चकनाचूर हो जातीं और घायल हृदय के विवश क्षोभ की आवाज़ सुनाई देती– कौन है सृष्टि का मालिक ? कौन है मेरा निर्माता ? क्या मज़ा आता है उसको सृष्टि बनाने में और व्यक्ति को इतना विवश और दुःखी करके रखने में कि वह जो चाहता है सो होता नहीं, जो होता है सो भाता नहीं और जो भाता है वह रहता नहीं ? यह भी कोई लीला है जिसमें कोई तड़प–तड़प कर जीने के लिये बाध्य हो और किसी का खेल चले !"

इस प्रकार की मानसिक उद्विग्नता (agitated mind) के कारण उनमें जो भाव उठा वह उन्हीं के शब्दों में–

"अपने सब पुरुषार्थ कर चुकने के बाद भी जब जीवन का सूनापन नहीं मिटा, तब मुझे ऐसा सूझने लगा कि भगवान के घर का दरवाज़ा देखा हुआ संत मिल जाता तो मुझे भी राह दिखा देता। मैंने ऐसी आवश्यकता महसूस की और मुझे ऐसे संत मिल गये।" ('पाथेय' पुस्तक के 'दो शब्द' से)

कैसे ? उनकी मानसिक दशा से उनके निकट के लोग परिचित थे। एक बार जब वह अपनी ममेरी बहिन से मिलीं तो उन्होंने उनसे कहा कि ऐसे ही एक संत आये हुए हैं, कहो तो मिलवाएँ। जब वह उन संत (स्वामी शरणानन्द जी) से मिलीं तो अपनी उसी स्टाइल में जैसा कि ऊपर

पहले उद्धरण में है, संत से अपने अन्दर का गुबार उसी प्रकार निकालते हुए कहा कि जो चाहते हैं सो होता नहीं, जो होता है सो भाता नहीं और जो भाता है वह रहता नहीं।

सुनकर स्वामी जी ने सहज ढंग से कहा कि तुम्हारी बस इतनी ही तो समस्या है, तो तुम चाहना क्यों नहीं छोड़ देतीं ? कुछ ऐसी ही और चर्चा हुई तब स्वामी जी ने कहा कि मेरा एक मित्र (कृष्ण भगवान) है, कहो तो उससे सगाई की बात करूँ। देवकी जी ने कहा कि मैं अभी पढ़ना चाहती हूँ। इस पर स्वामी जी ने सचेत किया कि अपना मूल्य मत घटाना।

नोटः ***तात्पर्य है कि तुम तो अविनाशी का अविनाशी अंश हो, मनुष्य होने का स्वयं में उसका गौरव है। यदि कोई अपनी पहचान इससे बनाने लगे कि मैं एम0ए0 हूँ, मैं अमुक पदाधिकारी हूँ आदि तो अपना मूल्य घटा ही तो लिया। भाव यह होना चाहिये कि मैं तो वही अविनाशी हूँ, ये सब तो मात्र योग्यताएँ और परिस्थितियाँ हैं जिनका सदुपयोग पर सेवा में होना है। अतः अपने को किसी भी मान्यता और स्वीकृति के आधार पर प्रकाशित करना, अपना मूल्य घटाना है।***

मनोविज्ञान विषय में एम0ए0 की डिग्री प्राप्त करने के पश्चात् जब वह स्वामी जी से मिलीं तो बड़े आत्म–विश्वास से उन्हें सुनाया कि महाराज मैंने अपना मूल्य नहीं घटाया।

देवकी बहिन जी ने पढ़ाई के बाद विमेन्स डिग्री कॉलेज, राँची में अध्यापन की सेवा शुरू की। अवकाश के समय बीच बीच में स्वामी जी से मिलना होता था, परन्तु मुख्य रूप से उनकी साधना का निर्माण पत्रों के ही माध्यम से होता रहा। स्वामी जी के उन पत्रों को उन्होंने 'पाथेय' नामक पुस्तक का रूप दिया जो मानव सेवा संघ, वृन्दावन से प्रकाशित है। इस पुस्तक के प्रारम्भ में प्रस्तावना के रूप में 'दो शब्द' उनके द्वारा लिखा गया है। वह आगे पूरा का पूरा अक्षरशः प्रस्तुत है क्योंकि वह साधन–पथ पर उनकी प्रगति का इतिहास है:–

"अपने सब पुरुषार्थ कर चुकने के बाद भी जब जीवन का सूनापन नहीं मिटा तब मुझे ऐसा सूझने लगा कि भगवान के घर का दरवाज़ा देखा हुआ कोई संत मिल जाता तो मुझे भी राह दिखा देता। मैंने ऐसी आवश्यकता महसूस की और मुझे ऐसे

संत मिल गये। उन्होंने एक कुशल अनुभवी चिकित्सक की भाँति भव–रोगों से ग्रसित मेरे व्यक्तित्व को अपनी निगरानी में ले लिया। भवरोग–नाशिनी दिव्य–दृष्टि से मेरे तन, मन और अहं का परीक्षण हुआ। दशा का निदान एवं निवारणार्थ साधना का चुनाव तत्क्षण हो गया। प्रथम साक्षात्कार (Interview) में ही बिना मेरे पूछे वह सब कह दिया गया, जिसकी मुझे ज़रूरत थी, अर्थात् मेरे लिए जीवन की राह थी। मुझे बहुत दिनों के बाद पता चला कि 1 जनवरी 1954 को प्रातःकाल जो कुछ श्रीमहाराजजी ने मुझे बताया वह मेरी दीक्षा थी। (स्वामी जी इसी प्रकार से दीक्षा देते थे)

सत्संग और साधना का क्रम आरम्भ हुआ। भव–रोगों से मुक्त कर साधक के शुद्ध अहं को कैसे–कैसे ज्ञान के प्रकाश–पुंज और प्रेम के अनन्त रस में परिवर्तित किया जाता है इस दिशा में सत्यनिष्ठ, अनुभवी, मार्गदर्शक संत ने मेरे अवस्थान्तरण (Transference of Stages) के क्रम में अपने अनूठे, अद्‌भुत प्रयोगों को आरम्भ किया। मेरा निवास श्रीमहाराजजी से दूर नगर में था। दशाओं का परिचय देना, साधन–पथ में उठने वाले प्रश्नों का प्रस्तुतीकरण एवं उनका समाधान पत्र–व्यवहार से ही होता था।

'पाथेय' में संकलित पत्र अहं के विकास की क्रमिक अवस्थाओं के द्योतक भी हैं और उनके निवारणार्थ अमोघ साधनों की श्रृंखला भी। मेरे लिए इन पत्रों में तुलसी–बिरवों सी पावनता है, जिनमें अहं की मलिनता का नाश करने की अमोघ शक्ति है।

इन पत्रों के लिखाने वाले संत को मैं क्या कहूँ ! अनेक बार ऐसा हुआ है कि साधन–काल में जिस क्षण व्याधियाँ प्रकट होती थीं मेरे मन में, उसी क्षण श्रीमहाराजजी जहाँ भी कहीं होते, मेरी दशा का पता चल जाता उनको और वे तत्काल ही उस व्याधि की निवृत्ति के उपाय लिखवा कर भेज देते। कभी–कभी ऐसा होता था कि इधर मैंने प्रश्न् लिखकर भेजने के लिए तैयार किया तब तक उधर से उत्तर लिखकर आ गया। कभी इससे भी बढ़कर आश्चर्यजनक बात यह हो जाती थी कि मुझे अपनी व्याधि का पता तब चलता जब पत्र में उसका निराकरण लिखकर आता था। मैं आश्चर्यचकित होकर रह जाती थी कि श्रीमहाराजजी ने मेरी उन गुत्थियों को जाना कैसे, जिनका मुझे भी पता नहीं था !

श्री महाराजजी की अहं–शून्य अर्न्तदृष्टि इतनी पैनी थी कि साधक के पथ में उभड़ते हुए गहन से गहन मनोवैज्ञानिक

एवं गूढ़ से गूढ़ दार्शनिक तथ्य उनको स्पष्ट दिख जाते थे। सर्वात्म–भाव से भावित संत–हृदय, भव–रोगों के दलदल में फँसे हुए साधक को उबारने के लिए अति व्यग्र हो उठता था। आत्मीयता–जनित अभिन्नता में वह संजीवनी–मूरि प्रकट होती थी जो साधक में नवजीवन का संचार कर सकती है।

उनके लिखाये हुए पत्रों ने मुझे अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने में 'पथ' और 'पाथेय', सब कुछ दिया है। साधन–काल की समस्याओं को सुलझाने के साथ–साथ भावी उद्‌भव का भी अथक अचूक प्रयास है इन पत्रों में– मेरे अवस्थान्तरण के साथ सम्बोधन के शब्द भी क्रमिक ढंग से सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते हुए जीवन की अन्तिम परिणति को इंगित करने वाले हो गये हैं। कितनी लगन, कितनी तत्परता थी उस परम कारुणिक संत के हृदय में एक आतुर साधक के जीवन को पूर्ण बनाने की ! कितनी कलायें वे जानते थे भव–रोगों से दबे हुए अहं को ऊपर उठाकर उद्‌गम की ओर उन्मुख करने की ! कभी–कभी पत्र पढ़ते–पढ़ते मैं पत्र–लेखक की महिमा में स्वयं ही खो जाती थी– पत्र पढ़ना भूल जाती थी।

मेरे लिए ये पत्र अमृत–कण हैं; जीवन–दर्पण हैं। प्रगति के पथ पर आगे–आगे बढ़ते जाने में इनके अर्थों की गहनता भी उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। इनके संग्रह में प्रकाशन का ख़्याल नहीं था। साधन–पथ के सम्बल के रूप में इनको संजोया मैंने–मेरा काम हो गया। अब इस 'पाथेय' से जीवन–पथ के अन्य पथिकों को पुष्टि मिले–इसी सद्‌भावना के साथ,

देवकी''

मानव सेवा संघ वृन्दावन द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'जीवन–विवेचन'(कई खण्डों में) देवकी बहिनजी के प्रवचनों का संकलन है। अपने व्याख्यान में वह अपने साधक–जीवन को सामने रखकर बोलती थीं। अतः ये व्याख्यान भी स्वयं उनके जीवन–वृत्त से परिचित कराते हैं। ऐसे ही एक व्याख्यान का स्वतः स्पष्ट उद्धरण आगे प्रस्तुत है:–

नोटः *यह उद्धरण उनका जीवन–वृत्त के साथ साथ मानव–जीवन–दर्शन भी है। विशेष बात है प्रभु की करुणा का परिचय।*

''मुझे जब समझाया जा रहा था ईश्वर के सम्बन्ध में, तो किसी भी तरह से माना ही न जाए। अब मानें कैसे? अब आगे बढ़ें कैसे? तो महाराजजी ने कहा कि देवकीजी, परमात्मा तो सदा से जानते ही हैं कि तुम उनकी अपनी हो। उनको

जनाना–बताना–सुनाना थोड़े ही है, जो तुम सोचती हो कैसे बताऊँ, कैसे सुनाऊँ, कहाँ पाऊँ? सो नहीं। उनको जनाने की बात नहीं। उनको सुनाने की बात नहीं। वे तो पहले से जानते ही हैं कि तुम उनकी अपनी हो। लाली, बस एक काम तुम अपनी ओर से करो। मेरे कहने से तुम उनको अपना मान लो। बस, इतना सा पुरुषार्थ तुम करो। बाकी तो सब उनको मालूम ही है, वे करेंगे ही।"

"तो मैं क्या बताऊँ? मेरी जो उलझी हुई बुद्धि थी पढ़ने–लिखने की ओर, साहित्य, दर्शन और मनोविज्ञान के अध्ययन का प्रभाव जो था, उसने तो मुझको भ्रमित–चकित कर दिया था। अपनी ओर से तो मैं कुछ नहीं कर सकी, लेकिन एक बात जो महाराजजी के सिद्धान्त में मिली, वही सत्य सिद्ध हुई– कि **कैसा भी साधक क्यों न हो, वह अपनी असमर्थता से पीड़ित होता है तो करुणामय की करुणा का दरवाज़ा खुल जाता है।** तो मेरे सोचने से काम बन गया, ऐसा नहीं कह सकती। मेरे त्याग–तप से शक्ति आ गई, ऐसा नहीं कह सकती। लेकिन मेरी जो वह अन्तर्व्यथा थी कि अब क्या करूँ?– **उस पीड़ा से सन्त के हृदय में करुणा द्रवित हुई। मेरी उस दर्दनाक दशा से, करुणा–सिन्धु परमात्मा में करुणा द्रवित हुई और उन लोगों ने कृपा की होगी–ऐसा मेरा अन्दाज़ है, इसलिये कि यह असमंजस बिना मेरे प्रयास के अपने आप से मिट गया।** तो मैं अपने आप सोचने लग गई कि हाँ, ठीक है, महाराजजी जो कहते हैं कि अपनी असमर्थता से अधीर हो जाता है साधक, उसके भीतर अपनी भूल की ग्लानि पैदा हो जाती है **तो उसके हृदय की वेदना वे परम कृपालु सह नहीं सकते।** तो जैसी मेरी उग्र प्रकृति थी, विरोधी मनोवृत्ति परमात्मा के प्रति, तो मैंने पुकारा नहीं, कहा नहीं, कि मेरी मदद करो। कहने का तो मन ही नहीं था। लेकिन मैं क्या बताऊँ, **सन्त और भगवन्त की कृपालुता जो है, वह माँगने से मिलती हो, ऐसी बात नहीं है–इसीलिये उसके आगे विशेषण लगता है–अहैतुकी।** किसी हेतु से कृपा होती हो, ऐसी बात नही है, सन्त ने भगवन्त ने मुझको मनवा दिया–तो मान लिया।"

"संत की वाणी में कुछ विशेष प्रकार का जादू होता है। महाराजजी की वाणी के प्रभाव से, जबसे मैंने इस बात को माना, मेरे भीतर से दुःख का भार तो उतर गया और इस बात की भी चिन्ता नहीं रही कि मुझको साधना के क्षेत्र में अपने पुरुषार्थ से, अपने बल से चलना है। यह भय भी चला गया।

एकदम निश्चिन्तता आ गई। मैंने कहा, ठीक है। जब उनको भी मेरा ध्यान है, और उन्हें स्वीकार करने की तत्परता है, तब तो बहुत बढ़िया बात है महाराज।''

''जीवन बढ़ता रहा। पलता रहा। अब आज अपने भाई–बहनों की सेवा में, मैं यह निवेदन कर रही हूँ कि सच्ची बात तो यह है कि हम लोगों की जो दुविधा की दशा है–कभी संसार अच्छा लगे, कभी परमात्मा अच्छा लगे–इस दुविधा की दशा में परमात्मा से मिलने की उत्कण्ठा जो है, वह प्रबल नहीं है, कुण्ठित है। **परन्तु उनकी ओर से मुझको संभालने की उत्कण्ठा कुण्ठित नहीं है।** बड़ी लगन है उनमें और कभी–कभी महाराज हँस कर कह देते कि देवकीजी, हाथी के मुख में गन्ना पकड़ा देना आसान है, निकाल पाना आसान नहीं। अगर तुमने किसी भी कारण से प्रेरित होकर एक बार कह दिया, 'हे प्रभु! मैं तेरी।' तो अब तुम छूटने वाली नहीं हो लाली। वह छोड़ेगा नहीं, पूरा ही करेगा। तो अनुभवी सन्त की यह वाणी कि 'शिशु को माँ की जितनी आवश्यकता है', आगे चलकर मुझे ऐसा लगने लगा कि माँ को शिशु की उससे अधिक आवश्यकता है।''

''अब तीसरा प्रश्न उठा कि मैं उनको किस हैसियत से अपना कहूँ? कौन सा सम्बन्ध स्वीकार करूँ? कैसे हम उनको उस सम्बन्ध के अनुसार प्यार करें, लाड़ लड़ायें? अपने पास तो कुछ है ही नहीं। सब तो यहाँ खो दिया है। संत कबीर का पद मैं दुहराया करती महाराजजी के सामने–''यह संसार हाट बनिया को, सौदा करने आया। चतुरन माल चौगुनों कीनो, मूरख मूल गंवाया'' मैं तो मूल गंवाकर बैठ गई महाराज! अब कैसे क्या होगा? तो महाराजजी कभी–कभी हँस करके अपने जीवन की चर्चा सुना देते और कहते, 'देखो भाई हम कैसे हैं, यह परमात्मा देखता नहीं है। हम कैसे हैं, यह वह क्या देखे। हम जैसे हैं, वैसे हैं। एक बात उन्हें मालूम है पक्की तौर से कि उन्होंने अपने में से ही हमारा निर्माण किया है। देवकीजी, तुमको बनाने के लिये भगवान ने कोई material (मेटीरियल) बाहर से उधार नहीं मंगवाया। अपने में से ही तुमको बनाया है।' तो जो अपना ही अंश है, अपना ही आत्मीय है, वह कैसा है, यह कोई देखता है? काला है कि गोरा है? पुण्यात्मा है कि पापात्मा? पढ़ा–लिखा है कि बेपढ़ा–लिखा? समर्थ है कि असमर्थ? कौन देखे? जैसा भी है उनका आत्मीय है। उनका अपना ही है। महाराज अपने लिये कहते कि 'मुझ जैसे अकिंचन, असमर्थ की मित्रता अगर वे स्वीकार न

करते (मित्रता का सम्बन्ध महाराजजी का था भगवान के साथ) तो लाला रह जाते ठन–ठन पाल मदन गोपाल।' प्यार करने के लिये कोई साथी मिलेगा ही नहीं, क्यों? क्योंकि परमात्मा को अगर बराबर वाले से सम्बन्ध जोड़कर प्रेम का आदान–प्रदान करना है तो परमात्मा के बराबर क्या दूसरा परमात्मा है? नहीं है। तो रह जायेंगे न अकेले।''

इस प्रकार एक तरफ़ साधन–निर्माण होता रहा दूसरी तरफ़ अपने सद्गुरु उन्हीं स्वामी शरणानन्द जी के निर्देशन में उनके द्वारा प्रणीत मानव सेवा संघ का कार्य करती रहीं। स्वामी जी का अधिकांश साहित्य जिसे स्वामी जी ने संघ का ही दर्शन कहा, देवकी बहिन ने लिपिबद्ध किया। स्वामी जी बोलते जाते थे और वह फाउन्टेन–पेन से लिखती जाती थीं। एक व्यक्ति दूसरे पेन में रोशनाई भर कर तैयार रखता था, ताकि पेन की रोशनाई खत्म होने से स्वामी जी का बोलने का प्रवाह प्रभावित न हो।

प्रारम्भ से ही स्वामी जी ने उनका नया नामकरण किया 'दिव्यज्योति'। कालान्तर में उन्हें मंच पर अपने साथ बैठाकर इस दर्शन की व्याख्या और साधकों के जीवन सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर दिलवाना शुरू किया।

विमेन्स डिग्री कॉलेज, राँची से सेवानिवृत्त होने के पश्चात् उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन मानव सेवा संघ की सेवा में समर्पित कर दिया। परन्तु आगे बढ़ने के पूर्व एक घटना का उल्लेख उचित होगा जिससे यह मालूम होगा कि साधन–पथ पर उनकी प्रगति किस तेज़ी से हुई। कॉलेज में लड़कियों के होस्टल की वार्डेन थीं। एक रात बहुत ज़ोरों का आँधी तूफान आया और बिजली भी चली गई। होस्टल की चहारदिवारी कुछ जगह टूटी हुई थी। देवकी जी और लड़कियाँ सशंकित एवं भयभीत हो रही थीं कि कहीं गुण्डे बदमाश होस्टल में न घुस आयें। तब प्रभु ने बलदाऊ जी के रूप में दर्शन देकर कहा कि घबराओ नहीं मैं हूँ न। उनके जीवन में ऐसे अनेक और अनुभव हुए।

नोटः ***कोई कह सकता है कि इसमें देवकी जी की क्या विशेषता हुई। यह तो प्रभु की करुणा और कृपालुता थी कि उन्होंने उस रूप में दर्शन देकर आश्वस्त किया। सोचने की बात है कि नृसिंह भगवान प्रहलाद की ही रक्षा के लिये क्यों प्रकट हुए। सहज उत्तर है कि प्रह्लाद के जीवन में प्रभु का और केवल प्रभु का ही विश्वास था, अन्य***

कोई विश्वास था ही नहीं। इसी प्रकार देवकी जी के जीवन में अन्य कोई विश्वास था ही नहीं। अनेक प्रभु विश्वासियों को इसका अनुभव हुआ होगा कि जिसे मात्र प्रभु का विश्वास है उन्हीं के समर्पित हैं, उनका हित–साधन प्रभु प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से करते रहते हैं।

दिसम्बर 25, 1974 को स्वामी जी के शरीर त्याग के पश्चात् वह उनके स्थान पर प्रवचन के माध्यम से मानव जाति को उसके वास्तविक स्वरूप से परिचित कराने और उसकी प्राप्ति के सहज उपाय से अवगत कराने हेतु विभिन्न प्राँतों का भ्रमण करती रहीं। उनका स्वास्थ्य सामान्यतः भी अच्छा नहीं रहता था। परन्तु जब कैन्सर रोग का पता चला, ऑपरेशन भी हुआ तब से स्वास्थ्य और बिगड़ता गया। बाद के दिनों में मानव सेवा संघ के जयपुर आश्रम 'प्रेम निकेतन' में रहने लगीं। उनसे वहाँ मिलने का तीन बार अवसर बना। कैन्सर के कारण पीड़ा तो थी ही परन्तु वह शान्त पड़ी रहती थीं। पीड़ा की तीव्रता की चर्चा होती तो कहती थीं कि यदि मैं कराहूँ तो गेट तक (जो कम से कम सौ गज़ दूर था) सुनाई पड़ेगा। परन्तु वह शरीर से सर्वथा असंग होकर अपने निज आनन्दस्वरूप में स्थित रहती थीं।

उनका शरीर त्याग भी एक विलक्षण घटना है। स्वामी शरणानन्द जी ने इच्छा–मृत्यु की अपनी शक्ति से महीना भर हार्ट अटैक के बार बार होने पर भी (जिससे डाक्टर भी अचम्भित थे) शरीर त्याग के लिये 25 दिसम्बर चुना जिस दिन क्रिसमस और बकरीद त्योहारों के अतिरिक्त गीता–जयन्ती (मोक्षदा एकादशी) और मानव सेवा संघ के प्राकट्य दिवस का इकट्ठे संयोग था।

परमपूज्या माँ किशोरी माता जी एक महान महिला संत हुईं। उनका स्थान कार्त्तिकेय सेवा आश्रम, गुप्तार घाट, फैज़ाबाद था। उनको दीक्षा देने वाले गुरु परम पूज्य स्वामी कार्त्तिकेय जी महाराज थे, पर स्वामी शरणानन्द जी की भी भक्त थीं। देवकी बहिन से उनकी प्रगाढ़ आत्मीयता थी। किशोरी माता जी जाड़ों में उज्जैन में रहती थीं। उस बार वर्ष 1992 की बात है वहाँ से फैज़ाबाद लौटने के लिये जयपुर होती हुई आईं। जयपुर आश्रम में उनका और देवकी बहिन का वार्तालाप हुआ। जो संतप्रेमी साधक वहाँ मौजूद थे, उन्होंने बताया कि वह अस्वस्थता और बेहद कमज़ोरी के कारण बिस्तर में लेटी रहती थीं, पर किशोरी माता जी की बात सुनकर एकदम चेतन होकर उठ बैठीं। किशोरी माता जी ने कहा कि शरीर तो बहुत जर्जर हो चुका है, इसको

बनाये रखने का क्या अर्थ। फिर उन दोनों ने एकान्त में वार्तालाप किया। तत्पश्चात् किशोरी माता जी ने उज्जैन सूचना भिजवाया कि महामृत्युन्जय का जाप बन्द कर दिया जाय। झालामण्ड के ठाकुर जगत सिंह जी भी वहाँ मौजूद थे। उन्होंने साथ के लोगों से कहा कि अब अगला जो भी पर्व आयेगा, उस दिन देवकी बहिन शरीर त्याग देंगी। और हुआ यही, एकादशी का पर्व आया और वह शरीर त्याग कर अपने परमधाम चली गईं।

स्वामी शरणानन्द जी द्वारा प्रदत्त मानव–जीवन के दर्शन को देवकी जी ने लिपिबद्ध तो किया ही, उन पुस्तकों में प्रस्तावना के रूप में पुस्तक के विषय–वस्तु का बहुत ही उपयोगी सार प्रस्तुत किया। उन्होंने जिस प्रकार अपने साधक–जीवन को सामने रख कर उसमें उठने वाले प्रश्नों और उनका स्वामी जी ने किस प्रकार समाधान किया, को प्रस्तुत करते हुये मानव सेवा संघ के दर्शन की अपने प्रवचनों में व्याख्या किया उससे मानव जाति का बहुत बड़ा उपकार किया। साधक–समाज उनका हमेशा ऋणी रहेगा। इन प्रवचनों का संकलन 'जीवन–विवेचन' नाम से कैसेट और पुस्तक के रूप में मानव सेवा संघ, वृन्दावन में उपलब्ध है।

और अन्त में इस साधन–सूत्र के समापन के रूप में ऊपर संदर्भित व्याख्यान का महत्वपूर्ण और प्रेम–पंथ के साधकों के लिए उत्साहवर्धक उद्धरण प्रस्तुत है–

"तो महाराज कहते कि इस प्रेम के भूखे, इस प्रेम के विस्तार के लिये जो हमेशा ही लालायित हैं उनको भी ज़रूरत है, मानव हृदय के स्नेह–सद्भाव की। जहाँ किसी ने अपनी ओर से कहा कि बस हो गया, तुम्हारे इस लुभावने, सुहावने संसार के खिलौनों से मैंने खेल लिया। अब तो तुम्हारा प्रेम–रस चाहिये। तुम्हारी सन्निधि चाहिये। तो जहाँ मनुष्य के भीतर हृदय में आवश्यकता उत्पन्न हुई नहीं, कि वे प्रेमस्वरूप परमात्मा उस अभिलाषी के हृदय की अभिलाषा को पूर्ण करने के लिये, जैसे–जैसे वह विश्वास कर सकता है उसके विश्वास की वृद्धि का काम तत्काल आरम्भ कर देते हैं। ऐसा नहीं कि बहुत दिन तक सोचना पड़े, प्रतीक्षा करनी पड़े। ऐसा भी नहीं कि साधन की पूर्णता तक आपको ठहरना पड़े। एक ओर असाधनों का नाश होता रहेगा, विकारों का नाश होता रहेगा, दूसरी ओर उनके प्रेम का प्रकाश होता रहेगा। सब साथ–साथ चलने लग जाता है।"

"संयोग–वियोग से रहित नित्य मिलन की कथा तो अपार है। जिन

भाग्यशीलों ने उनको अपना माना और किसी बात के लिये नहीं, केवल प्रेम के लिये ही, उन पर वे परम प्रेमास्पद स्वयं को न्यौछावर करते हैं। एक बार चर्चा करते हुए महाराजजी की वाणी से एक वाक्य निकला कि 'देखो तो, उनका प्रेमी स्वभाव तो देखो। मानव–हृदय के प्रेम का आदर करने के लिये वह अखिल कोटि ब्रह्माण्ड नायक, पूर्ण–ब्रह्म परमात्मा, ब्रह्म–भाव का त्याग करके जीव–भाव स्वीकार करके तुम्हारे पास आता है और उसको प्रेम प्रदान करने के लिये तुम अपनी तुच्छ कामनाओं का त्याग नहीं कर सकते?' अगर करते हो तो उसकी तुलना में ज़्यादा किया कि कम किया?''

वाह रे प्रभु! आप प्रेम–स्वरूप तो हैं ही, करुणा–स्वरूप भी हैं। ■

भगवान भी भक्त को याद करते हैं

स्वामी शरणानन्द जी के एक प्रेमी, साधक को एक अन्य साधक से ज्ञात हुआ कि 'स्वामी जी आपको याद करते थे और आप की कुशल पूछ रहे थे'। बाद में उन्होंने देवकी बहिन जी से बोला कि 'मुझे स्वामी जी याद करते हैं। माताजी! मुझे स्वामी जी की बहुत याद आती है, इसलिये शायद स्वामी जी को मेरी याद आती है।'

देवकी बहिन जी ने कहा कि ''क्या जाने उल्टा होता हो'' आगे फिर उन्होंने बताया कि 'हाँ भाई, हमेशा ऐसा नहीं होता कि जब भक्त को भगवान की याद आती है, तभी भगवान को भी भक्त की याद आती है; कभी कभी ऐसा भी होता है कि जब भगवान को भक्त की याद आती है, तब भक्त को भी भगवान की याद आती है।'

अति अनुपम! भक्त और भगवान का परस्पर एक दूसरे को याद करना!! भक्त को भगवान की याद आई, तो यह विचार आते ही कि भगवान मुझे याद कर रहे हैं, जो भाव उमड़ता होगा वह कदाचित अनुभव ही किया जा सकता है, वर्णन नहीं। वाह रे प्रभु, आपका ऐसा प्रेमी स्वभाव!! इसी लिये तो कहते हैं–'ईश्वर प्रेम हैं और प्रेम ही ईश्वर' 'God is Love and Love is God'.

साधन-सूत्र : 82

भजन क्या है?

ईश्वर विश्वासियों में यह प्रचलन है कि कुछ समय के लिये बैठ कर उनके प्रेम, उनकी महिमा, उनकी करुणा, उनकी शरणागत–वत्सलता, भक्त–वत्सलता आदि के सम्बन्ध में स्वरचित अथवा मीरा, सूरदास, तुलसीदास–अनेक भक्त कवियों द्वारा रचित पद को अकेले या मण्डली में बैठ कर ऐसे ही या गाजे–बाजे के साथ गाते हैं। इसे भजन कहते हैं। ऐसे भजन का अभिप्राय क्या है?

ऐसा प्रतीत होता है कि हम भिन्न–भिन्न अभिप्राय से भजन करते हैं–एक तो भाव से अपनी प्रसन्नता के लिये कि बहुत अच्छा लगता है, स्वान्तःसुखाय के लिये। दूसरे उनकी प्रसन्नता के लिये जिसकी महिमा गा रहे हैं। भगवान कृष्ण बाल–रूप में सूरदास जी के सामने बैठ जाते थे और सूरदास जी उन्हीं की प्रसन्नता के लिये भजन गाकर सुनाते थे। तीसरे कुछ ऐसे भी लोग हो सकते हैं जो साधन–बुद्धि से भाव–शून्य, मात्र क्रिया के ही रूप में भजन गाते हैं। एक और भजन–गायन होता है जिसमें प्रधानता संगीत की होती है, जिसकी महिमा गा रहे हैं वह गौण ही रहता है।

साधन–सूत्र–28 शीर्षक "साधन–रूपी पारम्परिक प्रवृत्तियों का मानव सेवा संघ दर्शन में अर्थ" में स्वामी शरणानन्द जी के शब्दों में भजन का क्या अर्थ है उसका उल्लेख है। उनका कथन है कि "जब तक भगवान को अपना नहीं मानोगे, भगवान प्यारा लगेगा नहीं और जब तक भगवान प्यारा लगेगा नहीं, तब तक उसकी याद आयेगी नहीं और जब तक याद नहीं आयेगी भजन होगा नहीं।" आगे उनका यह भी कथन है कि "स्वतः स्मृति का होना ही सच्चा भजन है। 'है' की अखण्ड स्मृति ही सच्चा भजन है।"

अतः भजन का मूल तो हुआ प्रभु को अपना मानना, उनसे आत्मीय सम्बन्ध जोड़ना। यह तभी सम्भव होता है जब हम में निःसंदेह विकल्प रहित दृढ़ स्वीकृति हो जाय कि केवल प्रभु ही मेरे अपने हैं और मैं प्रभु का हूँ। शेष सारे सम्बन्ध उन्हीं के नाते होते हैं।

भजन की इस परिभाषा से यह प्रश्न् उठना स्वाभाविक है कि क्या क्रिया रूप में जो हम भजन करते हैं, उसका कोई महत्व ही नहीं है और दूसरा प्रश्न् कि प्रभु के अनेक प्रेमी भक्त हुए हैं जो भजन–गायन और नृत्य, भाव में लीन होकर करते थे, जैसे मीरा, नरसी मेहता, सूरदास, स्वामी हरिदास जी आदि, सो क्या था?

इसमें बड़ा सूक्ष्म (subtle) भेद है। अतः इसी विषय को लेकर देवकी बहिन जी के एक प्रवचन से कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं जिनसे इन प्रश्नों का समाधान हो जायेगा।

सबसे पहले विचार हेतु उनका यह कथन देखा जाय कि "भजन, करने वाली क्रिया नहीं है, यह होने वाली साधना है।"

कैसे ? "सत्य की स्वीकृति से और असत् के संग के त्याग से मनुष्य के व्यक्तित्व में से जब असाधनों का नाश होता है और साधन का निर्माण होता है, तब असाधन के नाश होने पर अपने आप साधक का जीवन साधनमय हो जाता है। तब अपने आप ध्यान लगने लगता है, भजन होने लगता है।"

इसका विस्तृत विश्लेषण आगे उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत है:–

"24 घण्टों में से कुछ घण्टों का समय हम भजन में लगायेंगे–ऐसा नियम हम लोगों में से बहुत से भाई–बहिनों का होगा। थोड़ी देर के लिये भजन और शेष समय के लिए जीवन में से भजन निकल जाय तो आप सोच सकते हैं कि उस भजन से सफलता नहीं मिल सकती। हम लोगों में से बहुतों का यह अनुभव है कि सफलता नहीं मिली है। समस्याओं का समाधान नहीं हुआ है। भगवत् अनुराग से जीवन भरपूर नहीं हुआ है। अगर ऐसा नहीं हुआ है और हम लोगों को भजन वाली साधना पसन्द है तो उसमें जो त्रुटि है उसे निकालकर दूर कर देना हमारा पुरुषार्थ होता है। त्रुटि क्या रह गई ?"

इसके उत्तर के लिए उन्होंने स्वामी जी का कथन सुनाया है कि–

"भजन शरीर धर्म नहीं है कि शरीर लगाओगे तो भजन बनेगा। गाओगे–शरीर की सहायता लेकर तो वह भजन होगा, कि बनाओगे–शरीर की सहायता लेकर, कि नृत्य करोगे–शरीर की सहायता लेकर–तो उसका नाम भजन होगा !"

आगे उन्होंने कहा कि "स्वामी जी महाराज ऐसा नहीं बताते। उनका कहना है कि जो काम हाथ–पाँव से किया जा सकता है, मुख से बोलकर जो कुछ भी किया जा सकता है अर्थात् शरीरों की सहायता से जो कुछ किया जा सकता है वह तो यन्त्रों की सहायता से भी हो सकता

है। फिर तो भजन का फल यन्त्र को भी मिलना चाहिये। उसको क्या फल हो सकता है, जिसमें चेतना नहीं है, जिसमें हृदय–शीलता नहीं है, जिसमें प्रेम के आदान–प्रदान की सामर्थ्य नहीं है, उससे भजन का क्या अर्थ निकलेगा? क्या सार्थकता होगी? .....महाराज जी मौलिक बात हम लोगों के सामने रख रहे हैं कि भाई! विचार करके देखिये, **भजन शरीर धर्म नहीं है। भजन तो जीवन है, भजन स्वधर्म है।** और, जब कभी आपके भीतर भजन का संकल्प उठता है–कि अब तो हम थोड़ी देर बैठेंगे, अब तो कुछ देर हम भजन करेंगे, **तो भजन की साधना के पीछे वह अनन्त परमात्मा अवश्य आपकी दृष्टि में रहता है।** भजन करेंगे, तो किसका करेंगे? कोई आपका प्रिय है, कोई आपका इष्ट है, कोई आपका आदर्श है, कोई आपके जीवन का आधार है–तो **पहले वह होता है आपकी दृष्टि में, तब उसकी प्रसन्नता के लिये पीछे से भजन की बात आती है।"**

इस सत्य को देवकी बहिन जी ने अन्य प्रकार से भी समझाया है। कहती हैं कि–

"अगर कोई भगवान को ही न माने, अथवा मानकर भी पसन्द न करे, तो उसके जीवन में भजन की बात पैदा होगी? नहीं होगी। तब देखो, कि भजन की प्रधानता है कि जिसका भजन आप पसन्द करते हैं, उसकी प्रधानता है? जिसका भजन हम लोग करना चाहते हैं उसकी प्रधानता है न! और भजन से क्या होता है भाई? तो **भजनानन्दी भजन को इसलिये पसन्द करते हैं कि उस भजन से परमात्मा को आनन्द आता है। उसको प्रसन्न करने के लिये भजन का प्रश्न् उठता है साधक के जीवन में।"**

प्रभु–प्रेमी, भक्त–संतों, जैसे मीरा, नरसी मेहता, तुकाराम, सूरदास, आदि के इस प्रसंग में उनके चरित्र नृत्य, भजन, गायन से उत्पन्न होने वाले भ्रम का उन्होंने (देवकी बहिन जी) इस प्रकार निराकरण किया है–

".....अब किसी भाई बहिन के सामने भगवत्–भक्तों का चरित्र आ भी सकता है जैसे नरसी मेहता का नाम सुना है हम लोगों ने। बड़ा नृत्य करते थे। जैसे भक्तमती मीरा का नाम सुना है हम लोगों ने। ऐसे और भी संत हो गये, भक्त हो गये, जिन्होंने खूब गाया खूब नृत्य किया। ऐसा मत सोचना कि नृत्य और संगीत उनके भजन का आधार था। ऐसा नहीं था। मीरा जी ने पहले परमात्मा से नित्य सम्बन्ध स्वीकार किया, फिर सारे सम्बन्धों को उस एक

सम्बन्ध में विलीन किये, फिर अपने 'स्व' को उस परमात्मा के समर्पित किया।"

आगे उन्होंने मीरा जी के जीवन–चरित्र का कुछ वर्णन करते हुए उनके द्वारा प्रभु को सर्वस्व समर्पण के भाव को उनके पदों से व्यक्त करते हुए कहा कि–

"ऐसी अच्छी अभिव्यक्तियाँ है कि जिनसे साधना के पथ पर चलने वाले जो ईश्वर विश्वासी साधक हैं, उनको पता चलता है कि सचमुच जिन्होंने ईश्वर का भजन किया, उनके मूल में क्या बातें थीं। .....तो पहले सत्संग हुआ। अर्थात् सत्य की स्वीकृति हुई। फिर क्या हुआ? उस सत्य की स्वीकृति से सब असत् का संग छूट गया। सब असाधनों का नाश हो गया। फिर क्या हुआ? कि उस प्यारे की, उस शरण्य की, उस जीवन के आधार की याद आने लगी। **जैसे जैसे उनकी याद आती है, वैसे वैसे उस याद को प्रकाशित करने के लिये विविध प्रकार के शब्द बनते जाते हैं, पद बनते जाते हैं, नृत्य होता जाता है, बाजा बजता जाता है। तो प्रधानता भजन में भाव की है। भजन में भाव प्रियता की है। भजन में भाव प्रभु की प्रसन्नता की है।** तो प्रभु की प्रसन्नता–यह भक्त के जीवन का आधार बन जाता है और उनकी प्रियता के कारण रह रहकर उनकी याद आती रहती है।"

नोटः *इसको इस प्रकार समझ सकते हैं कि प्रेम के भावावेश में अपने आप (automatic and effortless) भजन, नृत्य होने लगता है। यह सब तो भजन का बाह्य रूप है, आंतरिक रूप तो प्रभु की नित्य, रसमयी स्मृति ही है।*

देवकी बहिन जी ने अपने प्रवचन में नरसी मेहता और मीरा जी के इस प्रकरण में चरित्र का वर्णन किया है– उसके पश्चात् निष्कर्ष की भाँति उनका कथन–

"उनके मूल में पहली बात थी, परमात्मा के साथ आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति। दूसरी बात थी अपने सहित सब कुछ उन्हें समर्पित कर देना। और, तीसरी बात थी उनकी प्रसन्नता पर अपने को छोड़ देना। उनकी प्रसन्नता के लिए अपने को छोड़ देना–यह भजन का आधार है, **जो अपनी प्रसन्नता के लिए परमात्मा को मानता है, वह भजन नहीं कर सकता।** ..... तो भजन होता है किसके द्वारा? **जिसको परमात्मा की प्रसन्नता के अतिरिक्त अपने लिए कुछ नहीं चाहिये, उनके द्वारा भजन होता है।**..... तो ऐसा एक **सर्वस्व–समर्पण का भाव पहले आता है।**"

यह भजन साधक के जीवन में कब आरम्भ होता है–उन्होंने अपने प्रवचन में बताया कि–

".....भजन तो ईश्वर विश्वासी के जीवन में आरम्भ हो जाता है उसी क्षण में, जिस क्षण में उसने महामहिम प्रभु की शरणागति को स्वीकार किया, उनको अपना माना और सब सम्बन्ध, सब विश्वास उसमें विलीन कर दिए। भजन तो आरम्भ हो गया उसी समय। लेकिन जो प्रभु के नित्य सम्बन्ध की स्वीकृति से भजन आरम्भ हुआ वह भजन कभी खत्म नहीं होता है।..... इसलिए वह शरीर धर्म हो ही नहीं सकता। शरीरों के माध्यम से जो भजन हम लोग आरम्भ करते हैं, वह अखण्ड नहीं रहता है।..... तो भजन ऐसा नहीं है कि आरम्भ हो जाय और खत्म हो जाय। वह खत्म नहीं होता।"

भजन की पूर्णता कब होती है और क्या होता है, इसे देवकी बहिन जी ने इस प्रकार समझाया है–

"संत कहते हैं–'गई पूतली लौन की थाह समन्द की लेन, आपन मिलि पानी भई उलट कहे को बैन'। कौन कहे क्या हो गया? तो मेरा जो एक सीमित अहंभाव है जिसके आधार पर मैं आपके सामने बैठ कर बातें कर रही हूँ। उससे ऐसा लग रहा है कि मुझमें ईश्वर विश्वास भी है और मुझमें ईश्वरीय प्रेम का चाव भी है। इस रूप में मेरे जीवन में भजन भी है और भजन में निरन्तर वृद्धि हो रही है। अभी अपने को पता चल रहा है कि इस जीवन में भजन है और भजन के द्वारा रस की वृद्धि हो रही है, तो इसका मतलब यह है अभी इसका मेज़रमेंट चल रहा है। समझ में आता है? पता चल रहा है। **लेकिन वह रस इतना मधुर होता है और सब प्रकार से भरपूर करने वाला होता है कि उसकी जब अधिक वृद्धि हो जाती है तो मैं हूँ–यह सीमित अहं–भाव प्रेम की धातु में परिवर्तित होकर के प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाता है। वहाँ जाकर भजन की पूर्णता होती है।"**

इसलिए उन्होंने कहा है कि–

"ऐसा भजन हम सभी भाई बहिनों के जीवन में, ईश्वर विश्वासी साधकों के जीवन में होना अनिवार्य है। अब आज की सोचिये।..... आज अपनी दशा कैसी है? आज अपनी दशा ऐसी है कि ईश्वर भी पसन्द है, ईश्वर का प्रेम भी पसन्द है और भजन भी पसन्द है और उसके साथ–साथ बहुत से दूसरे ज़रूरी काम हैं, उनको भी करना है। तो कैसे करें? महाराज जी आरम्भ करने वाले साधकों की सहायता के लिये बताते हैं कि भाई पहला काम तो यह करो कि अपने

पास तुम्हें जो कुछ भी दिखाई देता है, सब परमात्मा का है, सब परमात्मा का है, सब परमात्मा का है–ऐसा मान लो।"

इस स्वीकृति और संसार के काम का समन्वय कैसे होगा, इसके लिये देवकी बहिन जी ने स्वामी जी की कही हुई बात सुनाई है, क्या? –

"महाराज जी ने कहा कि देखो, यह भ्रम मत रखना कि संसार के लोगों से मिलेंगे–जुलेंगे तो परमात्मा को भूल जायेंगे, कि संसार की वस्तुओं को सम्भालेंगे तो परमात्मा को भूल जायेंगे–ऐसा मत सोचना। जब **हर वस्तु पर उस जगत्पति जगत्पिता, सृष्टि के मालिक के नाम की मोहर लगा दी तुमने** ..... तब क्या फल होगा? तो ईश्वर–विश्वासी, जिनके भीतर प्रभु की प्रियता के रूप में भजन आरम्भ हो गया है, वह जब संसार का काम करने चलेगा तो जिन व्यक्तियों से मिलेगा, उनको देख देख कर उसके भीतर याद आयेगी, यह मेरे प्यारे का प्यारा है ..... वस्तु देखेगा तो अपने प्यारे को याद करेगा। व्यक्ति को देखेगा तो अपने प्यारे की याद आवेगी। काम करेगा तो उसमें प्यारे की प्रसन्नता याद आयेगी। **तो संसार का काम करते हुए भी उसका भजन अखण्ड रहेगा।**"

■

जिसके जीवन में निरपेक्ष रस की माँग है, वह प्रभु–विश्वास कर सकता है। जगत से अतीत के जीवन में जिसकी आस्था है, वह विश्वास कर सकता है, भजन कर सकता है। .....कामना–पूर्ति और मोक्ष चाहने वाला प्राणी ईश्वर प्रेमी नहीं हो सकता, ईश्वर से प्रेम नहीं कर सकता। 'दिल देवे, सो दिलवर को पावे।' अर्थात् कामना–पूर्ति, निवृत्ति और मोक्ष तीनों को छोड़ देता है, वही दिल दे सकता है। प्रभु से कह दो– मेरी इच्छा नहीं, तुम्हारी इच्छा पूरी हो। मुझे चाहे बन्धन में डालो, चाहे मुक्त करो– जो चाहो सो करो। ऐसा दिल देने वाला भजन कर सकता है।

साधन-सूत्र : 83

करने का होने में परिवर्तन

साधन–सूत्र–62 शीर्षक "करने का राग और उसकी निवृत्ति" में करने के राग की चर्चा हुई है और उसका निष्कर्ष था कि "दूसरों के काम आये बिना करने का राग मिटेगा नहीं।" उसमें यह भी कहा गया है कि "शरीर द्वारा कुछ काम होता रहे तो अच्छा है। लेकिन काम का राग अपने में रखना अच्छा नहीं है। अपने सुख के लिये जब तक प्रवृत्ति में लगे रहेंगे तब तक राग (करने का) मिटेगा नहीं। और पर–हित के लिये प्रवृत्ति में लग जाओगे तो राग मिट जायेगा।"

तात्पर्य है कि शरीर में सामर्थ्य है तो 'करना' तो होगा ही परन्तु करने के राग की निवृत्ति हो जाने से जो करणीय है वह हमसे स्वभावतः होने लगेगा। अर्थात् करना होने में बदल जायेगा।

साधन–सूत्र–60 शीर्षक 'क्या प्रभु की मर्ज़ी के बिना पत्ता भी नहीं हिलता' में कहा गया है कि "हाँ, उनकी मर्ज़ी उन लोगों के लिये काम करने लगती है जिन्होंने अपने को उन्हें पूर्ण रूप से समर्पित कर दिया है, उनकी शरणागति अपना लिया है। तब वह कर्त्ता न होकर निमित्त मात्र हो जाता है.....।"

उसी क्रम में आगे कहा गया है कि "वास्तव में जो हर प्रकार के राग और कामना से सर्वथा मुक्त होता है, उसका करना होने में बदल जाता है।"

मानव सेवा संघ द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'जीवन–दर्शन' जिसमें मानव–जीवन सम्बन्धित अनेक विषयों की स्वामी शरणानन्द जी द्वारा व्याख्या/विवेचना की गई है, उसमें एक विषय का शीर्षक है 'करने का होने में परिवर्तन'।

उपर्युक्त प्रसंग में इसकी विस्तृत व्याख्या हेतु उसी से कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं–

".....प्राप्त के सदुपयोग से ही करने की रुचि का अन्त होगा। **करने की रुचि का अन्त होने पर ही कर्त्ता कर्म के फल से मुक्त होकर** अपने अभीष्ट लक्ष्य– अमरत्व को प्राप्त कर सकता है जो वर्तमान जीवन की वस्तु है।"

"अब विचार करना है कि करने की रुचि का कारण क्या है ? तो कहना होगा कि **देहाभिमान ही एकमात्र करने की रुचि का हेतु है**, जो अविवेक सिद्ध है। प्राप्त विवेक के अनादर का ही दूसरा नाम अविवेक है। इसके अतिरिक्त अविवेक की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। अतः विवेक का आदर करते ही अविवेक तथा उसका कार्य देहाभिमान स्वतः गल जायेगा। देहाभिमान गलते ही करने की रुचि सदा के लिये मिट जायेगी। **करने की रुचि का अन्त होते ही जो होना चाहिये वह स्वतः होने लगेगा, जो वास्तव में साधन–तत्व है।**"

आगे, 'करने और होने' का अर्थ तथा दोनों में क्या अन्तर है को उन्होंने इस प्रकार बताया है:–

"करने और होने में अन्तर केवल यही है कि करना श्रमसाध्य है, सीमित है और उसका परिवर्तन अनिवार्य है। होना स्वाभाविक है, असीम है और नित्य है। करने का परिणाम भोग, रोग तथा मृत्यु है, और होने का परिणाम योग तथा शाश्वत् जीवन है। करने के अन्त में अरुचि तथा नीरसता स्वाभाविक है और होने में नित–नव उत्कण्ठा तथा सरसता है। करने में अभिमान की वृद्धि और होने में निरभिमानता स्वतः सिद्ध है। करना मृत्यु की ओर और होना अमरत्व की ओर ले जाता है। करना जड़ता में आबद्ध करता है और होना चिन्मय जीवन में प्रवेश कराता है। करने में स्वार्थभाव की वृद्धि होती है और होने में सेवाभाव सहज ही आ जाता है। करने में मोह तथा क्रोध और होने में प्रेम तथा क्षमा स्वतः सिद्ध है। कारण, कि समस्त दिव्य गुणों का विकास, होने में है, करने में नहीं। **करने की रुचि का अन्त होते ही होने के साम्राज्य में प्रवेश होता है।**"

करने की रुचि का अन्त कैसे हो के सम्बन्ध में स्वामी जी ने कहा है कि–

"करने की रुचि का अन्त करने के लिये हमें यह जानना होगा कि करने का उपयोग क्या है ? **करने का उपयोग है विद्यमान राग की निवृत्ति तथा दूसरों के अधिकार की रक्षा।** अथवा यों कहो कि करने की रुचि का अन्त दूसरों के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार के त्याग में निहित है। कारण कि दूसरों के अधिकार की रक्षा से विद्यमान राग की निवृत्ति होगी और अपने अधिकार के त्याग से नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होगी। **राग रहित होते ही करना होने में बदल जायेगा**, जो वास्तविक साधन है।"

अपने अधिकार का त्याग और दूसरों के त्याग की बात अन्य साधन–सूत्रों में आ

चुकी है। यहाँ स्वामी जी ने यह समझाया है कि इसका क्रियान्वयन कैसे और किस भाव से होना चाहिये। उन्हीं के शब्दों में–

"अब इस समस्या को हल करना है कि दूसरों के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार का त्याग किस विचार से, किस भाव से और किस प्रकार से करना चाहिये। हमें किसी से कुछ भी लेना नहीं है, इस विचार से तो अपने अधिकार का त्याग हो सकता है। कारण कि लेने की भावना नवीन राग तथा अधिकार–लालसा में आबद्ध करती है, जो असाधन है। **अधिकार–लालसा का त्याग होते ही प्रत्येक प्रवृत्ति निर्मोहता एवं निर्लोभतापूर्वक प्रभु के नाते, विश्व के नाते अथवा सर्वात्मभाव से स्वतः होने लगती है।** जिसके होने से कर्त्ता अपने अभीष्ट भाव में विलीन हो जाता है; क्योंकि **प्रवृत्ति जिस भाव से आरम्भ होती है, कर्त्ता प्रवृत्ति के अन्त में उसी भाव में विलीन होता है।** उपर्युक्त तीनों भाव रसरूप हैं और लक्ष्य से अभिन्न करने में समर्थ हैं। अतः हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति कार्यकुशलता, भाव की पवित्रता तथा लक्ष्य पर दृष्टि रख कर ही होनी चाहिये, तभी सहज निवृत्ति एवं राग–रहित जीवन प्राप्त होगा। रागरहित होते ही कामनाओं का अन्त एवं निःसन्देहता तथा प्रेम की प्राप्ति होगी जो वास्तविक जीवन है।"

अपने अधिकार का त्याग करके उपर्युक्त भाँति से जब हम प्रवृत्ति में लीन होंगे तब हमारे जीवन में पर–हित की दृष्टि से कर्तव्य ही शेष रहेगा। और फिर कर्तव्य के प्रति निष्ठा से दूसरों के अधिकार की रक्षा स्वमेव/स्वतः होवेगी।

जो साधक है, जिसका लक्ष्य है नित्य, अविनाशी, रसरूप जीवन की अनुभूति, शान्ति, स्वाधीनता, प्रियता अथवा दूसरे शब्दों में योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति, उसके द्वारा ऊपर वर्णित स्वामी जी की सलाह को विचारपूर्वक समझ कर अपनाने से सफलता निश्चित है। **"जब करना होने में बदल जाता है तभी साधना पूर्ण होती है।"** ■

भौतिकवाद की पराकाष्ठा सर्वहितकारी सद्भाव में, अध्यात्मवाद की पराकाष्ठा सर्वात्मभाव में और विश्वास की पराकाष्ठा प्रभु की प्रसन्नता में निहित है। इन सभी की एकता में ही वास्तविक जीवन है।

साधन-सूत्र : 84

समाज में मनुष्य–मनुष्य में भेद क्यों हो?

हम सभी ने अपने धार्मिक–ग्रंथों में पढ़ा है, गुरु–वाणी में, संत–वाणी में सुना है कि समस्त सृष्टि में एक ही परम–सत्ता, परम–तत्व व्याप्त है और वही अव्यक्त अनेक रूपों में, चर–अचर, जड़–चेतन, वस्तुओं–प्राणियों, समस्त उत्पन्न तत्वों में व्यक्त हुआ है। गीता–प्रेस गोरखपुर द्वारा प्रकाशित एक ग्रन्थ में एक ही की सर्वत्र विद्यमानता को एक चित्र में दिखाया गया है। उस चित्र में हाथी, श्वान, चाण्डाल, साधु आदि अनेक जीवों/पदार्थों में श्री कृष्ण भगवान की झलक दिखाई गई है। तात्पर्य है कि वही परमात्मा सब में व्याप्त हैं और सब कुछ वही हैं।

शबरी जी को नवधा–भक्ति सुनाते समय भगवान राम ने सातवीं भक्ति बताया था–"जगत भर को समभाव से मुझमें ओत–प्रोत(राममय) देखना.....।" भक्त प्रह्लाद ने कहा "उस भक्ति का स्वरूप है **सर्वदा, सर्वत्र सब वस्तुओं में भगवान का दर्शन**।"

स्वामी विवेकानन्द ने कहा ".....Seeing Him in all things and all things in Him.....".

इसी तथ्य को स्वामी शरणानन्द जी ने अपने महाप्रयाण के पूर्व अपने उद्‌बोधन में इस प्रकार कहा–**कोई और नहीं, कोई ग़ैर नहीं।** तात्पर्य कि जब उस परम–सत्ता के अतिरिक्त और कोई है ही नहीं, तो उसके व्यक्त रूपों में किसी के ग़ैर होने का प्रश्न् कैसे हो सकता है, सभी उसी के रूप और उस नाते अपने ही तो हैं।

जब तत्वतः सब एक ही हैं, फिर कर्म की भिन्नता के आधार पर मनुष्य में उत्कृष्ट और निकृष्ट का भेद क्यों?

मानव के परम–पुरुषार्थ की व्याख्या करते हुए स्वामी शरणानन्द जी ने कहा ".....**सभी को अपने में और अपने को सभी में अनुभव करो। बस यही अनन्यता है।**....."

ऊपर जो लिखा गया है वह सभी को विदित है, परन्तु यह सब लिखने (एक

प्रकार से दोहराने) की आवश्यकता इसलिए हुई कि कुछ समय पूर्व, अभिनेता आमीर खाँ के 'सत्यमेव जयते' नामक टी0वी0 प्रोग्राम के अंतर्गत जिस दिन समाज में वर्ण–व्यवस्था विषयक प्रस्तुति हुई, उसके दौरान हिन्दु धर्म के संरक्षक एक महन्त जी वर्ण–व्यवस्था को ईश्वरीय कृति बताते हुए आज के युग में भी इसके पक्षधर रहे। प्रोग्राम को देखकर विचार आया कि यदि मुझे अवसर मिला होता, तो उनसे कुछ प्रश्न् पूछता। कौन से? नीचे प्रस्तुत हैं:–

I- उनके अनुसार शुद्र विष्णु भगवान के पैरों से उत्पन्न हुए थे जबकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य और अंगों से। तात्पर्य कि चूँकि पैर नीचे ज़मीन पर होता है, वह निकृष्ट अंग है और उससे पैदा होनेवाला भी निकृष्ट ही होगा।

परन्तु शरीर का तो प्रत्येक अंग अपना महत्व रखता है। बिना पैर के शरीर की क्या दशा होगी सोचने की बात है।

प्रश्न्(क) क्या यह जानकारी उन्हें विष्णु भगवान ने दिया था? कहेंगे शास्त्रों में लिखा है। शास्त्रों में जिन्होंने लिखा उनको क्या विष्णु भगवान ने बोलकर लिखवाया था ? अपने आप ही तो लिखा। क्या उसपर विष्णु भगवान की पुष्टि (authentication) की मुहर लगी है?

प्रश्न्(ख) विष्णु भगवान के पैरों (नख) से ही गंगा निकलीं; वह तो पवित्र, पूजनीया मानी गईं। इतना ही नहीं, सभी के पापों को धोने वाली, मुक्ति दिलाने वाली हुईं जिस प्रकार से उन्होंने राजा सगर के पुत्रों का उद्धार किया था। उसी पैर से निकली गंगा, पवित्र, पतितपावनी हुईं और मनुष्य (शूद्र) निकृष्ट हो गया। ऐसा कैसे हो सकता है?

II- कहा जाता है कि वर्ण–व्यवस्था सबसे पहले भगवान ने सूर्य को बताया, फिर सूर्य ने मनु को बताया। तब उसी को मनु ने समाज में लागू किया। मनुष्य तो पहले से विद्यमान थे, वर्ण–व्यवस्था तो बाद में आई। उससे पहले सब एक ही समान तो थे। मनु ने समाज की व्यवस्था के लिये लोगों में काम का बँटवारा किया। फिर वही पीढ़ी दर पीढ़ी परम्परा बन गई। वर्ण–व्यवस्था में जिन लोगों को सेवा कार्य आवंटित किया गया वे शुद्र कहलाए। **'शुद्र' शब्द उस समय तो मात्र एक वर्ग का नाम बना।** यह तो कालांतर में तथाकथित सवर्णों के समाज द्वारा उस वर्ग को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा और इस कारण शुद्र शब्द 'निकृष्ट' का पर्याय बन गया।

प्रश्न्(क) वर्ण–व्यवस्था करते समय क्या मनु ने यह भी कहा था कि जिन्हें शुद्र कहा

गया, उन्हें निकृष्ट माना जाय, उनसे घृणा की जाय, उन्हें अछूत माना जाय ?

प्रश्न(ख) शुद्र के घर जो बच्चा जन्म लेता है, क्या उसके शरीर पर शुद्र का ठप्पा लगा रहता है? यदि नहीं, तब तो वह भी औरों की ही भाँति मात्र इन्सान के ही रूप में जन्म लेता है।

प्रश्न(ग) नये जन्में दस बच्चों को मिला दिया जाय तो क्या कोई उनमें भेद बता सकता है कि कौन किस वर्ण का है ? नहीं बता सकता।

नोटः ***वास्तव में समाज ही वर्ण की संज्ञा देता है और इस आधार पर कि किस घर में पैदा हुआ और लालन पालन हुआ। यदि अस्पताल में बच्चे बदल जायँ, तो क्या परिणाम होगा ? शुद्र का बेटा सवर्ण हो जायेगा और सवर्ण का शुद्र। महाभारतकालीन कर्ण सूत–पुत्र कहलाये यद्यपि वह कुन्ती के गर्भ से जन्में सूर्य–पुत्र थे।***

उस टी0वी0 प्रोग्राम में मंच पर दिल्ली विश्वविद्यालय की एक प्राध्यापिका (प्रोफेसर) भी आई थीं। यदि बताया न गया होता तो क्या कोई मात्र उनको देखकर कह सकता कि वह वाल्मीकि समाज की हैं।

III- अब एक उदाहरण सफ़ाईकर्मी का लेते हैं। जिस ज़माने में आधुनिक फ्लश–लैट्रीन नहीं थे, उस समय घरों से मल हटाने का कार्य हाथ से ही समाज के एक वर्ग द्वारा सफ़ाईकर्मी के रूप में किया जाता था और मल का टोकरा या टिन कमर पर या सिर पर रखकर ले जाया जाता था। (अनेक शहरों की पुरानी बस्तियों में, कस्बों और गाँवों तक में यह तरीका अभी भी चल रहा है।) इस कारण उस वर्ग के लोगों को अछूत कहा जाने लगा। यहाँ तक कि उनकी परछाँई पड़ जाने पर अति कट्टर सवर्णों द्वारा दुबारा स्नान किया जाता था–क्योंकि उस कारण उनका शरीर अशुद्ध हो जाता था।

यह तो उल्टी बात हुई; वास्तव में तो समाज को मैला साफ़ करने वालों के प्रति कृतज्ञ, आभारी होना चाहिये था कि वे स्वयं बदबू आदि सहन करके उनके घरों को इससे छुटकारा दिलाते हैं। यदि शौचालयों की सफ़ाई करने वे कुछ दिन न आते तो क्या दशा होती? घर नरक हो जाता–बस बदबू ही बदबू और मक्खियाँ। जीना मुश्किल हो जाता।

अतः उन्हें समाज के द्वारा धन्यवाद दिया जाना चाहिये था क्योंकि वे लोगों को

नरक से बचाकर स्वर्ग का सुख उपलब्ध कराते रहे। इसी लियें महात्मा गांधी ने कहा था–**यह मत भूलो कि जो व्यक्ति अपने सिर पर तुम्हारा मैला ढोता है, वह भी तुम्हारी ही तरह एक इन्सान है।**

IV- हर युग में सभी लोग, चाहे ऋषि, महात्मा ही क्यों न हों, शौच के पश्चात् अपना मल अथवा छोटे बच्चों का मल अपने हाथों से ही धोते रहे हैं। उसके बाद साबुन या मिट्टी से हाथ धोकर शुद्ध हो जाते रहे हैं।

प्रश्न(क) जब और लोग मल छूने के बाद इस प्रकार शुद्ध और पवित्र हो सकते हैं, तो वह वर्ग जो दूसरों का मल हटाने का उच्च कोटि की सेवा करता है, वह नहा धोकर क्यों नहीं शुद्ध और पवित्र हो सकता है?

नोटः ***ध्यान देने की बात है कि अब अधिकांश घरों में लोग नहाने के पहले ब्रश और हार्पिक से स्वयं अपने कमोड आदि साफ कर लेते हैं।***

प्रश्न(ख) एक ही काम करने वाला, घर का प्राणी तो शुद्ध बना रहता है, परन्तु एक वर्ग विशेष वाला व्यक्ति अछूत ही बना रहता है। ऐसा क्यों ?

नोट–1: ***यही बातें समाज के उस वर्ग के लिये भी लागू होती हैं, जो मरे जानवरों का निपटारा (disposal) करते हैं, और ऐसे ही अन्य वर्गों के लिये भी।***

नोट–2: ***ऊपर कही गई बातों के अतिरिक्त यह भी सोचने की बात है कि ऐसे वर्ग के अनेक लोगों द्वारा अब यह काम छोड़ दिया गया है, फिर भी उनके प्रति समाज के अन्य लोगों का भाव पूर्ववत् ही रहता है। ऐसा क्यों ? क्या इसीलिये कि उनके शरीरों पर 'शुद्र' का ठप्पा लगा है !***

समाप्त करने के पूर्व एक महान संत की वाणी में सुन्दर समाज का चित्र!! स्वामी शरणानन्द जी द्वारा प्रणीत मानव सेवा संघ के ग्यारह नियमों में छठा नियम है–

"पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव अर्थात् कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता।"

प्रभु यही सन्मति सबको प्रदान करें।

साधक की दृष्टि से यह भी विचार करने की बात है कि मनुष्य–मनुष्य में इस प्रकार की भेद दृष्टि रखते हुए क्या हमारा आध्यात्मिक विकास, प्रभु–प्रेम की प्राप्ति का लक्ष्य पूरा हो सकेगा। ■

साधन-सूत्र : 85

सृष्टि में जड़ और चेतन का भेद!!

सृष्टि की अनेक रचनाओं में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो चेतन होते हुए भी ईश्वर द्वारा प्रदत्त विवेक के प्रकाश पर अविवेक का पर्दा डालकर जड़ता में आबद्ध हो जाता है। इसी पृष्ठिभूमि में इस विषय की विवेचना आगे हो रही है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सृष्टि में दो प्रकार की स्थूल कृतियाँ हैं। (सूक्ष्म कृतियों, जो हमारी ज्ञानेन्द्रियों के परे है, की चर्चा नहीं की जा रही है।) स्थूल कृतियों में एक तो पदार्थ हैं, जिनमें प्रत्यक्ष रूप से, अपने आप कुछ करने की क्षमता नहीं है और प्राणी की परिभाषा में नहीं आते। जैसे ईंट, पत्थर, लोहा आदि।

दूसरे प्रकार की कृतियाँ वे हैं जो प्राणी की श्रेणी में आती हैं। उनका जन्म होता है, मृत्यु होती है (शरीरधारी कह सकते हैं)। कष्ट का अनुभव और ख़तरे की पहचान होती है। इनमें थलचर, जलचर और नभचर सभी आयेंगे। पशु, पक्षी तक प्यार समझते हैं और उसका प्रतिदान (response) प्रदर्शित करते हैं अपने अपने ढंग से।

पेड़ पौधे भी इसी श्रेणी में आते हैं जो विज्ञान द्वारा प्रमाणित है। उनमें प्राण (life) होता है, श्वास लेते हैं और अन्य जीवधारियों की भाँति विकास (growth) और क्षय(नाश) भी होता है। अन्तर केवल यह है कि पशु, पक्षियों, मनुष्यों की भाँति वे अपना कष्ट, पीड़ा या हर्ष व्यक्त नहीं कर पाते, यद्यपि उन्हें भी इनका अनुभव होता है।

वैज्ञानिकों ने यह भी सिद्ध किया है कि उन पर संगीत का प्रभाव पड़ता है–विकास और फल देने की क्षमता में वृद्धि होती है। वे प्यार भी समझते हैं।

इतना ही नहीं, भक्त–कवि रसखान ने तो अपने एक पद में इच्छा की थी कि यदि जन्म हो तो ब्रज में लता, पत्र, वृक्ष बनूँ जिससे कान्हा का सान्निध्य मिले।

यह उनकी चाह थी, पता नहीं चाह पूरी हुई या नहीं। पर यह सत्य प्रतीत होता है कि ब्रज में अनेक वृक्ष और लताएँ पूर्व

जन्म में कृष्ण के प्रेमी भक्त रहे और रसखान जैसी ही चाह लेकर वृक्ष आदि बने।

गीता–वाटिका गोरखपुर के सन्त महापुरुष श्री राधे बाबा की पुस्तक शीर्षक "प्रेम–सत्संग सुधा–माला" में इसका वर्णन है जो नीचे उद्धरित है–

"वृन्दावन के वृक्षों की भी बड़ी विचित्र बात है। एक महात्मा ने अत्यन्त विश्वासपूर्ण स्वयं जाँच की हुई कई घटनाएँ हमको एवं भाईजी (हनुमान प्रसाद पोद्दार जी) को सुनायी थीं।"

"एक पेड़ था। उसे काटने की तैयारी हुई। रात को एक मुसलमान दरोगा को स्वप्न हुआ कि देखो मैं काशी में एक विद्वान ब्राह्मण था, बहुत तपस्या करने पर मुझे ब्रज में पेड़ होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। कल लोग मुझे काटने की तैयारी कर रहे हैं, तुम बचाओ। वह मुसलमान था, पर सब पता ठिकाना आदमी का नाम तक स्वप्न में बताया गया था। इसलिये उसे जाँचने की इच्छा हुई। जाँचने पर सब बातें ज्यों–की–त्यों मिलीं। उसे पहले कुछ भी इस विषय में ज्ञात नहीं था।"

"दूसरी घटना उन्होंने सुनायी थी–एक साधु जंगल में एक लता के नीचे शौच होने जाते थे। वहाँ कुछ आवाज़ आती, पर वे समझ न पाते। फिर उनको या शायद उनके साथी को स्वप्न हुआ या दर्शन हुआ–ठीक याद नहीं है, जिससे पता लगा कि उस लता के रूप में कहीं की एक महिला बड़ी भक्ति से उसके फलस्वरूप जन्म धारण किया था। उसने बताया कि 'तुम्हें स्त्री के पास जाकर शौच होने में लाज नहीं आती? प्रतिदिन तुम्हें चेतावनी देती हूँ, पर तुम समझते नहीं हो। देखो, ब्रज की लता एवं वृक्षों के नीचे शौच मत जाया करो।' भागवत में तो स्वयं भगवान श्री कृष्ण ने यह बात कही है कि यहाँ के पेड़ प्रायः बड़े–बड़े ऋषि हैं, जो वृक्ष बन कर मेरा और श्री बलराम जी का दर्शन करते हैं।"

सामान्यतः यही प्रतीत होता है कि मनुष्य को छोड़ कर अन्य जो चर प्राणी हैं, उनमें यद्यपि संवेदना तो है, परन्तु अपने स्वरूप का बोध नहीं होता।

इस प्रकार देखा जाय तो सृष्टि–कर्त्ता की स्थूल कृतियाँ तीन प्रकार की हैं–

(1) जड़ पदार्थ, ईंट पत्थर आदि। स्वामी शरणानन्द जी के शब्दों में "जो दूसरों की सत्ता से प्रकाशित हो, जो स्वाधीन न हो, और जो पराधीन हो वह जड़ है।"

(2) चर और अचर वे सभी प्राणी जो चेतन तो हैं, परन्तु उन्हें अपने स्वरूप का बोध नहीं होता। स्वामी जी ने जड़ उन्हें

कहा है जिन्हें अपने स्वरूप का भास न हो। तात्पर्य है कि जैसे कोई पक्षी है उदाहरणार्थ कौआ, तो उसे यह बोध नहीं रहता कि मैं कौआ हूँ।

नोटः *जो दृष्टान्त श्री राधे बाबा ने दिये हैं जिनमें वृक्ष और लता को अपने स्वरूप का बोध था, वे अपवाद ही स्वरूप होने चाहियें। इस प्रकार का अपवाद पशु–पक्षियों में भी होता है। जैसे श्रीरामचरितमानस में वर्णित काकभुसुन्डी जी, जो शाप के कारण अनेक योनियों में जाते रहे, परन्तु भगवत्–कृपा से उन्हें प्रत्येक योनि में अपने स्वरूप की स्मृति रही और अपने आराध्य प्रभु श्रीराम का अनुराग बना रहा। तात्पर्य हुआ कि मनुष्य के अलावा अन्य योनियों के कतिपय प्राणियों को भी अपनी साधना और प्रभु कृपा से अपने वास्तविक स्वरूप की स्मृति बनी रहती है।*

(3) मनुष्य, जो चेतन भी है और उसे अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान भी रहता है। जिसमें चेतना होगी, वही तो चेतन होगा। स्वामी शरणानन्द जी ने चेतना का अर्थ बताया है–"चेतना सूर्य के समान है जो स्वयं प्रकाशित है और जिससे जड़ पदार्थ प्रकाशित होते हैं।"

परन्तु खेद तो यह है कि मनुष्य, सृष्टिकर्ता की चेतन कृति होते हुए भी अपने आचरण से जड़ता में आबद्ध हो जाता है। स्वामी जी की वाणी में 'जड़ता माने अपने स्वरूप की विस्मृति।' जब मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मत्सर, ईर्ष्या, आदि विकारों से ग्रस्त हो जाता है तब उसे अपने वास्तविक स्वरूप की विस्मृति हो जाती है, और वह विकार ही उस समय उसका स्वरूप हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसके विवेक पर अविवेक का पर्दा पड़ जाने से वह अकरणीय भी कर बैठता है।

इस अवस्था की स्पष्ट व्याख्या भगवान श्री कृष्ण की वाणी में प्रस्तुत हैः–

श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध के सप्तम अध्याय से लेकर 29वें अध्याय तक में भगवान कृष्ण द्वारा अपने मित्र उद्धव जी को दिये गये वृहद् ज्ञानोपदेश का वर्णन है। उसी में 21वें अध्याय में उन्होंने उद्धव जी से कहा है–

"उद्धव जी! विषयों में कहीं भी गुणों का आरोप करने से उस वस्तु के प्रति आसक्ति हो जाती है। आसक्ति हो जाने से उसे अपने पास रखने की कामना हो जाती है और इस कामना की पूर्ति में किसी प्रकार की बाधा पड़ने पर लोगों में परस्पर कलह

होने लगता है। कलह से असह्य क्रोध की उत्पत्ति होती है और क्रोध के समय अपने हित–अहित का बोध नहीं रहता, अज्ञान छा जाता है। इस अज्ञान से शीघ्र ही मनुष्य की कार्याकार्य (करणीय/अकरणीय) का निर्णय करने वाली व्यापक चेतनाशक्ति लुप्त हो जाती है। साधो! चेतनाशक्ति अर्थात् स्मृति के लुप्त हो जाने पर, मनुष्य में मनुष्यता नहीं रह जाती और वह शून्य के समान अस्तित्वहीन हो जाता है। अब उसकी अवस्था वैसी ही हो जाती है जैसे कोई मूर्छित या मुर्दा हो। .....उसके शरीर में व्यर्थ श्वास चलता रहता है, जैसे लुहार के धौंकनी की हवा। उसे न तो अपना ज्ञान रहता है और न किसी दूसरे का।"

स्वामी शरणानन्द जी द्वारा प्रतिपादित मानव–दर्शन में विवेक की बहुत महिमा बताई गई है। उन्होंने कहा कि विवेक मानव मात्र को समान रूप से प्रदत्त ईश्वरीय प्रकाश है जिसमें उसे सही गलत, करणीय अकरणीय की पहचान होती है। बुद्धि और विवेक अलग अलग हैं। उनका कथन है कि–

"बुद्धि तो एक प्राकृतिक यंत्र के समान है और विवेक प्रकृति से अतीत अर्थात् अलौकिक तत्व है।"

"विवेक किसी कर्म का फल नहीं है; .....विवेक अलौकिक तत्व है, जो अनन्त की अहैतुकी कृपा से मिला है।"

उन्होंने विवेक और बुद्धि का अन्तर इस प्रकार समझाया है–

"विवेक प्रकाश है और बुद्धि दृष्टि है। जैसे चक्षु–इन्द्रिय (आँखें) सूर्य के प्रकाश में कार्य करती है, वैसे ही बुद्धि विवेक के प्रकाश में कार्य करती है। **विवेक का आदर करने से बुद्धि विवेकवती हो जाती है।** उसी बुद्धि की बड़ी महिमा है।"

हमारे जीवन में जब अविवेक आ जाता है तभी सारी बुराइयाँ/दोष आ जाते हैं। स्वामी जी ने कहा है कि "अविवेक, विवेक का अभाव नहीं है, अपितु विवेक का अनादर है। .....विवेक के अनादर से ही काम, कामना और अकर्तव्य का जन्म होता है।"

इन चर्चाओं के पश्चात् इस पर विचार किया जाय कि जिन्हें हम जड़ पदार्थ कहते हैं,– ईंट, पत्थर, जल, वायु आदि वे क्या वास्तव में जड़ हैं। सृष्टि में एक ही परमसत्ता है और वही अव्यक्त अनेक रूपों में व्यक्त हुआ है। उन वस्तुओं में उन्हीं की सत्ता तो है और उन्होंने ही वह रूप धारण किया है। इसे इस प्रकार समझ सकते हैं कि विज्ञान

के अनुसार सभी वस्तुओं के मूल में समान (common) अणु–परमाणु (इलेक्ट्रान, न्यूट्रान, पाज़ीट्रान, आदि) हैं और उन्हीं के भिन्न भिन्न संघटन (structure) से भिन्न भिन्न वस्तुओं का निर्माण होता है। उसी तरह इन सब में इन से भी परे, ईश्वर की ही समान (common factor) सत्ता है।

वह सत्ता परम चेतन है। इसलिए वे सभी वस्तुएँ भले ही स्थूल दृष्टि से जड़ प्रतीत होती हों, सूक्ष्म दृष्टि से तो चेतन ही होंगी।

इस सत्य की पुष्टि के अनेक उदाहरण हैं। सत्युग में प्रह्लाद ने अपने पिता से यही तो कहा था (पूछने पर कि तेरा ईश्वर कहाँ है) तुझमें, मुझमें, खड्ग में, खम्भ में और जब हिरण्यकशिपु ने खम्भ पर तलवार मारा तब वहीं नृसिंह भगवान प्रकट हो गये।

त्रेता युग में भगवान राम और उनकी सेना को समुद्र से, रास्ता देने की, विनती पर जब उसने कोई ध्यान नहीं दिया, तब भगवान राम ने उसे सुखा डालने के लिये धनुष–बाण उठा लिया। भयभीत हो समुद्र जिसे हम लोग मात्र जल का भण्डार और स्वरूप से जड़ मानते हैं मनुष्य रूप में आकर उनसे क्षमा–याचना किया और पुल बनाने का उपाय बताया।

द्वापर में गंगा, जिसे हम लोग मात्र जल प्रवाह समझते हैं, नारी रूप धारण करके शान्तनु राजा की पत्नी बनीं और भीष्म–पितामह (देवव्रत) को जन्म दिया। इसीलिये उन्हें गंगापुत्र भी कहा गया। इसी प्रकार जिसे हम लोग मात्र आग का गोला समझते हैं उसी सूर्य और कुन्ती के संयोग से कर्ण का जन्म हुआ था। पवन देव (जिन्हें हम लोग मात्र वायु समझते हैं) और कुन्ती के संयोग से पाण्डव भीम का जन्म हुआ। शंकालू लोग कह सकते हैं कि ये सब पौराणिक कथाएँ हैं (myth), इनका कोई प्रमाण तो है नहीं। ऐसे लोगों से कोई आग्रह नहीं है कि वे इसे सत्य मानें हीं।

आज के युग की बात है– बीसवीं शताब्दी में जोधपुर ज़िले में एक परमकोटि की महिला संत हुईं बाला सती माता। विवाह के 15 दिन बाद ही पति का देहान्त हो गया जब वह मात्र 16 वर्ष की थीं। पति के शव के साथ अपने शरीर का दाह न करके ससुराल में 23 वर्ष तक परिजनों की सेवा करती रहीं। 39 वर्ष की आयु में किसी घटना विशेष के बाद शरीर त्याग तो नहीं किया परन्तु अन्न–जल ग्रहण करना पूरी तरह से छूट गया और 44 वर्षों तक (83 वर्ष की आयु में देवलोकगमन) उन्होंने

अन्न–जल कुछ भी ग्रहण नहीं किया। वैज्ञानिकों ने परीक्षण भी किया था।

स्वामी शरणानन्द जी से उनकी प्रगाढ़ आध्यात्मिक आत्मीयता थी। मानव सेवा संघ के वृन्दावन आश्रम में उनका आना और प्रवास होता रहता था। एक बार वह, महिला संत माँ किशोरी माता जी के स्थान (फैज़ाबाद) आई थीं। वहाँ उन लोगों के साथ सरयू जी में स्नान करते समय, उनका एक अंग–वस्त्र पानी में बह गया। लोगों ने दर्ज़ी बुलवा कर दूसरा सिलवाने का बहुत आग्रह किया, परन्तु उन्होंने मना कर दिया और अपनी राजस्थानी भाषा में बार बार कहती रहीं कि सरयू जी मेरा अंग–वस्त्र बहा ले गयीं। शाम के धुंधल्के में एक बूढ़ी महिला जिनके वस्त्र से पानी टपक रहा था, आश्रम आईं और सती माता के पास जाकर उनका अंग–वस्त्र यह कहते हुये दिया कि–ले अपना अंग–वस्त्र, दिन भर से रट लगा रखा है कि सरयू जी मेरा अंग–वस्त्र बहा ले गईं। किशोरी माता जी इसकी प्रत्यक्ष–दर्शी थीं और उन्होंने यह आश्चर्य–जनक घटना औरों को सुनायी थी।

सोचने की बात है कि उतनी देर में अंग–वस्त्र जल के प्रवाह के साथ मीलों दूर चला गया होगा। स्थूल दृष्टि से सरयू मात्र जल प्रवाह थीं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से उन्हीं सरयू जी ने अपने चेतन स्वरूप से, अंग–वस्त्र जहाँ कहीं भी पहुँच गया था, वहाँ से उठा कर (retrieve करके) सती माँ को लौटा दिया।

ईश्वर के विभिन्न विग्रहों में, जो पत्थर या धातु (स्थूल दृष्टि से जड़) से बने होते हैं, प्रभु की कृपा से अनेक भक्तों को उनके सजीव रूप का दर्शन हुआ है और होता है।

सारी चर्चा का सारांश यह निकला कि एक ही परम सत्ता जो परम चेतन है, अनेक रूपों में इस सृष्टि में व्यक्त हुआ है; उसके सभी व्यक्त रूप चेतन हैं, भले ही हमारी स्थूल दृष्टि में कुछ वस्तुएँ जड़ प्रतीत होती हैं। तथा मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो चेतन होते हुए भी अपने अविवेक (विवेक का अनादर) के कारण जड़ता में आबद्ध हो जाता है–उसे अपने स्वरूप की विस्मृति हो जाती है जिसके अनेक कुपरिणाम होते हैं।

इससे बचने का उपाय यही है कि पिछले साधन–सूत्रों में अनेक प्रकार से वर्णित सत्य को अपनाकर अपने जीवन को हम विकार–मुक्त बना लें। मुख्य रूप से तो यही उपचार है कि हम जीवन के सत्य को स्वीकार करें और ईश्वर प्रदत्त विवेक के प्रकाश में असत् का अर्थात् जानी हुई बुराइयों का त्याग करें। ■

साधन-सूत्र : 86

आस्तिकता–नास्तिकता

ये दो शब्द अक्सर सुनने में आते हैं कि अमुक व्यक्ति नास्तिक हैं या अमुक व्यक्ति आस्तिक हैं। इसी को अनीश्वरवादी और ईश्वरवादी भी कहते हैं। सामान्य अर्थ तो यही हुआ कि जो ईश्वर के अस्तित्व, उनके होनेपन को, उनकी सत्ता को मानता है वह ईश्वरवादी हुआ और जो ईश्वर जैसी कोई परम सत्ता का होना नहीं मानता, जगत को ही सब कुछ मानता है वह अनीश्वरवादी हुआ।

स्वामी शरणानन्द जी के शब्दों में–

"जिसकी अस्ति हर काल में है, उसकी स्वीकृति 'आस्तिकता' है। जिसकी अस्ति हर काल में नहीं है, उसकी स्वीकृति नास्तिकता है।"

इसी तथ्य को स्वामी जी ने एक और प्रकार से बताया है– "संसार से परे कुछ नहीं है, ऐसा भाव ही नास्तिकता का भाव है। संसार से परे अनन्त सत्य है, यही आस्तिकता का भाव है।"

प्रश्न् होता है कि इन दोनों ही प्रकार की स्वीकृतियों के भेद का परिणाम क्या होता है? उनके विचारों में, मान्यताओं में और जीवन के प्रति दृष्टिकोण आदि में क्या अन्तर होता है।

स्वामी शरणानन्द जी और बीसवीं सदी के विख्यात दार्शनिक, विचारक प्रो0 जे0 कृष्णामूर्ति जी के मिलन और उनके मध्य इसी विषय को लेकर हुई एक रोचक, ज्ञानप्रद वार्ता का परमपूज्य संत स्वामी श्रीपाद बाबा के संस्मरण से उद्धरण प्रस्तुत है:–

"यहाँ आज के विश्वविख्यात दार्शनिक एवं प्रखर चिन्तक श्री जे0कृष्णमूर्ति और स्वामी जी के मध्य घटित एक भेंटवार्ता का उल्लेख अप्रासांगिक न होगा। कई दृष्टियों से यह भेंटवार्ता अपने आप में अनूठी होकर किसी विश्वजनीन चिन्तनधारा का उन्मेष करती है। एक ओर जहाँ श्री जे0कृष्णमूर्ति में परम्परागत एवं रूढ़िपरक मान्यताओं की कोई विध्यात्मक स्वीकारोक्ति नहीं है और जहाँ वे निषेधात्मक रूप में अत्यन्त

सावधान हैं वहीं दूसरी ओर स्वामीजी इस समस्त विधि–निषेध के दायरे की विस्तृत परिधि को स्पर्श करते हुए भी केन्द्र पर दृष्टि रख अपने को समन्वित ढंग (All Inclusive) से व्यक्त करते हैं। घटना महाप्रयाण के कुछ समय पूर्व की है, जबकि कुछ प्रबुद्ध साधकों ने इन दोनों महापुरुषों के मिलन–सान्निध्य के उन अद्‌भुत क्षणों के दर्शन करने का योगायोग बनाया। मानवता के पुजारी एवं मूर्धन्य मनीषी श्री स्वामीजी के कार से उतरने के पूर्व ही कृष्णमूर्ति जी ने स्वयं उतरकर उनका दरवाज़ा खोला और सौहार्द्‌पूर्वक सीढ़ियाँ पार करते हुए सभा–भवन तक ले आये। सभा–भवन में आकर कृष्णमूर्ति जी ने अपने लिए नियुक्त विशेष कुर्सी पर स्वामीजी को आसीन कर स्वयं एक साधारण सी कुर्सी ग्रहण कर ली। दो महापुरुषों के इस स्नेह–मिलन में शान्ति विकीर्ण हुई, अविचार की उस दुनिया में वह कितना अलौकिक एवं अप्रतिम क्षण होगा। कुछ क्षण पश्चात् स्वामीजी ने मौन भंग किया–'आप प्रत्येक बात का निषेध करते जाते हैं, तो क्या आप अभाव को स्वीकार करते हैं ?' अनुवादकर्ता ने स्वामीजी के इस मन्तव्य को आंग्ल भाषा में कृष्णमूर्ति जी के समक्ष व्यक्त किया। सुनते ही कृष्णमूर्तिजी तपाक से बोले–'नहीं! नहीं!! लाइफ़ (जीवन) है।' स्मित हास्ययुक्त अपनी चिर–परिचित मुद्रा में जैसे प्रायः वे निर्भीकतापूर्वक एवं सहज–सरल स्वभाव में कह दिया करते थे, स्वामीजी ने कहा–'जिसे आप लाइफ़ कहते हैं उसे मैं यदि परमात्मा कहूँ तो आपको क्यों आपत्ति होती है।' सौम्यतापूर्ण निस्तब्धता में एक समन्वयात्मक मौन प्रारम्भ हुआ। दोनों महापुरुषों ने एक दूसरे में एक अद्‌भुत साम्य का अनुभव किया, जहाँ विरोध–वैषम्य के लिए कोई स्थान था ही नहीं। कृष्णमूर्तिजी ने पहली बार यह अनुभव किया कि परम्परागत साधु–महात्माओं से यह महात्मा कुछ भिन्न प्रकार के हैं। उन्होंने स्वामीजी के इन विचारों की मूक पुष्टि की, ऐसा लगा।

अब एक विचारपूर्ण मौन प्रारम्भ हुआ। कुछ शान्त क्षणों के विराम के पश्चात् स्वामीजी की वाणी पुनः मुखरित हुई–'जब एक विचार समाप्त होकर दूसरे विचार का उदय होता है, तब उस सन्धि–काल में आप कहाँ रहते हैं ?' अब कृष्णमूर्तिजी ने स्वामीजी के चेहरे की ओर ग़ौर से देखा और एक आश्चर्यमय गम्भीरता से यह कह कर चुप हो गये कि 'मैं इस पर विचार करूँगा'। यह पहला ही अवसर था जब कृष्णमूर्तिजी जैसे सुप्रसिद्ध चिन्तक एवं

प्रख्यात विचारक को विचारणीय कोई प्रश्नचिह्न प्राप्त हुआ हो !"

नोटः बाद में इस भेंट की चर्चा करते हुए स्वामी शरणानन्द जी ने बताया कि "कृष्णमूर्तिजी ने जो अन्तिम पुस्तक लिखी है उसमें कहा है कि 'प्रेम की जागृति में ही मानव–जीवन की पूर्णता है।' तो भाई, प्रेम तो तभी होगा जब कोई प्रेमास्पद होगा। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने परमात्मा की सत्ता को ही स्वीकार किया है।"

एक 86 वर्षीय महिला साधक जिनका अपने बाल्यकाल से ही तथा उनके पूरे परिवार कुटुम्ब का वर्ष 1940 से भी पूर्व से स्वामी शरणानन्द जी से सम्पर्क एवं आत्मीयता थी, की डायरी मिली जिसमें साधन सम्बंधी उलझनों, समस्याओं आदि को लेकर उनके द्वारा स्वामी जी को भेजे गये पत्रों के उत्तर का संकलन है। उसी डायरी में आस्तिकता–नास्तिकता का स्वामी जी द्वारा विस्तृत विवेचन भी नोट किया हुआ है। उसी से, आगे कुछ उद्धरण दिये जा रहे हैं।

पर उससे पहले मानव सेवा संघ की पुस्तक 'क्रान्तिकारी सन्तवाणी' से इस विषय से संबंधित कुछ संत–वचन प्रस्तुत हैं जो संक्षिप्त पर बड़े ही ज्ञान–प्रद हैं–

1) ईश्वर में विश्वास करो और उसको अपना मानो–इसका नाम ईश्वरवाद है।

2) वस्तु विशेष में भगवत् बुद्धि होना कोई कठिन बात नहीं है। पर यह अधूरी आस्तिकता है। पूरी आस्तिकता का अर्थ तो यह है कि भगवान से भिन्न कुछ है ही नहीं।

3) पूर्ण आस्तिकता तो यह है कि जगत और परमात्मा का विभाजन कभी हुआ ही नहीं।

यदि हम अपने को ईश्वर–वादी, आस्तिक कहते हैं तो क्या मात्र कहना ही कुछ अर्थ रखता है? नहीं। स्वामी जी क्या कहते हैं–

"आप भगवान को मानते हैं, तो उस मान्यता का परिचय हमारे आपके जीवन से हो, केवल विचारों से नहीं। हमारा जीवन बता दे कि हम भगवान को मानते हैं।"

अब यह देखा जाय कि जो ईश्वर को नहीं मानते हैं तो क्या वे उनकी कृपा से वंचित हो जाते हैं। वास्तविकता यह है कि–

1) "ईश्वर उनका भी है, जो उनमें विश्वास नहीं करते। ईश्वर की सूची

में से तुम्हारा नाम नहीं कटेगा। तुम मानो तो और न मानो तो।"

2) ".....जो सबका मालिक तथा आधार है, वह इतना उदार है कि उसमें कोई आस्था न करे अथवा उसे कोई न माने तब भी वह सभी का अपना है।"

सोचने की बात है कि जब उसी ने अपनी इच्छा से, अपने ही में, अपने से, अपने द्वारा मनुष्य का निर्माण किया है तो किसी के उसे न मानने से उसकी निर्माता, सृजनकर्ता की संज्ञा कैसे समाप्त हो जायेगी। (How can He cease to be the creater, the maker of humans)

इसीलिये स्वामी जी ने कहा है कि–

"ईश्वरवाद का असली अर्थ है कि वह उसका भी उतना ही है जो उसे मानता है, और जो उसे नहीं मानता, उसका भी वह उतना ही है।"

आगे स्वामी जी के बहुत ही स्पष्ट (frank) कथन प्रस्तुत हैं–

1) "लोग ईश्वर को मानने चलते हैं, किसलिए? कि हमारी जो कामनाएँ हैं वे पूरी हो जाएँ। यह ईश्वरवाद नहीं है।"

2) "भगवान का स्मरण करने से जीव का कल्याण होता है– यह बात भी अच्छी तरह जानते हैं, फिर भी मन भगवान में नहीं लगता, तो इससे बढ़कर और नास्तिकता क्या होगी? आश्चर्य इस बात का है कि हम महामूर्ख व नास्तिक हो कर भी स्वयं को आस्तिक व बुद्धिमान मानते हैं।"

3) भगवान के ख़िलाफ़ जो आवाज़ उठती है न, वह तर्क से नहीं उठती है। **वह उठती है भगवान को मानने वालों के दुश्चरित्र से**, और कोई बात नहीं है। भगवान को मानने वाले अगर ठीक आदमी हों तो भगवान के ख़िलाफ़ कोई बोल ही नहीं सकता।"

अब इस चर्चा के बाद इस साधन–सूत्र के एक पूर्व प्रस्तर में चर्चित डायरी में उपलब्ध स्वामी जी की इस विषय की व्याख्या देखा जाय। सर्व–प्रथम उन्होंने कहा है–

"आस्तिकवाद प्राणी को मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाता है। बहुत लोगों का तो ऐसा मत है कि यह प्राणी को केवल सच्चरित्र बनाता है, परन्तु बात ऐसी नहीं है। सच्चरित्र तो कोई–कोई नास्तिक भी होते हैं। परन्तु उनकी ईमानदारी शरीर, वस्तु तथा अपने वर्ग विशेष तक ही सीमित

होती है। आस्तिकवाद का लक्ष्य तो दूसरा ही होता है। वह हमें मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाता है, क्योंकि उसका प्रधान उद्देश्य शरीर और वस्तुओं से अतीत के जीवन पर विश्वास कराना एवं उसका साक्षात अनुभव कराना है। **आस्तिकवाद का आश्रय लेने पर दुःखी से दुःखी प्राणी भी जीवन की वास्तविकता का अनुभव कर आनन्द की उपलब्धि कर सकता है पर नास्तिक पुरुष ऐसा करने में किसी प्रकार समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी प्रसन्नता तो किसी न किसी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति पर अवलम्बित है।**"

आगे स्वामी जी ने कार्य–क्षेत्र और जीवन के अन्य पहलुओं को लेकर आस्तिकवाद और नास्तिकवाद की सापेक्ष विवेचना की है जो आगे उद्धरित है–

"नास्तिकवाद केवल वस्तुओं के विभाजन से ही शान्ति स्थापन की बात करता है, जब की आस्तिकवाद वस्तु विभाजन के साथ–साथ जीवन का भी विभाजन करता है। अर्थात् प्रत्येक आस्तिक व्यक्ति का जीवन मूल चार विभागों में बँटा होना चाहिये:–

i. गुणों का विकास
ii. सीमित उपभोग
iii. सेवा
iv. त्याग

इसके अतिरिक्त नास्तिकवादी की ईमानदारी स्थायी भी नहीं रह सकती क्योंकि मनोनुकूल स्थिति न रहने पर उसमें क्रोध उत्पन्न हो ही जाता है। वस्तुओं का सम्बन्ध तो केवल प्राणों तक है और **विवेक–शून्य प्राण तो पशु एवं वृक्षों में भी रहता है।** यह प्राणों की आसक्ति, विवेक का आदर नहीं रहने देती और विवेक का निरादर होने से बड़े से बड़े सुधारवादी एवं ईमानदार नास्तिक में भी क्रोध उत्पन्न हो जाता है।"

इसी क्रम में उन्होंने एक उदाहरण दिया है –

"इसी से लेनिन जैसे साम्यवादी महापुरुष भी ज़ार (Czar) के अबोध और निरपराध बालकों को क्षमा नहीं कर सके। उन्होंने यही कहा कि पूँजीवादी के घर में उत्पन्न हुआ बालक ईमानदार नहीं हो सकता। यह कितनी बेसमझी की बात है। बेइमानी तो किसी भी पुरुष में जन्म सिद्ध नहीं होती, उसे तो पीछे से जानकारी का निरादर करके सीखा जाता है। पर ऐसा विवेक लेनिन महोदय नहीं कर सके, क्योंकि उनके मन में पूँजीवादियों से घृणा थी।"

इसका सारांश क्या हुआ, आगे देखा जाय–

"इस प्रकार **नास्तिकवाद स्वार्थ और द्वेष के आधार पर संगठन बनाता है तथा आस्तिकवाद का संगठन सेवा और त्याग के आधार पर होता है। नास्तिकवाद अपने अधिकार को सुरक्षित रख कर कर्तव्य पालन की बात करता है और आस्तिकवाद अधिकार शून्य कर्तव्य का प्रतिपादन करता है**, क्योंकि उसकी दृष्टि में तो कर्तव्य ही अधिकार है और कुछ नहीं।"

मानव जीवन के अर्थ एवं वास्तविकता के प्रति दोनों वादों के दृष्टिकोण एवं उसके परिणाम में क्या अन्तर है और कौन सा वाद ग्रहणीय है, इसकी स्वामी जी के शब्दों में विवेचना आगे प्रस्तुत है –

"नास्तिकवाद स्वाधीनता से परतन्त्रता की ओर एवं आस्तिकवाद परतन्त्रता से स्वाधीनता की ओर ले जाता है क्योंकि **नास्तिकवाद प्राणी को वस्तु, अवस्था और परिस्थिति में आबद्ध करता है, जब कि आस्तिकवाद उसे सभी से अतीत तत्व में प्रतिष्ठित करता है।** आस्तिकवाद की दृष्टि से मानव जीवन की पूर्णता का वास्तविक अर्थ यह है कि शरीर विश्व के काम आ जाय, हृदय में केवल प्रीति की गंगा लहराये और अहंता अभिमान शून्य हो जाय। अहंता अभिमान–शून्य होते ही निर्वासना अपने आप आ जाती है और निर्वासना आते ही निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुण स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं जो स्वभाव से ही सबको प्रिय हैं तथा जिसके आने पर व्यक्ति और समाज दोनों ही का यथोचित निर्माण हो जाता है। किन्तु **नास्तिकवाद की दृष्टि से सर्वांश में निर्वासना होना सम्भव नहीं है, क्योंकि भौतिकवाद होने से वह शरीर और वस्तुओं से अतीत के जीवन का अनुभव ही नहीं कर सकता।** इसी से उसके हृदय में दीनता एवं अभिमान की अग्नि प्रज्वलित रहती है जो अशान्ति का मूल है।"

इसी अन्तर को स्वामी जी ने आगे और स्पष्ट किया है–

"नास्तिकवादी की दृष्टि में तो शरीर ही सब कुछ है। वह शरीर के लिये ही समाज को सुन्दर बनाने का प्रयत्न करता है। इस विवेक–शून्यता के कारण नास्तिकवाद, प्राणी को अमरत्व से मृत्यु की ओर, असीम से ससीम की ओर, नित्य से अनित्य की ओर, अभिन्नता से भिन्नता की ओर तथा शान्ति से संघर्ष की ओर प्रेरित करता हैं। इसी कारण बड़े बड़े युद्ध प्रवृत्त होते हैं। उन्हें मिटाने के लिये आस्तिकवाद के द्वारा नास्तिकवाद पर विजय प्राप्त करना परम अनिवार्य है क्योंकि निर्वासना के बिना

निर्वैरता नहीं आती और निर्वैरता के बिना युद्ध समाप्त नहीं होते जो कि समाज के विनाश में हेतु है।"

एक महत्वपूर्ण बात है कि अपने को आस्तिकवादी–ईश्वरवादी मानें और समझें पर धर्म के नाम पर, मज़हब के नाम, वर्ग के नाम पर, मनुष्य मनुष्य में भेद मानते है तो विचार करने का विषय है कि यह कैसा ईश्वरवाद! इसी बात को आगे स्वामी जी ने एक उदाहरण देकर स्पष्ट किया है–

"परन्तु नाम मात्र की आस्तिकता कुछ भी अर्थ नहीं रखती। सच तो यह है कि बेइमान आस्तिक से तो ईमानदार नास्तिक ही अच्छा है। आस्तिकवाद के गीत गाते हुए, जिन्ना महोदय ने दो जातियों (Two nations) की बात कह कर भेदवाद की दृढ़ स्थापना की जिसके कारण इधर–उधर के लाखों घर बर्बाद हो गये। इतना ही नहीं मनुष्य इतना पतित हो गया कि वह भी कर गया जो नहीं करना चाहिये था। ऐसे बनावटी आस्तिकवाद से मानव का बड़ा ही पतन होता है। **शरीर और वस्तुओं से परे के जीवन का विश्वास तो ऊपर से भिन्नता होते हुए भी भीतर से सच्ची एकता का पाठ पढ़ाता है।** पर, बनावटी आस्तिकवाद इस परम सत्य पर ध्यान नहीं देता। जो व्यक्ति बाह्य चिन्ह, भाषा या पुस्तकों में आबद्ध होकर अन्य भाषा एवं पुस्तकों का निरादर करता है, वह वास्तव में आचार्य या पैग़म्बर की कही हुई बात पर ध्यान नहीं देता अपितु ऊपर के चिन्हों में बंधकर भीतर के अर्थ का तिरस्कार करता है। ऐसा आस्तिकवाद, नास्तिकवाद की अपेक्षा भी कहीं अधिक भयंकर और आपत्तिपूर्ण है। सच्चा आस्तिकवाद तो प्राणी को केवल यही बात सिखाता है कि वह किसी का ऋणी न रहे और उसकी प्रसन्नता अपने प्रभु के अतिरिक्त किसी और पर निर्भर न हो।.....**आस्तिकवाद प्राणों की अपेक्षा विवेक को अधिक महत्व देता है।** मानव को प्राणों की आसक्ति ने ही विवेक से विमुख किया है और इसी ने संग्रह की भावना को बल प्रदान किया है जो वास्तव में नास्तिकता ही है। सच्ची आस्तिकता तो प्राणी को हर प्रकार के स्वार्थ और संग्रह से मुक्त कर उसे अपने में ही अपने प्रियतम का अनुभव कराती है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि सच्चा आस्तिक किसी का भी ऋणी नहीं रहता और उसकी प्रसन्नता किसी अन्य पर निर्भर नहीं होती। यही सच्ची स्वाधीनता है जिसकी उपलब्धि आस्तिकवाद से ही सम्भव है।"

सच्चा आस्तिकवाद जीवन के विभिन्न पहलुओं को कैसे प्रभावित करता है उसे

स्वामी जी ने इस प्रकार बताया है–

"आस्तिकवाद धर्म–विज्ञान अर्थात् अपने कर्तव्य से दूसरों के अधिकारों को सुरक्षित रखने की बात, योग–विज्ञान अर्थात् भोग वासनाओं की निवृत्ति करके छिपी हुई शक्तियों के विकास की कला और अध्यात्म–विज्ञान अर्थात देहाभिमान को गला कर परम–तत्व में प्रतिष्ठित होने की युक्ति सिखाता है। इस प्रकार जितने कर्तव्य हैं वे धर्म–विज्ञान में, जितनी उपासनाएँ हैं वे मनोविज्ञान में और जितने दर्शन हैं वे अध्यात्म–विज्ञान में आ जाते हैं। **किन्तु योग्यता भेद के कारण, साधन भेद होने पर भी आस्तिकवाद प्रीति भेद एवं लक्ष्य–भेद नहीं होने देता।** अतः सच्चे आस्तिकवाद में पारस्परिक संघर्ष के लिये कोई स्थान ही नहीं है। **आस्तिकवादी के रूप में नास्तिक होने पर ही संघर्ष उत्पन्न होते हैं।** आजकल के विद्वान तो आस्तिकवाद के वास्तविक स्वरूप को न जानकर बनावटी आस्तिकवादियों के व्यक्तिगत दोषों को देख कर ही धर्म और ईश्वर की ओर से उपेक्षा करने लगे हैं। किन्तु उनकी यह उपेक्षा–पूर्ण मान्यता विवेक–पूर्ण नहीं है।"

ऐसी अविवेकी मान्यताओं से उत्पन्न सामाजिक विकृतियों तथा संघर्ष–पूर्ण वातावरण की चर्चा और भौतिकवादियों एवं सुधारवादियों की गलत (Counter Productive) कार्यकलापों का वर्णन करते हुए आगे कहा है कि –

"वास्तव में समाज का हित तो उन्हीं संगठनों से हो सकता है जिनका निर्माण सेवा और त्याग के आधार पर हुआ हो। सेवा और त्याग के आधार पर बना हुआ संगठन निर्बल और सबल को, दुःखी और सुखी को स्नेह के आधार पर मिलाता है, जैसे मज़दूर और पूँजीवादी को तथा अशिक्षित और शिक्षित को। वह आपस में अविश्वास और द्वेष उत्पन्न नहीं करता। ऐसी सेवा और त्याग के आधार पर होने वाला संगठन, आस्तिकवाद से ही सम्भव है, क्योंकि आस्तिकता प्राणी को सब प्रकार के संग्रहों से अतीत जीवन में प्रतिष्ठित करता है।"

सच्ची आस्तिकता कब आती है, इसे इस प्रकार समझाया है–

"मनुष्य को जब तक अपने लिये अपने से भिन्न की आवश्यकता रहती है तब तक उसमें न तो आस्तिकता ही आती है और न वह प्रभु का स्मरण, चिन्तन कर सकता है। किसी संग्रह के रहते हुए क्या कोई भगवान का ध्यान कर सकता है? कदापि नहीं। अतः आस्तिकता की उपलब्धि त्याग से ही सम्भव है। **त्याग का**

अर्थ है किसी भी वस्तु को अपना न समझना और उसका यथोचित विभाजन कर देना। यही वास्तव में ईमानदारी है जिसकी प्राप्ति केवल धर्म–विज्ञान से ही सम्भव है।....."

जीवन के प्रति इस दृष्टिकोण, जिसमें वस्तुओं का उत्पादन, संग्रह एवं स्वार्थ की ही प्रधानता है, के परिणाम की चर्चा के उपरान्त बताया है कि कैसे विरक्तों द्वारा ही समाज और शासन प्रणाली एवं शासन–तंत्र में सुधार लाया जा सकता है। उसी क्रम में स्वामी जी ने कहा है–

"बहुमत के आधार पर निर्वाचित सरकार कदापि पक्षपात–शून्य नहीं हो सकती, क्योकि इस सिद्धान्त के अनुसार तो सौ दुराचारी निन्यानवे सदाचारियों को हरा सकते हैं। बहुमत सत्य की कसौटी है, ऐसा सिद्धान्त तो पाश्चात्य देशों की देन है जिसका आधार वस्तुवाद, जड़वाद अथवा नास्तिकवाद ही है।"

"इस प्रकार नास्तिकवाद मानव को केवल वस्तुओं की उत्पत्ति और उपभोग में प्रवृत्त करता है। इसका परिणाम शक्तिहीनता, तथा स्वार्थ और द्वेष ही होते हैं। जिनके कारण मानव मानव नहीं हो पाता है। **इसके विपरीत आस्तिकवाद वस्तुओं की उत्पत्ति करते हुए भी वस्तुओं से अतीत के जीवन की ओर ही प्रेरित करता है।** और वस्तुओं से अतीत होने पर किसी भी प्रकार की निर्बलता, निर्धनता अथवा राग–द्वेष शेष नहीं रहते। **उसका सब कुछ सब का हो जाता है अर्थात शरीर विश्व के काम आ जाता है, हृदय में प्रीति की गंगा लहराने लगती है और अहंता अभिमान–शून्य होकर नित्य–जीवन से अभिन्न हो जाती है, जो मानव–जीवन का मुख्य उद्देश्य है।** अतः आस्तिकवाद द्वारा नास्तिकवाद पर विजय प्राप्त करके मानव को मानव हो जाना चाहिये।"

■

जो भक्त सभी वस्तुओं को भगवान की समझते हैं और सब में भगवान को देखते हैं, उनका सब में प्रेम हो जाता है। उनका किसी से राग–द्वेष नहीं होता।

साधन-सूत्र : 87

जीवनोपयोगी संत–वचन (भाग–4)

पिछले साधन–सूत्रों में उद्धरित मानव–जीवन सम्बंधी प्रश्नों का स्वामी शरणानन्द जी द्वारा किये गये समाधान रूपी विवेचन/व्याख्या में किसी–किसी में किन्हीं विशेष शब्दों का प्रयोग हुआ है जो बहुत सटीक एवं अर्थपूर्ण हैं। कुछ वाक्य या वाक्यांश भी सूत्र की भाँति प्रयोग हुए हैं। ऐसे शब्दों या वाक्यों का स्पष्टीकरण/व्याख्या रूपी संत–वचन आगे प्रस्तुत हैं जो बहुत ही ज्ञान–प्रद एवं उपयोगी हैं।

1. वेदना– साधन–सूत्र–11 में स्वामी शरणानन्द जी द्वारा प्रदत्त संक्षिप्त सूत्र–रूपी प्रश्नोत्तर यथा साधन–पथ पर न चलने की वेदना में ही चलने की सामर्थ्य निहित है'' में 'वेदना' शब्द का अर्थ और स्वरूप क्या है– ऐसा प्रश्न् उठता है। इसका पर्याय 'पीड़ा' हो सकता है पर इससे भी 'वेदना' शब्द का सम्पूर्ण अर्थ नहीं स्पष्ट होता है।

'मानव की माँग' पुस्तक में स्वामी जी ने चरित्र–निर्माण को मानव जीवन का महान बल बताते हुए इसके विभिन्न पहलुओं को समझाते/व्याख्या करते हुए कहा है कि–

".....विवेक के प्रकाश से ही हमें अपनी वर्तमान वस्तु–स्थिति देखना है। ऐसा करने से हमें अपनी निर्बलताओं का तथा अपने बनाये दोषों का ज्ञान हो जायेगा। **अपनी निर्बलता का ज्ञान वेदना जाग्रत करने में समर्थ है।** यदि उस वेदना को परदोष–दर्शन से दबाया न जाय, तो **वेदना स्वतः भी दोषों को भस्मीभूत कर निर्दोषता की स्थापना में समर्थ हो जाती है** और फिर निर्दोषता दोषों को उत्पन्न नहीं होने देती। इस दृष्टि से वेदना और दोषों का न दोहराना ही निर्दोष बनाने का मुख्य हेतु है।

आगे स्वामी जी ने वेदना का वास्तविक अर्थ और स्वरूप समझाते हुए कहा है कि–

"वेदना और दुःख में अन्तर है। वेदना अभाव मिटाने की पीड़ा है, अथवा यों कहो कि वेदना मानव की वास्तविक भूख

है। दुःख के दो रूप हैं, एक तो सुख–भोग की आशा और दूसरा सब प्रकार के अभाव का अभाव करने की अभिलाषा। दुःख का बाह्य–रूप पूर्ण दुःख नहीं है। दुःख का आन्तरिक रूप जो 'वेदना' के रूप में जाग्रत होता है, मानव के विकास की भूमि भी है। यह भूमि सुरक्षित भी रह सकती है, जब हम अपने लक्ष्य से निराश न हो।"

अन्यत्र स्वामी जी ने वेदना का अर्थ और स्वरूप इस प्रकार बताया है: "आप बुराई रहित होना तो चाहते हैं, पर हो नहीं पाते। या भलाई का अभिमान और फल छोड़ना तो चाहते हैं, पर छोड़ नहीं पाते, यानी जो करना चाहते है। सो कर नहीं पाते। इसका परिणाम क्या होना चाहिए? इसका परिणाम यह होना चाहिये कि हम भले ही कर न पायें परन्तु जीवन के लक्ष्य से निराश तो न हो जायें। यदि हम निराश नहीं होंगे, अपने द्वारा करने में अपने को असमर्थ पायेंगे, तब अपने आप एक वेदना जाग्रत होगी। **यह वेदना, ईश्वर वादी की प्रार्थना है, यह वेदना अध्यात्मवादी की साधना है, और वेदना भौतिकवादी की उदारता है, करुणा है।**"

"तो यह वेदना जाग्रत होनी चाहिये। कौन सी वेदना? अपने लक्ष्य को प्राप्त न कर पाने की वेदना, अपनी निर्बलता का अनुभव करने पर जो वेदना होती है, वह वेदना तो जाग्रत होनी चाहिए।"

एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात उन्होंने बताई कि "आप कहेंगे कि अगर हमने जो करना चाहिये वह कर लिया तो वेदना नहीं होगी, लक्ष्य की प्राप्ति होगी।"

परन्तु वास्तव में ऐसा होता नहीं है। स्वामी जी ने आगे कहा कि "लक्ष्य की प्राप्ति होने के बाद–सभी को लक्ष्य प्राप्त हो जाये–यह वेदना होगी"।

मानव सेवा संघ की स्थापना और उसके दर्शन का प्रतिपादन उनकी इसी वेदना का प्रतीक है। इसी वेदना से प्रेरित होकर वह मानव–समाज को सत्य की प्राप्ति के अति सरल एवं सभी के लिये समान रूप से सुलभ मार्ग से परिचित कराने और उस मार्ग पर गतिशील होने की प्रेरणा देने हेतु शरीर की अस्वस्थता के बावजूद आजीवन विभिन्न प्राँतों का भ्रमण करते रहे।

जीवन के सत्य के प्रकाश की अभिव्यक्ति के पश्चात् गौतम बुद्ध की भी प्रेरक वही वेदना थी–'इस जीवन की प्राप्ति के अधिकारी होकर भी मानव अपनी ही भूल से कीड़े–मकौड़े की तरह जीता है।'

2. पूजा– साधन–सूत्र–28 शीर्षक "साधन रूपी पारम्परिक प्रवृत्तियों का मानव

सेवा संघ दर्शन में अर्थ'' में पूजा के संबंध में स्वामी शरणानन्द जी के प्रश्नोत्तर उल्लिखित हैं। उसी क्रम में यह भी अंकित है कि प्रभु के नाते किया हुआ प्रत्येक कार्य पूजा है।

मानव सेवा संघ की पुस्तक ''संत–सौरभ'' में स्वामी जी ने इसी तथ्य की व्याख्या किया है जिससे स्पष्ट होता है कि उपर्युक्त कथन का अर्थ क्या है, मन्तव्य क्या है। वही आगे प्रस्तुत है –

''जो साधक जिस समय पूजा, नित्य कर्म करता है, उसको तो साधन मानता है और दूसरे कामों को साधन नहीं मानता, वह निरन्तर साधन नहीं कर सकता। पूजा करते समय भी उसका मन दूसरा काम करता रहता है, उस कारण उसका कोई भी काम ठीक नहीं हो पाता''।

''इसलिये साधक को चाहिये कि हर एक काम को साधन समझे, छोटा सा छोटा जो भी काम प्राप्त हो, उसे पूरी योग्यता लगाकर उत्साह पूर्वक, जैसे करना चाहिये, ठीक–ठीक करे। उसमें तुच्छ बुद्धि न करे। **जो काम भगवान के नाते उनका काम समझकर उनकी प्रसन्नता के लिये किये जाते हैं, वे सभी साधन हैं।** अतः उसे समझना चाहिये कि माला फेरना, झाड़ू लगाना, कमरा साफ़ करना, ये सभी मेरे प्रियतम के काम हैं। इस भाव से काम करने वाला साधक हर एक काम करते समय प्रसन्न होता रहता है, उसका हृदय प्रेम से भरा रहता है, रोमांच और अश्रुपात होने लगता है। जब काम पूरा हो जाता है, तब प्रेम में डूब जाता है, उस समय कोई संकल्प नहीं रहता।''

एक अवसर पर स्वामी जी ने यहाँ तक कहा है कि ''यदि झाड़ू लगाना पूजा नहीं है, तो मन्दिर में घण्टी बजाना भी पूजा नहीं है।''

इससे पूर्व प्रस्तर में स्वामी जी के कथन के क्रम में आगे–

''.....जो साधक करने योग्य हर एक काम को साधन मानकर भगवान के नाते कुशलता पूर्वक करता है, उसको करने के अन्त में स्थिरता, योग, बोध और प्रेम मिलता है। ..... अपने मन की बात करना, दूसरों के मन की न करना, यह साधन नहीं है, किन्तु भगवान के नाते जो दूसरों के मन की बात पूरी की जाती है..... इसी प्रकार अपने मन की बात छोड़कर जो भगवान के मन में अपने मन को मिला दिया जाता है, जो कुछ करे भगवान का काम समझ कर उन्हीं की प्रसन्नता के लिये करे, वही साधन है।''

नोटः– यह ध्यान में रखना है कि करना वही है जो विवेक संगत हो अन्यथा हम अकरणीय करें और कहें कि मैं तो भगवान के मन की उन्हीं का काम समझकर कर रहा हूँ तब तो साधन की तो कौन कहे, बहुत अनर्थ हो जायेगा। प्रभु के मन में अपने मन को मिलाने का अर्थ तो यह है कि हमारे मन में कुछ हो ही नहीं, बेमन हो जायें, तब जो हम से होगा वह प्रभु के ही मन से तो होगा, हम निमित्त मात्र रहेंगे।

3. अध्ययन–अध्ययन के सम्बन्ध में अक्सर हम लोगों में भ्रम हो जाता है कि किसका अध्ययन करना चाहिये और किस लिये। एक होता है पढ़ना (reading) और एक होता है अध्ययन (study)। इस विषय की चर्चा साधन–सूत्र–72 शीर्षक "साधन की दृष्टि से अध्ययन का अर्थ एवं तात्पर्य" में हुई है। विचार किया जाय तो हम पायेंगे कि कुछ चीजें तो हम मात्र पढ़ते हैं और कुछ को पढ़ते हैं कुछ समझने के लिये, सीखने के लिये जिसे हम अध्ययन (study) कहते हैं।

वैसे तो मात्र पढ़ने में भी हमें सजग रहना होता है कि वही पढ़ें और उतना ही पढ़ें जो हमारे चरित्र, सोच के लिये हानिकारक न हो और/या समय की बर्बादी न सिद्ध हो।

कुछ चीज़ों का हमें अध्ययन करना होता है चाहे अपनी व्यवसायिक दृष्टि से या विद्यार्थी के कर्तव्य की दृष्टि से समझने के लिये, सीखने के लिये, उससे कुछ हासिल करने के लिये। विषय के बारे में अपनी जानकारी बढ़ाने के लिये जिससे हमारी उससे सम्बन्धित योग्यता में वृद्धि हो। अथवा साधक की दृष्टि से साधन सम्बन्धी जानकारी के लिये जो उसके साधन–पथ पर चलने में सहायक हो।

पर जिसका हमें अध्ययन करना है उसे मात्र पढ़ते रहें तो क्या उसकी कोई सार्थकता होगी, क्या उससे कोई उपलब्धि होगी? विशेष रूप से अपने धार्मिक ग्रंथों का।

मानव सेवा संघ की पुस्तक 'संत–सौरभ' में स्वामी शरणानन्द जी ने इस विषय की बहुत स्पष्ट व्याख्या किया है। वही संक्षेप में साधन–सूत्र–72 (ऊपर संदर्भित) के क्रम में प्रस्तुत है।

स्वामी जी से किन्हीं महानुभाव ने पूछा कि 'सबसे अच्छी पुस्तक कौन सी है'। उसी के उत्तर में स्वामी जी ने कहा कि–

"जब तक मनुष्य अपनी वर्तमान दशा का अध्ययन नहीं कर लेता तब तक ग्रंथ के अध्ययन से लाभ नहीं उठा सकता। जो

अपनी दशा का अध्ययन करता है, उसको ग्रन्थ से उस बात का समर्थन मिलता है और संदेह दूर होकर दृढ़ता आ जाती है।''

स्वामी जी ने हमेशा इस बात पर बल दिया है कि ''ऐसी कोई बात ग्रन्थ या उपदेशक साधक को नहीं बता सकता जो वह (साधक) स्वयं नहीं जानता है। अतः साधक को सबसे पहले बिना किसी पक्षपात के अपने जीवन का अध्ययन करना चाहिये। 'स्व' का अध्ययन अर्थात् अपनी वस्तु–स्थिति के अध्ययन का नाम ही स्वाध्याय है।''

इसके बाद उन्होंने उदाहरण दिया है कि ऐसे 'स्वाध्याय' से हमे क्या प्राप्ति (शिक्षा) मिलेगी। आगे उसी का उल्लेख है–

''जो काम मनुष्य दूसरों से अपने लिये नहीं चाहता, वह उसको दूसरों के साथ नहीं करना चाहिये। जैसे कठोर वाक्य हम दूसरों से नहीं सुनना चाहते तो किसी से कठोर वचन बोलना भी नहीं चाहिये। हम सम्मान चाहते है, अपमान नहीं चाहते तो दूसरों को सम्मान देना चाहिये, उनका अपमान नहीं करना चाहिये। जो अपना बुरा नहीं चाहता उसे दूसरे किसी का बुरा नहीं करना चाहिये। .....इस प्रकार जब साधक अपने जीवन का ठीक अध्ययन करके अपने आचार को ठीक कर लेता है, तब उसका जीवन सुन्दर बन जाता है।''

उन्होंने 'पढ़ने' की सार्थकता इस प्रकार बताई है–

''केवल ग्रंथों के पढ़ने से और उपदेश सुनने से मनुष्य बुद्धि द्वारा तो बहुत जान लेता है, परन्तु उसके अनुसार अपना जीवन नहीं बना पाता। उसके मस्तिष्क में और हृदय में बड़ी दूरी हो जाती है। इस कारण उसके लिये आगे बढ़ने की बात तो दूर रही, अपने स्थान पर डटे रहना भी मुश्किल हो जाता है। जैसे किसी का दाहिना पैर तो बहुत आगे निकल जाय और बायाँ पैर बहुत दूर रह जाय तो वह न आगे चल सकता है और न खड़ा ही रह सकता है, वही हाल उसका होता है। अतः साधक को चाहिये कि बुद्धि और हृदय की दूरी को मिटाकर दोनों की एकता करे अर्थात् अपनी जानकारी के अनुसार जीवन बनाता रहे और उसके बाद आगे की बात जानने की कोशिश करे।''

नोटः– जानकारी दोनों ही प्रकार की हो सकती है– अच्छी भी और बुरी भी। यदि हमने बुरी अथवा गलत जानकारी को ही जीवन में उतार लिया तब तो बड़ा अनर्थ हो जायेगा। यहाँ 'जानकारी' का तात्पर्य है स्वाध्याय द्वारा प्राप्त विवेक–संगत जानकारी जो ऊपर वर्णित हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त चर्चा से हमें यह स्पष्ट हो जायेगा कि साधक की दृष्टि से पढ़ना तभी सार्थक होगा जब वह अध्ययन के रूप में हो– कुछ जानने के लिये, जान कर मानने के लिये और मान कर जीवन में उतारने के लिये अन्यथा तोता की तरह सीताराम–सीताराम रटते रहें–प्राप्ति कुछ भी न हो।

इसी प्रसंग में एक महत्वपूर्ण बात। अधिकांशतः हम लोग किसी दर्शन के साहित्य को साधन–बुद्धि से पढ़ते ही रहते हैं, पढ़ते ही रहते हैं। इसी लिये एक प्रसंग में (साधन–सूत्र–62 शीर्षक 'करने का राग और उसकी निवृत्ति') देवकी बहिन जी ने कहा कि पढ़ना भी एक व्यसन हो जाता है। उसी संदर्भ में साधन–सूत्र–72 बना जिसका शीर्षक है 'साधन की दृष्टि से अध्ययन का अर्थ एवं स्वरूप'। यही प्रश्न् मानव सेवा संघ के दर्शन के प्रसंग में उठा। क्या? कि यदि यह दर्शन समझ में आगया तो इसे अपने जीवन में उतारना है और सहज निवृत्ति का सदुपयोग शान्ति सम्पादन में करना है अपने लक्ष्य की प्राप्ति की दिशा में प्रगति हेतु। यह न करके इस दर्शन की सभी पुस्तकों को पढ़ते ही रहना, पढ़ते ही रहना क्या आवश्यक है? कदाचित् साधकगण की इस बात से सहमति होगी कि यदि दोनों अर्थात् अध्ययन और शान्ति सम्पादन साथ साथ चले तो जैसे जैसे शान्ति सम्पादन होने लगेगा, उसकी अवधि स्वमेव ही अपेक्षाकृत बढ़ती जायेगी।

4. मानव जीवन की सार्थकता क्या है? इसे मानव सेवा संघ के दर्शन में बताया गया है कि अपने को उपयोगी बनाना ही जीवन की सार्थकता है। हम उपयोगी कैसे होते हैं– सेवा द्वारा संसार के लिये, अचाह होकर अपने लिये ओर प्रेमी होकर प्रभु के लिये। संसार की सेवा क्या है– यथाशक्ति क्रियात्मक सेवा और सबके प्रति सद्भाव। बुराई रहित होना संसार की सबसे महत्वपूर्ण सेवा बताई गई है– स्वामी शरणानन्द जी के शब्दों में– भलाई करो चाहे न करो, बुराई न करो।

बुराई न करने का अर्थ क्या है?–

(1) किसी को बुरा न समझना।

(2) किसी का बुरा न चाहना।

(3) किसी के प्रति बुराई न करना।

स्वामी शरणानन्द जी ने 'चित्त–शुद्धि' नामक पुस्तक में 'किसी का बुरा न चाहने' का महत्व इस प्रकार समझाया है–

"यह नियम है कि जो किसी का बुरा नहीं चाहता है, उसके मन में अशुद्ध

संकल्पों की उत्पत्ति ही नहीं होती और उनके बिना अशुद्ध कर्म का जन्म ही नहीं होता। अशुद्ध कर्म के बिना किसी का अहित हो ही नहीं सकता अर्थात् उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति सर्व–हितकारी सद्भावना से युक्त होती है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति वास्तविक निवृत्ति की साधना है। वास्तविक निवृत्ति में ही चिर–शान्ति, सामर्थ्य, स्वाधीनता और अमरत्व आदि निहित है।''

5. 'साधन–सूत्र' पुस्तक में कई साधन–सूत्रों में तीन शब्द आये हैं यथा: 'मन', 'चित्त' और 'हृदय'। 'मन' तो हमारी पसन्दगी का पुंज है। जो चीज़ हमें पसन्द है, वहीं 'मन' हमें खींचता है। जितनी तीव्र पसन्दगी होगी, उतनी ही तीव्रता से 'मन' हमें खींचता है। परन्तु आम तौर से हम लोग 'मन' और 'चित्त' में भेद न करके बोल–चाल की भाषा में कभी–कभी कहते हैं, जैसे–आज मन बड़ा खिन्न है। 'मन' की जैसी परिभाषा मानव सेवा संघ दर्शन में बताई गई है, उसके अनुसार खिन्नता 'मन' में नहीं भासती है। तो फिर उसका भास कहाँ होता है, वह होता है 'चित्त' में– चित्त खिन्न है अथवा प्रसन्न है आदि।

'हृदय' शब्द का तात्पर्य शरीर के उस स्थूल अंग से नहीं है जिसके द्वारा धमनियों के माध्यम से शरीर में रक्त पम्प किया जाता है। इन चर्चाओं में 'हृदय' का तात्पर्य मनोभावों के सूक्ष्म–रूपी केन्द्र से है और स्वामी जी के कथनानुसार उसी में प्रेम का भी उदय होता है।

प्रश्न् होता है कि 'मन' और 'चित्त' में भेद है तब 'चित्त' है क्या? मानव सेवा संघ की पुस्तक 'चित्त–शुद्धि' की भूमिका में दिव्यज्योति देवकी बहिन जी द्वारा 'चित्त' और उससे सम्बन्धित विशयों की व्याख्या, स्वामी जी द्वारा लिखवाई गई इस पुस्तक में प्रतिपादित दर्शन के प्रकाश में किया गया है। यह भूमिका एक प्रकार से विषय का परिचय है और सार भी है। उसी भूमिका से आगे उद्धरण प्रस्तुत है –

''**सीमित अहम् भाव की स्वीकृति से कर्तृत्व का अभिमान और वस्तुओं के सम्बन्ध से भोगतृत्व की रुचि उत्पन्न होती है। उनका प्रभाव जिसमें अंकित होता है, उसका नाम है 'चित्त'।** जैसे Mind शब्द का objective कोई पहलू नहीं है, वैसे ही 'चित्त' शब्द का कोई स्थूल रूप नहीं है। इसकी क्रियाओं द्वारा इसका भास होता है।''

'चित्त' है क्या, इसकी विवेचना करते हुए उन्होंने कहा है कि–

'चित्त' शब्द जिसका प्रयोग पुस्तक में अन्तःकरण के अर्थ में किया गया है वह "जीवन के एक पहलू के कार्यों का प्रतीक मात्र है। मनोवैज्ञानिक भाषा में जिसे Psychic Apparatus कहते हैं, उसकी क्रियाओं के फल का आधार चित्त है। इन्द्रिय–ज्ञान का प्रभाव इसमें अंकित होता है। प्रभाव जब तक अंकित होता रहता है, तब तक 'चित्त' का अस्तित्व भासता है। जब अंकित प्रभाव मिट जाता है, तब चित्त का भास नहीं होता।"

चित्त की अशुद्धि की विवेचना पुस्तक में हुई है, उसी प्रकरण में देवकी बहिन जी ने स्पष्ट किया है कि–

".....चित्त कर्त्ता नहीं है, करण है। अशुद्धि उसका दोष नहीं है, अपना दोष है। .....वह स्वरूप से अशुद्ध नहीं है।"

आगे यह बताते हुए कि चित्त का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उन्होंने लिखा है कि **"चित्त के अस्तित्व का भास मिट जाना ही इसकी शुद्धि है।"**

तात्पर्य यह हुआ कि चित्त का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है और इसका भास उसी समय तक होता है जब तक इसमें अशुद्धि रहती है।

चित्त की अशुद्धि क्या है और इसे किस प्रकार मिटाया जा सकता है, वह स्वयं में एक वृहद् विषय है जिसकी विवेचना 'चित्त–शुद्धि' पुस्तक में हुई है। जो साधक इसे देखना समझना चाहें, वे मानव सेवा संघ, वृन्दावन द्वारा प्रकाशित इस पुस्तक को पढ़ें। संक्षेप में यही उपाय है कि सीमित अहं भाव न हो, कर्तृत्व का अभिमान न हो और भोगतृत्व की रुचि न हो।

6. प्रमाद–(भूल) है क्या? यह शब्द मानव सेवा संघ के ग्यारह नियमों में दूसरे नियम में है कि 'की हुई भूल को न दोहराने का व्रत लेकर सरल विश्वास पूर्वक प्रार्थना करना'। 'भूल' का एक अर्थ है कि किसी बात का, काम का स्मरण नहीं रहा और उसे पूरा करना रह गया। हम ऐसे में कहते है कि अरे, क्या बतायें बिल्कुल दिमाग से उतर गया, करना भूल गये। इस नियम में भूल का अर्थ तो यह समझ में आता है कि जानते हुए विवेक–विरोधी कर्म अर्थात जो नहीं करना चाहिये उसको करना।

एक साधक की डायरी जिसका उल्लेख 'साधन–सूत्र–86' शीर्षक 'आस्तिकता–नास्तिकता' में है, में सन्त–वाणी दिनांक 24.9.1948 पढ़ने को मिली जो इस प्रकार है–

"यदि जानकारी के अभाव को भूल कहा जाय तो उचित नहीं प्रतीत होता, क्यों कि जिसका अभाव है, उसको भूल नहीं कह सकते। **जानकारी हो किन्तु मोहवश उसकी विस्मृति हो जाय, उसे ही भूल कह सकते है।** वह भूल क्यों होती है?"

"प्राकृतिक विधानानुसार ज्ञान–कला, कर्म–कला से अधिक होती है। गम्भीरता पूर्वक विचार कीजिये। नेत्र ज्ञानेन्द्रिय है और पग कर्मेन्द्रिय। आँख जितनी दूर का देख लेती है, पैर उतनी दूर चलने में देखने की अपेक्षा कही अधिक समय लगाता है। इतना ही नहीं जब पैर आँख के देखे हुए निर्दिष्ट किये हुए निश्चित स्थान पर पहुँच जाता है, तो आँख उससे कहीं आगे का देख लेती है।"

"इस प्राकृतिक नियम पर विचार करने से यह भली–भाँति निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि ज्ञान–शक्ति, क्रिया–शक्ति से अधिक महान तथा विभू है। जो महान है उसका आदर तथा उसके आश्रित रहने में ही हित हो सकता है।"

"अतः प्रत्येक कार्य ज्ञान के अनुरूप होना चाहिये। ज्ञान के अनुरूप कर्म करने पर ही प्राणी भूल के भय से मुक्त हो सकता है।"

नोटः– 1. यहाँ 'ज्ञान' का अर्थ 'जानकारी' नहीं है क्योंकि जानकारी अथवा मात्र जानना तो अच्छा भी होता है और बुरा भी। यदि बुरी जानकारी ही को ज्ञान मानकर वैसा ही करने लगे तब तो बड़ा अनर्थ हो जायेगा। अतः विवेक–संगत जानकारी ही 'ज्ञान' की श्रेणी में आयेगा और उसी का आदर करना है और उसी के अनुरूप हमारे कर्म होने चाहिये।

नोटः– 2. ऊपर उल्लिखित संत–वाणी का तात्पर्य हुआ कि मोहवश उस ज्ञान की विस्मृति हो जाने से, हम से जो अकरणीय है वह कर बैठना ही भूल है। पर हम प्रायः जानते हुए भी कि अमुक कार्य या प्रवृत्ति अकरणीय है फिर भी अविवेकी होकर ज्ञान का अनादर करके, आसक्ति–वश, वासना से प्रेरित होकर अथवा किसी दुर्भावना से प्रेरित होकर जानबूझकर करते हैं। ऐसे कर्म को तो चरम भूल ही कहेंगे। अतः साधक की दृष्टि से हमें सजग रहना है और साथ ही विवेक का, ज्ञान का आदर भी करना होगा, तभी हमसे भूल नहीं होगी और हमसे दुबारा भूल न हो, इसके लिये व्रत लेना होगा। व्रत का पालन हम कर सकें, इसके लिये नियम–2 में दी हुई सलाह 'सरल विश्वास पूर्वक प्रार्थना करना' को मानना अर्थात् प्रभु की शरण में जाकर

उन्हीं के आश्रित होकर आवश्यक सामर्थ्य की याचना करें। वैसे तो वे अन्तर्यामी हैं, उनसे याचना की ज़रूरत है नहीं, मात्र अपनी असमर्थता की वेदना से पीड़ित होकर उनकी शरण में जाना ही अभीष्ट है।

7. आलस्य है क्या? सामान्यतः इसका तात्पर्य अथवा अर्थ तो यह है कि जो कार्य जिस समय करना चाहिये उस समय न करके स्वभाववश अकारण आगे के लिये टालना। इसका कारण तो समझ में आता है कार्य के प्रति उत्साह की कमी, उदासीनता तथा प्रतिबद्धता (commitment) और अभीष्ट के प्रति समर्पण (dedication) की कमी अथवा उनका न होना।

ऊपर वर्णित डायरी में स्वामी जी का सोलन से भेजा गया एक पत्रोत्तर दिनांक 18.6.46 है जो साधक की दृष्टि से आलस्य का विश्लेषण है। नीचे वही उद्धरित है–

भक्तवर परम प्रिय,

प्रत्येक कार्य प्रेम–पात्र के नाते करते रहो। ज्यों–ज्यों प्रीति सबल तथा स्थायी होती जायेगी, त्यों–त्यों आलस्य स्वतः मिटता जायगा। **प्रीति की कमी के कारण आलस्य आता है। आलस्य किसी अभ्यास से नहीं मिटता। प्रीति का प्रबल प्रवाह होने पर अपने आप मिट जाता है।** किसी ने कहा है कि "जाकी लौ घी से लगी भीनी पिंजर तासु। नैन न ताके नींदरी अंग न ताके मांस।।" अर्थात् प्रीति जागृत होने पर सभी दोष अपने आप मिट जाते हैं। प्रेम–पात्र को वर्तमान जीवन की वस्तु समझो। तभी प्रीति सबल हो सकती है। आगे पीछे का चिन्तन न करने पर व्यर्थ चेष्टाओं का अन्त हो जाता है। व्यर्थ चेष्टाओं का अन्त होने पर प्रेम–पात्र का चिन्तन स्वतः होने लगता है। ज्यों–ज्यों चिन्तन सबल होता जाता है, त्यों–त्यों प्रीति का प्रवाह प्रबल होता जाता है, यह निर्विवाद सत्य है।

आपका

शरणानन्द

पहले के साधन–सूत्रों में आ चुका है कि न करने में ही जीवन है। भ्रम न हो जाये इसलिए मानव सेवा संघ की पुस्तक 'क्रान्तिकारी सन्त–वाणी' से स्वामी जी का एक कथन नीचे उद्धरित है–

"कुछ **न करने का अर्थ आलस्य तथा अकर्मण्यता नहीं है**, अपितु **जो है** उस से संग करने का उपाय 'कुछ न करना' है। जिससे विभाजन हो ही नहीं सकता, दूरी हो ही नहीं सकती, उससे अभिन्न होने में 'कुछ न करना' ही हेतु है। बस यही 'मूक–सत्संग' है।" ■

साधन-सूत्र : 88

मानव जीवन में श्रम और विश्राम का सापेक्ष महत्व

साधन–सूत्रों के संकलन की श्रृंखला में यह बात बार बार आई है कि प्रत्येक मानव में माँग होती है शान्ति, स्वाधीनता और प्रियता की, भले ही वह इससे परिचित न हो। पर हर समय कुछ न कुछ करते रहने (सथूल रूप से कोई न कोई क्रिया या सूक्ष्म रूप से चिन्तन) में यदि थोड़ी देर के लिये ब्रेक लगाकर अपनी दशा का परीक्षण करें तो यह अवश्य पायेंगे कि अन्तर्मन से हम शान्ति चाहते हैं–अशान्ति कोई नहीं चाहता, स्वाधीनता चाहते हैं–कोई पराधीन बनकर नहीं रहना चाहता और प्रियता (स्नेह और सौहार्द) चाहते हैं–कलह का वातावरण किसी को पसन्द नहीं है। (प्रियता का अर्थ इसी रूप में लिया जा रहा है–उसके वास्तविक रूप, प्रेम की चर्चा आगे होगी।)

अब इस 'शान्ति' के दो पहलू हैं। एक तो यह कि जीवन में ममता, कामना के रहते हम निर्भय, निश्चिन्त नहीं हो सकते और भय और चिन्ता के रहते शान्ति कहाँ।

दूसरा पहलू शान्ति का है कुछ न करने की स्थिति में आना–स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही रूप से। कोई शारीरिक क्रिया नहीं और मानसिक स्तर पर कोई चिन्तन नहीं। साधन–सूत्र–32 शीर्षक "मानव जीवन में निवृत्ति काल का सदुपयोग" में यह बात आई है कि 'न करने में ही वास्तविक जीवन है'।

'न करने' का अर्थ यही हुआ न कि भीतर बाहर से शान्त होना–किसी प्रकार का श्रम नहीं। इसी को तो विश्राम कहेंगे स्थूल शरीर से भी और मानसिक स्तर पर भी। अतः देवकी बहिन जी ने अपने एक प्रवचन में कहा है 'वास्तव में विश्राम में ही जीवन है।' कैसे? इसी की व्याख्या आगे प्रस्तुत है।

प्रारम्भ करें देवकी बहिन जी के निम्नलिखित कथन से–

".....मानव मानव होकर भी योग, बोध और प्रेम से निराश क्यों हैं? प्रतीति के पीछे दौड़ने में तो पराधीनता है ही, जीवन की प्राप्ति में भी व्यक्ति अपने को पराधीन मान

बैठा है, यह बड़ी ही दुःखद बात है। **जीवन है, उसकी माँग है, माँग की पूर्ति की सामर्थ्य भी मानव मात्र को प्राप्त है।**.... .....जीवन में यदि **असफलता है, तो वह इसलिये है कि जिस प्रकार हम श्रम के द्वारा भोग–सामग्री प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, उसी प्रकार किसी–न–किसी श्रम–साध्य साधन से योग भी प्राप्त करना चाहते हैं।** परन्तु विचार यह करना है कि जिस जीवन से देश–काल की दूरी नहीं है, उसके लिये श्रम–साध्य प्रयास करना क्या युक्ति–युक्त है?"

मूक–सत्संग की व्याख्या अपने एक प्रवचन में करते हुए उन्होंने जीवन के लक्ष्य योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति के लिए अपने जीवन का दृष्टिकोण बदलने की सलाह दिया। क्या करें?.....

"श्रम है साधना, और विश्राम है साधन–तत्व जिससे साध्य से अभिन्नता होती है। श्रम से अधिक महत्वपूर्ण तत्व है विश्राम। श्रम किया जाता है शरीर को ठीक से रखने के लिये; और विश्राम लिया जाता है, अलौकिक जीवन से अभिन्न होने के लिये; श्रम किया जाता है सुन्दर समाज के निर्माण के लिये; विश्राम लिया जाता है अपने कल्याण के लिये। श्रम किया जाता है शरीर के राग की निवृत्ति के लिये, विश्राम लिया जाता है राग–रहित जीवन में योग की अभिव्यक्ति के लिये। श्रम किया जाता है प्रभु की क्रियात्मक पूजा के लिये। विश्राम होता है भाव में सीमित अहं गलाने के लिये। अब आप बताइये कि आप श्रम कीजियेगा कि विश्राम लीजियेगा। अधिक महत्वपूर्ण कौन है? विश्राम है। इस विषय में अधिक कह दिया है मैंने, इसलिये आप धबरा न जायें कि हे राम, श्रम बेकार हो गया, तो चलो अब आलस्य में पड़े रहेंगे, सो बात नहीं है। वास्तव में विश्राम में ही जीवन है।"

कौन सा? नित्य, अविनाशी, रसरूप।

विश्राम की महिमा बताते हुए उन्होंने कहा कि–

"विश्राम में शान्ति है, विश्राम में अलौकिक शक्तियों का प्राकट्य है, अलौकिक शक्तियों का प्रवाह है, जो जीवनी शक्ति को समेट कर ले जाकर के उद्गम में विलीन कर देती है। जो सीमित था वह असीम में समाहित हो गया तो जीवन पूर्ण हो गया, इसका नाम मूक–सत्संग हो गया।"

तब फिर श्रम का जीवन में क्या रोल है, महत्व है? इसके सम्बन्ध में देवकी बहिन जी ने अपने प्रवचन में स्वयं ही कहा–

"एक प्रश्न् यह भी है कि विश्राम का महत्व है जीवन की अभिव्यक्ति के लिये, तो फिर श्रम का क्या होगा? तो श्रम का

भी महत्व है। किसलिये? विश्राम सम्पादन में सहयोगी होने के लिये। श्रम किये बिना तुम रह नहीं सकते। तो श्रम किस ढंग से करें? ऐसे ढंग से करो कि तुम्हारा सारा श्रम विश्राम में समाहित हो जाय।"

अनावश्यक कार्यों में अथवा भोग प्रवृत्तियों में श्रम हमें असाधन में आबद्ध करेगा, इसलिये सचेत करते हुए कहा है कि हमें अपने दृष्टिकोण को बदल कर यह अपनाना चाहिये कि–

'श्रम का स्थान जीवन में क्या है? कि विश्राम सम्पादन में सहयोगी होना चाहिये।'

'मूक–सत्संग तथा नित्य योग' नामक मानव सेवा संघ की पुस्तक के प्राक्कथन में देवकी बहिन जी ने इसी विषय की व्याख्या करते हुए श्रम और विश्राम के प्रसंग में कहा है कि–

(1) श्रम–रहित भी जीवन है, इसमें आस्था नहीं है और

(2) सही ढंग से श्रम नहीं करते।

जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है–

(1) "श्रम का महत्व हमारी दृष्टि में बहुत अधिक है। श्रम के द्वारा भोग–सामग्री मिलती है, क्रियाजनित सुख मिलता है, संकल्प–उत्पत्ति–काल का तनाव (tension) भासित नहीं होता, कर्तृत्व का अभिमान होता है जो अपने बारे में बड़प्पन का भाव उत्पन्न करता है, इस लिये जब तक हम कुछ करते रहते हैं, तब तक जीवन मालूम होता है। इसलिये कार्य न करने की दशा में कार्यों के फलाफल का चिन्तन करते रहते हैं। तात्पर्य यह है कि जब तक थक कर सो नहीं जायें, तब तक कुछ न कुछ करते रहते हैं।"

ऐसा होता क्यों है? कारण क्या है? देवकी बहिन जी का कथन है–

"श्रम के द्वारा जो कुछ मिला, उससे अपना अभाव नही मिटा, इस बात को जानते हुए भी, श्रमरहित जो नित्य जीवन है, उस पर न तो दृष्टि ही जाती है और न उसमें आस्था ही है। इसलिये विश्राम से विमुखता है।"

परन्तु वास्तविकता तो यह है, उन्हीं के शब्दों में–

".....बिना विश्राम के श्रम हो नहीं सकता। प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में अपने आप निवृत्ति आती ही है।"

ऊपर इंगित प्रवचन में उन्होंने इसी बात को दूसरे ढंग से कहा है–

"यह वैज्ञानिक सत्य भी है कि शान्ति में से सारी गतियों की उत्पत्ति होती है और

सब गतियों का अन्त भी शान्ति में होता है। सब प्रकार की गति जाकर शान्ति में ही डूबेगी।.....बोलने का अन्त कहाँ होगा? न बोलने में। करने का अन्त कहाँ होगा? न करने में। यह क्रम इतना वैज्ञानिक है और इसमें दार्शनिकता क्या है? कि आपको अपने अलौकिक अस्तित्व में विलीन होना है। आपको अपने अविनाशी जीवन का अनुभव करना है तो नाशवान संचालित न होना और नाशवान शरीरों से असंग होना अनिवार्य है। जब तक कुछ करने की बात सोचते रहेंगे तब तक कारक अंगों से असंग नहीं हो सकेंगे। इसलिये भी **सब कुछ करने के बाद न करना आवश्यक है।**"

(2) दूसरे बिन्दु कि 'सही ढंग से श्रम नहीं करते' के सम्बन्ध में देवकी बहिन जी ने बताया है कि–

"विश्राम से विमुख रहने का एक और प्रत्यक्ष कारण मुझे यह दिखता है कि हमें सही ढंग से श्रम करना नहीं आता। .....प्रवृत्ति और निवृत्ति एक ही जीवन के दो पहलू हैं। सही प्रवृत्ति के अन्त में सही निवृत्ति आती है और सहज निवृत्ति के बाद सही प्रवृत्ति होती है। **सही प्रवृत्ति का अर्थ है–वर्तमान आवश्यक कार्य को लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए पवित्र भाव से, फलासक्ति छोड़कर, पूरी शक्ति लगा कर सही ढंग से करना और अनावश्यक कार्यों को छोड़ देना।** सही प्रवृत्ति के अन्त में विश्राम मिलता है।"

पर हम इसके विपरीत करते क्या हैं, उन्हीं के शब्दों में–

"परन्तु हम तो संकल्प–पूर्ति के लिए कर्तापन का अभिमान लेकर, क्रिया जनित सुख का भोग करते हुए कार्यरत रहते हैं। उसी का परिणाम यह होता है कि सही ढंग से कार्य नहीं होता और कार्य के अन्त में विश्राम नहीं मिलता। अतः **सहज निवृत्ति के लिये सही प्रवृत्ति अनिवार्य है।**"

यद्यपि अपने वास्तविक जीवन की प्राप्ति के लिये विश्राम की बड़ी महिमा और अनिवार्यता है, फिर भी श्रम आवश्यक है किस लिये?

"श्रम में पराश्रय है। शरीर से तादात्म्य किये बिना श्रम नहीं होता। श्रम–साध्य जो कुछ है, वह अविनाशी नहीं है; अतः श्रम–साध्य जो कुछ भी है, वह 'स्व' के काम नहीं आता । फिर भी मनुष्य के व्यक्तित्व में भाव और विचार के साथ क्रिया–शक्ति भी है और उसकी उपयोगिता भी है। कर्म–अनुष्ठान की जो कुछ सामग्री मिली है, वह 'पर' के लिये है। **इस दृष्टि से सर्व–हितकारी कार्यों के सम्पादन में**

श्रम किया जाय। तो वह सही प्रवृत्ति होगी। उससे विश्राम में बाधा नहीं होगी।

इसी क्रम में उन्होंने आगे कहा है कि–

"परिवार, समाज, राष्ट्र और प्रकृति सबसे भरण पोशण संरक्षण और शिक्षण लेकर व्यक्ति पलता है। उनके राग से रहित होने के लिये उनकी सेवा में श्रम लगाया जाये, तो सही प्रवृत्ति होगी। **सेवा के बदले में किसी से कुछ आशा न रखी जाय, तो सेवा के अन्त में चिर–शान्ति मिलेगी।**"

"यद्यपि श्रम करने के लिए शरीर का आश्रय लेना पड़ता है और पराधीनता स्वीकार करनी पड़ती है, फिर भी 'पर–हित' के लिये इस पराधीनता को स्वीकार किया जा सकता है। **इस प्रकार श्रम का महत्व पर–पीड़ा से पीड़ित होकर प्राप्त–सामर्थ्य के सद्व्यय में है।** इस श्रम के अन्त में सहज विश्राम प्राप्त होता है, जो नित्य–योग से अभिन्न कराता है।"

ऊपर देवकी बहिन जी का कथन है कि–

"इस श्रम के अन्त में सहज विश्राम प्राप्त होता है।"

पर हमारा अनुभव क्या ऐसा है? अधिकांशतः चाहे बुद्धि का या स्थूल शरीर का श्रम हो, उसके अन्त में हम मानसिक अथवा शारीरिक रूप से थकित अनुभव करते हैं। ऐसा क्यों होता है? विचार करने पर यही समझ में आता है कि जब तक हमारी अहंकृति का नाश नहीं होता, तभी तक हम किसी श्रम से थकित होते हैं। अन्यथा अहंकृति रहित होने पर अर्थात् कर्तापन का अभिमान न हो, क्रिया–जनित सुख का भोग न हो और कर्म के फल में आसक्ति न हो तो हम कर्म के परिणाम स्वरूप थकित नहीं होते। इस प्रकार की प्रवृत्ति के अन्त में सहज निवृत्ति प्राप्त होती है जो विश्राम का ही स्वरूप है।

इसीलिये स्वामी शरणानन्द जी ने कहा है कि–

"श्रम–रहित होने का अर्थ कर्तृत्व के अभिमान से रहित होना है कर्तव्य से रहित होना नहीं। कर्तव्य के लिये तो अनन्त शक्ति स्वतः कार्य कर रही है। हमें अपनी सीमित शक्तियों को उसी में मिला देना है अर्थात् 'करना' 'होने' में परिवर्तित कर देना है।"

जिस श्रम की चर्चा ऊपर देवकी बहिन जी ने किया है वह कर्तव्य का ही रूप तो है।

इस सारी व्याख्या के सार के रूप में–

"श्रम विश्राम की तैयारी है। **विश्राम के लिये आवश्यक श्रम का त्याग अपेक्षित नहीं है, किन्तु कार्य के अन्त में कार्य से असंग होना अनिवार्य है।**..... उस विश्राम में भी एक गति है। वह गति साधक को जड़ता से चेतना, मृत्यु से अमरत्व और असत् से सत् की ओर ले जाती है।....."

अन्त में समापन के रूप में स्वामी शरणानन्द जी का साधक को आश्वस्त करने वाला उद्‌बोधन–

"देखो, बहुत अधिक समय नहीं लगता है। केवल तुम्हारी भीतरी, बाहरी वृत्तियों को शान्त होने में जो समय लगे सो लगे। अगर तुम अहंकृति–रहित होकर गिन करके केवल पन्द्रह मिनट के लिये शान्ति में स्थित रह सको तो उतनी ही देर में तीनों शरीरों से लगाव छूट जायेगा। **शरीरों के अतिरिक्त तुम्हारा अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व है जिसकी कोई सीमा नहीं है, जिसमें धरती आसमान नहीं है, जिसमें काल और स्थान की कोई परिधि नहीं है।** उस प्रकार के एक स्वाधीन आनन्दमय अस्तित्व का अनुभव तुमको हो जायेगा।"

■

काम तो होता ही पराश्रय और परिश्रम से है। काम माने पराश्रय और परिश्रम। पराश्रय और परिश्रम का स्थान है पर–सेवा में, शरीर की सेवा में, परिवार की सेवा में, समाज की सेवा में, विश्व की सेवा में। बिना दूसरे को हानि पहुँचाये जो कार्य है वह सेवा है। और दूसरों को हानि पहुँचा कर जो कार्य है वही भोग है। पर–सेवा के लिये आप स्वाधीन हैं, भोग के लिये नहीं। पराश्रय और परिश्रम का उपयोग है पर–सेवा में। पर–सेवा में आप भलाई चाहे जिसके साथ करें, लेकिन बुराई आप किसी के साथ न करें।

साधन-सूत्र : 89

'व्यक्तित्व' एवं 'व्यक्तित्व के नाश' का अर्थ एवं उसमें बाधा क्या है

स्वामी शरणानन्द जी के महाप्रयाण के पूर्व स्वामी रामसुखदास जी ने पूछा–"महाराज, भगवत् प्राप्ति हो गई, इसका क्या थर्मामीटर है?" शरणानन्द जी महाराज ने उत्तर दिया–'व्यक्तित्व का नाश'।

सहज प्रश्न् होता है कि 'व्यक्तित्व' का क्या आशय है और 'व्यक्तित्व का नाश' का अर्थ क्या है। इस संक्षिप्त पर गूढ़ उत्तर का संकेत क्या है–अर्थ क्या है?

मानव सेवा संघ दर्शन में अपने वास्तविक जीवन को नित्य, अविनाशी, रसरूप कहा गया है। इस सत्य को लेकर चलें कि एक ही असीम, अनन्त परम–सत्ता ईश्वर हैं जिनकी महिमा–ऐश्वर्य का वारापार नहीं है, और उन्हीं की जाति का और उन्हीं का अंशी मैं एक इकाई हूँ। उस इकाई में अहंरूपी अणु भी है। विधि के विधान से जो योग्यता, पद, सामर्थ्य, परिस्थिति प्राप्त हुई वह मिली तो पर–सेवा के लिये, परन्तु यदि सजग नहीं रहे तब ये अहंरूपी अणु में प्रवेश पा जाते हैं। और वही हमारा व्यक्तित्व बन जाता है। इस प्रकार बाह्य मान्यताएँ और स्वीकृतियाँ ही व्यक्तित्व का रूप धारण कर लेती हैं। उसी से हम अपना मूल्यांकन करने लगते हैं।

यदि पद, परिस्थिति अपने पसन्द की नहीं मिली तो विषाद और कुण्ठा से ग्रस्त रहते हैं। एक उदाहरण–कोई अपने मित्र के कार्यालय में गया–वहाँ मित्र के समक्ष उनके सहपाठी बैठे थे जो उन्हीं के कार्यालय में तृतीय श्रेणी के राजकीय सेवक थे। अपने पद और परिस्थिति से असन्तुष्ट उन सेवक ने विषाद के साथ कहा कि यह भी कोई जीवन है, इससे अच्छा तो आत्म–हत्या कर ले। मिलने गये व्यक्ति के मुँह से अनायास निकला कि This is not the ultimate of life (यही जीवन की परिणति नहीं है)। सुल्तानपुर रोड पर निकल जाइये, धान के खेत हवा के झोंके में लहलहा रहे हैं, झूम रहे हैं, खेत की मेड़ पर लेट जाइये–नीले आकाश में सफेद बादलों के टुकड़ों को तैरते हुए देखिये–आनन्द ही आनन्द है। कुछ दिनों पश्चात् उन्हें

अधिकारी मित्र से ज्ञात हुआ कि उनके विषाद–ग्रस्त सहपाठी का जीवन के प्रति दृष्टि–कोण ही बदल गया–अब प्रसन्न रहते हैं।

एक दूसरा पहलू भी है–ऐसे कुछ लोग जिन्होंने अपने पद–प्रतिष्ठा को ही अपना व्यक्तित्व मान लिया होता है, जब कुर्सी से हट जाते हैं तब भी उस व्यक्तित्व की दासता, मोह और आसक्ति छोड़ नहीं पाते। परिणाम स्वरूप चित्त में कुण्ठा, क्षोभ, खिन्नता भर जाती है और ऐसा अनुभव करते हैं जैसे कुछ खो गया हो। अहं में पद–प्रतिष्ठा का जो अभिमान भर लिया था, वह सेवानिवृत्ति के पश्चात् ऐसे लोगों को शान्त और प्रसन्न रहने ही नहीं देता। जीवन के निवृत्ति–काल का सदुपयोग ही नहीं कर पाते।

ऐसी स्थिति से बचने का सहज उपाय तो यही है कि हमें अपने वास्तविक स्वरूप की विस्मृति न हो और जो योग्यता, पद, सामर्थ्य और परिस्थिति प्राप्त हुई उससे 'पर' सेवा के भाव से अपना कर्तव्य–कर्म का निर्वहन करते रहें। उसको अपना व्यक्तित्व (personal attribute) न बनाएँ कि मैं यही हूँ।

जब हम बाह्य स्वीकृतियों, मान्यताओं आदि को अपना व्यक्तित्व बनायेंगे ही नहीं, मानेंगे ही नहीं तो व्यक्तित्व के नाश का प्रश्न् ही नहीं होगा। इसीलिये मानव सेवा संघ के नियम संख्या–9 में अहं को अभिमान शून्य करके अपने को सुन्दर बनाने को कहा गया है। परन्तु 'मैं' हूँ, अपने होनेपन का भास होना भी 'व्यक्तित्व' ही है। जैसे जैसे साधन की अपने जीवन में अभिव्यक्ति होगी, वैसे ही अहंरूपी अणु का रूपान्तर हो जायेगा। भगवत–प्राप्ति भगवत–प्रेम के ही रूप में होती है, तब हमारा अहंरूपी अणु प्रेम की धातु में बदल जायेगा अर्थात् हमारा अस्तित्व प्रभु–प्रेम ही रहेगा और उससे भिन्न अपने व्यक्तित्व का लेशमात्र भी चिन्ह नहीं रहेगा।

परन्तु जिन लोगों में भूलवश बाह्य स्वीकृतियों–मान्यताओं ने ही व्यक्तित्व का रूप धारण कर लिया है उनकी भूल मिटाने के लिये मानव सेवा संघ की पुस्तक 'जीवन–दर्शन' के दो लेख शीर्षक 'व्यक्तित्व की दासता' और 'व्यक्तित्व के मोह की निवृत्ति', बहुत ही उपयोगी हैं। उन्हीं लेखों से आगे कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं।

सर्वप्रथम व्यक्तित्व के अस्तित्व के बारे में स्वामी शरणानन्द जी का कथन देखा जाय–

"यद्यपि विवेक की दृष्टि से किसी भी व्यक्तित्व का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं

है, परन्तु प्रमादवश (भूलवश) व्यक्तित्व का अस्तित्व प्रतीत होता है। उस प्रतीति में सद्भाव होने से ही मोह की उत्पत्ति होती है, जो अनेक विकार उत्पन्न करने में समर्थ है।"

जब हमें व्यक्तित्व का अस्तित्व प्रतीत होता है तब क्या होता है? 'चित्त–शुद्धि' पुस्तक में लेख शीर्षक "व्यक्तित्व की दासता एवं गुणों का अभिमान" में स्वामी जी का कथन है कि–

"गुणों के अभिमान से व्यक्तित्व का महत्व बढ़ता है। (जब इसी में जीवन बुद्धि हो जाती है तब व्यक्तित्व की दासता उत्पन्न हो जाती है) व्यक्तित्व की दासता साधक को अधिकार–लालसा में आबद्ध कर देती है। यदि उसके अधिकार की पूर्ति हो गई तो राग में आबद्ध हो जाता है और यदि अधिकार की पूर्ति नहीं हुई, तो क्रोध की अग्नि में जलने लगता है।.....राग भोग–वासना में आबद्ध कर देता है और क्रोध से कर्तव्य की, स्वरूप की और प्रेमास्पद की विस्मृति हो जाती है।..... राग तथा क्रोध का अन्त करने के लिये प्राणी को व्यक्तित्व की दासता से मुक्त होना अनिवार्य है। **व्यक्तित्व की दासता का अन्त करने के लिये गुणों के अभिमान को गलाना ही पड़ेगा।**"

तात्पर्य यह हुआ कि **अपना सीमित अहं भाव ही व्यक्तित्व के रूप में भासता है।** और "मान्यता का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करना व्यक्तित्व के मोह को जन्म देता है।"

व्यक्तित्व के मोह की उत्पत्ति कैसे होती है इसे स्वामी जी ने 'चित्त–शुद्धि' नामक पुस्तक में लेख शीर्षक 'व्यक्तित्व के मोह का अन्त' में दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी बताया है–

"मिले हुए की ममता व्यक्तित्व के मोह को उत्पन्न करती है और उसका त्याग मोह का अन्त करने में समर्थ है"

प्रश्न् होता है कि व्यक्तित्व का मोह है क्या? स्वामी जी की व्याख्या के अनुसार–

"अपने सीमित अस्तित्व को सुरक्षित रखने का प्रयास ही व्यक्तित्व का मोह है .....मोह सदैव उसी के प्रति होता है जो परिवर्तनशील है।"

व्यक्तित्व के मोह का परिणाम क्या होता है? यह साधन–सूत्र बहुत लम्बा न हो जाय इसलिये इन पुस्तकों के कोई कोई अंश ही उद्धरित किये जा रहे हैं–

"व्यक्तित्व के मोह ने ही हमें अपने वास्तविक लक्ष्य से अभिन्न नहीं होने दिया,

कारण कि व्यक्तित्व का मोह हमें सीमित और परिवर्तनशील जीवन में आबद्ध करता है।"

"हमसे बड़ी भूल यह होती है कि जो निरन्तर मिट रहा है, उसके पीछे दौड़ते हैं और जो नित्य प्राप्त है, उससे विमुख रहते हैं। इतना ही नहीं, व्यक्तिभाव को सुरक्षित रखने के लिये पराधीनता को स्वाधीनता के समान ही आदर देते हैं और नित्य प्राप्त स्वाधीनता का निरादर करते हैं। यह व्यक्तित्व के मोह की महिमा है कि जड़ता, परतन्त्रता तथा अनेक प्रकार के अभावों में ही हम जीवन मान लेते हैं, यद्यपि इनमें जीवन है नहीं केवल जीवन का भास मात्र है.....।"

व्यक्तित्व का मोह का कुपरिणाम उन्होंने आगे इस प्रकार भी बताया है–

"संकल्प–निवृत्ति की शान्ति भोग को योग में, पराधीनता को स्वाधीनता में और जड़ता को चिन्मयता में परिवर्तन करने में समर्थ है। पर व्यक्तित्व का मोह हमें उस शान्ति का आदर नहीं करने देता। यद्यपि हमारे लक्ष्य की पूर्ति निर्विकल्पता से होने वाली चिर–शान्ति में ही निहित है परन्तु व्यक्तित्व के मोह ने हमें लक्ष्य से विमुख कर दिया है। **अपने सीमित व्यक्तित्व को सुरक्षित रखने का प्रयास ही व्यक्तित्व का मोह है।**"

इस सारी चर्चा के बाद प्रश्न् आता है कि व्यक्तित्व के मोह का और व्यक्तित्व का नाश कैसे हो। पहले व्यक्तित्व के मोह का नाश कैसे हो, इस पर विचार किया जाय।

स्वामी जी का कथन है, जो ऊपर भी उल्लिखित है कि "मिले हुए की ममता व्यक्तित्व के मोह को उत्पन्न करती है और **उसका(ममता) त्याग मोह का अन्त करने में समर्थ है।**"

हमारा वास्तविक जीवन नित्य, अविनाशी, रसरूप है और इस जीवन की अनुभूति हमें अभीष्ट है। ऊपर हमने देखा कि व्यक्तित्व का मोह हमारा किस प्रकार अहित करता है। यदि हमें अपने वास्तविक जीवन का अनुभव करना है तो हमें क्या करना है–स्वामी जी के शब्दों में–

"वास्तविक जीवन वर्तमान की वस्तु है, भविष्य की नहीं; अतः हमें जीवन के अध्ययन के द्वारा व्यक्तित्व के मोह से रहित होने के लिये वर्तमान में ही सतत् प्रयत्नशील होना चाहिये। यह तभी सम्भव हो सकता है, जब विवेकपूर्वक व्यक्तित्व के मोह को त्याग कर निर्लोभता, निर्मोहता प्राप्त करें अथवा निर्लोभता–निर्मोहता पूर्वक व्यक्तित्व के मोह का अन्त करें। यह अपने अपने योग्यतानुसार जिसे जैसा सुगम प्रतीत हो, उसे उसी के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये।

साधन–परायणता प्रत्येक व्यक्ति की योग्यता तथा रुचि के अनुरूप ही सम्भव है।''

आगे स्वामी जी ने बताया है कि व्यक्तित्व के मोह का नाश होने पर हमें क्या प्राप्ति होगी–

''व्यक्तित्व के मोह से रहित होते ही निर्वासना आ जायेगी, वासनाओं का अन्त होते ही मन में निर्विकल्पता, बुद्धि में समता, हृदय में निर्भयता और चित्त में प्रसन्नता स्वतः आ जायेगी। मन की निर्विकल्पता तथा बुद्धि की समता सब प्रकार के द्वन्द्वों का अन्त करने में समर्थ है। द्वन्द्वों का अन्त होते ही निःसन्देहता तथा परम प्रेम की प्राप्ति होती है, जो सभी को अभीष्ट है।''

व्यक्तित्व के नाश के बारे में उन्होंने उपाय दो प्रकार से बताये हैं–

''व्यक्ति में व्यक्तित्व क्या है, इसको भली भाँति जान लेने पर व्यक्तित्व नहीं रहता, क्योंकि अपने में अपनापन स्वीकार करना वास्तविकता से अपरिचित होना है। यदि अपने में अपनेपन की खोज की जाय, तो अपनापन नहीं मिलेगा। कारण, कि अपने में अपनी जैसी कोई वस्तु है ही नहीं, फिर भी अहम् और मम भासित होता है।..... इस दृष्टि से खोज के अभाव में ही साधक वास्तविकता से विमुख हो जाता है।''

ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्तित्व का मोह का नाश होने पर व्यक्तित्व का भी स्वतः नाश हो जायेगा। ऊपर स्वामी जी का कथन है कि ''व्यक्तित्व के मोह से रहित होते ही निर्वासना आ जायेगी।'' निर्वासना के आने से क्या होगा? भोग की रुचि शेष नहीं रहेगी। तब क्या होगा–

''भोग की रुचि का अन्त होते ही समस्त आसक्तियाँ स्वतः मिट जाती हैं। फिर व्यक्तित्व गलकर उस अनन्त की प्रीति बन जाता है जो सभी का सबकुछ है। उसी में वास्तविक जीवन निहित है।''

और यही तो भगवत्–प्राप्ति है जिसके बारे में स्वामी रामसुखदास जी ने स्वामी शरणानन्द जी से उनके महाप्रयाण के पूर्व प्रश्न् किया था।

■

विवेक का आदर न करने से प्राणी व्यक्तित्व के मोह में आबद्ध हो जाता है जो समस्त अनर्थों का मूल है। व्यक्तित्व का मोह ही भेद तथा भिन्नता को जन्म देता है।

साधन-सूत्र : 90

अपने दोषों को जानकर भी उनके होने का दुःख क्यों नहीं होता

हमारे जीवन में बीज रूप से विद्यमान माँग यथा शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम की प्राप्ति के लिए यदि लालसा है, प्रतिबद्धता है तो हमें सबसे पहले अपने को साधक स्वीकार करना होता है। साधक अथवा मानव कहते ही उसे हैं जो अपनी निर्बलताओं एवं दोषों को देखने और उन्हें निवृत करने में समर्थ है। अर्थात दृढ़ता पूर्वक अपने दोषों को देखने ओर उन्हें मिटाने में तत्पर है।

अपने जीवन में साधन–पथ में सफलता के लिये चित्त–शुद्धि अनिवार्य है और चित्त–शुद्धि के लिये अपने में निर्दोषता की स्थापना आवश्यक है। इसके लिये जाने हुए असत् अर्थात् अपनी जानी हुई बुराई का त्याग करने को कहा गया है। इस हेतु सर्वप्रथम अपने में विद्यमान बुराई अर्थात् दोषों को जानना ज़रूरी है। इसीलिये मानव सेवा संघ के ग्यारह नियमों में पहला ही नियम दोषों को देखने को कहता है–

'आत्म–निरीक्षण अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।'

यह बड़ा ही स्वाभाविक प्रश्न् है कि जब हम अपने दोषों को देखकर दुःखी होंगे तभी तो उन्हें मिटाने की सोचेंगे। अतः हम तभी नियम संख्या–2 का पालन करने के लिये तत्पर होंगे अर्थात् की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेंगे, सरल विश्वास पूर्वक प्रार्थना करेंगे और विवेक का आदर करते हुए नवीन दोष जीवन में आने नहीं देंगे।

यहाँ एक बात विचारणीय है कि ऐसा नहीं है कि हमें अपने दोषों की जानकारी नहीं होती। बहुत अच्छी तरह से जानकारी रहती है, फिर भी हम उन्हें छोड़ते नहीं। बुराई को बुराई जानकर भी उसे करते रहते है। ऐसे दोषों को देखने के लिये आत्म–निरीक्षण का चश्मा लगाने की आवश्यकता नहीं होती, हमें तो उनका पूर्ण ज्ञान रहता है। आत्म–निरीक्षण (नियम संख्या–1) की आवश्यकता तो हमें अपने सूक्ष्म–दोषों को देखने के लिये होती है जिन्हें हम प्रत्यक्ष नहीं जानते।

नोटः– सूक्ष्म दोषों का तात्पर्य अपने ऐसे दोषपूर्ण कृत्यों (चाहे मन से, वाणी से अथवा

कर्म से है) से है जिनका प्रवृत्ति काल में कार्य में व्यस्तता के कारण एहसास नहीं होता है। पर जब कार्य के उपरान्त शान्त होकर दिन भर के अपने कृत्यों पर दृष्टि डालते हैं तब अपने गलत आचरण, दोष पर ध्यान जाता है। वैसे यदि कोई अपने प्रति ईमानदार और सजग है, तब तो उसका विवेक गलत कर्म/आचरण के लिये तत्काल टोक देता है।

अतः यह प्रश्न् होता है कि हमें अपने दोषों को देख, जानकर भी उसका दुःख क्यों नहीं होता? मानव सेवा संघ की पुस्तक 'सन्त–सौरभ' में स्वामी शरणानन्द जी द्वारा इस विषय का बड़ा सहज और सटीक विश्लेषण किया गया है। उसी से आगे उद्धरण प्रस्तुत है।

उन्होंने सब से पहले यह याद दिलाया है कि साधक को अपने दोषों का निरीक्षण करके दुःखी होना चाहिये। तब दोषों का नाश होकर चित्त–शुद्ध हो सकता है।

विश्लेषण हेतु उन्होंने वही प्रश्न् उठाया है कि दोषों के होने का हमें दुःख क्यों नहीं होता। उन्होंने कहा है कि "अब विचार यह करना है कि दोषों के रहते हुए मनुष्य को उनके रहने का दुःख क्यों नहीं होता? विचार करने पर मालूम होगा कि **मनुष्य उन दोषों में सुख–भोग की कल्पना करके रस लेता रहता है।** इस कारण उनके रहने का दुःख नहीं होता ओर उनको मिटाने की लालसा और कोशिश नहीं होती।"

"**मनुष्य भोगों की चाह की पूर्ति को ही सुख मान लेता है और यही सबसे बड़ा दोष है।** काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि सब प्रकार के दोष भोग–वासना से उत्पन्न और पुष्ट होते रहते हैं।"

ऐसी मानसिकता क्यों होती है? स्वामी जी के आगे वचन हैं–

"आजकल की सभ्यता मनुष्य को यही सिखाती है कि अपने रहन–सहन की उन्नति करो अर्थात् सुन्दर–सुन्दर भोगों की चाह उत्पन्न करो और उनकी पूर्ति के लिये श्रम करके नाना प्रकार की भोग सामग्री का संग्रह करो एवं उनका उपभोग करके चाह की पूर्ति का सुख भोगो और फिर चाह करो। इस प्रकार दुःख–सुख के चक्र में पड़े रहना ही जिनकी दृष्टि में उन्नति है, उनके हृदय में अपने दोषों को मिटाने का भाव कैसे प्रकट हो सकता है?".

आजकल की सभ्यता(भोग–वादी) की शिक्षा और उसी प्रकार की रहनी जिसका ऊपर वर्णन है, का परिणाम क्या होता है? स्वामी जी के शब्दों में –

"ऐसे मनुष्यों को अपनी वास्तविक आवश्यकता का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि **उनको इस बात का पता नहीं है कि इस जीवन से उत्कृष्ट कोई दूसरा भी जीवन है, जहाँ किसी प्रकार का अभाव नहीं है, जहाँ मौत का भय नहीं है, जिसमें केवल रस ही रस है, दुःख का लेश भी नहीं है।** यद्यपि सभी प्राणी चाहते हैं कि हमें दुःख न मिले, हम स्वाधीन और समर्थ हों, हमारा जीवन अमर हो जाय, मौत का भय न रहे, परन्तु उस जीवन से निराश हो गये हैं, और वर्तमान जीवन को ही वास्तविक जीवन मान लिया है।"

इस प्रकार एक तो वे लोग हुए जिनकी भोगों में ही जीवन बुद्धि है और उससे अतीत भी कोई अति सुन्दर रस–रूप जीवन है उसकी न तो जानकारी है और न ही जानने की कोई रुचि। दूसरे वे लोग जिन्होंने सुना तो है, परन्तु भोगों में इस गहराई में डूबे रहते हैं कि न तो उससे निकलने का और न उस वास्तविक रस–रूप जीवन को प्राप्त करने की दिशा में कोई प्रयास करते हैं। परिणामतः उस जीवन के प्रति निराशा।

आगे स्वामी जी का कथन है कि –

"चाह की पूर्ति को सुख मानने वालों के मन में धन की कामना जागृत होती है। उसके लिये वे वह काम करते है जो करना चाहिये और वह भी करते है जो नहीं करना चाहिये।....."

समस्या तो यह है कि अपना सोच और जीवन तो जैसा है, वैसा है, ऐसे लोगों के समक्ष कोई वास्तव में सही आदर्श भी नहीं हैं जिनसे उन्हें ऊपर वर्णित जीवन की प्राप्ति के लिये प्रेरणा मिले। स्वामी जी ने इसको इस प्रकार बताया है–

"दूसरे समूह के लोग जो अपने को विरक्त कहने का दम्भ भरते हैं, अपने को भगवान का भक्त कहते हैं, उनका जीवन भी मनुष्य को अपनी वास्तविक आवश्यकता की पूर्ति की ओर आकर्षित नहीं करता क्योंकि उनमें भी अधिकांश लोग बड़े–बड़े मठ, बड़े–बड़े अधिकार और बहुत सी सामग्रियों का संग्रह करने में ही अपना जीवन सफल और उन्नत मानते हैं। अमुक स्वामी जी का आश्रम बड़ा सुन्दर है, वहाँ लोगों को सब प्रकार का सुख मिलता है, उनके बड़े–बड़े धनी–मानी, ऊँचे अफसर, मिनिस्टर लोग शिष्य है, उनका बड़ा सम्मान है। इस प्रकार की बड़ाई सुन–सुन कर मस्त रहते है एवं व्यक्ति, वस्तु, अवस्था और परिस्थितियों के सम्बंध से चाह की पूर्ति को ही सुख मानते हैं। उनके हृदय में भी वास्तविक आवश्यकता का अनुभव नहीं होता।"

ऐसे लोग करते क्या है? स्वामी जी क्या कहते है इस संबंध में–

"ऐसे लोग जब कहीं बाहर जाते हैं तब अपने साथियों को सोने के लिए पूरी जगह मिले चाहे न मिले, परन्तु उनको कम से कम एक कमरा स्वतन्त्र चाहिये। उसके लिये फिर नाना प्रकार का दम्भ करते हैं। कहते हैं हमें एकान्त चाहिये। यदि सचमुच एकान्त की ज़रूरत हो तो जंगल में कमी नहीं है। किसी भी वृक्ष के नीचे एकान्त मिल सकता है। टूटे फूटे खण्डहरों और जीर्ण मन्दिरों की भी कमी नहीं है। परन्तु वहाँ आराम कैसे मिले। इस प्रकार का एकान्त उन्हें नहीं चाहिये।"

"इसी प्रकार तीर्थ–यात्रा आदि के बहाने से अपना शौक पूरा करते हैं, नाना प्रकार के स्थानों को, प्रकृति के सौन्दर्य को और अनेक प्रकार के दृष्यों को देख–देख कर रस लेते हैं, उनको भी तीर्थ–सेवन का असली फल नहीं मिलता अर्थात उनका भी चित्त–शुद्ध नहीं होता। तीर्थ–सेवन का अधिकारी वह होता है जो तीर्थ स्थानों में दिव्य लोकान्तरों का अनुभव करता है अर्थात् जिसकी तीर्थों में भौतिक बुद्धि नहीं है।"

नोटः तीर्थ का ज़िक्र आया है तो थोड़ा विषयान्तर करते हुए तीर्थ–सेवन के लक्ष्य पर भी विचार किया जाय। जिस प्रकार विधियात्मक पूजा के पीछे 'साध्य की प्रसन्नता' और लोक–हित का भाव होना चाहिये (साधन–सूत्र–16, शीर्षक 'साधन पथ के लिये टॉर्च)', उसी प्रकार तीर्थाटन के भी पीछे लोक–हित का भाव होना चाहिये तभी उसकी कोई सार्थकता बनेगी। स्वामी शरणानन्द जी कहते थे कि यदि तीर्थ जाते हो तो इस भाव से जाओ कि अनेक लोगों का जो संकल्प था परन्तु किसी असमर्थता के कारण, नहीं आ सके, उसकी पूर्ति तुम्हारे तीर्थ सेवन से हो।

स्वामी जी जब किसी पर्व पर नदी में स्नान करते थे, तब अपनी लाठी जल में स्थापित कर बारी बारी से सब साथ वाले साधकों को बुला कर हाथ पकड़ कर डुबकी लगवाते थे। ऐसे ही एक अवसर पर देवकी बहिन जी शरीर पर चकत्तों (skin rashes) के कारण नहाने से मना कर रही थीं। स्वामी जी ने ज़ोर देकर कहा कि तुम अपने लिये मत स्नान करो, उन लोगों की संकल्प–पूर्ति के लिये स्नान करो जो आना चाहते थे, पर किसी असमर्थता के कारण नहीं आ सके। देवकी बहिन जी ने स्वयं अनेक अवसरों पर सुनाया था कि जब उन्होंने जल में डुबकी लगाई तो उन्हें भास हुआ कि असंख्य लोग जल में उन्हीं के साथ डुबकी लगा रहे हैं।

यदि परहित का भाव नहीं है, तो भाव–शून्य तीर्थ सेवन से क्या प्राप्ति होगी? सोचने की बात है कि इससे पाप धुल जायेंगे और पुण्य होगा अथवा किसी लौकिक इच्छा की पूर्ति हो जायेगी का भाव कहाँ तक सही है। मात्र शरीर को गंगा जल में धोने से, अन्तर के दोष/पाप कैसे धुल जायेंगे? यदि ऐसा हो तब तो रोज़ पाप में लिप्त रहें और सुबह उठकर गंगा–स्नान करके उसे धो लें और फिर वही क्रम। बड़े मज़े की बात हो जायेगी। यह भी विचार करने की बात है कि किसी लौकिक इच्छा की पूर्ति कर्म से और सृष्टि के विधान से ही होगी।

हमारी वास्तविक माँग क्या है, स्वामी जी के शब्दों में–

"मनुष्य की असली माँग है– ऐसा आनन्द जिसमें दुःख का मिश्रण न हो, ऐसा जीवन जिसमें मृत्यु का भय न हो, ऐसा रस–रूप जीवन जिसमें नीरसता की गंध न हो और ऐसा ज्ञान जिसमें किसी प्रकार का संदेह न हो।"

ऐसी माँग की पूर्ति कैसे हो, आगे उद्धरण को देखा जाय–

"इस माँग की पूर्ति तभी हो सकती है जब साधक अपने प्राप्त विवेक का आदर करे, किसी भी वस्तु, व्यक्ति और परिस्थिति के संबंध से मिलने वाले सुख–दुःखों का रस न ले, **अपने दोषों को देखकर उनके होने के दुःख से दुःखी हो, जब तक चित्त शुद्ध न हो जाय, तब तक चैन से न रहे।**"

■

जितनी गहराई से वह (साधक) अपने दोष देखेगा, उतना ही उसको अपने दोषों का अधिक भास होगा। एवं जैसे–जैसे वह उन दोषों को सचमुच दोष मानता जायेगा–वे उससे दूर होते चले जायेंगे। मनुष्य यह समझ कर भी मुझमें अमुक दोष है, किसी–न–किसी अंश में उसमें रस लेता रहता है और उसमें गुण–बुद्धि कर लेता है। यही कारण है कि अपने में जिस दोष को मनुष्य स्वीकार करता है, उसे भी छोड़ता नहीं। उससे चिपका रहता है। अतः साधक को चाहिये कि अपने दोष को गहराई से देखे और विचारपूर्वक उसे छोड़ने का दृढ़ संकल्प करे। जो भूल अपनी समझ में आ जाय, उसको पुनः न दोहरावे।

साधन-सूत्र : 91

क्रोध क्यों आता है? उसका निदान कैसे?

हमारे जीवन में जो भी विकार/दोष रहते हैं, वे सभी त्याज्य हैं क्योंकि उनके रहते हमें न तो अपने वास्तविक नित्य, अविनाशी, रस–रूप जीवन की अनुभूति होगी और न ही अपनी माँग–शान्ति, स्वाधीनता और प्रेम की पूर्ति। काम, क्रोध, मद, मोह, मत्सर, ईर्ष्या आदि दोषों का परिणाम यह होता है कि हम चेतन होते हुए भी जड़ता में आबद्ध हो जाते हैं, जिसमें सही गलत के भेद की विस्मृति हो जाती है। जो अकरणीय है वह भी कर बैठते हैं, भले ही उस विकार के वेग के शान्त होने पर पश्चाताप् करें।

इनमें से क्रोध ऐसा विकार है कि उसके आवेश में न तो वाणी पर कन्ट्रोल रहता है, न आचरण पर और न ही कर्मेन्द्रियों पर। मुख् से ऐसे शब्द निकल जाते हैं जो कटुता उत्पन्न कर देते हैं, आपस में आत्मीय सम्बन्ध बिगाड़ देते हैं। यदि क्रोध पर समय रहते नियन्त्रण नहीं हुआ तो हिंसक आचरण/कर्म (violent expression of anger) तक कर बैठते हैं। कभी–कभी दूसरी ओर से प्रतिकार होने पर बड़ा हिंसक कुपरिणाम हो जाता है। एक प्रकार से क्रोध मनुष्य स्वयं का एक बहुत बड़ा दुश्मन है। स्वामी शरणानन्द जी के शब्दों में **"क्रोध से कर्तव्य की, स्वरूप की और प्रेमास्पद की विस्मृति हो जाती है।"**

क्रोध का शरीर पर कुप्रभाव (रक्त–चाप का बढ़ना आदि) तो होता ही है, जिस पर क्रोध करते हैं, उसने व्यक्त प्रतिकार, प्रतिवाद नहीं किया तो भी मौन प्रतिकार तो करता ही है। यदि कोई त्रुटि करता है तो हमारा लक्ष्य तो होता है कि त्रुटि करने वाले को उसका एहसास हो और वह सुधार कर ले। पर यदि क्रोध करके उसको ज़ोर से डाँटे, बुरा भला कहें तो उसमें जो प्रतिक्रिया होती है, उसके कारण सुधार का लक्ष्य पूरा नहीं होता। बच्चों को या किसी को भी, त्रुटि करने पर उसे समझाना, अनुशासित करना (discipline करना), सहज ढंग से (Cool mind से) वास्तव में प्रभावी होता है, क्योंकि दूसरे में जिसे समझाया जा रहा है विरोधी प्रतिक्रिया नहीं होती।

पर जिनका विश्वास उस कहावत में होता है कि Spare the rod and spoil the child, उनकी मानसिकता ऐसी बन जाती है कि किसी में त्रुटि या गलत आचरण देखकर, उनमें क्रोध की अग्नि भड़क उठती है और भूल जाते है कि अनुशासित (discipline) करने का कोई दूसरा सहज, स्नेहपूर्ण तरीका भी है।

एक उदाहरण, जब लाल बहादुर शास्त्री जी प्रधानमंत्री थे, बच्चे सरकारी गाड़ी में बैठकर दिल्ली शहर घुमने चले गये। जब शास्त्री जी को पता लगा तो उन्होंने मात्र अपनी मौन अप्रसन्नता जता दी और ड्राइवर से लॉग–बुक माँग कर उतने किलोमीटर प्राइवेट इस्तेमाल की इन्ट्री करके निजी भुगतान किया। इसका प्रभाव यह हुआ कि बेटे को यह जीवन पर्यन्त याद रहा और इसकी चर्चा अपने संस्मरण में किया।

कभी ऐसा भी होता है कि कोई व्यक्ति हमारे पर कुछ आरोप लगा रहा है जिसे हम झूठ और निराधार समझते हैं, तब उसकी प्रतिक्रिया के रूप में ज़ोर ज़ोर से ऊँची आवाज़ में (क्रुद्ध होकर) प्रतिवाद करते हैं। ऐसे में बात का बतंगड़ हो जाता है, तूफान खड़ा हो जाता है। हर प्रकार के अहित की सम्भावना रहती है। हमारी प्रतिक्रिया इस प्रकार न हो अर्थात् हम इस पर out burst के रूप में react न करें तब भी शान्त और सहज ढंग से आरोप को गलत बता सकते हैं।

और यदि मेरी जो त्रुटि बताई जा रही है, वह सही है, तब तो निःसंकोच मान लेना चाहिये कि हाँ गलती हुई, आगे नहीं होगी। पर यदि अपमान या अनादर के भय से (अर्थात् मैं दूसरों की दृष्टि में दोषी बन जाऊँगा) ऐसा नहीं करते और त्रुटि को नकारने या अपने ढंग से स्पष्टीकरण (explain out) करते रहें तब विवाद खत्म नहीं होगा, बहस बढ़ती ही जायेगी और ऐसा करने से अपने में अपनी त्रुटि सुधारने का भाव भी नहीं बनेगा। बार बार वही त्रुटि करते रहेंगे। त्रुटि बताने वाले में भी दूसरे को नीचा दिखाने (deride करने) का भाव नहीं होना चाहिये बल्कि हितैषी की भाँति उसके सुधार का ही ध्यान रहना चाहिए।

मूल विषय पर लौटते हुए, अब इस पर विचार किया जाय कि यदि दूसरा हम पर क्रोधित हो रहा है तो हम क्या करें। बड़ी सहज बात है कि हम पर कोई प्रतिक्रिया न हो, हमारी ओर से कोई प्रतिकार न हो, हम शान्त रहें तो दूसरा थोड़ी देर बाद स्वयं ही शान्त हो जायेगा। किसी भी परिस्थिति में हमारी प्रतिक्रिया (Reaction)

और जो प्रतिवर्ती–क्रिया (Reflex action) होती है वह हमारे अवेचन (Sub-conscious mind) से संचालित होती है। इसकी थोड़ी चर्चा साधन–सूत्र–19 शीर्षक "भले से भलाई" में हुई है। यदि हमारे अवचेतन में कोई दोषपूर्ण इन्पुट (Input) नहीं होंगे तो हम में कोई गलत प्रतिक्रिया और हमसे कोई गलत क्रिया नहीं होगी। यही बात अपनी किसी धारणा के विपरीत स्थिति/घटना आदि के प्रति हमारी प्रतिक्रिया (reaction) क्रोध आदि पर लागू होती है।

इसका एक उदाहरण करनाल मानव सेवा संघ द्वारा प्रकाशित पत्रिका 'अनमोल वचन' से उद्धरित है। "यूनान के प्रसिद्ध तत्व–ज्ञानी पेरीकिल्स से किसी बात पर अप्रसन्न होकर एक व्यक्ति उनके घर बुरा भला कहने लगा। क्रोध में वह पागल हो गया था। जाते ही उसने बड़बड़ाना और गाली देना शुरू कर दिया। पेरीकिल्स चुपचाप उसकी बात सुनते रहे। फिर भी उसका क्रोध शान्त न हुआ और दोपहर का शाम हुआ दिन डूबने तक वाक्य–बाणों की वर्षा करता रहा। जब अंधेरा हो गया तो वह थक कर चूर–चूर हो गया और उठकर चलने लगा। पेरीकिल्स ने धीरे–धीरे अपने नौकर को बुलाया और कहा लालटेन लेकर इन महाशय के साथ चले जाओ और उनके घर तक पहुँचा दो। यह सुनकर वह व्यक्ति लज्जा–संकोच से गड़ गया और पेरीकिल्स से अपने कृत्य की माफ़ी माँगी।

सोचने की बात है कि आग को आग से तो नहीं बुझाया जा सकता। इसी प्रकार **क्रोध को क्रोध से न तो दबाया जा सकता है और न ही शान्त किया जा सकता है।**

सारे विकारों के मूल में तो देहाभिमान ही है। शरीर से तादात्म्य अर्थात मैं शरीर हूँ और शरीर मेरा है की धारणा से देहाभिमान उपजता है। यदि शरीर भाव न हो तो किसी के कटु वचन का, आक्षेप का, अपशब्द का हम में कोई प्रतिक्रिया नहीं होगी क्योंकि इन सब की पहुँच शरीर ही तक तो है, 'मैं' को तो छू ही नहीं सकता।

श्री गिरिवरचरण अग्रवाल जो स्वामी शरणानन्द जी के प्रेमी–भक्त और मित्र थे (मानव सेवा संघ की 1952 में स्थापना से बीसियों साल पहले से सम्पर्क था) ने इसी आशय की एक घटना सुनाई थी। उन्हीं के शब्दों में:–

"एक बार मैं स्वामी जी को एक बाग़ में स्नान के लिये लिवा ले गया। वे नल के नीचे नहा रहे थे, मैं थोड़ी दूर पर बैठा था। माली बाहर से आया, चिल्लाने और गालियाँ देने लगा। मुझे गुस्सा आया।

मैं उसे डाँटने लगा। स्वामी जी ने पूछा क्या बात है?– मैंने कहा माली गाली दे रहा है। उन्होंने उत्तर दिया– 'कह दो, नहीं लेते।' मुझे हँसी आ गई। माली भी चुप हो गया। घटना का अर्थ निकला कि अगर बुराई का प्रतिकार न किया जाय, तो वह स्वयं शान्त हो जाती है।"

स्वामी जी का कहना था कि "अपना अधिकार छोड़ने से क्रोध नाश होता है। दूसरों को अधिकार देने से राग नाश होता है।"

क्रोध के बारे में किसी साधक ने स्वामी जी ने पूछा–

प्रश्नः क्रोध और मोह से कैसे छुटकारा पाया जाय?

उत्तरः अपने अधिकार के त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा करने से क्रोध और मोह से छुटकारा मिल सकता है।

ऐसा ही एक अन्य प्रश्नोत्तर प्रस्तुत है–

प्रश्नः क्रोध न आए, इसका क्या उपाय है?

उत्तरः अपने सुख–दुःख का कारण दूसरे को न मानकर अपने अधिकार का त्याग करने से क्रोध का नाश हो जाता है।

स्पष्ट ही है कि अपने अधिकार को छोड़ने का अर्थ है कि हमें किसी से कोई अपेक्षा नहीं है। मानव सेवा संघ द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'मानव की माँग' में प्रवचन संख्या–27 में स्वामी जी के नीचे प्रस्तुत कथन से ऊपर वर्णित उपाय और स्पष्ट हो जाता है –

"अपने निर्माण को सुरक्षित रखने के लिए अक्रोध, हृदय–शीलता एवं निरभिमानता अत्यन्त आवश्यक है। क्रोध–रहित होने के लिये यह अनिवार्य होगा कि हम दूसरों के कर्तव्य को अपना अधिकार न मानें। अपितु दूसरों के अधिकार को अपना कर्तव्य मानें, क्योंकि यदि किसी के कर्तव्य को अपना अधिकार मानने लगें तो उसकी पूर्ति में राग और अपूर्ति में क्रोध उत्पन्न होगा। **क्रोध सभी दिव्य गुणों को भस्मीभूत कर देता है।** अतः क्रोध–रहित होने के लिये यह अनिवार्य हो जाता है कि हम किसी के कर्तव्य को अपना अधिकार न मानें।"

मानव सेवा संघ के ग्यारह नियमों में नवें नियम में अहं को अभिमान–शून्य बनाने को कहा गया है। इसके विपरीत यदि अहं में अभिमान भरा रहेगा तो ऐसी मानसिकता बन जाती है कि वह व्यक्ति अपेक्षा करता है कि जैसा वह चाहे, जैसा वह कहे वैसा ही हो। अपेक्षा या उसकी पसन्द के विपरीत कोई बात होती है तो वह

सहन नहीं कर पाता। इसे अपनी शान (मिथ्या अभिमान) के खिलाफ समझता है और क्रोध जागृत हो जाता है।

स्वामी शरणानन्द जी का कथन है कि "एक ही दोष स्थान भेद से भिन्न–भिन्न प्रकार का भासता है। सर्वांश में किसी भी दोष के मिट जाने पर सभी दोष मिट जाते हैं।"

किसी ने स्वामी जी से पूछा कि लोभ कैसे दूर हो, तो स्वामी जी ने बताया कि "लोभ अकेला नहीं आता, मोह के साथ ही आता है। फिर काम भी आता है, क्रोध भी। कोई दोष अकेला नहीं आता। समस्त दोषों का मूल है भूल। परिणाम है जड़ता, पराधीनता। **अपने ज्ञान का अनादर करना ही भूल है।**"

विचार किया जाय तो समझ में आता है कि सबसे बड़ा दोष है अहं में अभिमान का भरा होना। जब शरीर से हमारा तादात्म्य होता है अर्थात् मैं शरीर हूँ, तब देहाभिमान उपजता है ओर हम अपने में अनेक प्रकार की उपाधियाँ जोड़ लेते हैं। स्वामी जी के शब्दों में "देश, जाति, मत, सम्प्रदाय, पद, कुटुम्ब और कार्य–क्षेत्र के अनुरूप अनेक मान्यताओं से अपने को मिला लेते हैं, पर सभी मान्यताओं की भूमि केवल देह है।" यही तो देहाभिमान है और जब यह हमारे अहं में प्रवेश कर जाता है तब अहं अभिमान–शून्य होने के बजाय उल्टे अभिमान–पूर्ण हो जाता है। यही सब प्रकार के विकारों/दोषों, क्रोध आदि की जड़, स्रोत बन जाता है।

अतः क्रोध से मुक्ति के पाने के लिए अहं से अभिमान को निकालना ही होगा। यह तभी होगा जब हम देहाभिमान मिटा दें। यह सम्भव होगा जब हम देह से तादात्म्य तोड़ दें जिसका उपाय स्वामी जी ने बताया है "ज्ञान पूर्वक यह अनुभव करें कि मैं शरीर नहीं हूँ अथवा शरीर मेरा नहीं है।"

आगे उन्होंने यह भी कहा है कि "दूसरों को सहयोग देने से स्थूल शरीर से, इच्छा रहित होने से सूक्ष्म शरीर से और अप्रयत्न होने से कारण शरीर से असंगता प्राप्त होती है। तीनो शरीरों से असंगता प्राप्त होते ही देह से तादात्म्य का नाश हो जाता है।"

देहाभिमान रहित जीवन में क्रोध आदि किसी भी विकार के होने का प्रश्न् ही नहीं है। ■

साधन-सूत्र : 92

अचाह पद की महिमा

साधन–सूत्र संख्या–49 शीर्षक "क्या चाह और कामना के अभाव में निष्क्रियता आ जायेगी" में मानव सेवा संघ के दर्शन के प्रकाश में चर्चा हुई है कि चाह और कामना के अभाव में हमारे कर्तव्य–कर्म में कोई कमी या व्यवधान नहीं होगा, बल्कि चाह और कामना के त्याग के पश्चात् ही हम वास्तविक रूप में कर्तव्य–परायण होते हैं और हमारे कर्तव्य–कर्म सुन्दर ढंग से होते रहते हैं।

इससे पूर्व साधन–सूत्र–30 शीर्षक 'जीवन में अशान्ति क्यों' में यह चर्चा हो चुकी है कि ममता और कामना के रहते अशान्ति नहीं मिट सकती। अशान्ति किसी को अभीष्ट नहीं है। अतः इनका त्याग आवश्यक है। कामना और चाह तो पर्याय ही हैं।

'मानव की माँग' पुस्तक में स्वामी शरणानन्द जी ने 'चाह' शब्द का तात्पर्य और अचाहपद की महिमा समझाया है। उसी के कुछ अंश आगे उद्धरित हैं। उन्होंने कहा है कि–

"व्यक्ति, वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि के द्वारा सुख लेने की रूचि का ही दूसरा नाम चाह है।"

उसी संदर्भ में उन्होंने बताया है कि "प्रत्येक चाह की उत्पत्ति अविवेक सिद्ध है, अर्थात् निज–ज्ञान के अनादर से होती है। जब तक प्राणी 'यह' को 'मैं' स्वीकार नहीं करता तब तक चाह की उत्पत्ति नहीं होती। 'यह' को 'मैं' स्वीकार करना प्राप्त विवेक के अनादर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।"

मानव सेवा संघ की पुस्तक 'जीवन–दर्शन' में स्वामी जी ने इस तथ्य को विस्तार से इस प्रकार समझाया है–

"सभी साधनों का पर्यावसान (end result) अचाहपद में है। कारण कि अचाह होने पर ही अप्रयत्न और अप्रयत्न होने पर ही साध्य से अभिन्नता प्राप्त होती है जो जीवन का मुख्य उद्देश्य है।"

उन्हीं के शब्दों में "अब विचार करना है कि चाह की उत्पत्ति का हेतु क्या है।"

सो "रुचि और अरुचि रूपी भूमि में ही चाह रूपी दुर्वा (दूब घास) उत्पन्न होती

है। यदि रुचि–अरुचि का समूह न रहे तो चाह की उत्पत्ति के लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता, कारण कि रुचि–अरुचि के आधार पर ही सीमित अहं–भाव सुरक्षित रहता है। उसी से चाह की उत्पत्ति होती है। अतः सीमित अहं–भाव के रहते हुए अचाहपद की प्राप्ति सम्भव नहीं है।"

इसका अन्त कैसे हो–

".....इसके लिये रुचि–अरुचि का स्वरूप जानना ज़रूरी है। रुचि और अरुचि का संबंध 'स्व' और 'पर' से है। 'स्व' की विमुखता 'पर' की रुचि जाग्रत करती है और 'पर' की अरुचि 'स्व' की रुचि को सबल बनाती है। 'पर' की अरुचि निषेधात्मक रूप से 'स्व' में प्रतिष्ठित करता है और 'स्व' की रुचि विध्यात्मक रूप से 'पर' में अरुचि उत्पन्न करने में समर्थ है।"

उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि "अरुचि का अर्थ द्वेष नहीं है और रुचि का अर्थ राग नहीं है। .....रुचि–अरुचि के मिटते ही अचाह पद स्वतः प्राप्त हो जाता है।"

उन्होंने जीवन के विभिन्न पहलुओं को लेकर 'मानव की माँग' पुस्तक में यह स्पष्ट किया है कि क्या 'चाह' नहीं है–

"तत्व–जिज्ञासा को चाह नहीं कह सकते, क्योंकि उसकी पूर्ति किसी वस्तु आदि के द्वारा सम्भव नहीं है और प्रेम को भी चाह नहीं कह सकते, क्योंकि प्रेम का उदय ही तब होता है जब अचाहपद प्राप्त हो जाय, कारण कि जो कुछ भी चाहता है, वह प्रेम नहीं कर सकता। 'योग' को भी चाह नहीं कह सकते क्योंकि सब प्रकार की चाह तथा चिन्तन से रहित होने पर ही नित्य–योग सम्भव है। परिस्थिति का सदुपयोग चाह नहीं है, अपितु कर्तव्य–परायणता है।"

यदि जीवन में चाह रहती है तो क्या होता है–

"विवेक–युक्त जीवन मानव–जीवन है। उसमें चाह तथा व्यर्थ–चिन्तन के लिये कोई स्थान ही नहीं है, कारण कि इन दोनों बातों से न तो अपना कल्याण होता है और न सुन्दर समाज का निर्माण ही।"

आगे उन्होंने कहा कि "चाह तो प्राणी को आगे–पीछे के चिन्तन में आबद्ध करती है, किसी समस्या को हल नहीं करती। .....जो वस्तु कर्म से प्राप्त होती है वह केवल चाह तथा चिन्तन–मात्र से प्राप्त नहीं हो सकती। उसके लिये तो उद्योग–शील होना होगा। **प्रत्येक कर्म की सिद्धि प्राप्त परिस्थिति से होती है न कि अप्राप्त की चाह से।**"

अप्राप्त की चाह से क्या होता है? "अप्राप्त की चाह तो प्राणी को स्वार्थ–भाव तथा जड़ता में ही आबद्ध करती है। यह

नियम है कि ज्यों–ज्यों हम स्वार्थ–भाव तथा जड़ता में आबद्ध होते जाते हैं, त्यों–त्यों हम सीमित होकर विनाश की ओर गतिशील होते जाते हैं।"

अतः यह समझना आवश्यक है कि– "अपने तथा समाज के विकास के लिये यह अनिवार्य है कि स्वार्थ–भाव को सेवा–भाव में परिणत कर दिया जाय। यह तभी सम्भव होगा, जब प्राणी अचाहपद को प्राप्त कर प्राप्त बल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर करने में समर्थ हो।"

यह सब सुनने के बाद भी हम अचाह क्यों नहीं हो पाते? स्वामी जी ने कारण बताया कि "आज हमें विश्वास नहीं रहा कि वस्तु, अवस्था तथा परिस्थितियों से अतीत भी कोई जीवन है। इस प्रमाद का एक मात्र कारण है निज–ज्ञान का अनादर।"

अचाहपद की महिमा क्या है–

"अचाह होने से ही सर्व–हितकारी प्रवृत्ति उदय होती है, जो सुन्दर समाज का निर्माण करने में समर्थ है और अचाह होने से ही तत्व–जिज्ञासा की पूर्ति होती है। कारण कि चाह रहित होते ही जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है उसकी प्राप्ति और जिससे मानी हुई एकता है उसकी निवृत्ति स्वतः हो जाती है और फिर अमर जीवन प्राप्त होता है। अचाह होने से ही प्रीति उदय होती है, जो प्रेमास्पद को प्रेमी बनाने में समर्थ है, कारण कि **जो साधक भोग तथा मोक्ष नहीं चाहता, उसी को प्रेम प्राप्त होता है।** प्रेम प्राप्त होने पर प्रेमास्पद प्रेमी हो जाते हैं अथवा यों कहो कि प्रेमी और प्रेमास्पद में केवल प्रेम का ही आदान–प्रदान होता है।"

"प्रेम के बिना रस की वृद्धि नहीं होती, तत्व–साक्षात्कार के बिना अमरत्व प्राप्त नहीं होता और सर्व–हितकारी प्रवृत्ति के बिना सुन्दर समाज का निर्माण तथा विश्व–शान्ति नहीं होती। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि चाह–रहित होने में ही मानव–जीवन की सार्थकता सिद्ध हो सकती है जिसके करने में प्रत्येक भाई बहिन सर्वदा स्वाधीन है।"

ऊपर सारी चर्चा का सार–

"सेवा–भाव से उत्पन्न हुई क्रियाशीलता प्रेम को पुश्ट करती है और प्रेम सेवा को सजीव बनाता है। सेवा तथा प्रेम–युक्त जीवन से ही रुचि–अरुचि का अन्त होता है। रुचि–अरुचि का अन्त होते ही अहं भाव गल जाता है। अहं भाव के गलते ही सब प्रकार की चाह का अन्त हो जाता है।"

■

साधन-सूत्र : 93

जीवनोपयोगी संत–वचन (भाग–5)

परमपूज्य स्वामी शरणानन्द जी द्वारा प्रतिपादित मानव सेवा संघ का दर्शन ज्ञान का इतना वृहद् भण्डार है कि उसमें जितना ही पैठिये, साधन की दृष्टि से हम लोगों के लिये, बड़े ही मार्मिक, हृदय–स्पर्शी तथा गूढ़ परन्तु बहुत ही सरल मार्ग–दर्शक रूपी अनमोल वचन मिलते जाते हैं। साधन सम्बन्धी अनेक विषयों के बारे में इस पुस्तक में जो चर्चा हुई है, उन्हीं के क्रम में कुछ और भी नये सन्त–वचन इस साधन–सूत्र में प्रस्तुत हैं।

1. नीरसता– साधन–सूत्र–59 शीर्षक "मानव जीवन और नीरसता! ऐसा क्यों" में इस विषय की विस्तार से चर्चा हुई है। उसी क्रम में 'पाथेय' पुस्तक से सन्त–वचन उद्धरित है:–

"दबी हुई नीरसता का अन्त मधुर स्मृति से ही हो सकता है, ऐसा मेरा विश्वास है। .....प्रभु–विश्वास तथा प्रभु–सम्बन्ध ही अभाव का अभाव तथा नीरसता के अन्त में समर्थ है। यद्यपि संसार के सम्बन्ध त्याग से भी मानव अभय तथा स्वाधीन होता है, प्रभु–विश्वास के द्वारा एक अनुपम अनन्त रस की अभिव्यक्ति होती है, जिसे पाकर और कुछ पाना शेष नहीं रहता। यद्यपि निर्भयता तथा स्वाधीनता में भी रस है, जीवन है, परन्तु आत्मीयता से अभिव्यक्त अखण्ड स्मृति एवं अगाध प्रियता में रस का वारापार नहीं है।"

2. राग– राग क्या है और उसकी उत्पत्ति कैसे होती है इसका विवेचन इस पुस्तक के साधन–सूत्र–45 शीर्षक "मानव–जीवन का अभिशाप: राग–द्वेष" में हुआ है। राग होता क्यों है इसको स्वामी जी ने एक अन्य प्रकार से एक प्रश्नोत्तर में समझाया है।

प्रश्न– राग क्यों होता है?

उत्तर– सुख से राग का जन्म होता है। यदि विषयों में सुख न मालूम पड़े तो राग नहीं हो सकता। अपने को शरीर समझने से ज्ञान की कमी होती है। ज्ञान की कमी से अविचार, अविचार से विषयों में सुख–भाव मालूम होता है। विषयों में सुख–भाव मालूम

पड़ने से राग होता है। अतः सुख से राग का जन्म है।

3. स्वामी जी से किसी ने पूछा कि मोह का नाश कैसे हो? उससे पहले यह प्रश्न् उठता है कि वास्तव में मोह है क्या? शब्द–कोष में जो अर्थ दिया है, उसके अनुसार संसार के बारे में मानी हुई सत्यता से उत्पन्न भ्रम के परिणाम स्वरूप वस्तुओं व्यक्तियों के प्रति ममता जनित राग एवं आसक्ति। [Bewilderment due to delusion; esp. as to the supposed reality of the world and consequential attachments and infatuation for objects(वस्तु) and persons(व्यक्ति)]

तात्पर्य प्रतीत होता है कि 'मोह' एक व्यापक अर्थ का शब्द है जिसमें अज्ञान भी है, ममता भी है और राग तथा आसक्ति भी है।

'संत–सौरभ' पुस्तक में स्वामी जी ने एक प्रश्नोत्तर में कहा है–

"जो पुत्र और पति आदि में प्रियता होती है वह प्रेम नहीं है, मोह है। उसी को राग और आसक्ति भी कहते है। प्रेम और मोह में बड़ा अन्तर है। जिसमें मोह होता है, जो मोह के कारण प्रिय लगता है, उसमें स्वार्थ भाव रहता है। उसमें एक दूसरे से किसी प्रकार का सुख लेने की चाह रखता है।"

ऐसे ही एक और प्रश्न् कि मोह और प्रेम में क्या भेद है, स्वामी जी ने कहा है–"मोह का सम्बंध शरीर से होता है, प्रेम का सम्बन्ध आत्मा और परमात्मा से होता है। मोह से तो मनुष्य वियोग काल में दुःखी होता है, किन्तु प्रेम वियोग काल में अधिक चमकता है। मोह फंसाने वाला है, प्रेम सब प्रकार के बन्धनों को छुड़ाने वाला है।"

इसके आगे उस प्रश्न् 'मोह निवृत्ति का उपाय बताइये' का स्वामी जी का उत्तर उद्धरित है–

"मोह निवृत्ति कई प्रकार से होती है–

1. आस्था के आधार पर–केवल प्रभु मेरे अपने हैं।
2. ज्ञान के आधार पर–आसक्ति छोड़ने से।
3. सेवा के आधार पर–सेवा करें कुछ न चाहें।

जो उपाय आप कर सकते हैं, करें। वह सब कुछ छुटा देते हैं।"

4. हमने संत–वाणी में पढ़ा, सुना कि (1) मै कुछ नहीं हूँ (2) मेरा कुछ नहीं है (3) मुझे कुछ नहीं चाहिये (4) केवल प्रभु ही मेरे अपने है और (5) सब कुछ प्रभु का है।

इनमें से पहला छोड़कर बाकी चार समझ में आता है और अनुभव में भी आ जाता है। पर पहला, संत–वाणी में सुनकर मान तो लिया पर समझ में और अनुभव में नहीं आता क्योंकि सुन रखा है कि मैं आत्मा हूँ, मैं जीव हूँ– शरीर संसार से अलग दृष्टा हूँ, तो फिर यह कैसे कि 'मैं कुछ नहीं हूँ।' साधन–सूत्र–36 शीर्षक 'मैं हूँ क्या?' में स्वामी जी का वचन है कि "मानव सेवा संघ के दर्शन के अनुसार 'मैं' कामना, जिज्ञासा और लालसा का पुंज है।"

इसका तात्पर्य हुआ कि कामना की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति और लालसा की प्राप्ति के पश्चात्, 'मैं' जैसी वस्तु शेष रही ही नहीं।

इसके बावजूद इसकी स्वीकृति नहीं बन पाती क्योंकि हमने यह भी सुन रखा है कि मैं उस नित्य, अविनाशी, सर्वव्यापी का अंश हूँ। उसका अंश इसलिये कि उसकी सत्ता के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। अंशी होने के बावजूद यह कैसे समझा जाय कि मैं कुछ नहीं हूँ।

वैसे देखा जाय तो मात्र मानने से भी साधन की दृष्टि से काम चल जाता है। संत की पचीसवीं पुण्य तिथि के अवसर पर मानव सेवा संघ द्वारा प्रकाशित जीवन–दर्शन पत्रिका के 'संत–स्मृति' अंक में देवकी बहिन जी का लेख 'मैं कुछ नहीं हूँ' पढ़ने को मिला। उस में उन्होंने लिखा है–

"हम को यह सृष्टि दिखाई दे रही है तो इसका बनाने वाला कोई है, इसका आधार कोई है और इसका प्रकाशक कोई है। बनाया किसी और ने, आधारित उसी पर है, उसी के प्रकाश से प्रकाशित है। तो तत्व हो गया 'वह', और उसकी अभिव्यक्ति हो गई 'यह'–यह कहा महाराज जी ने।

आगे उन्होंने (देवकी बहिन जी) कहा है–

"नित्य–तत्व 'वह' है जिसके आधार पर सृष्टि बनी है और सबका प्रकाशक 'वह' है जिसके प्रकाश से यह सृष्टि हमें दिखाई दे रही है। तो देखिये 'वह' हो गया और 'यह' हो गया। फिर 'मैं' क्या रहा?"

यहीं पर आकर गाड़ी अटक जाती है। 'वह' के प्रकाश में 'यह' को देखने वाला जो है, वहीं तो 'मैं' हूँ, नहीं तो देख कौन रहा है? वही परमात्मा का अंशी 'मैं'! पर इस झमेले में न पड़कर देवकी जी का आगे कथन मान लिया जाय, स्वीकार कर लिया जाय–

"न मेरी कोई हस्ती इस सृष्टि में मालूम होती है और न मेरी कोई हस्ती सृष्टि कर्त्ता में मालूम होती है। ये दोनों मुझ से स्वतन्त्र हैं, इस दृष्टि से अगर देखा

जाय तो वस्तुतः मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिये–इतना जिसके जीवन में अनुभव में आ जायेगा, वह यह भी अनुभव कर लेगा कि 'मै कुछ नहीं हूँ'।'' Let us hope we do.

5. साधन–सूत्र–78 शीर्षक ''प्रभु विश्वास और अहं का अभिमान!'' में प्रभु–विश्वास के संदर्भ में अहं के अभिमान की चर्चा हुई है। उसमें मुख्य रूप से यह बात आई है कि साधन–पथ में असमर्थता की पीड़ा, वेदना से अहं का अभिमान गलता है। विवेक के आदर से भी अभिमान गलता है क्योंकि विवेक के प्रकाश में हमें एहसास होता है कि मेरा करके कुछ नहीं है। बुद्धि–बल, शरीर–बल, धन–बल सब कुछ प्रभु का ही दिया हुआ हैं। फिर अहं के पोषित होने का प्रश्न् ही कहाँ है?

अहं के नाश के संबंध में स्वामी जी के दो प्रश्नोत्तर आगे प्रस्तुत हैं जो इस विषय पर और प्रकाश डालते है–

(i) **प्रश्न्**– अहं का नाश कैसे होता है?

उत्तर– अहं का तब तक नाश नहीं होता जब तक योग, बोध, प्रेम प्राप्त न हो जाय। अहं ऐसा अणु है जिसमें सब कुछ है। उसमें 'यह' भी है और 'है' भी। यह से सम्बंधित सभी विकृतियाँ अहं में हैं और 'है' की दिव्यता भी अहं में है।

नोट : इसका अर्थ तो यही हुआ कि विकृतियों का नाश हो जाय तो दिव्यता ही दिव्यता शेष रही।

(ii) **प्रश्न्**– अहं के नाश का क्या उपाय है?

उत्तर– अपने जाने हुए असत् के संग का त्याग करने से एवं अपने को भगवान के समर्पित करने से अहं का नाश हो जाता है।

नोटः दोनों उत्तर का तात्पर्य तो एक ही है– जीवन में विकृतियाँ और जाने हुए असत् का संग तत्वतः एक ही बात तो है।

6. आजकल 'ध्यान' (Meditation) पर बहुत ज़ोर है, और ठीक भी है। इस विषय की विस्तृत चर्चा साधन–सूत्र–70 शीर्षक 'योग और ध्यान का अर्थ और स्वरूप' में हुई है। मुख्य बात यह है कि प्रचलन में 'ध्यान' कराया जाता है –किया जाता है। किसका ध्यान करते हैं यह तो वे ही लोग बता सकते हैं जो ध्यान करते हैं। मानव सेवा संघ के दर्शन के अनुसार ध्यान किया नहीं जाता, अपने आप होता है जिसकी हम आवश्यकता अनुभव करते हैं और जिसको अपना मानते हैं। इसलिये हमें यह स्पष्ट होना है कि हमारा ध्येय क्या है।

किसी ने इसी विषय को लेकर स्वामी जी से प्रश्न् किया। प्रश्न् और उसका उत्तर आगे देखा जाय–

प्रश्न्– ध्यान किस प्रकार हो सकता है?

उत्तर– ध्येय के ज्ञान के बिना किसी प्रकार का ध्यान नहीं हो सकता। क्योंकि जिसका ज्ञान नहीं होता उसका ध्यान नहीं हो सकता। ज्ञान से संसार के बन्धन टूट जाते हैं और ध्यान से आनन्द की अनुभूति हो जाती है। बन्धन टूटते ही संसार की वासनाओं का त्याग हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान होने पर ध्यान स्वतः हो जाता है।

7. पिछले साधन–सूत्रों में इस सत्य की चर्चा अनेक बार हुई है कि हमारा जीवन जन्म से मृत्यु तक की समय अवधि नहीं है बल्कि वह नित्य, अविनाशी, रसरूप तत्व है। यह स्वाभाविक प्रश्न् होता है कि उस जीवन के लक्षण क्या हैं।

इसी आशय का स्वामी जी से किसी ने प्रश्न् किया। प्रश्न् और उत्तर नीचे उद्धरित है–

प्रश्न्– जीवन किसे कहते हैं और उसकी प्राप्ति के क्या उपाय हैं?

उत्तर– जीवन उसे कहते हैं जिसमें अभाव न हो, पराधीनता न हो और नीरसता न हो, जिसमें चेतना हो और जो प्रेम से भरपूर हो। ऐसा जीवन सभी भाई बहिन को विश्राम के द्वारा वर्तमान में मिल सकता है।

अन्यत्र स्वामी जी ने कहा है कि– "वे ही एक मात्र अपने हैं और सब उन्हीं का है। **उनकी मधुर स्मृति तथा अगाध प्रियता ही प्रभु–विश्वासी का जीवन है।**"

'संत–सौरभ' पुस्तक में स्वामी जी का इसी प्रकार का वचन पढ़ने को मिला। नीचे वही उद्धरित है–

"साधक के लिये सबसे अच्छा जीवन वही है जब हृदय में निरन्तर प्रेम की गंगा लहराती रहे। अहं अभिमान से सर्वथा शून्य हो। किसी प्रकार की चाह का उदय न हो, शरीर विश्व के काम आता रहे और जीवन सब प्रकार से पूर्ण और अनन्त हो।"

दूसरे शब्दों में जीवन की पूर्णता सेवा, त्याग, प्रेम में है और वही मानव का स्वरूप है।

8. ईश्वर को जानने और मानने के प्रश्न् को लेकर साधन–सूत्र–44 शीर्षक "क्या ईश्वर केवल माना ही जा सकता है, जाना नहीं जा सकता" में स्वामी शरणानन्द जी की कही हुई बात का उल्लेख है कि "ईश्वर को माना ही जा सकता है। वह इन्द्रिय–गोचर नहीं है, 'स्व' के द्वारा उसका अनुभव होता है।"

मानव सेवा संघ की पुस्तक 'सन्त–समागम' भाग–1 के पृष्ठ संख्या 98

पर स्वामी जी का एक प्रश्नोत्तर छपा है। उसमें स्वामी जी का कथन है कि–

"परमात्मा का मानना अथवा न मानना एक ही अर्थ रखता है, जब तक कि परमात्मा को जाना न जाय। अतः परमात्मा को जानना चाहिये।"

इससे भ्रम उत्पन्न होता है कि लेखक के प्रश्न् का स्वामी जी का जो उत्तर साधन–सूत्र–44 में अंकित है, वह कदाचित वैसा न हो, लेखक को उत्तर ठीक से याद न रहा हो और भूलवश वैसा ही लिख दिया हो।

पर मानव सेवा संघ की पत्रिका जीवन दर्शन के अंक संख्या 9 वर्ष 47 में 'साधकों को उद्‌बोधन' शीर्षक के अन्तर्गत स्वामी जी का एक प्रश्नोत्तर है –

प्रश्न्– परमात्मा को जानना चाहिये या मानना चाहिये?

उत्तर– परमात्मा माना जाता है, जाना नहीं जाता। माना हुआ परमात्मा माना हुआ नहीं रहता वह प्राप्त हो जाता है। जो बात आपके वश की न हो, तो भगवान से माँग लो, वे देंगे। हमने सुना है, माना है कि भगवान परम उदार हैं, परम स्वतन्त्र हैं, वे परम प्रेम की निधि हैं।....."

प्रथम्–दृष्टया इसमें और 'संत–समागम' पुस्तक में ऊपर वर्णित प्रश्नोत्तर में विरोधाभास प्रतीत होता है। परन्तु गहराई से समझा जाय, सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि दोनों में एक ही बात कही गई है। अन्तर केवल यह है कि 'संत–समागम' में जो शब्द 'जानना' आया है उसका अर्थ हैं ईश्वर की विभूतियों से परिचित होना और 'जीवन–दर्शन' पत्रिका में जो शब्द 'जाना नहीं जाता है' उसका तात्पर्य है कि वह इन्द्रिय–ज्ञान से परे है। जब उन्हें मानकर और उनकी विभूतियों से परिचित होकर चलें तो वे अपने को जना भी देते हैं अर्थात् 'स्व' को उनकी विद्यमानता की अनुभूति होती है।

यह आगे की चर्चा से और स्पष्ट हो जायेगा। 'संत–समागम' वाले प्रश्नोत्तर में आगे कथन है कि.....

"मानना तो जानने का एक साधन–मात्र है। साधन साध्य की अनुभूति में विलीन हो जाता है। अतः न मानने से साधन में कठिनता होगी"।

दोनों कथनों में जो विरोध प्रतीत होता है, उसका रहस्य स्वामी जी के उस कथन में है– "साधन, साध्य की अनुभूति में विलीन हो जाता है।" यदि हम ईश्वर को मान तो लें, कि हाँ एक परम सत्ता है, परन्तु

उनके प्रति आत्मीयता न माने, उनसे सम्बंध न जोड़ें, उनके प्रेम की लालसा न जागृत हो, तो ऐसा मानने का कोई अर्थ ही नहीं हुआ।

मानने का अर्थ तो यह है कि यह भी मानें कि वह अतिशय दयालु, अहैतुकी कृपा करने वाले और दया करने में कभी आलस्य न करने वाले हैं। वह सर्वत्र, सदैव, सबके, सामर्थ्यवान और अद्वितीय हैं और हमें अपना करके जानते और मानते भी हैं। पूर्ण आस्था, श्रद्धा और विश्वास हम में उनके प्रति आ जाय, तभी तो उन्हें मानने की कोई सार्थकता है। अतः 'संत–समागम' पुस्तक में उन्होंने जो कहा है उसका तात्पर्य तो यही हुआ कि हम **प्रभु को माने पर साथ साथ उनकी विभूतियों को जाने भी तो, तभी उनकी प्राप्ति की लालसा को लेकर जब साधन–निर्माण में लगेंगे तब, "साधन, साध्य की अनुभूति में विलीन हो जाता है" ऐसा होगा।**

इस सारी चर्चा का सार, 'सन्त–सौरभ' पुस्तक के पृष्ठ–117 पर स्वामी जी के शब्दों में इस प्रकार है–

"ईश्वर को मानना एक चीज़ है और उसके अनुसार अपना जीवन बना लेना दूसरी चीज़ है। केवल ईश्वर को मान लें, परन्तु उनके साथ अपनत्व और प्रेम न हो तो जीवन नहीं बदलता"।

9. मानव सेवा संघ के दर्शन के अनुसार निर्दोष–जीवन में ही साधन की अभिव्यक्ति होती है जो साधक को साध्य से मिलाती है। अतः अपने जीवन में निर्दोषता–निर्मलता की स्थापना अनिवार्य है। इसके लिये अपने जाने हुए दोषों को मिटाना है। निर्दोषता के लिय आवश्यक है कि दोषों की उत्पत्ति न हो और गुणों का अभिमान भी न हों क्योंकि गुणों का अभिमान स्वयं में बहुत बड़ा दोष है।

मानव सेवा संघ के ग्यारह जीवनोपयोगी नियमों में पाँचवा नियम है "दूसरों के कर्तव्य को अपना अधिकार **दूसरों की उदारता को अपना गुण**, दूसरों की निर्बलता को अपना बल न मानना" इस वाक्यांश का तात्पर्य संत–समागम पुस्तक भाग–2 के निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है–

"जब प्राणी अपनी दृष्टि में अपने को आदर के योग्य नहीं पाता, परन्तु फिर भी अन्य प्राणियों से आदर की इच्छा करता है, अनायास मिले हुए आदर को, जो किसी सज्जन की सज्जनता है, अपना आदर मान लेता है तथा अनादर–युक्त जीवन से घोर

दुःखी न होता है तो यह उसकी परम भूल है। ऐसी भूल से दोष मिटाने की शक्ति नहीं रहती, अर्थात् उन्नति रुक जाती है, क्योंकि जब प्राणी अनायास मिले हुए आदर को मिथ्या ही अपना आदर मान लेता है, अर्थात् **दूसरों की सज्जनता को अपना गुण समझने लगता है तो ऐसी अवस्था में उसकी अपनी दृष्टि से अपने दोष देखने की शक्ति मिटने लगती है।**..... परन्तु उन्नतिशील प्राणी दूसरों की सज्जनता को अपना गुण नहीं मानता, अर्थात् दूसरों के अनायास दिये हुए आदर को अपना आदर नहीं मानता, प्रत्युत दूसरों की सज्जनता समझता है। ऐसी अवस्था में अपनी दृष्टि से अपने दोष देखने की योग्यता आ जाती है। ज्यों–ज्यों अपने बनाए हुए दोष देखने की शक्ति प्रबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों–त्यों दोषी के दोष स्वतः व्याकुलता की अग्नि में जलते जाते है, क्योंकि अपने पतित होने का ज्ञान असह्यय वेदना उत्पन्न करता है। यह भली प्रकार समझ लो कि **असह्यय वेदना निर्दोषता का मूल साधन है।**....."

10. पिछले साधन–सूत्रों में यह चर्चा हो चुकी है कि जब तक हम ममता और कामना का त्याग नहीं करेंगे अथवा अकिंचन, अचाह नहीं होंगे तब तक निर्भय, निश्चिन्त नहीं हो सकते। इसी संबंध में किसी का प्रश्न् और स्वामी जी का उत्तर आगे देखा जाय–

प्रश्न्– निश्चिन्तता कैसे आती है?

उत्तर–(1) सभी को परमात्मा को सौंपने से (अपने सहित)

(2) सभी के प्रति सद्भाव रखने से (कोई और नहीं कोई ग़ैर नहीं)

(3) अकिंचन, अचाह, अप्रयत्न होकर अपने प्रियतम को अपने में स्वीकार करने से जीवन में पूर्णता आ जावेगी।

इतना कर लो फिर निश्चिन्तता भी आ जावेगी।

11. साधन–सूत्र–59 शीर्षक–"मानव जीवन और नीरसता! ऐसा क्यों" में इसके कारणों की तथा रस कहाँ और उसकी प्राप्ति कैसे होती है, की चर्चा हुई। 'मानव की माँग' पुस्तक में स्वामी शरणानन्द जी के द्वारा रस के सम्बन्ध में बड़ी सुन्दर व्याख्या पढ़ने को मिली जो आगे उद्धरित है:–

"अब कोई कहे कि क्या भक्ति और मुक्ति अलग–अलग है? तो कहना होगा कि तत्व रूप से दोनों एक हैं, पर दोनों के रस में भेद है। मुक्ति में अखण्ड–एक–रस और भक्ति में अखण्ड–अनन्त–रस है। क्योंकि **मुक्ति तत्व–जिज्ञासा की पूर्ति से** और **भक्ति प्रीति के उदय से होती है।**

यह नियम है कि प्रीति का उदय तो होता है, किन्तु पूर्ति नहीं होती। इस कारण **प्रीति का रस अनन्त है, नित नव है।** और तत्व–जिज्ञासा की पूर्ति होती है, इस कारण **मुक्ति का रस, अखण्ड एक रस है।** पर यह नियम है कि तत्व–जिज्ञासा की पूर्ति के बिना प्रीति का उदय ही नहीं होता। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि **भोग–इच्छा की निवृत्ति और जिज्ञासा की पूर्ति, प्रेम प्राप्ति के लिये अनिवार्य है।**"

आगे माने हुए सम्बन्धों का त्याग हो जाने पर, जो प्रवृत्ति हमसे स्वतः होने लगती है, उसमें भी रस बताते हुए , स्वामी जी का कथन है:–

".....रस एक मात्र प्रीति में ही है, किसी प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति में नहीं। प्रीति रहित प्रवृत्ति आसक्ति बन सकती है, रस प्रदान नहीं कर सकती और प्रीति रहित निवृत्ति जड़ता है अभाव को सिद्ध कर सकती है, रस प्रदान नहीं कर सकती। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्रीति के बिना प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति निरर्थक ही है।....."

इस तर्क का कि रस तो सुख भोग में होता है, उन्होंने इस प्रकार उत्तर दिया है–

".....कहना होगा कि सुख–भोग का रस नीरसता, जड़ता तथा शक्तिहीनता आदि दोषों में बदल जाता है और उसका आरम्भ भी किसी नीरसता तथा अभाव में ही होता है। जिसका आरम्भ अभाव, जड़ता तथा पराधीनता से होता है और जिसके अन्त में भी अभाव, जड़ता तथा पराधीनता है, केवल मध्य में रस की प्रतीती है, **वह वास्तव में रस नहीं है, रस का भास है। यदि वास्तव में रस होता तो सुख–भोग का अन्त नीरसता में न होता।**..... पर इच्छा निवृत्ति से जो रस मिलता है, वह पराधीनता को स्वाधीनता में और परिवर्तन को अपरिवर्तन अर्थात् नित्यता में बदल देता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है, कि **इच्छाओं की निवृत्ति में जो रस है, वह अखण्ड एक रस है। इसी को अमर जीवन तथा मुक्ति कहते हैं।** यह सभी का अनुभव है कि भोग–प्रवृत्ति से तो भोगने की शक्ति का ह्रास ही होता है, कुछ प्राप्त नहीं होता। पर भोग–प्रवृत्ति से रहित होने पर शक्ति–संचय ही होती है, ह्रास नहीं। इसी कारण सुख–भोग की वासनाओं से रहित होते ही साधक स्वाधीनता और पूर्णता अनुभव करता है, जो अखण्ड एक रस है।"

■

साधन-सूत्र : 94

अभिमान है क्या, क्यों होता है, उसका कुपरिणाम?

मानव सेवा संघ के जीवनोपयोगी ग्यारह नियमों में नवाँ नियम है–'शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी तथा अहं को अभिमान शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।' मानव सेवा संघ की पुस्तक 'परिचय और व्याख्या' में स्वामी शरणानन्द जी ने कहा है–

"हृदय अनुराग से भर जाने पर अहम् अभिमान शून्य हो जाता है, अभिमान शून्य होते ही परिच्छिन्नता मिट जाती है और परिच्छिन्नता मिटते ही अनन्त नित्य जीवन से अभिन्नता हो जाती है, यही जीवन का परम लक्ष्य है।"

'मानव की माँग' पुस्तक में स्वामी जी ने सत्ताइसवें प्रवचन में इसी को एक अन्य ढंग से समझाया है–

"संकल्पपूर्ति का सुख मिटते ही निर्विकल्पता आ जाती है। मन के निर्विकल्प होने पर स्वतः विचार का उदय होता है और फिर बुद्धि विवेकवती हो जाती है। विवेकवती बुद्धि वासनाओं को मिटाने में समर्थ है। वासनाओं के मिटते ही हृदय अनुरागी हो जाता है। यह नियम है कि अनुराग अहं भाव को अभिमान शून्य कर देता है, क्योंकि अनुराग का प्रादुर्भाव होते ही किसी प्रकार की चाह शेष नहीं रहती। अचाह हो जाने पर अहं भाव स्वतः गल जाता है.....।"

पर अभिमान है क्या? उसका स्वरूप क्या है? उसकी उत्पत्ति कैसे होती है? साधन–सूत्र–78 शीर्षक "प्रभु–विश्वास और अहं का अभिमान!!" में देवकी बहिन जी द्वारा की गई जो व्याख्या है, उससे प्रभु–विश्वास, प्रभु–प्रेम के प्रकरण में अहं का अभिमान का स्वरूप स्पष्ट होता है।

'संत–सौरभ' पुस्तक में स्वामी जी ने 'अभिमान' की विस्तार से व्याख्या किया है। उसी से आगे उद्धरण प्रस्तुत है। सर्व प्रथम उन्होंने यह बताया है कि 'अभिमान' होता क्या है–

"चित्त की अशुद्धि के अनेक कारण होते है और उसकी शुद्धि के उपाय भी अनेक हैं। उनमें से एक प्रधान कारण अभिमान भी है। **अभिमान उसे कहते हैं, जिससे**

मनुष्य किसी प्रकार के गुण के साथ अपनी एकता करके अपने को दूसरों की अपेक्षा श्रेष्ठ मानने लगता है।"

इसका परिणाम क्या होता है–

"इस अभिमान के कारण मनुष्य जिनमें उस गुण का अभाव या कमी देखता है, उनको तुच्छ समझ कर उनसे घृणा करने लगता है और जिनमें अपने से अधिक देखता है, उनसे ईर्ष्या करने लगता है। इस प्रकार घृणा और ईर्ष्या के कारण उसका चित्त अशुद्ध हो जाता है।"

जब चित्त अशुद्ध रहेगा तब साधन–निर्माण कैसे होगा? स्वामी जी ने आगे कहा है:– "**गुण के अभिमान से मनुष्य को अपने दोषों का दर्शन नहीं होता।** अतः वह उसे हटा नहीं सकता। **गुणों का अभिमान स्वयं ही एक बड़ा भारी दोष है।** उसके रहते हुए दूसरे दोषों का नाश कैसे किया जा सके। संतो का कहना है कि अभिमानी योगी से पश्चाताप् करने वाला पापी अच्छा है, क्योंकि अच्छाई का अभिमान ही बुराई का मूल है।"

नोटः–यहाँ गुण को व्यापक अर्थ में लिया जाय। किसी को अभिमान होता है कि मैं बड़ा चरित्रवान हूँ, किसी को कि मैं बड़ा ज्ञानी हूँ, किसी को कि मैं बड़ा बलवान हूँ, किसी को यह कि मैं बड़ा बुद्धिमान हूँ, समर्थ हूँ आदि।

इस प्रकार के अभिमान का विश्लेषण स्वामी जी ने इस तरह किया है:– "जो मनुष्य यह समझता है कि मैं सत्यवादी हूँ, उसमें कहीं न कहीं झूठ छिपा हुआ है। यदि वह सचमुच सत्यवादी हो तो उसे यह भास ही नहीं होना चाहिये कि मैं सत्यवादी हूँ। अपितु सत्य बोलना उसका जीवन बन जाना चाहिये। **जो गुण साधक का जीवन बन जाता है, उसमें साधक का अभिमान नहीं होता।** वह उसके कारण अपने में किसी प्रकार की विशेषता का अनुभव नहीं करता। जब तक किसी गुण का गुणबुद्धि से भास होता है उसमें रस का अनुभव होता रहता है, तब तक मनुष्य में अनेक प्रकार के दोषों की उत्पत्ति होती रहती है। **अतः गुण के अभिमान से चित्त अशुद्ध होता रहता है।"**

इसके फलस्वरूप क्या होता है:– "गुण के अभिमान से भेद बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। जो समझता है कि मैं ईश्वर को मानता हूँ, आस्तिक हूँ, और अमुक आदमी ईश्वर और धर्म को नहीं मानता, वह नास्तिक है। इस भेद–भाव के कारण जिसकी ईश्वर को न मानने वाले में तुच्छ बुद्धि, द्वेष हो जाता है, वह उससे प्रेम नहीं कर सकता।

बिना प्रेम के एकता नहीं होती। **परन्तु जो सच्चा आस्तिक होता है, उसको किसी से भी घृणा या द्वेष नहीं होता। वह तो सब में अपने प्रेमास्पद का दर्शन करता है।** अतः सबसे प्रेम करता है। अपने में साम्यवादीपन का अभिमान रखने वाला यदि उनसे द्वेष करता है जो साम्यवादी नहीं हैं, तो वह द्वेष करने वाला क्या सच्चा साम्यवादी है? क्या उसमें समता है?"

"इसी प्रकार हर एक गुण के अभिमान को समझ लेना चाहिये। गुण के अभिमानी में गुण की पूर्णता नहीं होती। **जिसमें गुण की पूर्णता होती है, उसमें अभिमान नहीं होता–यह उसकी कसौटी है।**"

यदि कोई गुण का अभिमानी है तो उसकी स्वयं की क्या हानि होती है, आगे स्पष्ट होगा–

"गुण के अभिमानी को दूसरे में दोष ही दोष प्रतीत होते हैं। इस कारण वह अपने दोषों की ओर नहीं देखता। उसमें गुण के अभिमान के कारण (अपने ही) दोषों की पुष्टि होती चली जाती है। अतः साधक को चाहिये कि अपने दोषों का निरीक्षण करके उनका त्याग करे एवं पुनः उनको उत्पन्न न होने दे तथा गुणों के अभिमान को दूसरे दोषों से भी बढ़कर दोष समझ कर उसको कभी उत्पन्न न होने दे।"

"जो साधक गुणों में अभिमान नहीं करता, उनका रस लेकर उनमें बँधता नहीं और दोषों को उत्पन्न नहीं होने देता, उसका चित्त शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है।"

इसी क्रम में कर्म ओर मान्यता में भेद रहते हुए भी स्नेह की एकता पर बल देते हुए और उसकी व्याख्या करते हुए स्वामी जी ने कहा है कि– "अभिमान अधिकार की लालसा जाग्रत करता है। उससे वासनाएँ उत्पन्न होती हैं, जो परतन्त्रता की मूल है।"

आगे यह दोहराते हुए कि श्रेष्ठ गुणों का अभिमान भी चित्त की अशुद्धि का कारण है, उन्होंने मनुष्य जीवन में कर्तव्य–परायणता और संयम का महत्व और उसका स्वरूप समझाते हुए सचेत किया है कि–

".....साधक को यह अभिमान नहीं होना चाहिये कि मैं कर्तव्य–परायण हूँ या मैं संयमी हूँ क्योंकि गुण का अभिमान होने से वह गुण दोष में बदल जाता है। उसमें वास्तविकता नहीं रहती, दिखावा रह जाता है अर्थात् वह दम्भाचार का रूप धारण कर लेता है।"

इसी प्रसंग में स्वामी जी ने साधक के वास्तविक स्वरूप को इस प्रकार बताया है– "साधक वही है जिसका हर एक गुण जीवन

बन जाता है और किसी भी गुण में जिसका अभिमान नहीं होता तथा जो गुणों का आचरण किसी लालच या भय से नही करता, क्योंकि आदर–सम्मान के लालच से या अनादर के भय से किया हुआ आचरण सच्चा आचरण नहीं होता। अतः वह चित्त को शुद्ध नहीं होने देता।"

पुनः जीवन में सादगी की चर्चा करते हुए कहा है कि– ".....परन्तु भीतर चित्त में उसकी वासना है या उनके त्याग का अभिमान है, उस सादगी से उनका चित्त शुद्ध नहीं होता। उससे तो अपने में त्याग का अभिमान और दूसरों से घृणा उत्पन्न हो जाने के कारण चित्त अशुद्ध रहता है।"

अतः साधक को क्या करना चाहियेः– ".....चित्त की शुद्धि के लिये साधन करने वाले साधक को चाहिये कि साधन का अभिमान न करे और उसमें किसी प्रकार का दिखावापन न आने दे। .....दूसरे के दोषों को देखना, अपने में गुणों का अभिमान होना और उन गुणों का प्रदर्शन करना तथा अवगुणों को छिपाना, ये सभी चित्त की अशुद्धि के कारण हैं।" ■

"सीमित प्रेम ही तो मोह है जो अनेक प्रकार की आसक्तियाँ और संघर्ष उत्पन्न करता है। जब तक प्रेम असीम नहीं होता, तब तक सीमित अहं–भाव का नाश नहीं होता अर्थात् निरभिमानता नहीं आती, जब तक निरभिमानता नहीं आती, तब तक भेद का अन्त नहीं होता तथा जब तक भेद का अन्त नहीं होता, तब तक न तो चिर–शान्ति मिल सकती है न निर्भयता और न दिव्य–चिन्मय प्रेम ही मिल सकता है।"

"अतः आसक्तियों का अन्त करने के लिये सीमित प्यार का अन्त करना अनिवार्य है। जब तक प्रेम अनन्त नहीं हो जाता, तब तक मोह तथा अभिमान का अन्त नहीं होता और निर्मोहता तथा निरभिमानता के बिना न तो वास्तविक जीवन से अभिन्नता होती है और न प्रेम का उदय ही होता है। मोह तथा अभिमान का अन्त करने के लिये वर्तमान के सदुपयोग द्वारा जिज्ञासा की जागृति अनिवार्य है, क्योंकि जिज्ञासा की पूर्ति में ही जीवन निहित है और जीवन की प्राप्ति में ही मोह तथा अभिमान का अन्त है।"

साधन-सूत्र : 95

जीते जी मर जाय, अमर हो जावे

इसी विषय से मिलता जुलता साधन–सूत्र–7 शीर्षक "जीते जी अमर हो जाये" इस पुस्तक में पहले से ही है। इस विषय (जो इस पुस्तक के प्रथम और द्वितीय संस्करण में विद्यमान था) को लेकर कुछ पाठकों में एक भ्रम जान पड़ा। तृतीय संस्करण में उक्त साधन–सूत्र के नीचे 'बाक्स' में स्वामी शरणानन्द जी के सद्गुरु का स्वरचित दोहा का उल्लेख है–

जीते जी मर जाय, अमर हो जावे।
दिल देवे, सो दिलवर को पावे।।

यद्यपि साधन–सूत्र–7 में अंकित 'मरने से पहले जीते जी मर जाना चाहिये' स्वतः स्पष्ट है कि इस कथन का तात्पर्य क्या है क्योंकि उसी में आगे कहा गया है कि "अर्थात जीवन तथा मृत्यु के स्वरूप में भेद मिटा देना चाहिये" और फिर कहा गया है कि "देह में आत्म–बुद्धि का त्याग होने पर जीवन और मृत्यु में भेद नहीं रहता।"

इसके बावजूद कुछ पाठकों ने इसके सम्बंध में अपना भ्रम व्यक्त किया कि क्या इसका यह अर्थ है कि 'एक बार मृत्यु के मुँह में पहुँच कर वापस लौट आये'। इसी का स्पष्टीकरण आगे की चर्चा है।

पीछे के साधन–सूत्रों में यह चर्चा हो चुकी है कि 'मैं' शरीर नहीं हूँ और शरीर मेरा नहीं है। 'मैं' नित्य, अविनाशी, रसरूप तत्व हूँ और शरीर तो पंच–भौतिक तत्वों से बना है और सृष्टि का नियम है कि जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका नाश भी होता ही है। शरीर जो पंच–तत्वों, भौतिक–तत्वों से बनता है, उत्पन्न होता है, उसका नाश होना निश्चित है। उसी को मृत्यु कहते हैं। स्पष्ट ही, मृत्यु शरीर की होती है, 'मैं' की नहीं होती क्योंकि वह तो नित्य, अविनाशी, रसरूप तत्व है।

नोटः–कुछ लोग आपत्ति करते हैं कि सृष्टि में किसी वस्तु का नाश नहीं होता–'शरीर का नाश होता है', ऐसा कहना सही नहीं है। वास्तव में बोल–चाल की भाषा में ऐसा कहा जाता है, अन्यथा इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि रूप–परिवर्तन होकर

अर्थात् सभी तत्व बिखर कर पुनः सम्बन्धित तत्वों में विलीन हो जाते हैं।

अतः जब तक शरीर में ही हमारी आत्म–बुद्धि रहती है अर्थात् अपने को शरीर ही समझते हैं, उससे ही अपने को मिला (identify) रखा है; तब तक यह भाव बना रहता है कि मेरी ही मृत्यु होती है।

परन्तु जब अपने निज–ज्ञान के प्रकाश में, विवेक का आदर करके अपने को भास हो जाता है कि मैं तो अविनाशी अमर हूँ, मात्र शरीर का नाश (मृत्यु) होता है, अर्थात् मैं और शरीर का भेद स्पष्ट हो जाता है तब यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मेरे अमर (eternal) जीवन–यात्रा का, सिर्फ ट्रेन बदलने का एक स्टेशन मात्र है मृत्यु। उससे 'मैं' अछूता रहता हूँ, शरीर का भले ही नाश हो जाय। 'जीते जी मर जाय अमर हो जावे' का संक्षेप में यही अर्थ हुआ कि जीवन–काल में ही (प्राणों के रहते ही) शरीर की नश्वरता और 'मैं' के अमरत्व का बोध हो जाना।

'जीते जी मर जाय' का अर्थ मानव सेवा संघ दर्शन में इस प्रकार भी बताया गया है कि अकिंचन, अचाह, अप्रयत्न हो जाना। अकिंचन का अर्थ है 'मेरा कुछ नहीं' है और मेरे लिये नहीं है। जो कुछ मिला है वह दूसरों की सेवा के लिये है। अचाह अर्थात् मुझे अपने लिये कुछ चाहिये ही नहीं और जब अपने लिये कुछ चाहिये ही नहीं तो अपने लिये किसी प्रकार के प्रयत्न की आवश्यकता ही नहीं; अप्रयत्न हो गये।

किसी के प्रश्न् कि 'जीते जी मर जाना किसे कहते हैं' के उत्तर में बताया कि "प्राणों के रहते हुए जो शरीर और संसार से सर्वथा सम्बंध रहित हो जाना है–यही जीते जी मर जाना है।"

परन्तु यह उसी दशा में अपने लिये सिद्ध होगा जब हमने 'मैं' और 'शरीर' का भेद समझ लिया है जिसके परिणाम स्वरूप शरीर से असंग (detach) हो गये हैं। और जब शरीर से असंग हो जायेंगे तब 'मेरा' और शरीर का मात्र क्रियात्मक (functional) संबंध रहेगा (साधन–सूत्र–65)।

मानव सेवा संघ की पुस्तक 'जीवन–दर्शन' में स्वामी शरणानन्द जी ने इस विषय की विस्तार से विवेचना की है। उसी के कुछ अंश यहाँ उद्धरित हैं–

"उत्पत्ति–विनाश तो एक क्रम है, जो धीरे–धीरे होता रहता है, परन्तु अमरत्व से अभिन्नता वर्तमान में ही हो जाती है, क्योंकि वह सर्वकाल में ज्यों का त्यों अथवा

यों कहो कि काल से अतीत है। **जीवन में ही मृत्यु का अनुभव तब हो सकता है, जब शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन बुद्धि आदि सभी से संबंध–विच्छेद कर दिया जाय जो विवेक सिद्ध है और यही है जीते जी मर जाना।**"

इस शंका कि शरीर आदि से सम्बंध–विच्छेद हो जाने पर वर्तमान कार्य कैसे हो सकेंगे, को मिटाने के लिये स्वामी जी ने स्पष्ट किया है कि–

"सम्बंध–विच्छेद होने पर ही कार्य सुन्दरतापूर्वक हो सकता है, क्योंकि सम्बंध–विच्छेद होने से अनासक्ति आ जाती है जो सभी दोषों को खा लेती है अथवा यों कहो कि इससे इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी शुद्ध हो जाते हैं। इनके शुद्ध होने से समस्त व्यवहार पवित्र तथा सुन्दर होने लगते हैं, क्योंकि अशुद्धि ही कर्तव्य में दोष उत्पन्न करती है। शुद्धि तो कर्तव्य–निष्ठ बनाती है।"

जीवन में ही मृत्यु का अनुभव कैसे हो, इसके लिये स्वामी जी ने आगे कहा है:– "सर्व–प्रथम जीवन और मृत्यु के स्वरूप को जानना होगा। वर्तमान जीवन क्या है, जीवन–शक्ति, प्राण और इच्छाओं का समूह है। मृत्यु क्या है? प्राण–शक्ति व्यय हो जाना और इच्छाओं का शेष रह जाना। जीवन में मृत्यु का अनुभव करने के लिये साधकों को प्राणों के रहते हुए ही इच्छाओं का अन्त करना होगा। इच्छाओं का अन्त होते ही देहाभिमान गल जाता है। फिर सभी अवस्थाओं से अतीत जो सभी अवस्थाओं का प्रकाशक है, उस स्वयं–प्रकाश नित्य जीवन से अभिन्नता हो जाती है। उसका सम्बंध, उसकी जिज्ञासा तथा उसकी स्मृति और प्रीति के उदय होने पर ही जीवन में मृत्यु का अनुभव हो सकता है।"

इस विषय को स्वामी जी ने एक अन्य प्रकार से भी समझाया है–

"अपने पास अपने मन का न रहना ही जीते जी मरना है। जब तक अपने पास मन रहता है तब तक मृत्यु में जीवन प्रतीत होता है और जब अपने पास अपना मन नहीं रहता तब जीवन में ही मृत्यु का दर्शन होता है।" ■

"मरने से डरो नहीं, और कुछ चाहो नहीं, तो मरने से पहले अमर जीवन मिल जायेगा।"

साधन-सूत्र : 96

मानव जीवन में सुख, शान्ति, प्रसन्नता और आनन्द–एक विवेचन

मानव जीवन में साधक की दृष्टि से ये चार शब्द आते हैं–सुख, शान्ति, प्रसन्नता और आनन्द। साधन–सूत्रों के संकलन में सुख की और शान्ति की चर्चा हुई है। भाव आया कि इन चार शब्दों का जो तात्पर्य है तथा उनके परस्पर सम्बन्ध पर विचार किया जाय।

सुख तो एक परिस्थिति मात्र है। जब हम में कामना रहती है तो कामना की पूर्ति अनुकूल परिस्थिति बन गई और हमें सुख का अनुभव होता है। चूँकि कामना किसी न किसी इन्द्रिय से ही जुड़ी होती है, अतः उस कामना की पूर्ति के सुख का अनुभव शरीर तक ही सीमित रहता है। मन भी एक इन्द्रिय है और शरीर का ही अंश है। सुखद परिस्थिति बनने पर अपने को अच्छा–अच्छा लगता है।

परन्तु परिस्थिति हमेशा एक समान तो रहती नहीं। सृष्टि के विधान से निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। सभी कामनाएँ पूरी भी नहीं होती हैं। सुखद परिस्थिति विधान के अनुसार अपने आप आयेगी ही, हमारी कामना हो या न हो। जब कामना न होने पर भी सुख आता ही है, तब कामना रखने का अर्थ क्या है, आवश्यकता क्या है! जब कामना नहीं रखेंगे तब सुख की आसक्ति में, उसकी दासता में नहीं फँसेंगे। महत्व कामना का नहीं अपने कर्तव्य–कर्म को सही ढंग से पूरा करने का है।

इसका फल यह होगा कि अनुकूलता का प्रतिकूलता में बदल जाने पर हम उससे प्रभावित नहीं होंगे–समता में रहेंगे, मानसिक संतुलन नहीं बिगड़ेगा। अपनी शान्ति भंग नहीं होगी।

शान्ति 'स्व' का स्वभाव ही है। यदि हम जीवन में अशान्ति न आने दें तो शान्ति भंग नहीं होगी। हम नित्य, निरन्तर शान्ति में निवास करेंगे। जीवन में अशान्ति की विस्तार से चर्चा साधन–सूत्र–30 शीर्षक "जीवन में अशान्ति क्यों" में हुई है। सार यह है कि भय और चिन्ता का मूल कारण है वस्तुओं–व्यक्तियों की ममता और कामना। निर्मम, निष्काम हुए बिना निर्भयता और निश्चिन्तता नहीं होगी। निर्भयता, निश्चिन्तता

के बिना अशान्ति नहीं मिटेगी। अशान्ति नहीं मिटेगी तो हम शान्ति का अनुभव कैसे करेंगे! शान्ति में भी रस है–उस रस से हम वंचित रहेंगे। अतः हमें ममता और कामना का त्याग करना ही है। इनके त्याग से हमारे कर्त्तव्य–कर्म में कोई बाधा या कमी नहीं आयेगी। वास्तव में कर्त्तव्य–परायण हम होते ही तब हैं जब जीवन में ममता और कामना नहीं रहती। इसकी चर्चा पहले के साधन–सूत्रों में हो चुकी है।

एक प्रश्न् कि मनुष्य को शान्ति क्यों नहीं मिलती का स्वामी जी ने उत्तर दिया कि "मन की कामना पूरी करने के लिये कर्म करने से शान्ति नहीं मिलती, ... साधक का प्रयत्न चित्त–शुद्धि तक ही है और चित्त शुद्ध होता है अशुद्धि मिटाने से। **जीवन में निर्दोषता–निर्मलता आने से चित्त शुद्ध हो जाता है। उसके बाद शान्ति तो अपने आप आ जाती है।**"

'मूक–सत्संग तथा नित्य–योग' पुस्तक में स्वामी शरणानन्द जी ने भौतिक विकास तथा आध्यात्मिक जीवन की व्याख्या करते हुए कहा है कि–

"मानव–मात्र को सुख और शान्ति चाहिये। सुख यदि भौतिक विकास है तो शान्ति अध्यात्म जीवन है। शान्ति रहित सुख और सुख रहित शान्ति किसी को भी अभीष्ट नहीं है। यद्यपि सुख के भोगी को शान्ति नहीं मिलती, परन्तु शान्ति के पुजारी को सुख अवश्य मिलता है। पर यह रहस्य वे ही मानव जानते हैं, जिन्होंने सत्संग के द्वारा सुख की दासता और दुःख के भय का अन्त कर चिर–शान्ति तथा नित्य–योग से अभिन्नता प्राप्त की है।"

नोटः इससे भ्रम न हो जाय कि शान्ति के पुजारी के जीवन में अनुकूलता ही अनुकूलता रहती है। उसके जीवन में तो ममता और कामना होती ही नहीं। जब कोई कामना है ही नहीं तो उसकी पूर्ति या अपूर्ति का प्रश्न् ही नहीं रहता। ऐसे में सभी परिस्थितियों को सृष्टि–कर्ता के विधान से निर्मित स्वीकार करके, उसमें सम–भाव, सम–दृष्टि रहती है। उसकी दृष्टि में प्रतिकूलता या अनुकूलता का भेद ही नहीं रहता। भाव में अनुकूलता ही अनुकूलता रहती है। उसे जिस सुख की अनुभूति होती है वह कामनापूर्ति के सुख से भिन्न होता है। ऐसा व्यक्ति शरीर से असंग होता है, अतः इस सुख की अनुभूति 'स्व' को ही होती है।

आगे स्वामी शरणानन्द जी ने एक बड़े महत्व की बात बताई है कि "**सुख–लोलुपता योग में भले ही बाधक हो, परन्तु लोलुपता रहित सुख योग में बाधक नहीं है।**"

उसी क्रम में उन्होंने आगे कहा है–

''सुख एक अवस्था है जो संकल्प–पूर्ति से उत्पन्न होती है। चिर–शान्ति अवस्थातीत जीवन है, जो एक मात्र नित्य–योग से ही साध्य है और नित्य–योग सत्संग में निहित है।''

अब 'प्रसन्नता' के संबंध में विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह भी 'स्व' का स्वभाव–स्वरूप ही है। परन्तु जब हम अपने चित्त को अशुद्ध–अशान्त बना लेते हैं तब प्रसन्नता का लोप हो जाता है। चित्त अशुद्ध और अशान्त कब और क्यों हो जाता है, इसकी विस्तृत व्याख्या न करके थोड़े में हम समझें तो यही है कि असत् के संग से ही अर्थात् जीवन में विकारों और वासनाओं का ही परिणाम होता है कि हमारा चित्त अशुद्ध एवं अशान्त हो जाता है। अतः हमें विकारों और वासनाओं से मुक्त होना है। यह सत्संग द्वारा ही साध्य है–अर्थात् जीवन के सत्य को स्वीकार करना और असत् अर्थात् अपनी जानी हुई बुराई का त्याग।

जीवन में श्रम और पराश्रय की तो 'पर' की सेवा के लिये आवश्यकता होती है। 'स्व' के लिये इसका कोई रोल नहीं है। इस भेद को समझे बिना यदि हमारे जीवन में श्रम और पराश्रय बना रहेगा तब हम पराधीन ही तो रहेंगे। स्वामी शरणानन्द जी ने कहा है कि ''स्वाधीन कौन है? जिसे अपनी प्रसन्नता के लिये 'पर' की आवश्यकता नहीं होती।''

इस प्रकार देखा जाय तो स्वाधीन वही है जो प्रसन्न है और प्रसन्न वही है जो स्वाधीन है।

साधन–सूत्र–41, शीर्षक ''करने में सावधान और होने में प्रसन्न रहना'' में प्रसन्नता के सम्बंध में चर्चा हुई है। संक्षेप में यहाँ भी उल्लेख, इस विषय को और स्पष्ट करेगा। उस साधन–सूत्र में 'करना' और 'होना' का भेद का उल्लेख है। करना तो वह है जो हम करते हैं और होना वह है जो अपने आप प्रभु के मंगलमय विधान से होता है। यह स्पष्ट होने पर क्या होता है?–

''सृष्टि में जो कुछ हो रहा है वह सृष्टिकर्ता के विधान के अनुसार हो रहा है। इस तथ्य पर दृष्टि जाते ही 'जो हो रहा है' वह स्वाभाविक लगने लगता है। जो मंगलमय प्रभु के मंगलमय विधान में आस्था रखता है, वह 'जो हो रहा है' उसमें प्रसन्न रहने लगता है।''

सार के रूप में समझ में आता है कि जब हमारे जीवन में ममता, कामना, भोगासक्ति आदि कोई भी विकार नहीं होंगे तब 'शान्ति' होगी और स्वाधीनता भी होगी

तब प्रसन्नता भी होगी। यह विचारणीय है कि प्रसन्नता के लिय शान्ति अनिवार्य है क्योंकि यदि जीवन में अशान्ति होगी तब प्रसन्न कैसे हो सकते है।

स्वामी शरणानन्द जी से किसी ने प्रश्न् किया–

प्रश्नः आनन्द क्या है?

उत्तरः जो होकर कभी मिटे नहीं। जिसके मिलने पर फिर कुछ और पाने की इच्छा न रहे, वही आनन्द है।

ऐसा समझ में आता है कि उदारता, शान्ति, स्वाधीनता और प्रेम ईश्वर की विभूतियाँ हैं। इन सबमें रस ही रस है– प्रभु–प्रेम में अनन्त अगाध रस है। जब हम इन विभूतियों से अभिन्न हो जाते हैं, तब जीवन में रस ही रस होता है।

नीरसता का नाश कैसे हो, इसे समझाते हुए स्वामी जी ने कहा है–

"आवश्यक कार्य पूरी सामर्थ्य, योग्यता और ईमानदारी से पूरा कर अनावश्यक कार्यों का त्याग कर, हर कार्य के आदि और अन्त में अपने आप होने वाले सत्संग को सुरक्षित रखने से नीरसता का नाश होता है। ऐसा करने से उदारता, शान्ति, स्वाधीनता और प्रियता की अभिव्यक्ति होती है जो स्वभाव से रसरूप हैं।"

उस परम–तत्व, परम–सत्ता जिसे हम प्रभु, भगवान, ईश्वर आदि नामों से सम्बोधित करते हैं, को सच्चिदानन्द कहा जाता है। अर्थात् वह सत्य हैं, चैतन्य हैं और आनन्द स्वरूप हैं।

शान्ति से योग, स्वाधीनता से बोध की सीढ़ियाँ पार करते हुए जब जीवन के परम लक्ष्य प्रभु–मिलन जो प्रभु–प्रेम के रूप में ही होता है, की प्राप्ति होती है तब साधक और प्रभु के बीच में कोई दूरी, भेद अथवा भिन्नता नहीं रहती। प्रभु की विभूतियों से अभिन्नता होने से ऊपर वर्णित रस की पराकाष्ठा की अनुभूति आनन्द के रूप में होगी, ऐसा समझ में आता है।

इसीलिये स्वामी शरणानन्द जी ने कहा है कि आनन्द की प्राप्ति के पश्चात् और कुछ पाना शेष नहीं रहता। उन्होंने एक प्रसंग में स्पष्ट किया है कि–

"आनन्द और सुख में बड़ा अन्तर है। सुख से आसक्ति बढ़ती है और वह दुःख के रूप में बदलता है। आनन्द सदा एकरस और अखण्ड होता है। उसका कभी अभाव नहीं होता।"

■

साधन-सूत्र : 97

साधन सम्बन्धी कुछ छिटपुट विचार

1. स्वामी शरणानन्द जी का कहना है कि **"संसार का चिन्तन घोर आसक्ति उत्पन्न करता है जो दुःख का मूल है।"**

इसका एक और परिणाम क्या होता है? जो चिन्तन किया है वह इतने घनीभूत ढंग से मानस में जम जाता है कि चाहते हुए भी पिण्ड नहीं छोड़ता। उभर–उभर कर मानस पटल पर आता रहेगा। इससे मानसिक थकान भी होती है। बचने का उपाय क्या है? यही कि जल्दी से जल्दी यह सूत्र अपना लें कि संसार से हमारा सम्बन्ध उसके चिन्तन का नहीं, मात्र सेवा करने का होना चाहिये और जो जम गया है उसको मिटाने के लिये मूक होकर शान्ति सम्पादन करें जिससे वह मानस पटल पर उभर कर नष्ट होता जाय। यह संत–वाणी याद रखना चाहिये कि **जिसकी प्राप्ति कर्म से होती है उसका चिन्तन निष्प्रयोज्य है–चिन्तन तो उसका करना है जिसकी प्राप्ति कर्म से नहीं होती** (अर्थात् ईश्वर का)।

2. जब हम कोई कर्म करते हैं तो प्रायः अपने में कर्तापन का भाव बनता है– परिणामतः अहं पुष्ट होता है। देवकी बहिन जी ने कहा है:

"परन्तु वास्तविकता तो यह है कि जो भी हम कर्म करते हैं उसमें अनेक उपादानों, व्यक्तियों का परोक्ष रोल रहता है। उदाहरण के लिए खेत में फसल उगाने के लिये केवल किसान ही नहीं, धरती (खेत), बीज, पानी, खाद तथा खेती के यंत्र (हल, बैल या ट्रेक्टर) भी होने चाहिये। इसमें किसान का भाग्य (दैव) भी काम आता है। इसलिये कर्ता को ही, अपने को कर्म करने वाला नहीं मान लेना चाहिये। इसी प्रकार कर्म के फल का होना भी केवल कर्ता पर ही निर्भर नहीं होता।"

ऐसे में कर्तृत्व का अभिमान जागृत होने का प्रश्न् ही कहाँ है? बस यह सोच बना रहे कि **किसी भी कर्म में अन्य के साथ मैं भी एक कारक मात्र हूँ।**

3. कलियुग का दोषः समाज में, देश में मनुष्यों के मानवीय गुणों, चरित्र, नैतिकता

(moral and ethical values) में जो इस समय भयंकर गिरावट आई है और जीवन में जिस डिग्री तक धन और इन्द्रिय सुख–भोग की महत्ता बढ़ गई है, वह सर्वविदित है। स्थिति यह हो गई है कि इसके लोभ और आसक्ति में पड़कर मनुष्य दूसरे मनुष्य को मनुष्य समझता ही नहीं। इसकी प्राप्ति के लिये दूसरे का शोषण तथा प्राण तक ले लेना आम बात हो गई है। उस पर से अहं अभिमान से इतना भरा है कि छोटी–छोटी बातों को लेकर किसी की हत्या तक कर देने में देर नहीं लगती।

सर्व प्रथम तो कुकृत्यों के लिये कोई पश्चाताप् या ग्लानि नहीं होती, पर यदि किसी को उसकी सामान्य मानसिक स्थिति में उसके ऐसे कर्म को इंगित करेंगे तो कहेंगे–क्या बतायें, कलियुग है न, बुद्धि भ्रष्ट कर देता है। अपना दोष, अपने अविवेक को न देखकर अपने गलत कारनामों के लिये कलियुग को दोष देते हैं। सोचने की बात है कि **क्या आकाश से ऐसी किरणें आने लगीं, या पृथ्वी से तरंगें निकलने लगीं जिसने उनकी बुद्धि भ्रष्ट कर दी।**

श्रीमद्भागवत में चर्चित राजा परीक्षित ने जब क्रोध में आकर वन में ध्यानस्थ ऋषि के गले में मरा हुआ साँप पहना दिया, तो यह कहा गया कि कलियुग आ गया था और उसने राजा की बुद्धि बिगाड़ दिया। दोष तो राजा का कि उन्होंने अभिमान–पूर्ण अहं, राजा होने का अहंकार के कारण, ऋषि द्वारा अपना अपमान समझ कर ऐसा किया, और दोष मढ़ा जाय कलियुग के मत्थे। श्रीमद्भागवत के रचयिता ने ऐसा लिखकर आने वाले समय में लोगों को अपने कुकृत्यों के लिये एक अच्छा बहाना (excuse) दे दिया कि करो और कलियुग पर ट्रान्सफर कर दो।

श्रीमद्भागवत में वेदव्यास जी और श्री रामचरितमानस में तुलसीदास जी ने भविष्यवाणी की है कि कलियुग, फिर घोर कलियुग में मनुष्य और उसके समाज में क्या–क्या दोष, बुराइयाँ, कुकर्म होंगे। ऐसा लिखकर उन्होंनें गलत आचरण वालों को अपने ऐसे आचरण के लिये बना बनाया अच्छा खासा बहाना दे दिया– 'क्या करें कलियुग जो है।' अर्थात् मेरा कोई दोष नहीं, कलियुग–दोष है। हमें जो करना चाहिये–विवेक का आदर, हर एक को अपने ही जैसा इन्सान समझना, और सुख भोग ही को जीवन न मानकर उससे अतीत शान्ति, स्वाधीनता, प्रियता तथा जीवन में रस और आनन्द पर दृष्टि रखना, वह तो करें नहीं और कहें 'कलियुग का दोष'।

इससे तो काम बनने वाला नहीं है। स्थिति सुधरने वाली नहीं है। ऐसे सामाजिक

वातावरण से कोई अछूता नहीं रह सकता। अपनी न भी सोचें तो कम से कम अपने बच्चों और आगे आने वाली पीढ़ियों की तो सोचें कि हम उनके लिये क्या थाती छोड़कर जायेंगे– भयंकर, उससे भयंकर और फिर भयंकरतम सामाजिक वातावरण। अतः इस विषय पर हर व्यक्ति को आत्म–चिन्तन करना आवश्यक है।

4. "आजकल जब किसी के मन के विपरीत काम होता है, तब उसको क्रोध आ जाता है। यदि कोई कहे कि क्रोध नहीं करना चाहिये तो कहते हैं कि 'क्रोध किसको नहीं आता? क्या मैं महात्मा हो गया? मैं तो गृहस्थ हूँ ..... इत्यादि'। यदि उनसे पूछा जाय कि आप महात्मा क्यों नहीं बन गये? किसने मना किया था? मनुष्य ही तो महात्मा होते हैं! तो इसका कोई उत्तर नहीं है। ऐसे प्राणियों का चित्त शुद्ध नहीं हो पाता।" –'सन्त सौरभ' से

नोटः– महात्मा का अर्थ लोग साधु–सन्यासी से लगाते हैं। वास्तव में हर व्यक्ति महात्मा है जिसने दोषों का त्याग करके अपने में निर्दोषता की स्थापना कर लिया है, ममता, कामना, आसक्ति को त्याग कर निर्मम, निष्काम हो गया है। सेवा जिसका व्रत है और सेवा, त्याग और प्रेम ही जिसका स्वरूप हो गया है, वह महात्मा ही तो है। गांधी जी ने न तो साधु वेष अपनाया था और न ही सन्यास लिया था, परन्तु वह बिना वेष के साधु थे और बिना दीक्षा लिये सन्यासी थे। लोग उन्हें इसीलिये महात्मा गांधी कहते थे।

5. हमारे जीवन में अनेक ऐसे अवसर आते हैं जब हमें समझ में नहीं आता कि क्या करें या न करें। एक मानसिक द्वन्द्व बना रहता है। उससे छुटकारा का बड़ा सहज उपाय स्वामी जी ने बताया है कि–

"सभी संकल्प सर्व–समर्थ प्रभु के संकल्प में विलीन कर सदा के लिये निःसंकल्प हो जाओ। निःसंकल्पता ही एक मात्र मानसिक द्वन्द्व मिटाने का अचूक उपाय है।"

–'पाथेय' पुस्तक में

6. वर्तमान में यह भी एक प्रकार का फैशन हो गया है हर प्रकार की स्वतन्त्रता की बात करना। ऐसी निरंकुश स्वतन्त्रता (unbridled freedom) के नशेड़ी और वकालत करने वालों की चर्चा पीछे दो साधन–सूत्रों में हुई है।

इस संबंध में देवकी बहिन जी की बहुत ही महत्वपूर्ण चेतावनी है कि–

"स्वतन्त्रता पर विवेक का लगाम होना आवश्यक है नहीं तो अराजकता और उच्छृंखलता आ जायेगी।"

7. साधन सूत्र–86 शीर्षक 'आस्तिकता–नास्तिकता' में जिन 86 वर्षीय महिला साधक का परिचय मिला, उन्हीं की डायरी में नोट किये हुए 'संतवाणी' में से कुछ आगे उद्धरित हैं–

1) जितेन्द्रियता से बल अपने आप आ जाता है, सेवा से हृदय शुद्ध हो जाता है, आस्तिकता से सब कुछ मिल जाता है और त्याग से आनन्द मिल जाता है।

2) त्याग से राग और प्रेम से द्वेष मिट जाता है अर्थात् **जिससे द्वेष हो गया हो उसके हित की भावना करो और जिससे राग हो गया हो, उसे अपना मत समझो।**

3) प्रत्येक प्राणी का जीवन अनन्त ऐश्वर्य तथा माधुर्य सम्पन्न भगवान की साया में है। परन्तु फिर भी प्राणी दीन तथा दुःखी है। इस समस्या पर विचार करने से यही ज्ञात होता है कि प्राणी अपने को मिले हुए सीमित तथा परिवर्तनशील ऐश्वर्य तथा माधुर्य में आबद्ध कर अनन्त ऐश्वर्य तथा माधुर्य से संबंध विच्छेद कर लेता है एवं मिले हुए सौन्दर्य तथा माधुर्य का दुरूपयोग करता है। इन्हीं दो कारणों से सर्व–समर्थ की साया में रहकर भी बेचारा प्राणी दीन तथा दुःखी है।

4) प्रत्येक आस्तिक की पाँच सखियाँ हैं–
(i) निर्वासना (ii) निर्वैरता (iii) निर्ममता
(iv) समता (v) मुदिता

8. अक्सर लोग कहते हैं– माया ऐसी बलवान है कि हमें पकड़े रहती है, छोड़ती ही नहीं। माया है क्या? अंग्रेजी में इसे illusion कहते हैं अर्थात् जिसमें वास्तविकता नहीं है, मात्र इन्द्रियों द्वारा प्रतीति है। साधक की दृष्टि से कह सकते हैं कि सत्य और हमारे बीच जो दिवार है अथवा सत्य से हमारे जुड़ने में जो बाधा है वही माया है। श्री रामचरितमानस के अरण्यकाण्ड में लक्ष्मण जी के प्रश्नों के उत्तर में भगवान राम ने माया का स्वरूप इस प्रकार बताया है–

(i) मैं और मेरा और तू और तेरा–यही माया है।

(ii) इन्द्रियों के विषयों को और जहाँ तक मन जाता है, हे भाई! उस सबको माया जानना।

वास्तविकता तो यह है कि हम स्वयं ही माया को पकड़े रहते हैं, उसी में लिप्त रहते हैं, छोड़ते ही नहीं और दोष माया को देते हैं।

कभी एक महान ऋषि के शिष्य ने उनसे कहा कि महाराज, माया ऐसे पकड़ी हुई है कि छोड़ती ही नहीं, उपाय बताइये।

उत्तर के लिये उसे राजा जनक के पास भेजा। राजा बगीचे में एक पेड़ पर हाथ टेके हुए खड़े थे। शिष्य ने उनसे वही प्रश्न् किया। जनक जी जब कुछ नहीं बोले तब शिष्य ने कहा कि महाराज, मैंने आपसे एक प्रश्न् पूछा है, आप बोल ही नहीं रहे हैं। तब उन्होंने कहा कि भइया, यह पेड़ मुझे पकड़े है, छोड़े तब तो आपको उत्तर दूँ।

तात्पर्य, न पेड़ पकड़ता है, न माया पकड़ती है। हम ही माया को पकड़े रहते हैं, छोड़ते ही नहीं। इसमें माया का क्या दोष! स्वामी जी ने अपने एक प्रवचन में कहा है "**हम भले ही किसी वस्तु से ममता करें, परन्तु वस्तु कभी अपनी ओर से हमें अपना नहीं कहती।**"

स्वामी जी ने वस्तु का व्यापक अर्थ बताया है, "वस्तु उसे कहते हैं जो उत्पत्ति–विनाश–युक्त हो, परिवर्तनशील एवं पर–प्रकाश्य हो। इस दृष्टि से शरीर इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि सभी वस्तुओं के अर्थ में आते हैं। इतना ही नहीं, जिसे हम सृष्टि कहते हैं, वह भी एक वस्तु ही है, क्योंकि सृष्टि अपने को अपने आप प्रकाशित नहीं करती।"

9. अधिकांशतः हम लोगों को यही स्पष्ट नहीं होता कि हमारे मनुष्य शरीरधारी बनने का उद्देश्य क्या है। सांसारिक उपलब्धियों और भोगों को ही लक्ष्य मानते हैं। खाओ पीओ और मौज करो यही सिद्धान्त रहता है। परन्तु ऐसे जीवन में तो भय भी है, चिन्ता भी है और पराधीनता भी है। यह सब झेलते रहते हैं, फिर भी उसी में लिप्त रहते हैं। थोड़ी देर के लिये शान्त होकर सोचने और समझने के लिये, ऐसे लोगों के पास न तो समय है और न ही रुचि कि हमारे वास्तविक जीवन का स्वरूप क्या है, लक्ष्य क्या है। उस जीवन की परख (test) तो यही है कि प्रतिकूलता में भी शान्ति भंग न हो और समता बनी रहे। पर क्या ऐसा होता है? प्रश्न् होता है कि क्या अपने वास्तविक जीवन की प्राप्ति के लिये रुचि की जागृति भाग्य से अथवा प्रभु की कृपा से ही होती है? ऐसा है तब तो प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिये कि अपनी अहैतुकी कृपा से ऐसे लोगों को उस जीवन की एक झलक दिखला दें जिसमें शान्ति ही शान्ति है, स्वाधीनता है और प्रेम है। कदाचित उस जीवन की प्राप्ति के लिये रुचि जागृत हो जाय। अन्यथा इस लक्ष्य से विहीन मनुष्य–जीवन और पशु–जीवन में अन्तर ही क्या रहेगा?

कुछ ऐसे भी लोग होते हैं जिन्हें यह जानकारी तो रहती है कि जिस प्रकार

हम जी रहे हैं वह हमारा वास्तविक जीवन नहीं है, पर उसकी प्राप्ति के लिये साधनरत् होने के बजाय कहेंगे कि यह सब पढ़ने समझने का समय ही नहीं मिलता और भविष्य के लिये टालते रहते हैं। पर हमें तो अपना वर्तमान सुधारना है। वर्तमान में भय, चिन्ता और पराधीनता लेकर जीते रहें और भविष्य में इनसे छुट्टी पाने का सोचें। क्या यह विवेक–युक्त है? हमें तो अपना वर्तमान ही सुधारना है, भविष्य तो अपने आप सुधर जायेगा।

10. नाम के पीछे दिवानगी–अर्थहीनः जब हम कोई कार्य अपने नाम–रौशन के लिये करते हैं, तब उससे न तो सेवा का अर्थ और न ही कर्तव्य की परिभाषा सिद्ध होती है। महान संत स्वामी रामसुखदास जी, जिनकी स्वामी शरणानन्द जी से प्रगाढ़ आध्यात्मिक आत्मीयता थी, ने अपने महाप्रयाण के पूर्व एक वसीयत लिखा जिसमें निर्देश था कि उनके शरीर त्याग के बाद क्या किया जाय और क्या न किया जाय। नाम में आसक्ति की बड़ी ज्ञानप्रद चर्चा उसमें है। वही आगे उद्धरित है।

"श्री भगवान की असीम, अहैतुकी कृपा से जीव को मानव शरीर मिलता है इसका एक मात्र उद्देश्य भगवतप्राप्ति ही है। परन्तु मनुष्य इस शरीर को प्राप्त करने के बाद अपने मूल उद्देश्य को भूल कर शरीर के साथ दृढ़ता से तादात्म्य कर लेता है और इसके सुख को ही परम सुख मानने लगता है। शरीर को सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ अपना सम्बन्ध मान लेने के कारण उसको शरीर से इतना मोह हो जाता है कि इसका नाम तक उसको प्रिय लगने लगता है। शरीर के सुखों में मान–बड़ाई का सुख सबसे सूक्ष्म होता है। इसकी प्राप्ति के लिये वह झूठ, कपट, बेइमानी आदि दुर्गुण–दुराचार भी करने लग जाता है। **शरीर के नाम में प्रियता होने से दूसरों से अपनी प्रशंसा, स्तुति की चाह रहती है।** वह यह चाहता है कि जीवन–पर्यन्त मेरे को मान–बड़ाई मिले **और मरने के बाद नाम की कीर्ति हो**। वह यह भूल जाता है कि केवल लौकिक व्यवहार के लिये शरीर का रखा हुआ नाम, शरीर के नष्ट होने के बाद कोई अस्तित्व नहीं रखता।

इस दृष्टि से शरीर की पूजा, मान–आदर एवं नाम को बनाये रखने का भाव किसी महत्व का नहीं है। परन्तु शरीर का मान–आदर एवं नाम की स्तुति प्रशंसा का भाव इतना व्यापक है कि मनुष्य अपने तथा अपने प्रियजनों के साथ तो ऐसा करते ही हैं, प्रत्युत जो भगवदाज्ञा, महापुरुष–वचन तथा शास्त्र–मर्यादा के अनुसार सच्चे हृदय

से अपने लक्ष्य (भगवत्प्राप्ति) में लगे रह कर इन दोषों से दूर रहना चाहते हैं, उन साधकों के साथ भी ऐसा ही व्यवहार करने लग जाते हैं। .....(उनके) विनाशी नाम को अविनाशी बनाने के प्रयास में वे (उनके) उस संस्कार–स्थल पर छतरी, चबूतरा या मकान(स्मारक) आदि बना देते हैं।....."

11. अन्त में इस साधन–सूत्र का समापन करने के पूर्व लेखक की अपनी बात–

साधन–सूत्र–33 शीर्षक 'सेवा का अर्थ और स्वरूप' में स्वामी जी का कथन उद्धरित है कि–".....लेकिन दुःख की बात तो यह है कि कुछ लोग सोचते हैं कि पैसे खर्च कर दो, सेवा हो गई। कुछ लोग समझते हैं कि शरीर से कार्य कर दो तो सेवा हो गई। कर्म में और सेवा में भेद है।....."

यद्यपि लेखक ने इसे उस साधन–सूत्र में शामिल तो कर लिया था, परन्तु इसका रहस्य स्पष्ट नहीं था जिसे एक घटना ने स्पष्ट कर दिया। कैसे? एक बहुत बड़ी परोपकारी, सेवा–भावी संस्था है जो निध नि वर्ग के मोतियाबिन्द के नेत्र रोगियों का ऑपरेशन, शरीर से अक्षम लोगों को बैसाखी, व्हील–चेयर आदि निःशुल्क उपलब्ध कराने का कार्य बड़े पैमाने पर करती है।

आर्थिक सहयोग के लिये लेखक के पास भी फार्म आया। फार्म आया है तो कुछ भेजना चाहिये ही, सो अपनी सामर्थ्य के अनुसार भेज दिया। फिर एकदम से विचार कौंधा– नेत्र–रोगियों और शरीर से अक्षम लोगों के कष्ट, बेबसी आदि पर दृष्टि ही नहीं गई, अतः उनके दुःख को समझ कर करुणा उपजी ही नहीं। भाव में केवल यही बात रही कि फार्म आया है तो कुछ धनराशि भेजना ही चाहिये। तब स्वामी जी के कथन का रहस्य स्पष्ट हुआ कि यह तो मात्र एक भाव–शून्य कर्म हुआ, सेवा तो नहीं हुई। है तो बड़ा सूक्ष्म (subtle) अन्तर पर है सत्य।

सेवा के सम्बन्ध में स्वामी जी ने एक अवसर विशेष पर कहा कि "**सेवा की प्रेरणा का श्रोत है मानव–हृदय की करुणा।**" इस करुणा को देवकी बहिन जी ने प्रभु–प्रेम के ही समान अलौकिक तत्व बताया जिसका कभी नाश नहीं होता। और आगे कहा है कि '**क्रिया तो सेवा का बाह्य रूप है, वास्तविक रूप तो है–परपीड़ा से उदित करुणा का भाव।**'

■

शुभ कर्मों से उत्कृष्ट परिस्थिति मिल सकती है, भगवान नहीं मिल सकते।

साधन-सूत्र : 98

सबसे अधिक आश्चर्यजनक रचना : मनुष्य का मैंपन

इस प्रकार की चर्चा पिछले साधन–सूत्रों में हो चुकी है कि जब हम शरीर को ही अपना स्वरूप नहीं मानते और यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि मैं शरीर ही होता तो शरीर का दृष्टा नहीं हो सकता था, तब 'मैंपन' का भास होता है। यह भले ही स्पष्ट न हो कि मैं हूँ क्या, आत्मा हूँ कि जीव हूँ, या कुछ और हूँ, पर यह अनुभव होता है कि शरीर से अलग, भिन्न 'मैं' कुछ हूँ अवश्य।

स्वामी शरणानन्द जी का कहना है कि " 'मैं ब्रह्म हूँ', 'मैं अमर हूँ', यह वेद वाणी सुनी हुई है। मैं 'यह' नहीं हूँ, यह जीवन का अनुभव है। जीवन के अनुभव को पहले मानों, तब वेद वाणी सिद्ध होगी।" साधन–सूत्र–36 शीर्षक " 'मैं' हूँ क्या?" में स्वामी जी द्वारा की गई व्याख्या है कि–

"आत्मा और अनात्मा से वही मिल सकता है जो न आत्मा है और न अनात्मा। उसी को सीमित अहँ भाव तथा 'साधक' के नाम से सम्बोधित करना चाहिये। वही 'मै' है। मानव सेवा संघ दर्शन के अनुसार 'मैं' कामना, जिज्ञासा और लालसा का पुंज है।"

इसी क्रम में उन्होंने यह भी बताया है कि कामना की निवृत्ति होती है, जिज्ञासा की पूर्ति होती है और–लालसा की प्राप्ति हेाती है। लालसा प्रभु–दर्शन अथवा प्रभु–प्राप्ति की होती है। वास्तव में प्रभु–प्राप्ति उनके प्रेम के ही रूप में होती है। अहं–रूपी अणु का प्रेम की धातु में रूपान्तर हो जाता है और तब 'मैं' का स्वरूप वही रह जाता है।

मुझमें जो अविनाशी तत्व है उसकी अभिव्यक्ति कैसे हो, उसका अनुभव कैसे हो, यह प्रश्न् उठता है। दूसरा प्रश्न् यह हो सकता है कि इसकी आवश्यकता क्या है? जीवन जैसे चल रहा है चल रहा है; यह दर्शन पढ़ने, समझने और जीवन में उतारने के लिये कौन मगज़पच्ची करे अर्थात् दिमाग को उलझाये।

इस दूसरे प्रश्न् का सहज उत्तर तो यही है कि जैसे हम जी रहे हैं, उस जीवन में सुख भोगते हैं तो विधान के अनुसार

दुःख भी झेलते हैं, जन्म–मरण क बन्धन में पड़े रहते हैं–अनेक प्रकार के भय और चिन्ता से ग्रस्त रहते हैं, मृत्यु का भय सताता रहता है।

पर अपने अविनाशी तत्व की अभिव्यक्ति, उसके अनुभव के फल स्वरूप, देवकी बहिन जी के शब्दों में "जो आपका वास्तविक जीवन है, उस अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का अनुभव होता है और वस्तुतः **उस अनुभव में उस आनन्दमय अस्तित्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।**"

उन्होंने अपने एक प्रवचन शीर्षक 'अलौकिक तत्व' में बताया कि यह कैसे सम्भव हो तो –जब बुद्धि–दृष्टि से असंग हो जाओ, जब सभी दृष्टियों के पार पहुँचो तब उसका पता चले।"

यह कहते हुए कि "दृष्टि गयी कि सृष्टि गयी" उन्होंने अपना एक निज अनुभव सुनाया–

"इसी जगह पर गीता भवन 2 नं0 में स्वामी जी महाराज बैठते थे और प्रातः काल 2½ बजे से साधना शुरू होती थी, 3½ बजे मूक सत्संग होता था, उसी काल में उसी जगह पर महाराज जी की चौकी पकड़ कर बैठे ही बैठे क्या जाने कब सबका एकदम गायब। **सिवाय एक आनन्दमय अस्तित्व के कहीं कुछ नहीं है, न शरीर, न संसार, न सीमा है, न स्थान है, न काल है।**"

अपने लिये यह कैसे सम्भव हो? जब तक अपने को शरीर ही मानकर संसार में उलझे रहेंगे, तब तक काम नहीं बनेगा। तो देवकी बहिन जी ने क्या सलाह दिया? कि–

"क्रिया–शक्ति मिली है, शुद्ध भौतिकवाद की दृष्टि से सेवा करने के लिये। सभी को अपना मानों भेद–भाव नाश हो जायेगा तो चित्त शुद्ध हो जायेगा। विचार की दृष्टि मिली है, विवेक का प्रकाश मिला है तो नाशवान् को नाशवान् जानकर..... निज विवेक के प्रकाश में नाशवान् को नाशवान् जानकर उससे अपना सम्बंध तोड़ना ही पड़ेगा। उस पर से अपना अधिकार उठाना ही पड़ेगा। उसकी ममता का त्याग करना ही पड़ेगा और उसका सहारा छोड़ना ही पड़ेगा। तो जो नाशवान् का सहारा छोड़ देता है, उसमें अविनाशी तत्व अभिव्यक्त हेा जाता है। **अमर जीवन का अभिलाषी, नाशवान का सहारा छोड़ देता है तो उसी में विद्यमान अविनाशी तत्व प्रकट हो जाता है।** जो अनादि, अनन्त जीवन का जिज्ञासु है वह उत्पत्ति–विनाश युक्त का सहारा छोड़ देता है।"

उन्होंने सहारा छोड़ देने का तात्पर्य इस प्रकार इस प्रकार समझाया है कि–

"संसार को छोड़कर भाग जाओ ऐसा नहीं कहा गया। सम्पत्ति उठा कर गंगा में डाल दो, ऐसा नहीं कहा। शरीर को टुकड़े–टुकड़े काट दो ऐसा नहीं कहा।"

केवल, (उनके शब्दों में) इतना ही करना है कि–

"जिस अपराध से हम सब लोग आसक्ति में, जन्म–मरण के बन्धन में, जिस सीमा में बँध गये हैं, कैदी हो गये हैं, उस कारण को मिटाना है। वह कारण क्या है? मैं अविनाशी जीवन का अभिलाषी हूँ, अमर जीवन की आवश्यकता मुझे है, परम प्रेम की प्यास मुझे है, तो **जो अमर जीवन का अभिलाषी है, उसको मरणशील का सहारा नहीं लेना चाहिये।** इतनी सी तो बात है।"

साधन–निमार्ण के प्रसंग में उन्होंने इस कथन को इस प्रकार और स्पष्ट किया है–

".....चले थे सत्य को पकड़ने और अशुभ प्रवृत्तियों को छोड़ करके तपस्या–स्वरूप और साधन–स्वरूप प्रवृत्तियों को पकड़ करके फिर आपने उस नाशवान शरीर को महत्व दे दिया, उसी को पकड़ कर बैठ गये तो अविनाशी तत्व की अभिव्यक्ति में बहुत देर लग जाती है। बहुत दूरी हो जाती है। इस लिये शरीर की गुलामी को छोड़ना है अपने को, इस बात को ध्यान में रखना ज़रूरी है।"

देवकी बहिन जी ने आगे कहा है–

".....जो शरीर से और समाज से, संसार से, सब दृष्टियों से अन्तः बाह्य सब कार्यों से, सब से सम्बन्ध तोड़ कर, सब की आसक्ति छोड़ कर, सबका सहारा छोड़ कर अकेले हो जाओ तो तुम को उस सत्य का दर्शन मिले।"

जीवन के इस सिद्धान्त को, इस दर्शन को लोग अव्यवहारिक (impractical) कह सकते हैं, इस लिये देवकी बहिन जी ने आगे कहा है कि–

"तो जीवन का जो आध्यात्मिक सत्य है, अध्यात्म–दर्शन का जो सत्य है, वह कल्पना नहीं है, हवाई बातें नहीं है। ऑन चेयर स्पेकुलेशन की चर्चा नहीं है। वह तो तुम्हारे जीवन का ऐसा ठोस सत्य है कि एक बार उसका अनुभव हो जाये तो फिर कभी भ्रम पैदा नहीं होता है।"

मानव जीवन खेल तमाशे के लिये नहीं बना है, कहते हुए उन्होंने सजग, सचेत किया है कि–

"बड़ा ही मूल्यवान है और मुझको संसार का सबसे बड़ा आश्चर्य, सबसे बड़ा

आश्चर्य क्या मालूम होता है, तो मेरा यह अहम्।"

सृष्टि के आश्चर्य का उल्लेख करते हुए देवकी बहिन जी का कथन है कि–

"सब में जितना–जितना आश्चर्य है भाई, वे सबके सब सीमित और भौतिक सीमा के भीतर हैं। **सबसे अधिक आश्चर्यजनक रचना आप की अपनी है, मनुष्य का यह 'मैंपन' है।**"

उसकी महिमा का वर्णन करते हुए उन्होंने अपने प्रवचन में आगे सुनाया है–

"जो संसार के तत्वों को लेकर बने हुए शरीर को लेकर इस धरती पर विचरण करते हुए, अनन्त अविनाशी जीवन के आनन्द का भी अनुभव कर सकता है और अनन्त महत्ववान अनन्त ऐश्वर्यवान, अनन्त माधुर्यवान परमात्मा का प्रेमी होकर उनके साथ प्रेम के आदान–प्रदान का प्रेमालाप कर सकता है, आदान–प्रदान कर सकता है। उनकी लीला में भाग ले सकता है, अपने प्रेम रस से उनको आनन्दित कर सकता है। उनके प्रेम–रस से स्वयं आनन्दित हो सकता है और सदा–सदा के लिये उस अनन्त प्रेम–सागर में डुबकी का आनन्द, नित–नव प्रेम–रस का आनन्द ले सकता है। तो इतना बड़ा आश्चर्य जो आपकी अपनी रचना है, उस पर दृष्टि डालो नहीं, उस आश्चर्यजनक रहस्यमय अनन्त तत्व की अभिव्यक्ति का पुरुषार्थ करो नहीं, तो आकाश में खोजते फिरो, समुद्र में डुबकी लगाते फिरो, धरती की खान खोदते फिरो। कोई सीमा लगेगी? नहीं लगेगी।.....भौतिक शक्ति की भी सीमा इतनी अधिक है कि उसमें आदमी खो जाय। बुद्धि की सीमा खो जाय। पता ही न चले।"

इसी लिये उन्होंने उत्साहित करते हुए सलाह दिया है कि–

"वह लेकिन **तुम्हारे भीतर जो अलौकिक तत्व विद्यमान है, वह तो सारे संसार से बड़ा है भाई!** उसके विकास का उपयोग, उसके विकास का पुरुषार्थ, थोड़े ही दिनों में हम भाई–बहनों को कर लेना चाहिये और उसके विकास का क्या समय लगेगा, क्या श्रम लगेगा, क्या खर्च लगेगा? तो कुछ नहीं? **आवश्यकता जाग्रत हुई और अंधकार मिटा। ईश्वर का सहारा आपने लिया और वे प्रकट हुए।**"

अन्त में देवकी बहिन जी का उद्‌बोधन– "**इस अलौकिकता को इस जीवन में अनुभव नहीं किया, तो मनुष्य हो कर क्या किया?**"

■

साधन-सूत्र : 99

साधन की अभिव्यक्ति में विलम्ब अथवा असफलता क्यों?

पिछले साधन–सूत्रों में यह चर्चा हो चुकी है कि जीवन का अर्थ और हमारे वास्तविक जीवन का स्वरूप क्या है– नित्य, अविनाशी, रसरूप। अपने उस स्वरूप से परिचय का उपाय मात्र सत्संग है, अर्थात् जीवन के सत्य को स्वीकार करना और असत् का त्याग अर्थात् अपनी जानी हुई बुराइयों का त्याग। हमारे जीवन में बीज रूप से शान्ति, स्वाधीनता और प्रेम की माँग विद्यमान है। उसकी पूर्ति के लिये हमें अपने को साधक स्वीकार करना होता है।

साध्य की प्राप्ति के लिये साधन करना नहीं होता, बल्कि सत्संग से हमारे जीवन में साधन की अभिव्यक्ति होती है और साधक, साधन से अभिन्न होकर साध्य से मिलता है। निर्ममता, निर्विकारता, निष्कामता को साधन बताया गया है। साधन–सूत्र–34, शीर्षक 'मानव सेवा संघ दर्शन में साधना का अर्थ और साधना–प्रणाली' के संलग्नक 'क' और 'ख' में देवकी बहिन जी ने भौतिकवाद, अध्यात्मवाद और आस्तिकवाद तीनों को लेकर 'साधन' की विवेचना किया है। मनुष्य में तीन शक्तियों–यथाः क्रिया–शक्ति, विचार–शक्ति और भाव–शक्ति को दृष्टि में रखते हुए साधना का स्वरूप बताया है।

यह भी बताया है कि साधन किया नहीं जाता, उसकी हमारे जीवन में अभिव्यक्ति होती है, इसीलिये मानव सेवा संघ दर्शन में साधन–निर्माण की बात कही गई है।

यह सब जानते, समझते और इतना सहज होते हुए भी हमारे में साधन की अभिव्यक्ति में विलम्ब अथवा असफलता क्यों होती है, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न् है। इसी के समाधान की दृष्टि से स्वामी शरणानन्द जी की इस विषय से सम्बंधित व्याख्या के कुछ अंश आगे उद्धरित हैं।

जब हम साधन–पथ पर चलने की बात सोचते हैं, तब सबसे पहले हमें यह स्पष्ट होना चाहिये कि हमारा लक्ष्य क्या है, साध्य क्या है।

'हमारी वास्तविक आवश्यकता' शीर्षक एक व्याख्या में स्वामी जी का कथन है कि–

"वर्तमान परिवर्तन–शील जीवन में प्रथम प्रश्न् यही है कि हमारी वास्तविक आवश्यकता क्या है? जिस प्रकार पथिक अपने निर्दिष्ट स्थान को बिना जाने मार्ग का निर्णय नहीं कर सकता और न निश्चिन्तता पूर्वक चल ही सकता है, उसी प्रकार हम अपनी आवश्यकता को बिना जाने अथवा बिना माने उसकी पूर्ति के लिये न तो निःसन्देहता पूर्वक साधन का निर्माण कर सकते हैं और न निर्णित साधन का अनुसरण ही कर सकते हैं। **आवश्यकता का निर्णय होने पर ही साधन का निर्णय हो सकेगा। साधन का निर्णय होने पर ही साधन–परायणता सम्भव होगी।** अतः वास्तव में हमारी आवश्यकता क्या है इसका निर्णय वर्तमान में ही करना होगा। उसके लिये अपनी वर्तमान दशा का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। **रुचि, योग्यता और आवश्यकता का ज्ञान ही वर्तमान दशा का अध्ययन है।**.....हमारी वास्तविक आवश्यकता सभी परिस्थितियों से अतीत जीवन की है। **परिस्थितियों से अतीत जीवन ही हमारा जीवन है।** उसी में प्रवेश करने के लिये **योग्यता, सामर्थ्य तथा रुचि के अनुरूप साधन–निर्माण करना है।**"

इससे आगे बढ़ने के पहले स्वामी जी की कही हुई रोचक पर सत्य बात पर ध्यान दिया जाय। मानव सेवा संघ की पुस्तक 'संत–सौरभ' में स्वामी जी ने "साधन में सफलता क्यों नहीं मिलती" प्रश्न् का उत्तर देते हुए कहा है–

"आजकल लोग साधन तो करते नहीं और साधन का फल लेना चाहते हैं तब उनको सफलता कैसे मिले? हर एक मनुष्य सोचता है कि साधन करके योग्यता तो कोई दूसरा प्राप्त कर ले और हमें आशीर्वाद दे दे ताकि हमें उसका सुख मिल जाय। ..... तो ऐसा होता नहीं। साधन की सफलता के लिये साधक को स्वयं साधन करना पड़ेगा। उसे साधन को ही अपना जीवन मानना पड़ेगा। ऐसा करने से ही वह कृतकार्य हो सकता है।"

इससे पूर्व प्रस्तर में उद्धरित स्वामी जी के कथन में है कि 'योग्यता, सामर्थ्य तथा रुचि के अनुरूप ही साधन–निर्माण करना है।' इसी योग्यता को लेकर किसी ने प्रश्न् किया कि 'अपनी योग्यता को समझकर साधक अपने साधन का निर्माण कैसे करे?' इसके उत्तर में स्वामी जी ने बताया है कि–

"विवेक–शक्ति, क्रिया–शक्ति और भाव–शक्ति, इन्हीं के आधार पर योग्यता का पता चलता है। योग्यता में भेद होता है। रुचि में अधिक भेद नहीं होता। सभी

साधक चाहते हैं कि जो सबसे अच्छी चीज़ हो, वही हमें मिले। सबसे अच्छी चीज़ एक ही होती है। उसमें प्रकार–भेद हो सकते हैं, परन्तु वस्तुभेद नहीं होता। योगी उसी को योग कहता है, विश्वासी उसी को ईश्वर कहता है, विवेकी उसी को बोध कहता है। योग्यता और रुचि के अनुसार ही साधन का निर्माण होता है।"

अतः इसलिये "साधक को चाहिये कि अपनी योग्यता और रुचि का ठीक–ठीक अध्ययन करे। उसमें अपने को धोखा न दे अर्थात् दूसरों की ओर देखकर योग्यता और रुचि के विरूद्ध साधन का लालच न करे।"

आगे स्वामी जी ने समझाया है–

"रुचि साधक में स्वाभाविक होती है, वह किसी दूसरे से प्राप्त नहीं होती। समझ दूसरे से प्राप्त हो सकती है और होती है। अतः साधक को अपने स्वभाव का अध्ययन करना चाहिये। दो व्यक्तियों का स्वभाव भी सर्वथा एक सा नहीं होता।"

"इसलिये योग्यता और स्वभाव के भेद से साधन में भेद होगा, परन्तु सफलता में सबकी एकता हो जायेगी। **उपाय में भिन्नता और फल में एकता इसी का नाम साधन है।**"

इसी क्रम में स्वामी जी का एक और यथार्थ स्थिति का वर्णन देखा जाय –

"प्रायः देखा जाता है कि लोग वह साधन करना चाहते हैं जो उनकी योग्यता और रुचि के अनुकूल नहीं होता है और उस साधन को नहीं करते, जो वे कर सकते हैं, क्योंकि वे साधन में बड़े और छोटे की कल्पना कर लेते हैं और जिसको ऊँचे दर्जे का समझते हैं, उसी को करना चाहते हैं। फलतः **जो साधन कर सकते हैं उसमें विश्वास और श्रेष्ठ–बुद्धि नहीं होती और जिसे करना चाहते हैं वह होता नहीं।**"

अतः साधन–पथ पर चलने के इच्छुक व्यक्तियों को क्या करना चाहिये? आगे स्वामी जी की सलाह प्रस्तुत है–

"साधक को चाहिये कि अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार साधन–निर्माण करके विश्वास पूर्वक तत्परता के साथ उसमें लग जाय। अपने जीवन में किसी प्रकार के दम्भ और दिखावे को स्थान न दे। **मन को भगवान में लगावे, बुद्धि को अपना दोष देखने में लगावे, शरीर को सर्वहितकारी कर्म में लगावे।** प्राप्त शक्ति में आसक्त न हो, अप्राप्त का चिन्तन न करे। किसी प्रकार के गुण और दोषों का अभिमान न करे

क्योंकि अभिमान के रहते हुए चित्त–शुद्ध नहीं हो सकता।''

नोटः– यदि चित्त शुद्ध नहीं हुआ तो साधन–पथ पर प्रगति हो ही नहीं सकती।

उसी पुस्तक 'संत–सौरभ' में स्वामी जी का कथन है–

''जब तक मनुष्य को अपना साधन भार रूप प्रतीत होता है, तब तक उसकी प्रवृत्ति स्वाभाविक नहीं हुई। जैसे– शरीर सत्संग में बैठा है मन कहीं दूसरा ही काम कर रहा है। इसी प्रकार जप–ध्यान आदि साधनों में भी मन नहीं लगता। ऐसी स्थिति में उसे समझना चाहिये कि मेरे साधन का निर्माण नहीं हुआ। जो साधन मैं कर रहा हूँ वह मेरी योग्यता और रुचि के अनुकूल नहीं है।..... सच्चे साधक में कभी भी साधन का अभिमान नहीं होता और उसे किसी भी अवस्था में साधन भाररूप नहीं प्रतीत होता, यह नियम है।''

आगे उन्होंने कहा है कि 'साधन कोई भी छोटा बड़ा नहीं होता, किन्तु उसमें प्यार होना चाहिये और उसे पूरी शक्ति लगा कर उचित ढंग से करना चाहिये।...''

साधन में शिथिलता का एक और कारण स्वामी जी ने इस प्रकार बताया है–

''किसी भी साधन की सफलता उसके आगे की नवीन साधना को उत्पन्न कर देती है। जब तक कुछ भी करना शेष है, तब तक साधन में सन्तोष आ जाना, साधन में शिथिलता उत्पन्न करता है जो वास्तव में असावधानी है। ज्यों–ज्यों साधक साधन से अभिन्न होता जाता है, त्यों–त्यों साध्य के लिये परम व्याकुलता तथा उत्साह बढ़ता जाता है। इसी में साधन की सफलता है।''

एक साधक ने स्वामी जी से प्रश्न् किया–

प्रश्नः मुझे साधन करते हुए एक अर्सा हो गया, किन्तु अभी तक सफलता के दर्शन नहीं हुए, क्या कारण है?

उत्तरः जो मनुष्य असाधन को बनाये रखकर साधन करते हैं, उनको बहुत दिनों तक साधन करने पर भी सिद्धि नहीं मिल सकती। .....असाधनों का त्याग करके निष्काम होकर साधन करने पर सिद्धि वर्तमान में ही मिल जाती है।..... **जो मनुष्य वस्तु और व्यक्ति का आश्रय लेकर साधन करना चाहते है, उनको भी सफलता नहीं मिलती।** इसलिये भगवान का आश्रय लेकर साधन करो सफलता अवश्य मिलेगी।..... जो साधक देश–काल, परिस्थिति, वस्तु, व्यक्ति का आश्रय छोड़कर साधन करता है उसको शीघ्र सफलता मिलती है।''

मानव सेवा संघ की पुस्तक 'जीवन–दर्शन' में एक लेख है 'साधन में शिथिलता क्यों आती है?' उसमें स्वामी जी की इस विषय की व्याख्या से कुछ अंश आगे उद्धरित हैं–

".....यह प्रश्न् स्वभावतः उत्पन्न होता है कि साधन में शिथिलता तथा असफलता का हेतु क्या है, जबकि वर्तमान जीवन साधन–युक्त जीवन है तो कहना होगा कि जब स्वार्थ–भाव सर्वहितकारी प्रवृत्ति में और सर्वहितकारी प्रवृत्ति सहज निवृत्ति में विलीन नहीं होती तभी साधन में शिथिलता आती है और असफलता का दर्शन होता है अर्थात् वर्तमान में सिद्धि नहीं होती।"

इसका कारण क्या है –

"जब साधन अपनी योग्यता के अनुरूप नहीं होता और साध्य वर्तमान से सम्बंधित नहीं रहता, तब नित–नव उत्कण्ठा जाग्रत नहीं होती। उत्कण्ठा के बिना साधन में शिथिलता आ जाना स्वाभाविक है। साधन में शिथिलता आ जाने पर निरुत्साह और निराशा आदि दोष उत्पन्न होने लगते हैं।"

साधन में विघ्न क्या है, इसे स्वामी जी ने इस प्रकार बताया है–

"अब विचार यह करना है कि साधन का आरम्भ कब होता है? विचार करने पर पता लगेगा कि जब स्वार्थ–भाव अर्थात् दूसरों से सुख लेने की आशा मिटने लगती है और सर्वहितकारी प्रवृत्ति होने लगती है, तब साधन का आरम्भ होता है, परन्तु **जब साधक सर्वहितकारी प्रवृत्ति को ही जीवन मान लेता है, तब गुणों का अभिमान उत्पन्न होता है, जो सहज निवृत्ति को प्राप्त नहीं होने देता। यही साधन में विघ्न है।** सहज निवृत्ति के बिना साधन वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति पर ही आश्रित रहता है, जो वास्तव में परतन्त्रता है। ऐसी साधना ऊपर से तो साधन का अभिमान उत्पन्न करती है और भीतर से असाधन को जन्म देती है अथवा यों कहो कि साधन और असाधन में द्वन्द्व होने लगता है। बस, यही असफलता का हेतु है।"

साधन की सफलता के लिये हमारी साधना में सजीवता आयेगी तभी तो सफलता प्राप्त होगी। स्वामी जी का इस प्रसंग में कथन है कि–

"जब तक साधक अपनी प्राप्त शक्ति को लगाकर साध्य के लिय पूरी उत्कण्ठा जाग्रत नहीं कर लेता तब तक साधन में सजीवता नहीं आती, जिसके बिना यन्त्रवत् साधन होता रहता है। यद्यपि साधन और साध्य दोनों ही वर्तमान जीवन की वस्तु है, परन्तु साधन की शिथिलता हमें भविष्य की

आशा में आबद्ध करती है। पूरी शक्ति लगना तथा उत्कण्ठा जागृति तभी सम्भव है जब हम साधन और साध्य को वर्तमान की वस्तु मान लें। .....जो साध्य संकल्प–निवृत्ति तथा उत्कण्ठा एवं लालसा–जागृति से प्राप्त होता है, उसके लिये भविष्य की आशा तथा किसी अप्राप्त वस्तु–परिस्थिति आदि की अपेक्षा नहीं है। जिसके लिये किसी वस्तु, अवस्था आदि की अपेक्षा नहीं है, उसके लिये तो उत्तरोत्तर उत्कण्ठा का बढ़ते रहना ही स्वाभाविक है।"

इससे हमारे में क्या परिवर्तन आता है? उसी क्रम में देखा जाय–

"उसके लिये शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि समस्त शक्तियाँ अपने–अपने स्वभाव का त्याग करके साध्य की लालसा बन जाती हैं, अर्थात् अनेक इच्छायें एक लालसा में, अनेक सम्बन्ध एक सम्बन्ध में और अनेक विश्वास एक विश्वास में विलीन हो जाते हैं। समस्त जीवन, एक विश्वास, एक सम्बन्ध और एक लालसा के रूप में ही शेष रह जाता है अर्थात् साध्य की लालसा के अतिरिक्त और कोई अपना अस्तित्व ही शेष नहीं रहता।"

यह सब बताने, समझाने के बाद स्वामी जी ने साध्य के प्रति समर्पण को ही अन्तिम साधन कहा है। वही आगे इस साधन–सूत्र के समापन के रूप में प्रस्तुत है–

".....जब अपने द्वारा अपने प्रीतम (साध्य) को अपने ही में पाना है, तब उसके लिये श्रम तथा काल की अपेक्षा ही क्या? जिस साधन के लिय श्रम तथा काल अपेक्षित नहीं है वही निवृत्ति का साधन है। वह निवृत्ति का साधन उन्हीं को प्राप्त होता है जो अपने को समर्पण कर देते है। सर्वहितकारी वृत्तियों का स्फुरण ही प्रवृत्तिमार्ग है और वृत्तियों का स्फुरण न होना ही निवृत्ति मार्ग है। **सीमित बल तथा सामर्थ्य के द्वारा असीम तथा अनन्त की प्राप्ति सम्भव नहीं है। इस कारण समर्पण ही अन्तिम साधन है।** पर वह उन्हीं साधकों को प्राप्त होता है जो निर्बल हैं तथा जो गुणों के अभिमान से रहित हैं। गुणों के अभिमान से रहित होते ही अनन्त की कृपा–शक्ति स्वतः सब कुछ करने लगती है। फिर न साधन में शिथिलता आती है और न असफलता के लिये कोई स्थान रहता है, क्योंकि **साधन में शिथिलता और असफलता तभी तक जीवित है जब तक साधक अपने सीमित बल, योग्यता एवं गुणों के द्वारा सफलता की आशा करता है।"** ■

साधन-सूत्र : 100

साधन का चयन

विचार करने पर हम ऐसा पाते हैं कि हम लोगों को संस्कार में जो पूजा–पाठ, मन्दिर जाना, तीर्थ जाना, पर्वों पर व्रत आदि का परिचय मिला या जो देखा, सुना, समझा उसी को साधन मानकर वही करते हैं। बहुत लोग गुरु–मंत्र लेते हैं और उसी का जाप अथवा अन्य निर्दिष्ट साधन जैसे ध्यान, भजन, कीर्तन आदि करते हैं। इन सबकी उपयोगिता तो है ही, परन्तु क्या हमें स्पष्टता के साथ यह जानकारी रहती है कि इन सबका लक्ष्य क्या है, हमारा साध्य क्या है? दूसरे जो साधन अपनाया है, गुरु ने बताया, क्या वह अपनी रुचि, मान्यता और सामर्थ्य के अनुरूप है? बहुधा यही होता है कि जिस प्रकार खाना–पीना, पढ़ना–लिखना, व्यवसाय, मनोरंजन आदि हमारे जीवन के अंग (Part) है, उसी प्रकार थोड़े समय के लिये इस प्रकार की साधना भी हमारे रोज़ के जीवन–क्रम का एक हिस्सा रहता है। यह भी होता है कि जो हमारा साध्य होना चाहिये, हम अपनी लौकिक कामना–पूर्ति आदि के लिये, उसे साधन ही बनाये रहते हैं और सब कुछ ऐसे ही चलता रहता है।

दूसरा वर्ग ऐसा भी होता है कि जिसे खाओ, पीओ, मौज करो वाला जीवन–सिद्धान्त सन्तुष्टि नहीं दे पाता, वह प्रश्न् करता है कि क्या इन सबसे परे भी कोई जीवन है, क्या सुख–दुःख से अतीत भी कोई जीवन है? उसे सुख, प्रसन्नता तथा आनन्द का भेद समझ में आता है। तब वह उस जीवन की राह की खोज करता है।

यहीं पर साधन के चयन का प्रश्न् आ जाता है। ऐसा इसलिये कि हर एक की रुचि, मान्यता, योग्यता भिन्न होती है।

साधन का सही चयन इसलिये आवश्यक है कि यदि व्यक्ति की रुचि, मान्यता और योग्यता के अनुरूप नहीं हुआ तब साधन की अभिव्यक्ति में विलम्ब और असफलता होगी। इस विषय की चर्चा पिछले साधन–सूत्र–99 में विस्तार से हुई है। यहाँ, सही साधन का चयन कैसे हो की व्याख्या

प्रस्तुत है। हमारे रचयिता द्वारा प्रदत्त क्रिया–शक्ति, विचार–शक्ति और भाव–शक्ति सभी में एक समान नहीं होती। किसी में क्रिया–शक्ति की प्रधानता होती है तो किसी में विचार–शक्ति की या भाव–शक्ति की। साधना के प्रारम्भ में तो उसी के अनुसार साधन–पथ अपनाना होता है, बाद में तो सब एक हो जाते हैं। कुछ लोग तीनों को एक ही साथ लेकर चलते हैं।

इसी प्रकार कोई भौतिकवादी, तो कोई अध्यात्मवादी और कोई आस्तिकवादी होता है। इन मान्यताओं के अनुरूप साधन ही हमें साधन–पथ पर आगे ले जा सकेगा।

मान्यता, और उसके अनुरूप साधन का एक बहुत ही ज्ञानप्रद उदाहरण– बचपन में जब स्वामी शरणानन्द जी की दोनों आँखों की रोशनी चली गई थी और उन्होंने निश्चय कर लिया था कि मैं साधु हो जाऊँगा, तब गाँव में आये सद्गुरु ने गाँव वालों से उनकी व्यथा और निश्चय सुन कर कहा कि 'भइया, राम राम कहा करो'। बालक ने स्पष्ट कहा कि मुझे राम नाम में विश्वास नहीं है। सद्गुरु ने उन पर ज़बरदस्ती अपनी बात थोपने के बजाय पूछा कि क्या तुम ईश्वर को मानते हो। बालक द्वारा यह कहने पर कि हाँ, ईश्वर को तो मानता हूँ, सद्गुरू ने कहा कि 'तुम ईश्वर के शरणागत हो जाओ'। यही बालक के लिये गुरु–मंत्र हो गया और कालान्तर में सद्गुरु ने उनका नामकरण भी शरणानन्द किया।

यह है साधन का चयन जिसमें साधन–पथ पर चलने के इच्छुक बालक और सद्गुरु दोनों का सम्मिलित योगदान था।

मानव सेवा संघ की पुस्तक 'सन्त–सौरभ' में इसी विषय की स्वामी शरणानन्द जी द्वारा की गई व्याख्या पढ़ने को मिली। उसी से, आगे कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं जो इस विषय पर समुचित प्रकाश डालते हैं। जब कोई व्यक्ति साधन–पथ पर चलने का निश्चय करता है तब वह अपने सद्ग्रन्थों में, महापुरुषों के व्याख्यानों में साधन की राह ढूँढता है या शरीरी गुरु की खोज करता है। इसी को लेकर स्वामी जी ने कहा है–

"आज कल लेख–प्रकाशन और व्याख्यानों का जो रिवाज़ चल पड़ा है, सच कहा जाय तो इससे लाभ की अपेक्षा हानि अधिक हो रही है। शिक्षा की दृष्टि से तो लाभ है, जानकारी बढ़ती है, परन्तु व्यक्तिगत आध्यात्मिक उन्नति को लेकर विचार किया जाय तो लाभ नहीं है, क्योंकि लेख और व्याख्यान हर एक प्रकार के अधिकारियों की योग्यता पर ध्यान रख कर लिखे जाते

हैं। किसी एक साधक के लिये नहीं होते हैं। नाना प्रकार की बात सुनने से साधक अपनी योग्यता के अनुसार किसी एक साधन का निर्माण करके साधन को दृढ़ नहीं बना सकता।''

इस प्रकार देखा जाय तो हमारे जीवन में साधन के सम्बन्ध में भटकाव ही रहता है। किशोरी माता जी बहुत उच्च कोटि की एक महिला संत हुईं। ईश्वर के साकार रूप में आत्मीयता बनाकर उनकी प्राप्ति (प्रेम के ही रूप में प्राप्ति होती है) हेतु साधना के प्रसंग में उन्होंने कहा था कि अपना एक इष्ट होना चाहिये। क्यों, क्योंकि चार जगह थोड़ा–थोड़ा कुँआ खोदें तो जल नहीं निकलेगा। पर यदि एक जगह खोदेंगे तो सारी शक्ति वहीं केन्द्रित हो जाने से जल प्राप्त होगा। इसी प्रकार इष्ट मानकर एक रूप में साधनरत होंगे तो प्रगति शीघ्र होगी। (इसका यह तात्पर्य नहीं है कि ईश्वर के अनेक साकार रूपों में कोई भेद दृष्टि हो।)

यही बात हर प्रकार की पूजा–साधना के संबंध में है कि एक–निष्ठ होना चाहिये।

आगे स्वामी शरणानन्द जी ने कहा है कि–

''ऐसी योग्यता तो किसी बिरले साधक में ही होती है जो अपने विवेक–बल से साधन का निर्णय करके उस पर दृढ़ निष्ठा कर ले। उसके बाद जहाँ कहीं संदेह हो, किसी प्रकार की उलझन हो उसका समाधान महापुरुषों के लेखों द्वारा, सद्ग्रन्थों द्वारा या व्याख्यान में सुने उपदेश द्वारा कर ले और अपनी निष्ठा दृढ़ कर ले। अधिकांश लोग तो दुविधा में ही पड़ते हैं।''

अतः होना क्या चाहिये इसे स्वामी जी ने इस प्रकार समझाया है –

''पहले सत्संग की प्रणाली बड़ी अच्छी थी। जब किसी के मन में संसार से विरक्ति होती, तब वह किसी गुरु की खोज करता, तीव्र जिज्ञासा होने पर उसे गुरु मिलता, फिर गुरु पहले उसकी रुचि, योग्यता तथा विश्वास को समझता, उसके बाद जो साधन उसके लिये उपयोगी समझ में आता, वह उसे बताता।.....''

नोटः–इसी लिये तो गोण्डा रेलवे स्टेशन पर स्वामी शरणानन्द जी ने ईश्वर–विश्वास के प्रसंग में लेखक के सिर पर स्नेह से हाथ फेरकर कहा था कि 'हो जायेगा' (साधन–सूत्र–44)। और कुछ वर्षों के पश्चात् एक अन्य अवसर पर उनके द्वारा दिया गया उपदेश– 'प्रभु मेरे हैं, मैं प्रभु का हूँ, प्रभु में

ही मेरा नित्य निवास है' (साधन–सूत्र–2)। अपनी मौज में वह इसी प्रकार से दीक्षा देते थे।

ऊपर उद्धरित अंश के आगे उनका कथन–

".....और वह साधक अपने साधन का लोगों में प्रचार नहीं करता, अपितु उसके अनुसार अपना जीवन बनाकर, अर्थात् सुने हुए उपदेश को भलीभाँति आचरण में लाकर और योग, बोध या प्रेम को प्राप्त करके पीछे दूसरे को उसके अधिकारानुसार बताता। इस प्रकार जो प्रचार होता वह ठोस होता और उससे उत्तरोत्तर व्यक्तियों का निर्माण होता रहता। आजकल के प्रचार से जानकारी तो बढ़ती है, परन्तु उसके अनुसार साधना में प्रवृत्ति नहीं होती।"

स्वामी जी ने सलाह दिया है कि–

"साधक को चाहिये कि अपनी साधना को दृढ़ करने के लिये अपने संदेह, दुविधा और उलझनों को मिटाने के लिय सत्संग करे। दूसरों को दिखाने के लिए नहीं।"

मनुष्य को ईश्वर द्वारा प्रदत्त 'विवेक–शक्ति' का बहुत महत्व है। इसकी महिमा का वर्णन अनेक साधन सूत्रों में हुआ है विशेष रूप से साधन–सूत्र–74 शीर्षक 'मानव सेवा संघ दर्शन में भक्त और भक्ति' में।

स्वामी जी ने उसी की महिमा बताते हुए कहा है–

"परम सुहृद् परमेश्वर ने कृपा करके सभी मनुष्यों को विवेक–शक्ति प्रदान की है। मनुष्य को क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, यह सभी जानते है, परन्तु अपने विवेक का आदर न करने के कारण मनुष्य अपना जीवन उन्नत नहीं कर पाता। ग्रन्थ, गुरु और व्याख्यान वही बताते हैं जो साधक में पहले से ही बीज रूप में विद्यमान होती है, वे कोई नई शक्ति उत्पन्न नहीं कर सकते। जैसे पृथ्वी में जैसा बीज पड़ता है वैसा ही वृक्ष हो जाता है। जो शक्ति बीज में होती है उसी का विकास पृथ्वी, जल, सूर्य, चन्द्र, आकाश और वायु की सहायता से होता है।....."

उसी क्रम में आगे स्पष्ट किया है कि–

"इससे यह सिद्ध हुआ कि गुरु, ग्रन्थ और सत्–चर्चा साधक में विद्यमान विवेक–शक्ति को ही विकसित कर सकते हैं। कोई नयी शक्ति प्रदान नहीं कर सकते। **गुरु का उपदेश, शास्त्रों का प्रमाण और अपना अनुभव तीनों मिलने से अर्थात् तीनों की एकता होने से साधक**

का भाव परिपक्व हो जाता है और वह यह निश्चय कर सकता है कि मुझे अमुक साधन करना है।"

सारी व्याख्या के सार रूप में स्वामी जी ने कहा है कि–

"अतः साधक को चाहिये कि अपने विवेक का आदर करके उसके प्रकाश में सत्संग करे और उससे अपनी उलझन मिटाकर विश्वास को दृढ़ बनाये एवं अपने विश्वास, रुचि और योग्यता के अनुरूप साधन निर्माण करके उसके अनुसार जीवन बनाने के लिये तत्पर हो जाय, अपने साधन में किसी प्रकार का सन्देह न करे। **यह निश्चय रखे कि मुझे इसी से अवश्य लक्ष्य की प्राप्ति होगी और यह वर्तमान में ही होगी।"**

इसका फिर परिणाम क्या होता है–

"जब साधन का निर्माण साधक के विश्वास, रुचि और योग्यता के अनुसार ठीक–ठीक हो जाता है, तब साधक को अपना साधन श्रम–साध्य नहीं मालूम होता, उसमें किसी प्रकार की अस्वाभाविकता नहीं रहती, प्रत्युत साधन उसका जीवन बन जाता है।" ■

"निर्मोहता, परिस्थिति के सदुपयोग और समर्पण में ही समस्त साधन–तत्व विद्यमान है, क्यों कि प्रत्येक साधन में बीज रूप से विवेक–शक्ति, श्रम–शक्ति और भाव की शक्ति विद्यमान है। विवेक–शक्ति के सदुपयोग में निर्मोहता, श्रम–शक्ति के उपयोग में परिस्थिति का सदुपयोग और समर्पण में भाव–शक्ति की परावधि निहित है। परन्तु व्यक्तिगत भेद से किसी में विवेक–शक्ति, किसी में भाव–शक्ति तथा किसी में श्रम–शक्ति मुख्य और अन्य शक्तियाँ गौण रूप से रहती हैं। जो शक्ति मुख्य रूप से होती है, उसी के आधार पर साधना का आरम्भ होता है; परन्तु शेष दो शक्तियों का उपयोग भी स्वतः हो जाता है। समस्त शक्तियों का उपयोग होने पर साधक साधन–तत्व से अभिन्न होकर साध्य को प्राप्त कर लेता है। साधन अनेक और साध्य एक है। इस कारण समस्त साधक एक ही साध्य से अभिन्न हो जाते हैं। साधन–भेद होने पर भी साध्य का भेद नहीं होता। इस दृष्टि से सभी साधन आदरणीय हैं।

साधन-सूत्र : 101

मानव सेवा संघ के दर्शन की विशेषता एवं उपादेयता

साधकों में उठने वाले जीवन सम्बन्धी प्रश्नों का मानव सेवा संघ के दर्शन के प्रकाश में समाधान–रूपी साधन–सूत्रों का संकलन बनता गया। ऐसे प्रश्नों का समाधान इस दर्शन ने जिस प्रकार किया है वह स्वयं में अनूठा है और इस दर्शन की विशेषता है। यह विशेषता स्वतः स्पष्ट है जिसका परिचय इस संकलन के 'आमुख' और 'निवेदन' से मिल जाता है। यह ध्यान देने की बात है कि मानव सेवा संघ के नाम से स्वामी शरणानन्द जी ने जो कुछ कहा या लिखवाया, वह किसी विद्यमान दर्शन की व्याख्या नहीं है अपितु अनुभूत सत्य पर आधारित स्वयं में एक पूर्ण दर्शन (complete philosophy) है।

(ब्रह्मलीन) संत स्वामी रामसुखदास जी का, स्वामी शरणानन्द जी द्वारा प्रतिपादित दर्शन के प्रति बहुत आदर था और उसके प्रति उनका भाव उन्हीं के शब्दों में आगे प्रस्तुत है–

"स्वामी शरणानन्द जी महाराज एक क्रान्तिकारी सन्यासी थे। वे अवधूत कोटि के महात्मा थे।.....उनकी वाणी विलक्षण है।.....**उनके शब्द बड़े चुने हुए हैं और विशेष अर्थ रखते हैं।**.....उनकी साधना विवेक–प्रधान होने से उनकी वाणी में विवेक की प्रधानता है। मैं भी उसी का अनुसरण करता हूँ।"

"शरणानन्द जी की वाणी में युक्तियों की, तर्क की प्रधानता है। उनको कोई काट नहीं सकता। मुझे भी तर्क पसन्द है। परन्तु मैं शास्त्रविधि को साथ रखते हुए तर्क करता हूँ।"

"स्वामी शरणानन्द जी की पुस्तकों में यह बात देखने में आती है कि वे बोध कराना चाहते हैं, सिखाना नहीं चाहते। उनकी बातें बन्दूक की गोली की तरह असर करती हैं। .....वे 'अभ्यास' न करा कर 'स्वीकार' कराते हैं, 'बौद्धिक व्यायाम' न कराकर 'अनुभव' कराते हैं।"

".....शंकराचार्य, रामानुजाचार्य आदि जितने आचार्य हुए हैं, उन सबसे तथा छहों दर्शनों से शरणानन्द जी का दर्शन

तेज है। उनकी बातें सम्पूर्ण शास्त्रों का अन्तिम तात्पर्य हैं। अब तक का वेदान्त का जितना विवेचन हो चुका है, उससे आगे शरणानन्द जी की वाणी है।.....उन्होंने क्रिया और पदार्थ के आश्रय का सर्वथा त्याग कर दिया था .....इसलिए वह क्रान्तकारी सन्यासी थे। उनका जो इतना विकास हुआ, वह शरणागति के कारण ही हुआ।''

''शरणानन्द जी की बातों का सार है–अपनी व्यक्तिगत कोई भी वस्तु नहीं है, और एक सत्ता के सिवाय और कुछ भी नहीं है।.....उनकी बातें सब मनुष्य मान सकते हैं। उनकी युक्तियों का किसी से विरोध नहीं है।''

ऊपर वर्णित तथ्यों से किसी भी ऐसे प्रश्न् का समाधान हो जाता है कि मानव जीवन सम्बन्धित अनेक दर्शन पहले से ही विद्यमान रहे तो एक नए दर्शन के प्रतिपादन की क्या आवश्यकता थी। यह भी सोचने की बात है कि प्रभु अनन्त हैं, उनकी महिमा और ऐश्वर्य भी अनन्त हैं तो उनकी प्राप्ति के मार्ग और उनकी महिमा और ऐश्वर्य को केवल छः दर्शनों में कैसे सीमित किया जा सकता है।

पूज्या देवकी बहिन जी ने अपने एक प्रवचन में स्वामी शरणानन्द जी का इस विषय की व्याख्या को सुनाया है जो इसकी आवश्यकता, विशेषता और उपादेयता स्पष्ट करता है। उसे उद्धरित करने से पूर्व पहले के साधन–सूत्रों में उल्लिखित तथ्यों के प्रकाश में विचार किया जाय। मुख्य विशेषताएँ क्या हैं?

प्रचलन के अनुसार हम लोगों की समझ में साधना का अर्थ किसी न किसी प्रकार की विध्यात्मक पद्धति भरी हुई है। उसमें श्रम भी है और पराश्रय भी है। निश्चित ही यह सभी के लिये सदैव समान रूप से सम्भव नहीं है क्योंकि सब की सामर्थ्य और परिस्थिति एक समान नहीं होती या रहती। अधिकांशतः विध्यात्मक पूजा पाठ आदि में क्रिया में ही साधन–बुद्धि हो जाती है और उसमें एक प्रकार की आसक्ति हो जाती है।

अक्सर इसका लक्ष्य या उद्देश्य ही स्पष्ट नहीं होता और हम संस्कार और स्वभाववश बस करते रहते हैं। साधन–सूत्र–16 शीर्षक 'साधन–पथ के लिये टॉर्च' इसी ऊहापोह से सम्बन्धित है।

इसके विपरीत मानव सेवा संघ दर्शन सबसे पहले हमें हमारी माँग से परिचय कराता है। शरीर की नहीं, 'स्व' की माँग है शान्ति, स्वाधीनता और प्रियता और इसकी पूर्ति के लिये जब हम साधन–पथ पर चलते

हैं तो उसका परिणाम होता है योग, बोध, प्रेम। माँग की पूर्ति के लिये दो ही पुरुषार्थ बताये गये हैं—जीवन के सत्य को स्वीकार करना और असत् अर्थात् अपनी जानी हुई बुराइयों का त्याग। प्रत्यक्ष ही इनमें मात्र 'स्व' द्वारा स्वीकृतियाँ ही हैं। इस कारण हर एक को हर परिस्थिति में इसे अपनाना सम्भव है। श्रम और पराश्रय का कोई रोल ही नहीं है।

इस दर्शन में कहीं भी ईश्वरवाद का आग्रह नहीं है। ईश्वरवादी हो या अनीश्वरवादी दोनो को ही जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। इसीलिये भौतिकवाद, अध्यात्मवाद और आस्तिकवाद तीनों को ही लेकर इस दर्शन में व्याख्या की गई है और उन्हीं के अनुसार मार्ग बताये गये हैं। मनुष्य में विद्यमान क्रियाशक्ति, विचारशक्ति और भावशक्ति के अनुसार राह दिखाई गई है। साधन—सूत्र—34 शीर्षक 'मानव सेवा संघ दर्शन में साधना का अर्थ और साधना—प्रणाली' में इसकी विस्तार से चर्चा हुई है।

यह दर्शन मानव—जीवन सम्बन्धी हर प्रकार के प्रश्नों का सरल, सटीक और अकाट्य समाधान प्रदान करता है। इसमें किसी धर्म, सम्प्रदाय या मज़हब की बात नहीं की गई है। किसी के प्रति न आग्रह है न विरोध। अपितु अपने मज़हब के अनुसार चलते हुए अन्य मज़हबों के प्रति आदर रखने को कहा गया है। इस दर्शन में मात्र सत्य की चर्चा की गई है।

इस भूमिका के पश्चात् देवकी बहिन जी के ऊपर इंगित प्रवचन का अध्ययन किया जाय। सबसे पहले उन्होंने स्पष्ट किया कि मानव सेवा संघ साधकों का संघ है। इस नाम से मानव हितकारी आवश्यक बातों का प्रकाशन स्वामी जी महाराज ने किया है। यह कोई नया मत नहीं है, नया पंथ नहीं है, नया सम्प्रदाय नहीं है। आगे उन्होंने अपने प्रवचन में सुनाया कि—

"एक बार एक सज्जन ने पूछा 'स्वामी जी महाराज! बहुत सी संस्थाएँ पहले से काम कर रही हैं और बहुत से सम्प्रदाय और संघ पहले से बने हुए हैं, तो आपने एक और क्यों बनाया?' महाराज ने उत्तर दिया, भाई देखो! मानव मौलिक रूप में एक समान है, कुछ बाहरी बातों में एक दूसरे से भिन्न है। अनेक प्रकार की भिन्नता रहते हुए भी, आंतरिक एकता के आधार पर एक चीज़, एक संस्था, एक मंच ऐसा होना चाहिए जहाँ सभी सम्प्रदायों, सभी मतों, सभी पंथों के व्यक्तियों को बैठकर स्वतन्त्रता—पूर्वक विचार करने का अवसर मिले।"

स्वामी जी का आगे का कथन था जिसे देवकी बहिन जी ने सुनाया कि–

"अलग–अलग सम्प्रदाय, अलग–अलग ढंग से अलग–अलग रुचि और बनावट के व्यक्तियों को विकास का मार्ग दिखाते हैं। कोई गलत बात नहीं बताता है। लेकिन अलग–अलग रुचि, बनावट और योग्यता होने से साधन प्रणाली के बाहरी रूप भी बहुत जगह पर अलग–अलग हो जाते हैं।"

परिणाम क्या होता है? उन्हीं के शब्दों में–

"फिर क्या होता है कि मत, पंथ, सम्प्रदाय बनते तो हैं साधक समाज की भलाई करने के लिये, उनको आगे बढ़ाने के लिये, मार्ग–दर्शन करने के लिये, लेकिन बाहरी बातों में भेद देखकर, उन सबके बीच में एक वर्गीकरण हो जाता है। ईश्वरवादी सोचने लगता है कि हम अनीश्वरवादी से भिन्न हैं। शैव सोचने लगता है कि हम वैष्णवों से भिन्न हैं। एक सम्प्रदाय का साधक सोचने लगता है कि हम दूसरे सम्प्रदाय के साधकों से भिन्न हैं।"

तो ऐसे भाव और मान्यता का फल क्या होता है–

"इस तरह से सम्प्रदाय बनते तो हैं आन्तरिक विकास के लिए, मानव समाज के हित के लिये, लेकिन आन्तरिक विकास पर दृष्टि नहीं जाती और मानव बाहरी विधि–विधान को पकड़ कर समाज के बीच में भेद की दीवार खड़ी कर लेता है। फिर क्या होता है, कि सत्य को अपनाकर सबके लिये सम्पूर्ण जीवन को सुन्दर और हितकारी बनाने के बदले आपस में एक दूसरे के भेद–भाव से मज़हब के नाम पर ग़ैर–मज़हबी काम होने लगते हैं।"

यह सुनाते हुए देवकी बहिन जी ने अपने प्रवचन में आगे कहा कि–

"आरम्भ करते हैं हम लोग यह मान्यता लेकर कि हम साधक हैं और हमारा अमुक सम्प्रदाय है। उस सम्प्रदाय ने एक विशिष्ट प्रकार की साधना–प्रणाली सिखाई। वह साधना प्रणाली किस लिये है कि तुम्हें उन सारी भेद सीमाओं के पार कराकर के जहाँ पर मौलिक सत्य है, जिसमें कि भेद है ही नहीं, जिसमें विभाजन सम्भव ही नहीं है, वहाँ तक पहुँचा दे। आरम्भ तो करते हैं हम सब सीमाओं को पार करके असीम–अनन्त से अभिन्न होने के लिये, लेकिन बाहरी भेद और सीमाओं को लेकर क्या करते हैं? साधक साधक से दूर हो

जाता है। हम आपकी पंक्ति में नहीं बैठ सकते, क्योंकि हम तो शैव हैं और आप वैश्णव हैं (vice versa)। हम आपके साथ नहीं मिल–जुल सकते, क्योंकि आप ईश्वरवादी हैं और हम अनीश्वरवादी हैं।''

इस विडम्बना का हल क्या है? देवकी बहिन जी ने अपने प्रवचन में बताया–

''पहला पाठ मानव सेवा संघ ने सिखाया कि **अनुसरण करो अपने विचार का और आदर करो सबके विचारों का। साधक बनो, पंथ ग्रहण करो अपनी पसन्दगी के अनुसार और आदर करो सभी पंथ के साधकों का।** यह दृष्टिकोण हम सभी मानव सेवा संघ के अनुयायिओं को अपना करके अपने जीवन में रखना बहुत ज़रूरी है। किस लिये कि आपके अहंरूपी अणु में अगर यह उदारता आ गई कि मैं ईश्वरवादी हूँ तो मानव समाज का हर ईश्वरवादी मेरे स्नेह और सद्भाव का अधिकारी है। .....हममें से हर एक उस अनन्त परमात्मा की छोटी इकाई है और उसमें जो बीज रूप में प्रेम–तत्व विद्यमान है, उसी के आधार पर **हम अनन्त परमात्मा के प्रेमी होने जा रहे हैं–यह लक्ष्य है अपना। इतना महान उद्देश्य हमारा पूरा होने जा रहा है, इसमें अगर इस दृश्य जगत के भीतर एक वर्ग और दूसरे वर्ग के बीच हम भेद बना देंगे, तो हमारा उद्देश्य पूरा नहीं होगा।''**

स्वामी शरणानन्द जी ने मानव सेवा संघ का उद्देश्य बताया–अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण। इसी को अपने प्रवचन में सुनाते हुए देवकी बहिन जी ने कहा कि–

''मान लीजिये कि सुन्दर समाज के निर्माण में हम नगर नगर में कुएँ नहीं खुदवा सकते, हम सबके चलने के लिये बढ़िया सड़कें नहीं बना सकते, हम सब बीमारों के लिये औषधि का इन्तज़ाम नहीं कर सकते, संसार में समाज को सुन्दर बनाने के बड़े बड़े जो काम हैं, हम नहीं कर सकते। लेकिन सबसे मौलिक बात, सबसे बढ़िया बात, जो समाज को सुन्दर बनाने वाली है, वह हमारे भीतर विद्यमान है और वह क्या है, कि मत, पंथ, भाषा, रहन–सहन, ऊँची योग्यता, पद आदि के आधार पर जो भेद–भाव बन गया है, उस भेद–भाव को मिटाने में अगर हमारा स्वयं का जीवन सहायक बन सका तो कितना बड़ा काम हुआ।.....महत्व इस बात का है कि हम मानव सेवा संघ के अनुयायी हैं, इसका मूल्यांकन इस आधार पर होगा कि हमारी

अशान्ति मिट गई कि नहीं। अगर अशान्ति मिट गई और सत्य की स्वीकृति की पद्धति के आधार पर मिट गई तो हम मानव सेवा संघ के सच्चे अनुयायी हैं। क्यों? क्योंकि मेरी अशान्ति मिट गई तो मेरा अपना कल्याण हो गया और मेरे शान्त जीवन के द्वारा बिना व्याख्यान दिये ही दूसरे भाई–बहनों में शान्ति फैलने लगी, तो सुन्दर समाज का निर्माण हो गया।.....''

अपने प्रवचन में उन्होंने अन्य और प्रासंगिक बातों की चर्चा करने के उपरान्त अन्त में सार के रूप में कहा कि–

''.....तो अवसर है हम सब भाई–बहिनों के लिये कि सब तरह के भेद भावों को मिटा कर अपने हृदय के प्रेम–भाव को शुद्ध और पवित्र बनाएँ ताकि उस अनन्त प्रेम–स्वरूप परमात्मा को रस देने लायक हो जायें। उस भेद–भाव से रहित जीवन के द्वारा साधक, साधक प्रेमपूर्वक मिल तो सकें, यह पूछे बिना कि आप किस पंथ के हैं, आप किस मत के हैं, आप किस सम्प्रदाय के हैं। एक जगह बैठकर जीवन के सत्य की चर्चा कर सकें। आप सत्य के सत्यार्थी हैं, आप प्रेमास्पद के प्रेमार्थी हैं, आप शान्ति के चाहने वाले हैं, आप सत्य के शोधक हैं–इस नाते से साधक साधक से प्रेमपूर्वक दिल खोलकर बातें तो कर सकें। **सब प्रकार के भेद सीमाओं को मिटा कर के जीवन की मौलिक एकता के आधार पर विश्व–प्रेम की एकता फैलाने का संदेश है–मानव सेवा संघ।**'' यही है इसके दर्शन की विलक्षणता, विशेषता एवं उपादेयता। ■

प्रत्येक मत तथा वाद साधन–दृष्टि से आदरणीय तथा माननीय हैं, किन्तु उनकी ममता व्यक्तियों को पागल बना देती है। औषधि का सेवन आरोग्यता के लिये अपेक्षित है, ममता के लिये नहीं। उसी प्रकार मत, सम्प्रदाय आदि की अपेक्षा परिस्थिति के अनुरूप अपने को सुन्दर बनाने में है, परस्पर संघर्ष के लिये नहीं।

समापन

ब्रह्मनिष्ठ, क्रान्तदर्शी, प्रज्ञा–चक्षु संत स्वामी शरणानन्द जी द्वारा प्रणीत मानव सेवा संघ के दर्शन पर आधारित जीवनोपयोगी साधन–सूत्रों की इस श्रृंखला का, उन्हीं की कृपा से, संकलन बन गया। जिन्हें अपने वास्तविक जीवन की खोज और उसे पाने की भूख है, वे इस दर्शन से अवश्य लाभान्वित होंगे। इसके प्रकाश में जीवन का सही दृष्टिकोण अपना कर अपना कल्याण तो होगा ही सुन्दर समाज के निर्माण में भी हम सहयोगी होंगे। जीवन की वास्तविक माँग–शान्ति, स्वाधीनता और प्रियता–जो माँग भी है और जीवन का लक्ष्य भी है, सहज ही प्राप्त करके अपने जीवन को हम सफल और सार्थक बना सकेंगे।

इन सभी साधन–सूत्रों का सार रूप में उन्हीं परमकोटि के संत का वचन नीचे प्रस्तुत है:–

परम पुरूषार्थ

जो हो रहा है उसे माया–मात्र समझो। सभी को अपने में और अपने को सभी में अनुभव करो। **बस, यही अनन्यता है।** यह जो प्रतीत होता है उसकी प्राप्ति कदापि नहीं होती। उससे विमुख होने पर ही अपने में अपने प्रियतम का अनुभव होता है। 'यह' से विमुख होना अभ्यास–साध्य नहीं है, अपितु विवेक से विमुखता प्राप्त होती है। **बस, यही प्राणी का परम पुरूषार्थ है।**

मन, इन्द्रिय आदि में क्रियाशीलता है चेतना नहीं है। **चैतन्य तो तुम्हारा निज स्वरूप है।** क्योंकि तुम स्वयं अपने को अपने से भिन्न मन, बुद्धि आदि को जानते हो।

जो सबको जानता है, उसे और कोई नहीं जान पाता। सर्व के ज्ञाता को अपने में देखो। अर्थात् तुम स्वयं में सर्व के

ज्ञाता हो, ऐसा अनुभव करो। मन को निर्विकल्प और बुद्धि को शान्त तथा हृदय को प्रीति से भर दो। ज्यों ज्यों हृदय राग–द्वेष रहित होता जायेगा, त्यों त्यों त्याग–प्रेम स्वतः बढ़ता जायेगा।

किसी से ममता न रहे, यही त्याग है। त्याग राग को खा लेता है। **सभी में अपना दर्शन हो, यही प्रेम है।** प्रेम, द्वेष को खा लेता है। त्याग से असंगता–निर्वासना स्वतः आ जाती है। **यही वास्तव में मुक्ति है।** प्रेम से अभिन्नता और अभिन्नता से एकता आ जाती है। **यही वास्तव में भक्ति है। भक्ति और मुक्ति दोनों ही तुम्हारे निजस्वरूप की दिव्य छटा है।** भोग–वासना ने तुम्हें इनसे विमुख किया है। अतः उनका विवेकपूर्ण अन्त कर दो। बस, बेड़ा पार है। ■

* संतवाणी *

प्राणप्यारे के प्रिय साधकों सावधान!

निज ज्ञान–गुरु के प्रकाश में अनुभव करो कि उत्पत्ति बिना आधार और प्रतीति बिना प्रकाश के नहीं होती। जो उत्पत्ति का आधार तथा दृश्य का प्रकाशक है वही समस्त साधकों का अपना है, अपने में है, अभी है, समर्थ है तथा अद्वितीय है। उस साध्य में ही साधक की अविचल आस्था तथा श्रद्धा और विश्वास अनिवार्य है। विश्वास ही विश्वासपात्र की प्राप्ति में हेतु है। विश्वास से सम्बन्ध और सम्बन्ध से स्मृति तथा प्रियता स्वतः जागृत होती है। इस सत्य को स्वीकार कर साधक को साधननिष्ठ होने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिए, सफलता अवश्यंभावी है।

संसार क्या है?– भगवान से मिलने की ट्रेनिंग! जो संसार में ठीक से रह लेता है, ढंग से रह लेता है, वो भगवान से अच्छी तरह मिल सकता है। अगर वह भूल भी जाता है तो भगवान आकर मिल लेते हैं। अगर आप अपनी परिस्थिति का ठीक उपयोग कर लेते हैं, साधन–बुद्धि से, तो आपको सिद्धि का आह्वान नहीं करना पड़ेगा–सिद्धि आपका आह्वान करेगी। अगर आप परिस्थिति का ठीक उपयोग कर सकते हैं– पूजा–बुद्धि से तो आपको भगवान की याद नहीं करनी पड़ेगी, भगवान आपको याद करेंगे। इसी सद्भावना के साथ बहुत–बहुत प्यार!

ॐ आनन्द, आनन्द, आनन्द!!

अकिंचन
शरणानन्द

अन्त में उन महान संत का हृदयोद्‌गार पत्र के रूप में प्रस्तुत है:

आत्मीय महानुभाव!

किसका होना सम्भव नहीं है?

- जो समय निकल गया, उसका हाथ आना सम्भव नहीं है।
- शरीर आदि वस्तुएँ वर्तमान में जैसी हैं, उनका वैसा बना रहना सम्भव नहीं है।
- व्यक्तित्व का मोह सुरक्षित रहना सम्भव नहीं है।
- अनन्त से विमुख होकर शान्ति पाना सम्भव नहीं है।

संसार का होकर ईश्वर चिन्तन भी संसार को ही प्राप्त कराता है, और ईश्वर का होकर संसार का प्रत्येक कार्य ईश्वर से मिलाता है।

प्रवृत्ति का सौन्दर्य यही है कि आप किसी के काम आ जाएँ और निवृत्ति का सौन्दर्य यही है कि अपने में ही अपने प्रेम–पात्र का अनुभव हो जाए। जो प्रवृत्ति किसी के हित का साधन नहीं होती, वह त्याज्य है और जो निवृत्ति प्रेम–पात्र से अभेद नहीं करती, वह निर्जीव है।

प्यारे साधक ! अभय हो जाओ, निश्चिन्त हो जाओ। कारण कि, तुम साध्य के प्रिय हो और तुम्हारी माँग में साध्य की प्रियता है ही, तो फिर अधीर क्यों होते हो? नित–नव उत्कण्ठा तथा उत्साह से अपने को क्यों नहीं भर लेते ! यही महामन्त्र है दूरी, भेद, भिन्नता के अन्त का तथा योग, बोध, प्रेम की अभिव्यक्ति का। सर्व–समर्थ प्यारे प्रभु अपने प्रिय साधकों को योग, बोध, प्रेम प्रदान करें ! इसी सद्‌भावना के साथ बहुत–बहुत प्यार!

अकिंचन

शरणानन्द

"सही करना, कुछ न चाहना और प्रभु के शरणागत होना, यह योग, बोध, प्रेम की तैयारी है और इसी से योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति होती है।"

प्रार्थना

मेरे नाथ!

आप अपनी सुधामयी, सर्वसमर्थ, पतित पावनी, अहैतुकी कृपा से मानव मात्र को विवेक का आदर तथा बल का सदुपयोग करने की सामर्थ्य प्रदान करें एवं हे करुणा सागर! अपनी अपार करुणा से शीघ्र ही राग-द्वेष का नाश करें। सभी का जीवन सेवा-त्याग-प्रेम से परिपूर्ण हो जाए।

ॐ आनन्द! ॐ आनन्द! ॐ आनन्द!

मानव सेवा संघ के ग्यारह नियम

1. आत्म–निरीक्षण, अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।
2. की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर सरल विश्वास पूर्वक प्रार्थना करना।
3. विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर, अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।
4. जितेन्द्रियता, सेवा, भगवत्-चिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण।
5. दूसरों के कर्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल न मानना।
6. पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव, अर्थात् कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता।
7. निकटवर्ती जन–समाज की यथाशक्ति क्रियात्मक रूप से सेवा करना।
8. शारीरिक हित की दृष्टि से आहार–विहार में संयम तथा दैनिक–कार्यों में स्वावलम्बन।
9. शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी तथा अहं को अभिमान–शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।
10. सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक, तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्व देना।
11. व्यर्थ–चिन्तन त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना।

मुद्रक : कैपिटल ग्राफिक्स, आलमबाग, लखनऊ मो0 : 9450097737